श्रीमन्मोहन-यशः-स्मारक ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क : १९

चैत्यवासिविजयाप्तखरतरविरुदाष्टकवृत्त्यानल्पग्रन्थग्रथनार्जितविशदकीर्त्तिश्रीमज्जिनेश्वरसूरिवरविनेयरत्ननवाङ्गवृत्तिविधायक-

श्रीमदभयदेवसूर्यौपसम्पदिकशिष्यचैत्यवासिप्रथिताकल्याणकवादोन्मूलककविचक्रवर्त्तिश्रीमज्जिनवल्लभसूरि

पुरन्दरनिर्मितं चन्द्रकुलीनाचार्यश्रीमद्यशोदेवसूरिवरसङ्कलितया लघुवृत्त्या श्रीउदयसिंहसूरि-

सन्दृब्धया दीपिकया च समलङ्कृतं

पिण्डविशुद्धि-प्रकरणम् ।

संशोधकः सम्पादकश्च—

श्रीखरतरगच्छविभूषणश्रीमन्मोहनलालजीमुनीश्वरप्रशिष्यरत्न–स्वर्गीयानुयोगाचार्यश्रीकेशरमुनिजीगणिवरविनेयो

बुद्धिसागरो गणिः

प्रथमावृत्तिः ५०० प्रतयः

वीराब्दाः २४८१   ***   पण्यं द्रम्मपदकम्   ***   विक्रमाब्दाः २०११

प्रकाशक :—
अग्रिमपत्रनिर्दिष्टाभिधानानामुदाराशय-
सज्जनानामार्थिकसाहाय्येन मुम्बापुरी-
महावीरजिनालयस्थश्रीजिनदत्तसूरि-
ज्ञानभाण्डागारकार्यवाहको
झवेरी झवेरभाई केसरीभाई

मुद्रक :—
शाह गुलाबचंद लल्लुभाई
श्रीमहोदय प्रीन्टींग प्रेस
दाणापीठ, भावनगर (सौराष्ट्र)

पुस्तकप्राप्तिस्थाने—

श्रीमहावीरस्वामी जैनमन्दिर
पायधुनी, मुंबई नं० ३

श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार
शीतलवाडी उपाश्रय
गोपीपुरा, सुरत (द. गुजरात)

[illegible] आचार्य
श्रीजिनयशःसूरिजी महाराज



जन्म १९१२ जोधपुर । दीक्षा १९४० जोधपुर

जन्म १८८७ चंद्रपुर (यू पी) । यति दी. १९०२ मक्सीतीर्थ
ग. पं पद १९०६ अमदावाद । स्वर्गवास १९७० पावापुरी

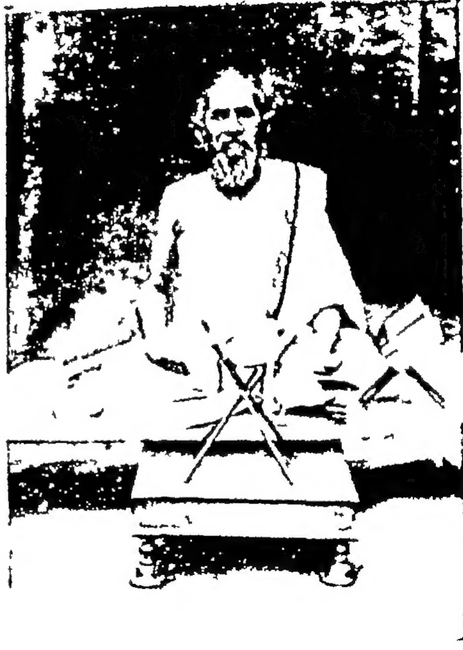
खरतरगणविभूषण क्रियोद्धारक
श्रीमोहनलालजी महाराज



क्रियोद्धार १९२३ अजमेर । स्वर्गवास १९६४ सुरत

ज १९३२ चूंडा (मारवाड़) । दीक्षा १९५२ बांगरोद (मालवा)

स्व० अनुयोगाचार्य पंन्यासजी
श्रीकेशरमुनिजी महाराज



ग पं पद १९६६ लश्कर ग्वालियर । स्वर्गवास १९९३ मुंबई

अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणे द्रव्यसहायकानां शुभनामानि—

रु० ३५१ शा० भीखमचंदजी नवाजी चूंडा (मारवाड)
,, २७१ शा० चुनीलाल चंदणमल नवाजी ,, ,,
,, २०१ शा० झुमकलाल मलूकचन्द कच्छ—मांडवी
,, १५१ शा० माणकचन्द थावरभाई ,, ,,
,, १५१ शा० सांकलचंदजी दानाजी चूंडा (मारवाड)
,, १५१ श्रीखरतरगच्छ संघ
(शेठ जोयता हरखानी पेढी)राधनपुर (उ. गुजरात)
,, १५० ज्ञानपूजाके,हस्ते शा० पूनसीभाई मोनजी कच्छ-लायजा
,, १०१ शा० प्रेमचंद कचराभाई छाजेड की धर्मपत्नी अखंड
सौभाग्यवंती श्राविका मृगाबाई कच्छ—मांडवी
,, १०१ शा० शांतिलाल गोकलभाई ,, ,,

रु० १०१ शा० अचरतलाल शिवलाल, स्वज्येष्ठ पुत्र
सद्गत अश्विनकुमार की स्मृति निमित्त
राधनपुर (उ गुजरात)
,, १०१ सद्गत शा० कक्कलभाई न्यालचंद के
वील में से, ह. शा० अचरतलाल शिवलाल
तथा शा० दलपतभाई मोहनलाल पारेख
राधनपुर (उ. गुजरात)
,, १०० शा० रूपचंदजी छोगमलजी चूंडा (मारवाड)
,, १०० शा० गणेशमलजी कपूरजी ,, ,,
,, १०० जौहरी इंद्रचंदजी जरगड की धर्मपत्नी
श्राविका शिखरुबाइ जयपुर सीटी (राजस्थान)

रु० ७६ शा० जुहारमलजी वनाजी आहोर (मारवाड)
" ७७ शा० सांकलचंद भगाजी की दीक्षा
समय की खोल भराइ के श्रीसंघ चूंडा (मारवाड)
" ५१ मूता साहिबचंदजी गेनाजी आहोर (मारवाड)
" ५१ शा० रिखबचंदजी मूताजी अगवरी (मारवाड)
" ५० शा० छगनमलजी वागाजी छाजेड
गढसिवाणा (मारवाड)

रु० ५० शा० जवानमलजी सुजाजी चूंडा (मारवाड)
" ४५ ज्ञानपूजा के, श्री संघ कच्छ लायजा
" ४० साध्वीजी मुक्तिश्रीजी-ललितश्रीजी की
प्रेरणा से श्राविका संघ तरफ से ज्ञान-
पूजा के अमरेली तथा रु. १० देवगाम (सौराष्ट्र)
" २५ शा० हीराजी सिरेमलजी गुलेछा मोकलसर (मारवाड)
" २५ शा० जखुभाई पेथड मोटा आसंबीया (कच्छ)



उपोद्घात

कृत्वा समीपेऽभयदेवसूरे-र्येनोपसम्पद्ग्रहणं प्रमोदात् । पपौ रहस्यामृतमागमानां, सूरिस्ततः श्रीजिनवल्लभोऽभूत् ॥[1]

पिण्डविशुद्धि का यह उपोद्घात लिखते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इस ग्रन्थ के यशस्वी लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व की ओर मैं बहुत दिनों से आकृष्ट रहा हूँ। यही कारण है कि मैंने और मेरे विद्यागुरु श्रद्धेय डॉ. श्री फतहसिंहजी एम. ए, डी. लिट्,ने वल्लभभारती के नाम से आचार्य श्रीजिनवल्लभसूरि की समस्त रचनाओं का एक आलोचनात्मक संग्रह प्रकाशित करने की योजना कई वर्ष पूर्व बनाई थी और यह हर्ष की बात है कि वह अब शीघ्र ही पूरी भी होने जा रही है। अतः श्रीबुद्धिमुनिजी गणिने जब मुझ से यह अनुरोध किया कि उनके द्वारा सम्पादित इस पुस्तक की भूमिका में लिखूं तो मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। सच पूछिये तो मैं गणिजी का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने सुविहित संघ के पुनरुद्धारक नवाङ्गवृत्तिकार श्रीअभयदेवाचार्य के पट्टधर कविचक्रवर्ति श्रीजिनवल्लभसूरि के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जली भेट करने का अवसर प्रदान किया।

कवि का जीवन-वृत्त

जिनवल्लभसूरि के जीवन-चरित्र के विषय में अधिक खोज करने की आवश्यकता नहीं, उनके योग्य शिष्य युगप्रधान युगोपनागधारक श्रीजिनदत्तसूरिने श्रीगणधरसार्द्धशतक में ६१ पद्यों में अपने गुरु की जो स्तुति की है उसकी टीका करते हुए

1-उपजात्यार्या ।

उन्हीं के प्रशिष्य श्रीसुमति गणिने आचार्य जिनवल्लभसूरि का विस्तार से जीवन–वृत्त दे दिया है; इसीका आधार लेकर आचार्य का जीवन–चरित परवर्ती कई लेखकों ने लिखा और श्रीसुमतिगणि के गुरुभ्राता श्रीजिनपालोपाध्याय ने ' खरतरगच्छालङ्कार युग-प्रधानाचार्य गुर्वावली ' में जिनवल्लभसूरि का जो जीवन–चरित लिखा है, वह लगभग अक्षरशः सुमतिगणि द्वारा दिए हुए चरित से मिलता है, अन्तर है तो केवल इतना ही है कि सुमतिगणि की भाषा आलङ्कारिक वर्णनों से परिपूर्ण है तो उपाध्यायजी की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इसलिये इसी वृत्ति को आधार मानकर हम भी उनका संक्षेप में जीवन–चरित दे रहे हैं:—

बाल्यकाल और दीक्षा

बालक जिनवल्लभ ने अपना पठन–पाठन आसिका(हांसी) नामक स्थान में एक चैत्यालय में प्रारंभ किया। कूर्चपुरीय जिनेश्वराचार्य ने इस बालक की प्रतिभा की सब से पहिले परख की। उन्होंने देखा कि बालक जिनवल्लभ अपने सभी सहपाठियों से अधिक मेधासम्पन्न है। इसी बीच में एक चमत्कार हुआ! बालक जिनवल्लभ ने चैत्यालय के बाहर एक पत्र पाया, जिसमें ' सर्पाकर्षिणी ' और ' सर्पमोचिनी ' नाम की दो विद्याएँ लिखी हुई थीं। बालकने दोनों को कण्ठस्थ कर लिया, परन्तु ज्योंही उसने सर्पाकर्षिणी विद्या को पढा त्योंही बड़े बड़े भयंकर सर्प उसकी ओर आने लगे; परन्तु वह बालक उस स्थान पर निर्भयता पूर्वक खड़ा रहा और उसने अनुमान किया कि यह इसी विद्या का प्रभाव है। जैसे ही उसने दूसरी विद्या का उच्चारण करना प्रारंभ किया वैसे ही सब सर्प भाग गये। इस घटना को सुनकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने समझ लिया कि यह बालक कोई सात्विक गुणसंपन्न होनहार व्यक्ति है। अतः उन्होंने उसको शिष्य बनाने की मन में ठान ली। उन दिनों

चैत्यालयों में आचारभ्रष्टता बहुत आगई थी और प्रलोभन आदि देकर भी शिष्यों को फांसना बुरा न समझा जाता था, इसलिये जिनेश्वराचार्यने न केवल उस बालक को द्राक्ष, खजूर आदि देकर वश में किया अपितु उसकी माता को भी द्रव्य देकर और मीठी-मीठी बातें बनाकर जिनवल्लभ को अपने अनुकूल कर लिया और तुरन्त ही उसको दीक्षा दे दीं।

विद्याभ्यास

जिनेश्वराचार्यने बड़े मनोयोग के साथ जिनवल्लभ को पढाना प्रारंभ किया। उनके शिष्यत्व में शीघ्र ही उन्होंने तर्क, अलङ्कार, व्याकरण, कोष आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। जिनवल्लभ की प्रखरबुद्धि जैसी विद्याध्ययन में सफल होती थी वैसी ही व्यावहारिक क्षेत्र में भी। एक बार जिनेश्वराचार्य किसी काम से आसिका से बाहर गये। जाते समय उन्होंने उस चैत्यालय तथा उससे संबन्धित वाटिका, विहार, कोष्ठागार इत्यादि की व्यवस्था का सारा भार जिनवल्लभ को सौंप दिया। जब वे वापिस आये तो यह जानकर बहुत प्रसन्न हुए कि जिनवल्लभने सारा प्रबन्ध बड़ी कुशलता के साथ किया और उसमें कोई भी कमी नहीं आने दी।

अपने गुरु के प्रवास काल में बालक जिनवल्लभ को संयोगवश एक वस्तु और मिली, जिसका महत्त्व संभवतः उस समय उनको न मालूम हुआ होगा। परन्तु कौन कह सकता है कि उनके जीवन की दिशा को बदलने में उसने अप्रत्यक्षरूप से बहुत बड़ा काम नहीं किया! घटना इस प्रकार है—

जब जिनेश्वराचार्य दूसरे ग्राम में चले गये तब बाल-सुलभ कौतुहलवश उन्होंने एक पुस्तकों से भरी हुई पेटी की छान-बीन प्रारंभ की। उसमें उनको एक सिद्धान्त-पुस्तक मिली। उस पुस्तक में उन्होंने जो पढा उससे उन्हें पता चला कि चैत्यवासियों

का जो आचार-विचार है वह (दशवैकालिकादि) सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है। उसमें लिखा था "साधु को ४२ दोषों से रहित होकर गृहस्थों के घरों से थोड़ा थोड़ा भोजन उसी प्रकार लाना चाहिए जिस प्रकार मधुकर विभिन्न फूलों से रस को एकत्र करता है-इस वृत्ति के द्वारा साधु की देहधारणा हो जाती है और किसी को कष्ट भी नहीं होता। साधुओं को एक स्थान पर निवास नहीं करना चाहिये और न सचित्त फूल-फलादि को स्पर्शहा करना चाहिये।" यह पढ़ते ही बालक जिनवल्लभ का मन उद्वेलित हो उठा और उन्होंने सोचा "अहो! अन्य एव स कश्चिद् व्रताचारो, येन मुक्तौ गम्यते, विसदृशस्त्वस्माकमेष समाचारः, स्फुटं दुर्गतिगर्तायां निपततां एतेन न कश्चिदाधारः।" अर्थात् "अहो! जिससे मुक्ति प्राप्त होती है वह तो व्रत और आचार कोई दूसरा ही है, हमारा तो यह आचार बिल्कुल विपरीत ही है। हम तो स्पष्टतया ही दुर्गति के गड्ढे में पड़े हुए हैं और हम बिल्कुल निराधार हैं।"

अभयदेवसूरि से विद्याध्ययन

महापुरुषों के जीवन का यह एक व्यापक रहस्य है कि उनके मन में उठनेवाले महत्त्वपूर्ण संकल्पों की सिद्धि का मार्ग स्वतः ही तैयार हो जाता है। जिनवल्लभ के विषय में भी यही हुआ। उनके मन में साधु के सच्चे व्रताचार के लिये जो उत्कण्ठा थी उसके लिये समुचित साधन स्वतः ही उपस्थित हो गये। जिनेश्वराचार्यने स्वयं सोचा कि जिनवल्लभ को सिद्धान्त-ग्रन्थों की शिक्षा दिलवाना आवश्यक है। उस समय सिद्धान्त-ग्रन्थों के ज्ञान में श्रीअभयदेवसूरि की बड़ी प्रसिद्धि थी। उन्होंने जिनवल्लभ को उन्हीं आचार्य के पास पाटण में भेज दिया। सिद्धान्त ग्रन्थ पढने के लिये यह आवश्यक है कि पढनेवाला

व्यक्ति उसका अधिकारी हो; यही अधिकार प्रदान करने के लिये उन्हें वाचनाचार्य बनाकर भेजा+। जिनवल्लभगणि के साथ उनके गुरुभ्राता जिनशेखर भी गये।

उन दिनों चैत्यवासियों और वसतिवासियों में पर्याप्त संघर्ष रहा करता था, अतः एक चैत्यवासी आचार्य के शिष्य को आगम की वाचना देना स्वीकार कर लेना एक वसतिवासी आचार्य के लिये संकट से खाली नहीं था। इसलिये श्रीअभयदेव-सूरि के मन में भी संशय उठा कि वह जिनवल्लभ को वाचना दें या नहीं? परन्तु जब उनको विश्वास हो गया कि जिनवल्लभ के मन में सिद्धान्त-वाचना के लिये उत्कट अभिलाषा है और उसके लिये उपयुक्त पात्रता भी; तो उन्होंने सोचा कि—

"मरिज्जा सह विज्जाए, कालम्मि आगए विऊ। अपत्तं च न वाइज्जा, पत्तं च न विमाणए॥"

अर्थात्-अवमान समय के आने पर विद्वान् मनुष्य अपनी विद्या के साथ भले मर जाय, परंतु अपात्र को शास्त्रवाचना न कराय और पात्र के आने पर उसका (वाचना न कराके) अपमान न करे। इसलिये उन्होंने गणि जिनवल्लभ को वाचना देना स्वीकार कर लिया। और जैसे जैसे जिनवल्लभगणि अपने विद्याभ्यास से उन्हें सन्तुष्ट करते गये वैसे ही वे विद्यादान में अधिकाधिक उत्साही होते गये। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने थोड़े से समय में ही सारे सिद्धान्त-ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण कर लिया। जिनवल्लभगणि की प्रखरबुद्धि और ज्ञान-पिपासा को देखकर आचार्यने उन्हें एक बहुत बड़े ज्योतिषज्ञ के पास भेजा। उस विद्वानने आचार्य से पहिले ही कह रखा था कि आपका कोई योग्य शिष्य हो तो उसे मेरे पास भेजें जिससे मैं

+ यहां से आपकी ख्याति 'जिनवल्लभ गणि' के नाम से हुई।

उसको अपना समग्र ज्योतिष–ज्ञान सिखला दूँ। योग्य शिष्य को पाकर किस गुरु का मन प्रसन्न न होगा ? वह ज्योतिषाचार्य भी जिनवल्लभगणि जैसे छात्र को पाकर बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने उन्हें अपनी सारी विद्या सिखा दी। उन्होंने कौन–कौन से ग्रन्थ पढे–इसका तो पता नहीं चलता, परन्तु इस सम्बन्ध में सुमतिगणि और जिनपालोपाध्याय दोनों ने ही यही लिखा है कि उन्होंने 'सर्व ज्योतिषशास्त्र' पढे थे।

जिनवल्लभगणि की विद्वत्ता का वर्णन करते हुए उक्त दोनों लेखकोंने जिन लेखकों का और ग्रन्थों का उल्लेख किया है उनसे पता चलता है कि उन्होंने जैन सिद्धान्त और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रन्थ पढे थे। इसके अतिरिक्त पत्तन मे उन्होंने जो अध्ययन किया उसमे जैन–दर्शन और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त किन्हीं अन्य ग्रन्थों के अध्ययन करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः यह मानना पड़ेगा कि इनके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ अध्ययन किया उसके लिये तो अधिकांशतः वे चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के ही ऋणी थे। यही कारण है कि वे अपने प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक काव्य में जहां अपने 'सद्गुरु अभयदेवाचार्य[1]' का स्मरण करते हैं तो "मद्गुरवो जिनेश्वरसूरयः[2]" कह कर उन चैत्यवासी आचार्य को भी नहीं भूलते।

---

१ पाके धातुरवाचि क ? क भवतो भीरोर्मन प्रीतये ?, सालङ्कारविदग्धया वद कया रज्यन्ति ? विद्वज्जना।
पाणौ किं मुरजिद् बिभर्ति ? भुवि त ध्यायन्ति ? के वा सदा, के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसुश्रुता विश्रुता ॥ १५८ ॥ उत्तर–"श्रीमदभयदेवाचार्याः।"

२ क स्यादम्भसि वारिवायसवति ? क द्वीपिन हन्त्यय ?, लोके प्राह ह्यः प्रयोगनिपुणे. कः शब्दधातुः स्मृत ?।
ब्रूते पालयिताऽत्र दुर्धरतरः क. क्षुभ्यतोऽम्भोनिधे–र्ब्रूहि श्रीजिनवल्लभ ! स्तुतिपदं कीदृग्विधा. के सताम् ? ॥ १५९ ॥ उत्तरं–"मद्गुरवो जिनेश्वरसूरय।"

इससे सिद्ध होता है कि जिनेश्वराचार्य भी बड़े प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने जो ग्रन्थ संभवतः जिनवल्लभ को पढाये, उसमें पाणिनीय आदि के आठों व्याकरण, मेघदूतादि काव्य, रुद्रट, उद्भट, दण्डी, वामन और भामह आदि के अलङ्कार ग्रन्थ, ८४ नाटक, जयदेव आदि के छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ, अनेकान्तजयपताकादि जैन न्यायग्रन्थ तथा तर्ककन्दली, किरणावली, न्यायसूत्र तथा कमलशीलादि जैनेतर दार्शनिक ग्रन्थ थे। एक और ग्रन्थ या ग्रन्थकार जिसका उल्लेख उनकी विद्वत्ता के प्रसंग में मिलता है वह है 'शङ्करनन्दन।' यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि शङ्करनन्दन से अभिप्राय किससे है? संभवतः यह कोई वेदान्ती आचार्य रहा हो।

चैत्यवास त्याग और उपसम्पदा ग्रहण

पत्तन में विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जब वे अपने गुरु जिनेश्वराचार्य के पास वापिस जाने लगे तो आचार्य अभयदेवसूरिने कहा कि "बेटा! सिद्धान्त के अनुसार जो साधुओं का आचार व्रत है वह तुम सब समझ चुके, अतः उसके अनुसार जिस प्रकार आचरण कर सको वैसा ही प्रयत्न करना।" यह वस्तुतः जिनवल्लभगणि के अन्तरात्मा की पुकार थी; उनके मन में चैत्यवास के प्रति अरुचि और वसतिवास के प्रति उत्कट प्रेम पहिले से ही उत्पन्न हो चुका था, अतः जिनवल्लभगणिने भी अभयदेवाचार्य के चरणों पर गिर कर कहा कि "गुरुदेव! आपकी जो आज्ञा है वैसा ही निश्चित रूप से करूंगा।" इस वचन का पालन उन्होंने मार्ग में ही करना प्रारंभ कर दिया। जैसे ही वे मरुकोट (मरोट) में पहूंचे, (जहां कि उन्होंने आते समय देवगृह की स्थापना की थी) तो उन्होंने देवगृह में एक विधिवाक्य के रूप में निम्नलिखित श्लोक लिखा, जिसका

पालन करके आयधिचत्य भी विधिचैत्य होकर मुक्ति का साधन बन सकेः—

अत्रोत्सूत्रजनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा, साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि ।
जातिज्ञातिकदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि–त्याज्ञाऽत्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीजैनचैत्यालये ॥ १ ॥

जब उन्होंने जिनेश्वराचार्य से पृथक् होने का दृढ संकल्प कर लिया था, यह कोई सरल कार्य नहीं था, उस बूढे की जिनवल्लभजी पर प्रगाढ ममता थी और इनका भी उनके प्रति अनुराग और भक्तिभाव होना स्वाभाविक था, अतः इस सुदृढ स्नेह–बन्धन को काट कर निकल भागना साधारण कार्य न था । जिनवल्लभगणि के मन में भी परिस्थिति की गम्भीरता आई और उन्होंने सोचा कि संभवतः जिनेश्वराचार्य के चैत्य में पहूंच कर पूर्वस्मृतियाँ अत्यधिक वेग से जागृत हो उठेंगी और उस समय अपने संकल्प पर दृढ रहना कठिन हो जायगा। इसीलिये उन्होंने वहां न जाकर निकटवर्ती माइयड ग्राम में ही रह कर अपने गुरु को पत्र लिखकर मिलने के लिये बुलाया । पत्र में उन्होंने लिखा था–" मैं गुरु से विद्याध्ययन करके माइयड ग्राम में आगया हूँ, यदि भगवन् ! यहीं आकर मुझ से मिलेंगें तो अति कृपा होगी " यह पत्र पढकर जिनेश्वराचार्य को बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ । परन्तु फिर भी वे बड़े समारोह के साथ शिष्य को लेने माइयड ग्राम गये । यह सुनते ही कि गुरुजी अनुग्रह करके पधारे हैं, जिनवल्लभगणि गद्गद हो गये और तत्काल उनके सामने पहूँचे और विधिवत् प्रणाम किया । स्नेह की सरिता उमड उठी । गुरुने क्षेमकुशल पूछी, उसका उन्होंने यथोचित उत्तर दिया । इसी समय उनको अपना ज्योतिष का ज्ञान दिखाने का भी अवसर उपस्थित हुआ । एक ब्राह्मण वहां आया और उसने ज्योतिष की कइ समस्याओं को उपस्थित किया, जिनवल्लभगणि द्वारा

उनका समुचित समाधान देखकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही आश्चर्यचकित हुए और उनके हृदय में अपार हर्ष और उल्लास उत्पन्न हो गया। ऐसी अवस्था में जिनवल्लभगणि के आसिका न जाने से उनके मन में जो शंका उत्पन्न हुई थी वह एक पहेली बनकर उनके मन में फिर उठी और उन्होंने पूछा कि जिनवल्लभ! यह क्या बात है कि तुम सीधे आसिका के अपने चैत्यवास में न आये और मुझे यहां बुलाया? यह जिनवल्लभगणि के संकल्प–संयम और धैर्य की परीक्षा का समय था। कोई साधारण जन होता तो ममता और मोह के ऐसे पारावार में डूब गया होता, परन्तु जिनवल्लभगणिने अत्यन्त दृढता के साथ विनीत स्वर में कहा–"भगवन्! सद्गुरु के श्रीमुख से जिनवचनामृत का पान करके भी अब उस चैत्यवास का सेवन कैसे करूं? जो कि मेरे लिये विष–वृक्ष के समान है।" यह सुनते ही आचार्य जिनेश्वर की आशाओं पर तुषारापात हो गया। उस समय उनकी दशा बड़ी दयनीय थी। वे बोले–जिनवल्लभ! मैंने यह सोचा था कि मैं अपना सारा उत्तराधिकार देकर और चैत्यालय, गच्छ तथा श्रावक संघ का सारा भार तुम्हें सौंप कर स्वयं सद्गुरु के पास जाकर वसतिवास को स्वीकार करूंगा। उनके यह वचन सुनकर जिनवल्लभगणि का मुख हर्षोल्लास से जगमगा उठा और वे बोले "भगवन्! यह तो बहुत ही सुन्दर बात है, हेय वस्तु का परित्याग करके उपादेय वस्तु का ग्रहण करना ही विवेक का काम है, अतः अपने दोनों एक साथ ही सद्गुरु के समीप चलकर सन्मार्ग को स्वीकार करें।" यह सुनकर जिनेश्वराचार्यने एक दीर्घ निःश्वास ली और करुण स्वर में कहा कि "बेटा! मुझ में इतनी निःस्पृहता कहां? कि गच्छ, चैत्य आदि को ऐसे ही छोड़ दूं? हाँ जब तुम तुल गये हो तो अवश्य ही वसतिवास को स्वीकार करो।"

इस प्रकार गुरु से अनुमति प्राप्त करके वे पुनः पत्तन में गये और अभयदेवसूरि को अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम किया।

आचार्य अभयदेवसूरि भी हृदय में अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने सोचा कि मैंने इसको जैसा योग्य समझा था वैसा ही सिद्ध हुआ। उनके मन में यह दृढ विश्वास था कि जिनवल्लभ ही हमारा उत्तराधिकारी(पट्टधर) होने के सर्वथा योग्य है। " परन्तु क्या उसको समाज स्वीकार करेगा ? वह एक चैत्यवासी आचार्य का शिष्य था, पर इससे क्या ? क्या पङ्क से पङ्कज उत्पन्न नहीं होता ? " इस प्रकार सोचते हुए भी अभयदेवसूरि जैसे प्रभावशाली आचार्य-शिरोमणि भी जिस बात को न्याय, धर्म और समाजहित की दृष्टि से सर्वथा उचित समझते थे, उसको अन्धविश्वासी समाज का विरोध सहन करके भी करते। संभवतः वे भी यही सोचकर संतुष्ट हो गए कि " यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं, न करणीयं नाचरणीयम् "। अतः आचार्यश्री के मन की बात मन में ही रह गई और उन्होंने समाज के सामने मत्था टेककर अपनी अन्तरात्मा की पुकार के विरुद्ध अपने दूसरे शिष्य वर्धमान को आचार्य-पद देकर जिनवल्लभगणि को उपसम्पदा प्रदान की और सर्वत्र विचरण करनेकी अनुमति प्रदान की। तत्पश्चात् आचार्य अभयदेवसूरि के कथनानुसार प्रसन्नचन्द्राचार्य की आज्ञासे उनके पश्चात् देवभद्राचार्यने इनको पट्टधर बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु जब जिनवल्लभगणि को यह पद प्राप्त हुआ, तो उनके जीवन का सूर्य अस्त होने वाला था।

चित्रकूट गमन

उपसम्पदा ग्रहण करके वे कुछ दिन गुर्जरप्रदेश में विहार करते रहे, परन्तु यहां उन्हें सुविहित सिद्धान्त-प्रचार में वैसी सफलता नहीं मिली, जैसी कि वे चाहते थे। उस समय गुजरात चैत्यवासियों का सब से बड़ा गढ था; यहां पर जिनवल्लभगणि जैसे क्रान्तिकारी विचारक, कटु आलोचक और निर्भय वक्ता की दाल गलना सरल न था, यह तो अभयदेवाचार्य जैसे सुलझे

हुए और व्यवहार–कुशल व्यक्ति का ही काम था, जो चैत्यवासियों के प्रधानाचार्य आचार्य द्रोणसूरि तक से समुचित सन्मान प्राप्त कर सके और अपने नवाङ्गों की टीका पर उनकी छाप लगवा कर चैत्यवासियों द्वारा मान्य भी करा सके। जहां श्रीअभयदेवाचार्य के इस प्रयत्न को स्तुत्य कहना पड़ता है वहां यह भी मानना पड़ता है कि उन्हें उसके लिये कई बार अपने सिद्धान्तों को बलि देकर आचार–शैथिल्य भी स्वीकार करना पडा था। परन्तु जिनवल्लभगणि दूसरे ही प्रकार के व्यक्ति थे, वे जिसका विरोध करते थे उसका बडे उग्ररूप में; और उन्हें किसी विषय में और किसी समय शिथिलता तनिक भी पसन्द नहीं थी। इनकी असफलता का एक कारण यह भी हो सकता है कि चैत्यवास त्याग करने से चैत्यवासी इनको अपना शत्रुसा समझने लगे होंगे और चैत्यवास के संसर्ग में रहने के कारण वसतिमार्गियों से उन्हें समुचित आदर और सहयोग न मिला होगा। इसी कारण सभवतः उन्होंने गुर्जरप्रदेश को छोड़कर मेदपाट(मेवाड़) में जाना स्वीकार किया। यद्यपि वहां भी सर्वत्र चैत्यवासियों का जोर था, परन्तु नये प्रदेश में एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिये अपना स्थान बना लेना अधिक सरल होता है। ‘ घर का जोगी जोगिया, आन गांव का सिद्ध। ’ यह कहावत प्रसिद्ध ही है। इसीके अनुसार महात्मा गौतम बुद्ध को जो आदर बाहर मिला वह उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तु में नहीं; भगवान महावीर को भी लिच्छवी गण में सफलता तब ही मिली जब वे अन्यत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। यही बात आधुनिक काल में आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द के जीवन में भी हुई। अतः जिनवल्लभगणि को मेदपाट में अधिक सफलता प्राप्त होना स्वाभाविक ही था।

मेदपाटप्रदेश में आकर उन्होंने पहिले पहल चित्रकूट(चित्तोड) में कुछ दिन बिताने का निश्चय किया। वहां पर उनके

गुरु आचार्य अभयदेवसूरि की कीर्ति और प्रतिष्ठा पर्याप्त थी। अतः वहां के लोग उनका कोई बिगाड़ तो न कर सके परन्तु फिर भी उन्हें कुछ क्षुद्रजनों का पर्याप्त विरोध सहन करना पड़ा। वहां के श्रावकों से उन्होंने रहने के लिये स्थान मांगा तो उत्तर मिला " यहां एक चण्डिकामठ है वहां यदि ठहरना चाहें तो ठहर जांय। " गणिजी उनके दुष्ट अभिप्राय को अच्छी तरह से समझते थे, परन्तु फिर भी वे देवगुरु के प्रसाद पर विश्वास रख के वहीं पर ठहर गये। चण्डिका देवी भी उनके ज्ञान, ध्यान और अनुष्ठान से प्रसन्न हुई और उनकी सिद्धिदात्री बन गई। उनके पास प्रतिदिन अनेक दार्शनिक ब्राह्मण आने लगे, इनमें से प्रत्येक निज निज शास्त्रों के विषय में उनसे वार्तालाप करता था और उनके उत्तर से सन्तोषलाभ करता था। धीरे धीरे उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि और उनके पाण्डित्य का प्रभाव व सुयश सर्वत्र फैल गया। जैन श्रावक भी उनकी ओर आकर्षित हुए और उनको विश्वास होने लगा कि यही एक साधु है जो सर्व संशयों को दूर करके हमारे हृदय के अन्धकार को दूर कर सकता है। गणिजी में जो बात सब से अधिक आकर्षण करने वाली थी वह यह थी कि उनकी ' कथनी ' और ' करणी ' एक थी। वे जिन सिद्धांतवचनों की व्याख्या अपने वचनों में करते थे उन्हीं को वे अपने आचरण में भी उतारते थे।

गणिजी के चमत्कार

चित्रकूट में रहते हुए जिनवल्लभगणिने कई चमत्कारपूर्ण कार्य किये। इनका साधारण नाम का एक भक्त-श्रावक एक वार उनके पास आया। वह चाहता था कि अपने जीवन में परिग्रह की एक सीमा निर्धारित करलूँ। इसका संकल्प लेने के लिये जब वह उनके पास आया तो उन्होंने पूछा कि तुम अपने सर्व संग्रह की सीमा कितनी रखना चाहते हो ? साधारण श्रावक का

वैभव साधारण ही था, अतः उसने सर्व संग्रह की सीमा २० हजार की रखी। परन्तु जिनवल्लभगणि जो अपने ज्योतिष-ज्ञान से उसके भावी ऐश्वर्य को देख सकते थे, अतः उन्होंने उस सीमा को और बढाने के लिए कहा, तब साधारण ने तीस सहस्र कहे, परन्तु जिनवल्लभगणि ने कहा कि 'यह पर्याप्त नहीं है और अधिक बढाओ।' साधारण को इस पर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसके गृह की समस्त वस्तुओं का मूल्य ५०० भी नहीं होता था, फिर भी गणिजी के वारंवार आग्रह करने पर उसने एक लाख का सर्व परिग्रह निश्चित किया। स्वल्प कालान्तर में ही उसकी संपत्ति इतनी बढी कि वह एक लक्षाधीश कहलाने लगा और वह सम्पूर्ण संघ में अग्रगण्य हो गया। इस चमत्कार से वे सारे सेठ भी उनकी ओर आकर्षित हो गये; जो साधुओं के पास धर्म और चारित्र की शिक्षा के लिये नहीं अपितु ऋद्धि-सिद्धि दोहने के लिये जाते हैं।

एक दूसरा चमत्कार उन्होंने और दिखलाया। उनके ज्योतिष-ज्ञान की कीर्त्ति सर्वत्र फैल गई थी। एक ज्योतिषी ब्राह्मण उनके यश को सहन न कर सका और वह जिनवल्लभगणि को नीचा दिखाने की दृष्टि से उनके पास आया। आसन देने के पश्चात् निम्निलिखित वार्तालाप प्रारंभ हुआः—

जि०—भद्र! आपका निवासस्थान कहां है? और आपने किस शास्त्र का अभ्यास किया है?। ब्रा०—मेरा निवासस्थान यहां ही है और मैंने अभ्यास-व्याकरण, काव्य, अलङ्कार आदि सब ही शास्त्रों का किया है। जि०—ठीक है, परन्तु विशेष रूप से किस विषय का किया है?। ब्रा०—ज्योतिष का। जि०—चन्द्र और आदित्य के लग्नों के विषय में आप जानते हैं?। ब्रा०—इसमें क्या है? बिना गणना किये ही एक दो या तीन लग्नों का प्रतिपादन कर सकता हूँ। जि०—बहुत सुन्दर ज्ञान है।। ब्रा०—लग्न

के विषय में क्या आप भी कुछ जानते हैं ? । जि०—हां कुछ थोड़ा सा । ब्रा०—अच्छा, तो आप कुछ कहें । जि०—भूदेव ! आप बतलाइये, मैं दस या बीस कितने लग्नों का प्रतिपादन करूं ?

यह बात सुनकर ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया और उसके आश्चर्य का तो ठिकाना ही न रहा, जब उन्होंने शीघ्र गणना करके उन लग्नों को बतला दिया । इसके बाद गणिजी आकाश की ओर संकेत करके बोले—" विप्रवर ! देखो वह आकाश में दो हाथ का जो मेघ–खण्ड दिखाई पड़ता है, क्या आप बता सकते हैं कि उससे कितनी वर्षा होगी ? " ब्राह्मण बेचारा हतप्रभ हो गया । उसको निरुत्तर देख कर गणिजीने बतलाया—वह मेघखण्ड दो घड़ी के भीतर सम्पूर्ण गगनमण्डल में व्याप्त होकर इतनी जल–वृष्टि करेगा कि दो ' भाजन ' भर जायेंगे । सचमुच ऐसा हुआ भी । इसके परिणाम स्वरूप वह ब्राह्मण जब तक वहां रहा, तब तक उनके चरणों की वन्दना करके ही भोजन करता था ।

षट्कल्याणक–प्ररूपणा

जिनवल्लभगणि जैन सिद्धान्त के कितने मर्मज्ञ थे और उसका प्रतिपादन वे कितने निर्भय होकर करते थे; इस बात का प्रमाण उनके द्वारा की गई छठे कल्याणक की प्ररूपणा में मिलता है । साधारणतया प्रत्येक तीर्थंकर के निम्नलिखित पांच कल्याणक माने जाते हैं:—

१–देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में प्रवेश करना । २–जन्म ग्रहण करना । ३–संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या (दीक्षा) ग्रहण करना । ४–तपश्चर्या द्वारा केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त करना । ५–निर्वाण(मुक्ति) प्राप्त करना ।

भगवान महावीर के विषय में यह विशेष माना जाता है कि पहिले उन्होंने देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश किया और वहां से उस गर्भ को इन्द्र-आदेश से हरिणगमेषी देव द्वारा महारानी त्रिशला के गर्भ में लाया गया। सूत्रग्रन्थों में जैसा कि आगे बतलाया गया है, इस गर्भापहरण को भी उपर्युक्त पांच के समान ही एक कल्याणक माना गया है। जिनवल्लभगणिने कल्पसूत्रादि के पाठ पर सम्यग् विमर्श कर इसको छठा कल्याणक प्रसिद्ध किया। अन्य पांच कल्याणकों के उपलक्ष में तो उस समय चैत्यवासी लोग भी एक उत्सव मनाकर भगवान की पूजा किया करते थे, परन्तु गर्भापहरण नाम का कल्याणक तत्कालीन जनता में विस्मृत हो चुका था। इसलिये जब आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के आने पर जिनवल्लभगणिने श्रावकों से कहा कि आज हमें श्रमण भगवान महावीर का छठा कल्याणक मनाना है तो वे बड़े आश्चर्य में पड़ गये। परन्तु जब उनको आगमों के प्रमाण देकर समझाया गया तो वे लोग उस छठे कल्याणक को मनाने के लिये सहर्ष तैयार हुए। वहां के सभी देवालय चैत्यवासियों के थे; अतः प्रश्न यह था कि उसको कहां मनाया जाय ? प्रथम तो जिनवल्लभगणि के नेतृत्व में सभी श्रावक एक चैत्यालय पर गये, परन्तु उनको देखते ही उस चैत्यालय की एक आर्या धरना देकर द्वार पर बैठ गई। उसका कहना था कि ऐसा काम कभी भी नहीं हुआ, इसलिये मैं अपने जीते जी कदापि न होने दूंगी। बहुत समझाने बुझाने पर भी जब उसने अपना हठ नहीं छोड़ा, तो जिनवल्लभगणि सारे श्रावकों को लेकर वापिस अपने स्थान पर लौट आये। अन्त में एक श्रावक के घर पर ही भगवान की मूर्ति की स्थापना कर वह उत्सव सम्पन्न किया गया।

विधिचैत्यों की स्थापना

इस घटना से जिनवल्लभगणि के श्रावकों को अपनी उपासना के लिये एक स्वतंत्र देवगृह की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः उन्होंने गणिजी के सामने दो देवालय बनाने की इच्छा प्रकट की। गणिजीने भी उनके इस पुण्य प्रयत्न को श्रावकों का आवश्यक कर्त्तव्य व आचार बतलाया और श्रावकों ने भी निर्माण का कार्य प्रारंभ कर दिया। सत्कार्य में विघ्न होते ही हैं। इस कार्य में भी अकारण ही वसुदेव नामक सेठ विघ्नरूप बन कर उपस्थित हुआ और उसने इन देवगृह-निर्माण करने वाले श्रावकों को कापालिक तक कह डाला। एक दिन बाहर जाते हुए गणिजी को वह मिल गया, तो उन्होंने बड़े प्रेम-पूर्वक उससे कहा कि 'भद्र वसुदेव! गर्व करना ठीक नहीं है। जो श्रावक देवालय बनवा रहे हैं उनमें कोई ऐसा भी होगा जो तुम्हें कभी बन्धन-मुक्त करेगा।' उस समय तो वसुदेव संभवतः इन शब्दों के मर्म को न समझ सका। परन्तु कुछ दिनों बाद जब वह किसी अपराध के कारण राजा का कोपभाजन हुआ और उसे ऊंठ के साथ बांधकर के लेजाने की आज्ञा हुई तो जिनवल्लभगणि के भक्त-श्रावक साधारण नाम के सेठने ही उसको छुड़ाया। अन्त में उक्त दोनों मन्दिर पूर्ण हो गए और वाचनाचार्य जिनवल्लभ गणि ने पार्श्वनाथ और महावीर विधिचैत्यों की स्थापना कर दी।

षड्यन्त्र का भण्डाफोड

जिनवल्लभ गणि के बढते हुए प्रभाव को कुछ लोग सहन न कर सके और वे उसको कम करने के लिये तरह तरह के उपाय करने लगे। किन्हीं मुनिचन्द्राचार्य ने अपने दो शिष्यों को जिनवल्लभजी के पास भेजा। प्रत्यक्ष में तो वे गणिजी से

सिद्धान्तवाचना के लिये आये थे परन्तु अप्रत्यक्ष में वे एक षड्यन्त्र का आयोजन कर रहे थे। जिनवल्लभगणि शुद्ध मन से उन दोनों को सिद्धान्तों का अध्ययन कराते थे, परन्तु वे दोनों येन केन प्रकारेण जिनवल्लभगणि के श्रद्धालु श्रावकों में उनके प्रति असद्भाव उत्पन्न करने में लगे हुए थे, और अपने सब कारनामों का समाचार अपने गुरु मुनिचन्द्राचार्य को लिखते रहते थे। एक बार संयोगवश उनका लिखा पत्र जिनवल्लभजी के हाथ आगया और सारा भण्डाफोड हो गया। सारा प्रसंग जानकर उनके मन में खेद उत्पन्न हुआ और उनके मुख से निकल पडा:—

आसीज्जनः कृतघ्नः, क्रियमाणघ्नस्तु साम्प्रतं जातः। इति मे मनसि वितर्को, भवितालोकः कथं भविता ?॥ १ ॥

जिनवल्लभगणि बड़े स्पष्टवादी थे और उनकी आलोचना बड़ी कटु होती थी। सभी विद्वान लोग बैठे हुए थे, बहुत से ब्राह्मण विद्वान भी आए हुये थे। इस बार व्याख्यान में निम्नलिखित गाथा आगई:—

धिज्जाईण गिहीणं, जाईणं [? जइ] पासत्थाईण वावि दट्ठूणं। जस्स न मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठिं तयं बिंति॥ १ ॥

इस गाथा की व्याख्या उन्होंने बड़े विस्तार के साथ की और इस प्रसंग में चैत्यवासियों के साथ साथ ब्राह्मणों की भी तीव्र आलोचना की। ब्राह्मण लोग इस बात को सहन न कर सके और क्रुद्ध होकर व्याख्यान से उठ गये। उन्होंने एकत्र होकर सोचा कि किसी प्रकार जिनवल्लभ के साथ विवाद करके इनको निष्प्रभ करना चाहिये। परन्तु जिनवल्लभगणि इससे तनिक भी भयभीत नहीं हुए और उन्होंने निम्निलिखित पद्य भोजपत्र पर लिखकर उनके पास भेजा:—

मर्यादाभङ्गभीतेरमृतमयतया धैर्यगाम्भीर्ययोगात्, न क्षुभ्यन्ते च तावन्नियमितसलिलाः सर्वदैते समुद्राः।

आहो ! क्षोभं व्रजेयुः क्वचिदपि समये दैवयोगात् तदानीं न क्षोणी नाद्रिचक्रं न च रविशशिनौ सर्वमेकार्णवं स्यात् ॥ १ ॥
यह श्लोक वृद्ध ब्राह्मणने पढा और अन्य कुपित हुए ब्राह्मणों को समझा बुझाकर शांत किया ।

प्रतिबोध और प्रतिष्ठाएँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनवल्लभगणिने द्रोह, दर्प और विरोध के सामने कभी शिर नहीं झुकाया, साथ ही वे यह भी समझते थे कि मनुष्य कितना निरीह प्राणी है जो लोभादि का शिकार सहज ही में हो जाता है । ऐसे लोगों पर वे क्रोध नहीं करते थे, क्योंकि वे दया के पात्र होते हैं । इस प्रकार के लोग भी उनके पास आते थे, तो वे उनको आध्यात्मिक रोगी समझ कर उनकी चिकित्सा–विधान किया करते थे, शर्त इस बात की थी कि उस व्यक्ति में पूर्ण श्रद्धा होनी आवश्यक थी। एक वार गणदेव नाम का एक श्रावक उनके पास आया, उसे स्वर्ण(सोना) सिद्धि की आवश्यकता थी। उसने सुन रखा था कि जिनवल्लभजी के पास स्वर्णसिद्धि है, वह उनके स्थान पर वारंवार आने लगा। गणिजी को उसका यह भाव ज्ञात हो गया, उन्होंने लिप्सा की लपट से दग्ध होते हुये उसके हृदय को परख लिया, अतः उन्होंने ऐसे उपदेशामृत की वृष्टि करना प्रारंभ किया कि वह सेठ स्वर्णार्थी से धर्मार्थी हो गया। तब गणिजीने पूछा ‘ भद्र ! कहो क्या तुम्हें स्वर्णसिद्धि की आवश्यकता है ? ’ तो, उसका यही उत्तर था कि मैं तो श्राद्ध–धर्म का ही व्यवहार करना चाहता हूं । यही सेठ बाद में इनके लिखित ‘ द्वादशकुलक ’ नामक उपदेशों को लेकर वाग्जड(वागड़) प्रदेश में गया और उनका प्रचार करके जिनवल्लभगणि की कीर्तिपताका फैलाई । इसके

फलस्वरूप वहां की सारी जनता में गणिजी के प्रति अपार श्रद्धा और स्नेह का वातावरण बन गया।

इसके पश्चात् उनकी कीर्ति दिन-प्रतिदिन बढती गई और वे अपने ज्ञान और चारित्र के लिये प्रसिद्ध होते गये। दूर-दूर स्थानों से श्रावक लोग इनको आमन्त्रित करने लगे। नागपुर(नागोर) में जाकर उन्होंने नेमिनाथ विधिचैत्य की प्रतिष्ठा की[2], और तत्रस्थ संघने आदर-पूर्वक सर्व सम्मति से इनको गुरु-रूप में स्वीकार किया। इधर नरवरपुर के श्रावकों के हृदय में भी यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि जिनवल्लभजी को अपने गुरु-रूप में स्वीकार करके उनके द्वारा देवमन्दिर और देवप्रतिमा की स्थापना करवाँय। उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई और जिनवल्लभगणिने नरवरपुर जाकर उनको कृतार्थ किया। जिन जिन मन्दिरों में उन्होंने प्रतिष्ठा करवाई, उनकी विशेषता यह थी कि उनमें यह स्पष्ट आदेश लिखवा दिया गया था कि 'वहां रात्रि के समय पूजा-अर्चन, स्त्री का प्रवेश तथा ऐसे ही अन्य कार्य जो चैत्यवासियों के मन्दिरों में होते थे-नहीं होंगे।' इस प्रकार अब जिनवल्लभगणि का सन्देश स्पष्टतया सफल होने लगा था। अब उनको सन्तोष हो चला था कि उन्होंने अपने गुरु अभयदेवाचार्य को जो वचन दिया था, वे उसके अनुसार आचरण करने में पूर्ण सफल हो रहे हैं।

---

१ जिसका लाभ सूरिजी के पट्टधर अविकाप्रकटित युगप्रधान पद विभूषित दादा श्रीजिनदत्तसूरिजी को प्राप्त हुआ।

२ इसका उल्लेख तत्कालीन ही देवालय के निर्मापक सेठ धनदेव के पुत्र कवि पद्मानन्द अपने वैराग्यशतक में भी करते हैं.—

"शिष्यः श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरोः शान्तोपदेशामृतैः। श्रीमन्नागपुरे चकार सदनं श्रीनेमिनाथस्य यः।
श्रेष्ठी श्रीधनदेव इत्यभिधया ख्यातश्च तस्यात्मजः, पद्मानन्दशतं व्यधत्त सुधियामानन्दसम्पत्तये ॥ १ ॥"

प्रवचनशक्ति

जिनवल्लभगणि की व्याख्यानपटुता, प्रवचनशक्ति की भी बहुत प्रसिद्धि हुई। एक वार विक्रमपुर[1] के आसपास विहार कर रहे थे। मरुकोट्ट[2] निवासियोंने उनके प्रवचन की प्रशंसा सुनकर उनको अपने नगर में बुलाना चाहा। बहुमानपूर्वक वीनती करने पर जिनवल्लभगणि विक्रमपुर होते हुए मरुकोट्ट पधारे। वहां पहूँचने पर श्रावकोंने एकत्र होकर बड़े ही विनीतभाव से प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हम लोग आपके श्रीमुख से भगवद् वचनों पर प्रवचन सुनना चाहते हैं।' जिनवल्लभगणिने कहा—श्रावकों की यह इच्छा सर्वथा उचित और श्लाघ्य है।' अतः शुभ दिवस से प्रवचन प्रारंभ हुआ। अपने व्याख्यान के लिये उन्होंने श्रीधर्मदासगणि कृत उपदेशमाला की निम्नलिखित गाथा को चुनाः—

" संवच्छरमुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचंदो। इय विहरिया निरसणा, जइज्ज एओवमाणेणं ॥ ३ ॥ "

इसी गाथा को लेकर वाचनाचार्य जिनवल्लभजीने अनेक दृष्टान्त, उदाहरण आदि देते हुए सिद्धान्त-प्ररूपण करते करते छ महीने लगा दिये। इसको देख कर सभी लोग आश्चर्यचकित हुए और कहने लगे 'ये तो स्वयं भगवान तीर्थंकर ही मालूम पड़ते हैं, अन्यथा इस प्रकार की अमृतस्राविणी वाणी कहां मिल सकती है?'

समस्यापूर्ति

व्याख्यान देने और शास्त्रार्थ करने में जो प्रसिद्धि गणिजीने प्राप्त की, वही समस्या-पूर्ति के क्षेत्र में भी उन्हें सहज सुलभ

१ जैसलमेर राज्यवर्ती वीकमपुर। २ मरोठ।

हुई। समस्या-पूर्ति में न केवल उनकी काव्य-प्रतिभा, छन्दयोजना तथा प्रबन्धपटुता का परिचय मिलता है अपितु उनकी प्रत्युत्पन्नमति एवं उक्तिसौष्ठव का भी ज्ञान हमें होता है। एक समय की बात है वे कहीं जा रहे थे, एक विद्वान् उनको मार्ग में मिल गया। उसने उनके पाण्डित्य की प्रसिद्धि पहिले से ही सुन रखी थी, अतः परीक्षा करने की दृष्टि से उसने निम्नलिखित समस्यापद उनके सामने रखाः—

" कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनिः ?।"

इस पद को सुनते ही गणिजीने इसकी पूर्ति तुरन्त ही इस प्रकार कर डालीः—

" चिरं चित्तोद्याने चरसि च मुखाब्जं पिबसि च, क्षणादेणाक्षीणां विरहविषमोहं हरसि च।
नृप ! त्वं मानाद्रिं दलयसि च किं कौतुककरं, कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनिः ?॥ १॥"

इसको सुनकर वह विद्वान् अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला-मैंने आपके विषय में जैसा सुना था वैसा ही आपको पाया। ऐसा कहकर वह उनके चरणों पर गिर पड़ा।

ऐसी ही दूसरी घटना धारानगरी की है। उस समय धारा में श्रीनरवर्मा नामक नृपति राज्य कर रहे थे। एकवार राजसभा में दो पण्डित बाहर से आये। उन्होंने पण्डितों के सामने यह समस्यापद रखा—

" कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः।"

राजसभाके सभी पण्डितोंने अपनी बुद्धि के अनुसार इस समस्या की पूर्ति की, परन्तु उन दोनों विदेशी पण्डितों का चित्त

प्रसन्न नहीं हुआ। तब किसीने राजा से कहा—हे देव ! पण्डितों के द्वारा की हुई समस्या—पूर्ति इन दोनों को पसन्द नहीं आई। तब राजाने पूछा कि इन दोनों को सन्तुष्ट करने का कोई अन्य उपाय संभव है ? इस पर राजा को उत्तर मिला कि चित्रकूट (चित्तोड़) में जिनवल्लभगणि नाम के श्वेताम्बर साधु हैं जो सब विद्याओं में निपुण माने जाते हैं। तब राजाने साधारण नामके सेठ के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उससे अनुरोध किया गया था कि वह अपने गुरु जिनवल्लभगणि के द्वारा इस समस्या की पूर्ति करवाकर शीघ्र ही भेजे। प्रतिक्रमण के बाद जब गणिजी को पत्र सुनाया गया तो उन्होंने तत्काल ही इस प्रकार उस समस्या को पूर्ण किया—

"रे रे नृपाः ! श्रीनरवर्मभूप-प्रसादनाय क्रियतां नताङ्गैः। कण्ठे कुठारः कमठे ठकार-श्चक्रे यदश्वोग्रखुराग्रघातैः ॥ १ ॥"

यह पूर्ति जब राजसभा में पहुँची तो न केवल विदेशी विद्वान् ही सन्तुष्ट हुए अपितु स्वयं राजा भी जिनवल्लभगणि का सदा के लिये भक्त हो गया। यही कारण है कि जब गणिजी कुछ काल उपरान्त धारानगरी पधारे तो राजाने उनको तीन लाख मुद्रा या तीन ग्राम लेने के लिये बहुत कुछ आग्रह किया। परन्तु जब यह आग्रह उस अपरिग्रही और निस्पृह साधुने स्वीकार नहीं किया तो राजाने गणिजी की अनुमति से चित्रकूट में श्रावकों द्वारा निर्मापित दो विधिचैत्यों की पूजा के लिये वह धन दान में दे दिया। इसी बात का उल्लेख उनके गुरुभ्राता जिनशेखराचार्य के प्रशिष्य श्रीअभयदेवसूरिने जयन्तविजय नामक काव्य (र. सं. १२७८) में भी किया है:—

"तच्छिष्यो जिनवल्लभो प्रभुरभूद् विश्वम्भराभामिनी—भास्वद्भालललामकोमलयशःस्तोमः क्षमाराभभूः।

यस्य श्रीनरवर्मभूपतिशिरःकोटीररत्नाङ्कुर–ज्योतिर्जालजलैरपुष्यत सदा पादारविन्दद्वयी ॥ १ ॥
कश्मीरानपहाय सन्ततहिमव्यासङ्गवैराग्यतः, प्रोन्मीलद्गुणसम्पदा परिचिते यस्यास्यपङ्केरुहे ।
सान्द्रामोदतरङ्गिता भगवती वाग्देवता तस्थुषी, धारालामलभव्यकाव्यरचनाव्याजादनृत्यच्चिरम् ॥ २ ॥

आचार्यपद और स्वर्गवास

जिनवल्लभगणि की प्रसिद्धि और प्रभाव को सुनकर श्रीदेवभद्राचार्य को अपने गुरु प्रसन्नचन्द्राचार्य का अन्तिमवाक्य स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा कि मैं अभी तक अपने गुरुश्री के आदेश के अनुसार जिनवल्लभगणि को श्रीअभयदेवाचार्य का पट्टधर नहीं बना सका। ऐसा विचार कर उन्होंने जिनवल्लभगणि को पत्र लिखा। उस पत्र में लिखा था–"तुम शीघ्र ही अपने समुदाय सहित विहार कर चित्रकूट आओ, मैं भी वहीं पर आरहा हूं।" जिनवल्लभगणि उस समय नागपुर(नागोर) में थे। वहां से वे विहार करके चित्रकूट(चितोड़) पहुँचे। देवभद्राचार्य भी अपने समुदाय सहित वहां पधारे। देवभद्राचार्य उस समय के परम प्रतिष्ठित गीतार्थसाधु और विद्वान थे। इनके द्वारा रचित महावीरचरियं, पासनाहचरियं, कहारयणकोस इत्यादि महाग्रन्थ आज भी जैन कथा–साहित्य में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। उन्होंने उस समय पं. सोमचन्द्र (जो कि आगे चल कर जिनवल्लभसूरि के पट्टधर युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए) को भी बुलाया था परन्तु वे किसी कारणवश न आ सके। आचार्य देवभद्रसूरिने विधिवत् श्रीजिनवल्लभगणि को श्रीअभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थापित किया और उस समय से वे श्रीजिनवल्लभसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। परन्तु वे इस पद पर अधिक समय तक न रह सके। उन्होंने ज्योतिष गणना

के अनुसार अपनी आयु छह वर्ष और समझी थी, परन्तु छह महीने ही बीते थे कि एकाएक उनका शरीर अस्वस्थ हो गया। यह देखकर उनको आश्चर्य हुआ और उन्होंने पुनर्गणना की तो, पता चला कि पहिले कुछ अङ्क छूट गये थे जिसके कारण छ महीने के स्थान पर छ वर्ष आये। ऐसा निश्चय होजाने पर उन महानुभावने अपने शरीरत्याग की तैयारी धैर्य और सन्तोष के साथ कर दी। संघ एकत्र हुआ; सर्व जीवों के प्रति आपने मैत्रीभाव को प्रकट करते हुए–अपराधों की क्षमा याचना की, अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म का शरण अंगीकार किया और तीन दिन का अनशन किया। इस प्रकार तैयार होकर सं. ११६७ कार्तिक कृष्णा अमावास्या–दीपावलि की मध्यरात्रि में पञ्चपरमेष्ठि का स्मरण करते हुए इस असार संसार को त्याग कर श्रीजिनवल्लभसूरिने चतुर्थ देवलोक की यात्रा की।

शास्त्रविरुद्ध आचरणा करनेवाले चैत्यवासियों के विरोध में आचार्य हरिभद्रसूरिने जो प्रचण्ड आवाज उठाई थी वह सफल हुई या नहीं कह नहीं सकते, परन्तु आचार्य जिनेश्वरसूरिने पत्तन में जाकर चैत्यवास, और चैत्यवासियों का समूलोच्छेदन करने के लिये जो चिनगारी छोड़ी थी उसको अपने प्रकाण्डपाण्डित्य और अपूर्व प्रतिभा से विभूषित जिनवल्लभगणि जिस प्रबल प्रभञ्जन को लेकर आगे बढे, उसमें चैत्यवास का महाद्रुम निर्मूल होकर धराशायी हो गया और उसके रहेसहे अवशेष आचार्य जिनदत्त-सूरि से लेकर द्वि. आचार्य जिनेश्वरसूरि तक के आचार्यादिने (गणिजी के अनुयायियोंने) सफाया कर दिया। अतएव जिनवल्लभ-गणि का जीवन एक क्रान्तिकारी जीवन था, जिसकी पवित्र और प्रभूत देनों के लिये जैन समाज उनका सदा के लिये ऋणी होगा। वे एक सच्चे सत्यप्रेमी साधु थे। आडम्बर से उन्हें घृणा थी और मिथ्याचरण से था हार्दिक विरोध। उन्होंने जिसको

एक बार सत्य समझा उसको अपनी ' कथनी ' और ' करणी ' में निर्भीक होकर उतारा। मनसा वाचा कर्मणा जिस सत्य की उपासना का आदर्श उन्होंने जैन-समाज के सामने रखा वह आज भी एक उच्च ज्योतिःस्तम्भ की भांति विद्यमान है। परन्तु क्या हम उसकी प्रखर-प्रभा को अपने अन्धकारपूर्ण हृदयों में आज घुसने दे रहे हैं?

ग्रन्थरचना

गणिवरजी १२ वीं शती के सुप्रसिद्ध उद्भट विद्वानों मे से एक थे। इनका अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, नाट्यशास्त्र, कामतन्त्र और सैद्धान्तिक विषयों पर एकाधिपत्य था। इन्होंने अपने जीवनकाल में विविध विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की थी, जिसका उल्लेख सुमतिगणि गणधरसार्द्धशतक की वृत्ति में इस प्रकार करते हैं:—

" परमशापि भगवतामवदातचरितनिधीनां श्रीमरुकोट्टसप्तवर्षप्रमितकृतनिवासपरिशीलितसमस्तागमानां समग्रगच्छादृतसूक्ष्मार्थ-सिद्धान्तविचारसार-षडशीति-सार्द्धशतकाख्यकर्मग्रन्थ-पिण्डविशुद्धि-पौषधविधि-प्रतिक्रमणसामाचारी-सङ्घपट्टक-धर्मशिक्षा-द्वादशकुलकरूपप्रकरण-प्रश्नोत्तरशतक-शृङ्गारशतक--नानाप्रकारविचित्रचित्रकाव्य--शतसङ्ख्यस्तुतिस्तोत्रादिरूपकीर्तिपताका सकलं महीमण्डलं मण्डयन्ती विद्वज्जनमनांसि प्रमोदयति। "

किन्तु दैवदुर्विपाक से बहुत से अमूल्य ग्रन्थ नष्ट होगए और इस कारण से इस समय केवल ४१ रचनायें ही प्राप्त हैं और दो के केवल नामोल्लेख ही मिलते हैं। उपलब्ध ग्रन्थों की तालिका निम्न है:—

१ सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार (सार्द्धशतक) प्रकरण, २ आगमिकवस्तुविचारसार (षडशीति) प्रकरण, ३ पिण्डविशुद्धि प्रकरण,

४ पौषधविधि प्रकरण, ५ प्रतिक्रमणसामाचारी, ६ सर्वजीवशरीरावगाहनास्तव, ७ श्रावकव्रतकुलक, ८ द्वादशकुलक, ९ धर्मशिक्षा, १० सङ्घपट्टक, ११ प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्यम्, १२ शृङ्गारशतक, १३–१७ आदिनाथादि चरित्र पञ्चक, १८ वीरचरित्र (जय भववण० प्रा. गा. १५), १९ चतुर्विंशति जिनस्तोत्र (आ. भीमभव. गा. १४५), २० पञ्चकल्याणकस्तव (सम्मं नमिऊण. प्रा. गा. २६) २१ सर्व जिनपञ्चकल्याणकस्तव (पणमियसुर. प्रा. गा. ८), २२ नन्दीश्वरस्तोत्र (वंदिय नंदिय. प्रा. गा. २५), २३ ऋषभजिनस्तोत्र (सयलभुवणिक्क. प्रा. गा. ३३), २४ लघु अजितशान्तिस्तव (उल्लासि० प्रा. गा. १७), २५ ऋषभस्तुतिः (मरुदेवीनाभि० प्रा. गा. ४), २६ पार्श्वस्तोत्र (सिरिभवण० प्रा. गा. ११), २७ क्षुद्रोपद्रवहर पार्श्वस्तोत्र (नमिरसुरासुर० प्रा. गा. २२), २८ महावीरविज्ञप्तिका (सुरनरवइकयवंदण. प्रा. गा. १२), २९ महाभक्तिगर्भा सर्वविज्ञप्तिका (लोयालोय० प्रा. गा. २७), ३० भावारिवारणस्तोत्र (समसस्कृतप्राकृत गा. ३०), ३१ पञ्चकल्याणकस्तोत्र (प्रीतिद्वात्रिंशत् स. प. १३), ३२ कल्याणकस्तव (पुरन्दरपुरस्पर्द्धि० सं. प. ७), ३३ सर्वजिनस्तोत्र (प्रीतिप्रसन्नमुख० सं. प. २३), ३४ वीतरागस्तुतिः (देवाधीशकृते० सं. प. १०), ३५ पार्श्वस्तोत्र (नमस्यद्गीर्वाण. सं. प. ३३, प्रथमकृति[1]), ३६ पार्श्वस्तोत्र (पायात्पार्श्वः सं. प. २९) ३७ पार्श्वस्तोत्र (समुद्यन्तो० सं. प. १८) ३८ पार्श्वस्तोत्र (विनयविनमद्. सं. प. १९), ३९ पार्श्वस्तोत्र (त्वमेव माता त्वं पिता. सं. प. ९), ४० सरस्वतीस्तोत्र (सरभसलसद् सं. प. २५), ४१ नवकारस्तव (किं किं कप्पतरु० अपभ्रंश प. १३),

अनुपलब्ध—१ स्वप्नाष्टकविचार, २ अष्टसप्तति ।

१ " अज्ञानाद् भणिति स्थिवेः प्रथमकाभ्यासात् कवित्वस्य यत्, किञ्चित्सम्भ्रमहर्षविस्मयवशाचायुक्तमुक्ते मया ॥ ३३ ॥ "

इन ग्रन्थों में सार्द्धशतक, षडशीति और पिण्डविशुद्धि ये तीनों ही सैद्धान्तिक ग्रन्थ बहुत ही महत्व के हैं। इन ग्रन्थों पर आचार्य मलयगिरि, धनेश्वराचार्य, हरिभद्राचार्य, मुनिचन्द्राचार्य, श्रीचन्द्राचार्य, यशोदेवाचार्य आदि ने तत्काल ही अर्थात् १२ वीं शती में ही टीकाएं रचकर इनकी सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध की। और भी इनके प्रायः समग्र ग्रन्थों पर अनेक टीकाएं प्राप्त होती हैं, उन सब का उल्लेख, और गणिजी के काव्यवैशिष्ट्य पर वल्लभभारती की प्रस्तावना में हम प्रकाश डालेंगे। अतः यहां पर कवि की विशदप्राज्ञता और टीकाकारों के व्यक्तित्व आदि पर विचार नहीं कर रहे हैं।

विरोधियों के असफल प्रयत्न

आचार्य जिनवल्लभसूरि के व्यक्तित्व और असाधारण-प्रतिभा से उत्पीडित परवर्ती कई लेखकोंने असंभाव्य कल्पनाएं उत्पन्न कर उनके व्यक्तित्व को दूषित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के अवांछनीय दुष्प्रयत्न करनेवालों में, (साहित्य में शोध करने पर) हमें सर्वप्रथम उपाध्याय धर्मसागरजी के दर्शन होते हैं। धर्मसागरजी जैसे उद्भट विद्वान थे वैसे ही यदि शान्तिप्रिय और शासनप्रेमी होते तो निश्चित ही महापुरुषों की कोटि में आते। पर शोक!!, उस शताब्दि में उनके जैसा दुराग्रही, कलहप्रेमी, उच्छृंखल और निह्नव दूसरा व्यक्ति नहीं हुआ, जिसको तत्कालीन गणनायकों-विजयदानसूरि तथा विजयहीरसूरि जैसों को-बारंबार बोल (आदेशपत्र) निकाल कर गच्छ बहिष्कृत करना पड़ा और उनके उत्सूत्र प्ररूपणामय ग्रन्थों को जलशरण करवाना पड़ा। अतः ऐसी अवस्था में धर्मसागरजी कल्पित विकल्पों का उत्तर देना तो नहीं चाहिये किन्तु आज भी उन्हीं के वचनों का उद्धरण देकर समाज में विष फैलानेवाले मानविजयजी आदि कई विघ्नप्रेमी मौजूद हैं। अतः उनका कुछ समाधान होजाय

और साहित्य-जगत् में यथार्थ स्थिति का दिग्दर्शन होजाय, इसलिये उनके प्रमुख प्रमुख विकल्पों पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। सागरजीने जिनवल्लभगणि के विषय में जो विभिन्न विवाद उठाये हैं उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

१—आचार्य अभयदेवसूरि के पास इनने उपसम्पदा ग्रहण नहीं की थी, अर्थात् शिष्य नहीं बने थे। २—षट्कल्याणक की प्ररूपणा उनकी उत्सूत्रप्ररूपणा थी। ३—उत्सूत्रप्ररूपणा के कारण वे संघ बहिष्कृत थे। ४—पिण्डविशुद्धि आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के प्रणेता जिनवल्लभ नाम के कोई दूसरे आचार्य थे। अतः अब इन चारों विकल्पों पर हम क्रमशः विचार करते हैं:—

उपसम्पदा

वस्तुतः यदि कोई व्यक्ति गच्छ-व्यामोह से प्रमाणों के सद्भाव में भी केवल 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धिमान् पुरुषो भवेत्' नीति को अपनाकर अपने हृदय की कालिमा को महापुरुषों पर लगाने का प्रयत्न करता है तो वह दया का पात्र ही है। आधुनिक समय में ही देखिये, महात्मा गांधी के सत्प्रयत्नों को सहन न कर अपनी दूषित मनोवृत्तियों से उनका वध करनेवाला गोडसे, महात्मा के नाम के साथ ही सर्वदा के लिये अमर हो गया! उसी प्रकार अपनी निह्नवताभरी प्ररूपणाओं से संघर्ष-साहित्य में धर्मसागरजी भी सदा के लिये उल्लेखनीय हो गये।

आचार्य जिनवल्लभसूरि के वृत्त को हम ऊपर देख आये हैं कि मूल में आप कूर्चपुरीय चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के शिष्य थे और आचार्य अभयदेवसूरि से सैद्धान्तिक वाचना प्राप्तकर, सुविहित साधुओं के आचरण-व्यवहारों को समझकर, चैत्यवास त्यागकर अभयदेवाचार्य के पास उपसम्पदा (पुनर्दीक्षा) ग्रहण की। धर्मसागरजी से चार शताब्दि पूर्व ही श्रीसुमतिगणि और

जिनपालोपाध्याय (जिनका अस्तित्व दीक्षा पर्याय १२२४ से १३१० तक है) ने अपने ग्रन्थों में यह बात स्वीकार की है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य और नवाङ्गटीकाकार श्रीअभयदेवसूरि के सतीर्थ्य-गुरुभ्राता श्रीजिनचन्द्रसूरिने सं. ११२५ में संवेगरंगशाला नामक कथा-ग्रन्थ की रचना पूर्ण की। उसकी पुष्पिका मे लिखा है—

"इति श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिकृता तद्विनेयश्रीप्रसन्नचन्द्रसूरिसमभ्यर्थितेन गुणचन्द्रगणि(ना) प्रतिसंस्कृता, जिनवल्लभगणिना च संशोधिता, संवेगरङ्गशालाऽऽराधना समाप्ता।" अर्थात्–श्रीजिनचन्द्रसूरिप्रणीत उनके विनेय प्रसन्नचन्द्राचार्य की अभ्यर्थना से गुणचन्द्रगणि (जो आचार्य बनने पर देवभद्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए) द्वारा प्रतिसंस्कृत और गणि जिनवल्लभ द्वारा संशोधित संवेगरंगशाला पूर्ण हुई+। इससे स्पष्ट है कि यदि जिनवल्लभगणि उपसम्पदा ग्रहण कर आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य न बने होते तो जिनचन्द्रसूरि जैसे, अपने सतीर्थ्य अभयदेवसूरि, एवं शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य, हरिभद्रसूरि, वर्धमानसूरि आदि समर्थ विद्वानों के रहते हुए एक चैत्यवासी गणि से अपनी कृति का संशोधन करवांय–संभावना नहीं की जा सकती।

सतगुरु में जिनवल्लभगणि यदि अभयदेवसूरि के शिष्य बने न होते और उत्सूत्रप्ररूपक होते तो अभयदेवसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् गच्छ में असाधारण प्रतिभाशाली और गीतार्थप्रवर आचार्य देवभद्रसूरि, जिनके सम्बन्ध में सुमतिगणि कहते हैं:—

"सत्तर्कन्यायचर्चार्चितचतुरगिरः श्रीप्रसन्नेन्दुसूरिः, सूरिः श्रीवर्द्धमानो यतिपतिहरिभद्रो मुनिर्देवभद्रः।

+ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि–सं. ११२५ से पूर्व ही जिनवल्लभगणि चैत्यवास का परित्याग कर उपसंपदा ग्रहणपूर्वक नवांगटीकाकार अभयदेवसूरि के शिष्य बन चुके थे। सम्पादक।

इत्याद्याः सर्वविद्यार्णवसकलभुवः सञ्चरिष्णुरुकीर्त्तिः, स्तम्भायन्तेऽधुनापि श्रुतचरणरमाराजिनो यस्य शिष्याः ॥१॥"

वे अपने हाथों से गणि जिनवल्लभ को आचार्य अभयदेवसूरि के पट्टधर पद पर कदापि स्थापित नहीं करते । स्थापित करना स्पष्ट प्रतिपादन करता है कि गणिजीने आचार्य अभयदेवसूरिजी के पास में उपसम्पदा ग्रहण करली थी, अर्थात् शिष्यत्व स्वीकार कर चुके थे । सं. ११७० में लिखित पट्टावलि में कवि पल्ह जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का पट्टधर स्वीकार करते हैं:—

सुगुरु जिणेसरसूरि नियमि जिणचंदु सुसंजमि । अभयदेउ सव्वंग नाणी, जिणवल्लहु आगमि ॥ "

आचार्य जिनवल्लभसूरि के प्रपौत्र पट्टधर और उ. जिनपाल तथा सुमति गणि के गुरु आचार्य जिनपतिसूरि स्वरचित संघपट्टक वृत्ति मे लिखते हैं कि–'चैत्यवास को चतुर्गतिभ्रमणदायक मानकर जिनवल्लभजीने आचार्य अभयदेवसूरि के पास उपसम्पदा ग्रहण की थी ':—

" सुगृहीतनामधेयः, प्रणतप्राणिसन्दोहवितीर्णशुभभागधेयः, चैत्यवासदोषभासनसिद्धान्ताकर्णनापासितकृतचतुर्गतिसंसारायासजिनभवनवासः, सर्वज्ञशासनोत्तमाङ्गस्थाना[ङ्गा]दिनवाङ्गवृत्तिकृच्छ्रीमदभयदेवसूरिपादसरोजमूले गृहीतचारित्रोपसम्पत्तिः, करुणासुधातरङ्गिणीतरङ्गरङ्गत्स्वान्तः सुविधिमार्गावभासनप्रादुःपद्विशदकीर्त्तिकौमुदीलिपूदितदिक्सीमन्तिनीवदनध्वान्तः,'स्वस्योपसर्गमभ्युपगम्यापि विदुषा दुरध्वविध्वंसनमेवाधेयमिति ' सत्पुरुषपदवीमद्वीयसीं विदधानः, समुज्जितसूरिर्भगवान् श्रीजिनवल्लभसूरिः.... । "

साथ ही इन्हीं जिनवल्लभ गणि रचित सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार (सार्द्धशतक) प्रकरण पर बृहद्गच्छीय श्रीधनेश्वराचार्यने सं. ११७१ में टीका रचना पूर्ण की है, (स्मरण रहे कि जिनवल्लभसूरि का स्वर्गवास ११६७ मे हुआ था, उसके चार वर्ष पश्चात्

ही इसकी रचना हुई है। अर्थात् ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों समकालीन आचार्य हैं) उसमें १५२ वें पद्य की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं:—

" जिनवल्लभगणि " त्ति जिनवल्लभगणिनामकेन मतिमता सकलार्थसङ्ग्राहिस्थानाङ्गाद्यङ्गोपाङ्गपञ्चाशकादिशास्त्रवृत्तिविधाना-प्तावदातकीर्तिसुधाधवलितधरामण्डलानां श्रीमदभयदेवसूरीणां शिष्येण ' लिखितं ' कर्मप्रकृत्यादिगम्भीरशास्त्रेभ्यः समुद्धृत्य दृब्धं-जिनवल्लभगणिलिखितम्........।" अर्थात्–सार्द्धशतक के प्रणेता स्थानांगसूत्रादि अगोपांग और पंचाशक आदि के व्याख्याकार आचार्य अभयदेवसूरि के ही शिष्य थे। इससे भी यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि अभयदेवसूरि इनको उपसम्पदा प्रदान कर अपना शिष्य घोषित कर चुके थे। केवल ये ही नहीं किन्तु धर्मसागरजी के ही पूर्वज तपगच्छीय श्रीहेमहंससूरि (

) अपने कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

" नवाङ्गीवृत्तिकारक श्रीअभयदेवसूरि जिणे थंभणे सेढी नदीनैं उपकंठी श्रीपार्श्वनाथ तणी स्तुति करी, धरणेन्द्र सहायै श्रीपार्श्व-बिम्ब प्रकाश कीधो, शरीरतणो कोढ रोग उपशमाव्यो, तच्छिष्य जिनवल्लभसूरि हुआ, चारित्रनिर्मल अनेकग्रन्थतणो निर्माण कीधो।"

और इसी प्रकार तपागच्छीय आचार्य मुनिसुन्दरसूरि स्वप्रणीत त्रिदशतरङ्गिणी ×गुर्वावली में लिखते हैं:—

" व्याख्याताऽभयदेवसूरिरमलप्रज्ञो नवाङ्ग्या पुन–र्भव्यानां जिनदत्तसूरिरददाद् दीक्षां सहस्रस्य तु।
प्रौढः श्रीजिनवल्लभो गुरुरभूद् ज्ञानादिलक्ष्म्या पुन–र्ग्रन्थान् श्रीतिलकश्चकार विविधांश्चन्द्रप्रभाचार्यवत् ॥१॥"

× न आगमकृत प्रश्नोत्तर ग्रन्थ देखें, जो स्वल्प काल में ही ' प्रश्नोत्तर–चत्वारिंशत् शतक ' के नाम से इस संपादक द्वारा प्रकाशित होने वाला है।

इत्यादि अवतरणों से सिद्ध है कि गणिजी नवाङ्गीवृत्तिकारक आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे। उपसम्पदा के विना शिष्यत्व स्वीकृत नहीं हो सकता तो पट्टधर आचार्यत्व की कल्पना-कल्पना मात्र ही रह जाती है। अतः यह मानना ही होगा कि जिनवल्लभगणिने चैत्यवास त्याग कर अभयदेवसूरि से उपसम्पदा ग्रहण की थी। इसलिये युगप्रधान जिनदत्तसूरि जैसे समर्थ विद्वान् स्थान स्थान पर जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं।

केवल यही नहीं किन्तु आचार्य जिनवल्लभसूरि स्वयं स्वप्रणीत श्रावकव्रतकुलक में आचार्य अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं:—

" जुगपवरागमसिरि-अभयदेवमुणिवइपमाणसुद्धेण। जिणवल्लहगणिणा गिहि-वयाइ लिहियाइ मुद्धेण ॥ २८ ॥ "

गणिजी स्वयं को आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य ही नहीं किन्तु अष्टसप्ततिका में तो जिनेश्वरसूरि का शिष्य और अभयदेवसूरि के पास श्रुताध्ययन और उपसम्पदा ग्रहण करने का उल्लेख भी करते हैं:—

" लोकार्च्यकूर्चपुरगच्छमहाघनोत्थ-मुक्ताफलोज्ज्वलजिनेश्वरसूरिशिष्यः।
प्राप्तः प्रथां भुवि गणिर्जिनवल्लभोऽत्र, तस्योपसम्पदमवाप्य ततः श्रुतं च ॥ "

साथ ही स्वप्रणीत प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं काव्य में जहां आचार्य अभयदेवसूरि को " के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसुश्रुता विश्रुताः ? " इस प्रश्न के उत्तर में "श्रीमदभयदेवाचार्याः" का उल्लेख किया है, उसकी अवचूरि करते हुए तपागच्छनायक श्रीसोमसुन्दरसूरि के शिष्यने (स. १४८६ में) ' सद्गुरवः ' के स्थान पर ' मद्गुरवः ' पाठ स्वीकार किया है:—

" श्रीपाके ' इति वचानात् श्रीधातुः। ममाभयं ददातीति मद्भयदस्तस्मिन् यो मद्भयं ददातीति, तत्र मम मनः प्रीतियुक्तं

मतीत्यभिप्रायः।...........इत्यादि स्वयं रचित ग्रन्थों के प्रमाणों से संदेह का अवकाश ही नहीं रह पाता।

षट्कल्याणक

शास्त्रीय मतानुसार प्रत्येक तीर्थंकर के च्यवन×, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पांचकल्याणक अनिवार्य रूप से होते ही हैं। परन्तु श्रमण भगवान् महावीर के इन पांच कल्याणों के अतिरिक्त एक छठा कल्याणक और हुआ, वह था गर्भापहरण*। यह घटना इस प्रकार वर्णित मिलती है:—

× इस प्रथम कल्याणक का नाम एक च्यवन ही नहीं, किंतु अवतरण गर्भ, गर्भाधान आदि अनेक नाम शास्त्रकार फरमाते हैं, जैसे कि आचार्य-जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी बृहत्संग्रहणी की "अवयरण जम्मनिक्खमणणाणनिव्वाण पचकल्लाणे। तित्थयराण नियमा, करति सेसेसु खित्तेसु ॥ १ ॥" इस गाथा में अवतरण कहते हैं, आचार्य हरिभद्रसूरिजी पंचाशक की "गब्भे जम्मे य तहा, णिक्खमणे चेव णाणनिव्वाणे। भुवणगुरूणं जिणाण, कल्लाणा होंति णायव्वा ॥ ३१ ॥" इस गाथा में गर्भकल्याणक और इसकी टीका में नवाङ्गटीकाकार आ. अभयदेवसूरिजी इसे गर्भाधान कहते हैं।

इन निर्दिष्ट प्रमाणों से निश्चित यह हुआ कि-देवलोक से च्यवनमात्र को ही नहीं अपितु च्यवकर माता की कुक्षि में तीर्थंकर गर्भतया उत्पन्न होना कल्याणक है, इसी कारण शास्त्रकार स्थान स्थान पर लिखते हैं कि-"चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते" अर्थात् देवलोक से च्यवे और च्यवकर माता की कुक्षि में गर्भतया उत्पन्न हुए। सपादक।

* जैसे च्यवन शब्द च्यवकर माता की कुक्षि में गर्भतया उत्पन्न होने का द्योतक है, वैसे ही गर्भापहार शब्द हरण मात्र का नहीं, किंतु देवानदा की कुक्षि से अपहरण द्वारा त्रिशला की कुक्षि में स्थापन करने रूप अर्थ का द्योतक है। यही बात तपागच्छीयोपाध्याय जयविजयजी कल्पदीपिका में लिखते हैं, "गर्भस्य-श्रीवर्द्धमानस्वामिनः हरण-त्रिशलाकुक्षौ सङ्क्रामण-गर्भहरण"॥ इस तरह त्रिशला की कुक्षि में गर्भाधानरूप गर्भहरण-गर्भापहार को कल्याणक न माना किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं, यदि उपरोक्त व्याख्योपेत गर्भापहार कल्याणक मानने योग्य न हो तो कल्पसूत्रोक्त "एए चउदस महासुमिणे

श्रमण भगवान महावीर का जीव दशम देवलोक से च्युत होकर आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिवस माहणकुण्डग्राम के निवासी कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त विप्र की पत्नी जालंधरा गोत्रीय देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुए। देवानन्दाने चौदह स्वप्न देखे। ८२ दिवस पश्चात् देवलोकस्थ सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से भगवान को देवानन्दा के गर्भ मे स्थित देखकर प्रसन्न होता है और श्रद्धापूर्वक 'नमुत्थुणं' आदि से स्तुति करता है। पश्चात् विचार करता है कि तीर्थंकर का जीव किसी अशुभ कर्मोदय के कारण श्रेष्ठ क्षत्रियवंशों का त्यागकर विप्रादि नीच कुलों में उत्पन्न हो सकता है, परन्तु उस निम्न कुल की माता की योनि से उनका जन्म कदापि नहीं होता। मैं इन्द्र हूं, भगवान का भक्त हूं, अतः मेरा जीताचार(कर्तव्य) है कि मैं गर्भसंक्रमण (अपहरण कर अन्य स्थान पर प्रक्षेप) करवाऊं ? इत्यादि विचार कर अपना आज्ञाकारी हरिणगमेषी नामक देव को बुलाता है और आदेश देता है कि तुम जाकर देवानन्दा के गर्भ में स्थित भगवान के जीव को लेकर क्षत्रियकुण्ड के अधिपति ज्ञातवंशीय काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थनरेश की पत्नी वाशिष्ठ गोत्रीय त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में स्थापित करो और त्रिशला की कुक्षि में स्थित पुत्री के गर्भ को देवानन्दा ब्राह्मणी के उदर में स्थापित करो ! आदेश प्राप्त कर हरिणगमेषी देव आता है और आश्विन कृष्णा त्रयोदशी की मध्यरात्रि में यह कार्य पूर्ण करता है। इसी रात्रि में त्रिशला क्षत्रियाणी १४ स्वप्न देखती है, राजा सिद्धार्थ से निवेदन करती है। नृपति सिद्धार्थ भी स्वप्नलक्षण पाठकों को बुलाकर स्वप्न फल पूछता है। तब मालूम होता है कि

सव्वा पासेइ तित्थगरमाया" इस नियमानुसार, और पचाशकोक्त कल्याणक के "कल्लाणफला य जीवाण" इस लक्षण से युक्त गर्भाधान कल्याणक सूचक १४ स्वप्न त्रिशलामाता न देखती। संपादक।

तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती का जीव त्रिशला की रत्नमयी कुक्षि से जन्म ग्रहण करेगा। उसी दिवस से धनद के आज्ञाकारी देव सर्व प्रकार के वस्तुओं की सिद्धार्थ के घर में वृद्धि करते हैं।

इसी गर्भापहरण को मंगलस्वरूप मानकर सब ही शास्त्रकारोंने इसे कल्याणक के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु अपनी आभिनिवेशिक मान्यता के वशीभूत होकर, शास्त्रीय मान्यता एवं परंपरा का त्याग कर, कई इस कल्याणक को कल्याणक के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता के अनुसार इसमें निम्नलिखित बाधाएँ हैं:—

१. गर्भहरण अतिनिन्द्य कार्य होने से आश्चर्य (अच्छेरा) १+। जो आश्चर्य हो वह मंगलस्वरूप कल्याणक नहीं माना जा सकता। २. शास्त्रों में किसी भी स्थल पर श्रमण भगवान महावीर के छ कल्याणक हुए हैं—स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। जहां कहीं भी उल्लेख है वह कल्याणक शब्द से अभिहित नहीं है किन्तु वस्तु या स्थान शब्द से कथित हैं। ३. पञ्चाशक शास्त्र में भूतानागत और भविष्यद् रूप त्रिकालभावि चौवीस चौवीस तीर्थंकरों के कल्याणकों की संख्या—परिमाण सूचन करने में महावीर के पाच ही कल्याणक माने है। टीकाकार अभयदेवसूरिने भी पांच ही लिखे है। यदि गर्भापहार छठा होता तो उसकी सख्या क्यों नहीं देते ?। ४. यदि 'पंच हत्थुत्तरे होत्था, साइणा परिनिव्वुए' आदि से गर्भहरण को भी कल्याणक

+ "नीचैर्गोत्रविपाकरूपस्य अतिनिन्द्यस्य आश्चर्यरूपस्य गर्भापहारस्यापि कल्याणकत्वकथन अनुचित" कल्पसु प १

इसी पर टिप्पन करते हुए आ० सागरानंद लिखते हैं—'गर्भापहारोऽशुभः'। "अकल्याणकभूतस्य गर्भापहारस्य" कल्पकिरणावली। "करोषि ? श्रीमहावीरे, कथ कल्याणकानि षट्। यत्तेष्वेकमकल्याणं, विप्रनीचकुलत्वतः ॥ १ ॥" गुरुतत्त्वप्रदीप। संपादक।

स्वीकार करते हो तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार 'पंच उत्तरासाढे अभीई छट्ठे होत्था' से ऋषभदेव का राज्याभिषेक नामक कल्याणक भी मानना चाहिए। ५. शास्त्रों में तथा किसी भी आचार्य द्वारा इसका उल्लेख न होने से यह प्रतिपादन अशास्त्रीय है, अतः उत्सूत्रप्ररूपणा है और इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम जिनवल्लभ गणिने ही किया है।

इन विकल्पों का समाधान (उत्तर) क्रमशः इस प्रकार है:—

१. यदि हम आश्चर्य को कल्याणक के रूप में स्वीकार न करें तो हमारे सन्मुख कई बाधाएँ उपस्थित होती हैं। शास्त्रों में जहां दश आश्चर्यों (अच्छेरों) का वर्णन है, उसमें १९ वे तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री रूप में होना भी एक आश्चर्य माना गया है। यदि नारी का तीर्थंकर होना आश्चर्य के अंतर्गत आता है तो सहज ही प्रश्न उठते है कि क्या उस नारी का तीर्थंकरत्व मंगलदायक हो सकता है? क्या उस नारी के जीवन की अमूल्य घटनाएं कल्याणक के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं? क्या उसकी तीर्थंकर उपाधि कल्याणकारक हो सकती है? क्या उसका शासन चतुर्विध संघ के लिये कल्याण–कारक हो सकता है? यदि भगवान् महावीर का गर्भापहरण कल्याणकस्वरूप नहीं हो सकता तो नारी का तीर्थंकरत्व कैसे कल्याणस्वरूप हो सकता है?

इसी प्रकार दूसरा एक आश्चर्य उत्कृष्ट देहधारी १०८ मुनियों के साथ भगवान ऋषभदेव का सिद्धिगमन (निर्वाण प्राप्त करना) है। ५०० धनुष परिमाण की देह उत्कृष्टदेह मानी जाती है। इस प्रकार के उत्कृष्ट देहधारी जीव एक समय में एक साथ दो ही मुक्ति जा सकते है, यह शास्त्रीय नियम है। दो से अधिक एक समय में मुक्ति नहीं जा सकते, इस शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन होने से इसे आश्चर्य मानते हैं तो, क्या हम इसको आश्चर्य मानकर मंगलदायक कल्याणक स्वीकार नहीं कर सकते? यदि

हम इसे कल्याणक स्वीकार नहीं करते हैं तो प्रभु ऋषभदेव का निर्वाण प्राप्त करना उनके स्वयं के लिये मंगलस्वरूप, आनन्दधाम-प्राप्तिरूप कदापि नहीं हो सकता तथा उनका निर्वाण कल्याणक, समाज के लिये श्रेयस्कर भी नहीं हो सकता। परन्तु आश्चर्य है कि हम इसे मंगल-स्वरूप कल्याणक अंगीकार करते हैं–करना ही पड़ता है। अतः विचार करना चाहिये कि एक आश्चर्य को तो हम कल्याणक नहीं मानते और दो आश्चर्यों को कल्याणक रूप में स्वीकार करते हैं, क्या यह नीति उचित कही जा सकती है?

यदि गर्भापहार मंगलमय न होता तो आचार्य हेमचन्द्रसूरि अपने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के दशमपर्व, द्वितीय सर्ग में इसे मंगलस्वरूप कदापि स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं:—

" देवानन्दागर्भगते, प्रभौ तस्य द्विजन्मनः। बभूव महती ऋद्धिः, कल्पद्रुम इवागते ॥ ६ ॥
तस्या गर्भस्थिते नाथे, द्व्यशीतिदिवसात्यये। सौधर्मकल्पाधिपतेः, सिंहासनमकम्पत ॥ ७ ॥ +
ज्ञात्वा चावधिना देवा-नन्दागर्भगतं प्रभुम्। सिंहासनात् समुत्थाय, शक्रो नत्वेत्यचिन्तयत् ॥ ८ ॥

× × × ×

+ इस पद्यमें कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि स्पष्ट फरमाते हैं कि–देवानन्दा की कुक्षिमें प्रभु महावीरदेव के अवतरित होनेको बयासी दिवस बीत जाने पर सौधर्मेन्द्रका आसन कंपित हुआ, अतः शान्तिचन्द्रीय जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति के—" तदेव हि कल्याणकं यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधयः सकलसुरासुरेन्द्रा जीतमिति विवित्सवो युगपत्ससम्भ्रमा उपतिष्ठन्ते " इस कथनानुसार जिसमें इन्द्रादि देवताओंका आना प्रभृति न हुआ हो उसे कल्याणक न माननेवालोंने देवानन्दाकी कुक्षिमें वीरविभुके अवतरणको, जिसे कि हरिभद्रसूरि व अभयदेवसूरि जैसे प्रामाणिक आचार्योंने पचाशक प्रकरण मूल व वृत्तिमें स्पष्टतया कल्याणक माना है, उसे कल्याणक नहीं मानना चाहिये। सपादक।

कृष्णाश्विनत्रयोदश्यां, चन्द्रे हस्तोत्तरास्थिते। स देवस्त्रिशलागर्भे, स्वामिनं निभृतं न्यधात् ॥ २९ ॥
गजो वृषो हरिः साभि–षेकश्रीः स्रक् शशी रवि। महाध्वजः पूर्णकुम्भः, पद्मसरः सरित्पतिः ॥ ३० ॥
विमानं रत्नपुञ्जश्च, निर्धूमोऽग्निरिति क्रमात्। ददर्श स्वामिनी स्वप्नान्, मुखे प्रविशतस्तदा ॥ ३१ ॥
इन्द्रैः पत्या च तज्ज्ञैश्च, तीर्थकृज्जन्मलक्षणे। उदीरिते स्वप्नफले, त्रिशलादेव्यमोदत ॥ ३२ ॥
गर्भस्थेऽथ प्रभो शक्रा–ऽऽज्ञया जृम्भकनाकिनः। भूयो भूयो निधानानि, न्यधुः सिद्धार्थवेश्मनि ॥ ३४ ॥"

यदि हम देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना कल्याणक मानते हैं और त्रिशला की कुक्षि में संक्रमण होना कल्याणक नहीं मानते हैं तो यह कितना अयुक्त होगा ? जहां हरण को अतिनिन्द्य कार्य स्वीकार करते हैं वहां विप्र कुल में उत्पन्न होना भी नीच गोत्र कर्मविपाक के उदय से मानते हैं–दोनों ही जघन्यता की कोटि में आते हैं। उस अवस्था में एक का अंगीकार और एक का त्याग कदापि युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात, च्यवन के पश्चात् जो देवोचित कर्तव्य होते हैं वे हरण के पश्चात् ही हुए हैं, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख मिलता है, तथा गर्भापहरण यदि कल्याणक न होता तो आचार्य भद्रबाहुस्वामी जैसे इस अतिनिन्द्य कार्य का शास्त्रों में विस्तार से वर्णन कदापि नहीं करते, उनका यह प्रतिपादन हमें एक नूतन दृष्टिप्रदान करता है कि प्रभु महावीर के कल्याणकों की संख्या हमें ५ ही स्वीकार हो तो देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होने से न मान कर गर्भहरण के बाद से ही संख्या मानें।

२. शास्त्रीय उल्लेखों में हम किसी गच्छ के अथवा आचार्यों के उल्लेख न देकर कतिपय शास्त्रीय उल्लेखों पर ही विचार करते हैं:–

जैनागमों में प्रथम अंग श्रीआचाराङ्गसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावनाध्ययन में वीरचरित्र का वर्णन करते हुए गणधरदेव लिखते हैं:—

" ते णं काले णं ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे यावि होत्था, तं जहा—१. हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्ते, २. हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३. हत्थुत्तराहिं जाए, ४. हत्थुत्तराहिं सव्वतो सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हत्थुत्तराहिं कसिणे पडिपुण्णे निव्वाघाए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने, ६. साइणा भगवं परिनिव्वुए+ । "

इसकी टीका करते हुए व्याख्याकार आचार्य शीलाङ्कसूरिने भी× छ ही कल्याणक स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार श्रीकल्पसूत्र के प्रारंभ में भी पाठ आता है:—

+ इस पाठका अर्थ नागपुरीय तपागच्छ के मुख्य प्रतिष्ठापक आचार्य पार्श्वचन्द्रसूरि इस प्रकार लिखते हैं–

" श्रीमहावीर तेहना पच कल्याणिक हस्तोत्तरा नक्षत्रमांहि हुआ, जिणि उत्तरा नक्षत्र आगलि हस्त छे ते हस्तोत्तरा कहिये, एतले उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमांहि पच कल्याणिक हुआ, ते कल्याणिक केहा ? कहे छे–हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि स्वामी चव्या. चवीने गर्भि ऊपना १, हस्तोत्तरा नक्षत्रमांहि गर्भ थकी बीजे गर्भि साहर्या २, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि स्वामी जन्म पाम्या ३, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि × × × अणगारपणे प्रव्रजित हुआ. एतावता संयम आदर्यो ४, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि × × × स्वामी केवली हुआ ५, साइणा–स्वाति नक्षत्रे भगवत श्रीमहावीर निर्वाण पदिइ पहुंता ६ । "

(आचारांग सूत्र. बाबू प्र. पत्र २३९ व २४२)

× पञ्चसु स्थानेषु गर्भाधान–संहरण–जन्म–दीक्षा–ज्ञानोत्पत्तिरूपेषु संवृत्ता, अतः पञ्चहस्तोत्तरो भगवानभूदिति " इस टीका पाठसे गर्भाधानादि जिन पांच स्थानों में हस्तोत्तरा नक्षत्र होनेका कहा गया है उन पाच स्थानों में से चार को कल्याणक और एक गर्भसंहरण को अकल्याणक नहीं बताया, अतः छः कल्याणक ही मानना टीकाकारके अभिप्राय से युक्तियुक्त है।

" ते णं काले णं ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा—१. हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, २. हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३. हत्थुत्तराहिं जाए, ४. हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने, ६. साइणा परिनिव्वुए भयवं।"

इसकी भी टीका करते हुए केवल कुछ तपगच्छीय आचार्यों को छोडकर प्रायः सब ही टीका व टबार्थकारोंने छ ही कल्याणक हुए, ऐसा स्वीकार किया है।

स्थानाङ्ग सूत्र के पञ्चम स्थानक में पद्मप्रभ, सुविधि, शीतल आदि महावीर पर्यन्त के चौदह तीर्थंकरों के एक एक नक्षत्र में पांच पांच कल्याणकों की गणना करते हुए कुल ७० कल्याणक हुए, करके पाठ दिखाया है उसमें वीर के पांच कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र में हुए:—

" समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा—हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता जाव पवइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने।"

इसकी टीका करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं:—

" समणे, इत्यादि। हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तोत्तरा, हस्तो वा उत्तरो यासां हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः पञ्चसु च्यवनगर्भ-हरणादिषु हस्तोत्तरा यस्य स तथा, गर्भाद्—गर्भस्थानात् ' गब्भं 'ति गर्भे—गर्भस्थानान्तरे संहृतः—नीतः। निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकामावास्यायाम्।"

इसमें तेरह तीर्थङ्करों के पांच पांच कल्याणक एक एक नक्षत्र में होने से कुल मिलाकर ६५ होते हैं और उसमें महावीर के गर्भहरणसहित केवलज्ञान प्राप्ति तक ५ कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र में हुए, स्वीकार कर ७० की संख्या पूर्ण करते हैं। इसमें निर्वाण सम्मिलित नहीं है। क्या यहाँ निर्वाण को कल्याणक न माना जाय ? और उसे यदि मानते हैं तो ६ हो ही जाते हैं इसीलिये आचार्य अभयदेवसूरि को विशिष्ट रूप से लिखना पड़ा कि 'निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकाऽमावस्यायाम्' इति। अतः यह स्पष्ट है कि शास्त्रकारों ने गर्भहरण को कल्याणक के रूप में स्वीकार किया है। यदि गर्भपरिवर्तन अतिनिन्द्य और अशुभ होता तो इसे मङ्गलमय कल्याणकों की गणना में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी। इसमें ग्रहण करना सूचित करता है कि गर्भपरिवर्तन भी मङ्गलस्वरूप कल्याणक है।

यहां पर यदि यह विचार किया जाय कि इसमें कहीं भी कल्याणक शब्द की गन्ध तक हमें प्राप्त नहीं होती अपितु इसमें केवल इतना ही कहा गया है कि इस नक्षत्र में ये वस्तुएं हुईं, तो इसे कल्याणक के रूप में कैसे स्वीकार किया जाय ? यह केवल मतिविभ्रम है, विद्वत्तापूर्ण विचार नहीं। यहां पर वस्तु ही कल्याणक का पर्यायवाची शब्द है, इसीसे कल्याणक ग्रहण किया जाता है। इस एकार्थक को हम यदि स्वीकार न करें तो हमारे सामने अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तिएं खड़ी हो जायेंगी। कुछ स्थलों को छोड़कर हमें कहीं भी और किसी भी शास्त्र में कल्याणक शब्द पृथक् रूप से प्राप्त नहीं होता, हमें केवल लक्षणा से ही ग्रहण करना होता है। ऐसी अवस्था में क्या हम च्यवन से निर्वाण पदप्राप्ति पर्यन्त की वस्तुओं को कल्याणक स्वीकार नहीं करेंगे ? स्थानाङ्गसूत्र में प्रतिपादित १४ तीर्थङ्करों के ७० कल्याणकों को अंगीकार नहीं करेंगे ? कल्पसूत्र पार्श्वनाथ, नेमिनाथ

आदि चरित्रानुसार, वहां भी कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने से क्या हम उनके भी कल्याणक स्वीकार नहीं करेंगे ? नहीं, हमें स्वीकार करना होगा। अन्यथा कल्याणकों का ही स्पष्टतः अत्यन्ताभाव हो जायगा, जो सचमुच में शास्त्रविरुद्ध प्रलापमात्र होगा, कल्याणकों का अभाव अर्थात् मङ्गलदायक वस्तुओं का अभाव होगा। कल्याणकों का अभाव होने से इन्द्रादिक देवताओं की की हुई श्रद्धापूर्वक सम्यग् आराधना केवल ढोंग मात्र ही होगी, भक्ति नहीं। अतः कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने पर भी हमें लक्षणा से कल्याणक ग्रहण करना ही होगा।

यही नहीं, किन्तु तीर्थंकर का जीव पूर्वभवों में जिस भव से वह सम्यक्त्व अर्जन करता है वहां से लेकर तीर्थंकर भव तक उसके सभी भव 'उत्तमभव' माने जाते हैं। कल्पसूत्रादि शास्त्रों में प्रभु महावीर का भव पोट्टिल राजपुत्र के भव से पंचम भव माना जाता है, परन्तु समवायाङ्गसूत्र में गणधरदेव महावीर का पंचम भव देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना और छठा भव त्रिशलारानी की कुक्षि में उत्पन्न होना और तीर्थंकर रूप से जन्म लेना मानते हैं—

"समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छठ्ठे पोट्टिलभवग्गहणे एगं वासकोडिं सामन्नं परियागं पाउणित्ता सहस्सारे कप्पे सव्वट्ठविमाणे देवत्ताए उववन्ने।"

श्रमण तपस्वी भगवान महावीर के पोट्टिल के भव से पांच ही भव माने गये, यह छठा भव कैसा ? इसका भ्रम न हो इसलिये टीकाकार अभयदेवसूरि स्पष्ट कर देते हैं:—

"समणे, इत्यादि। किल भगवान् पोट्टिलाभिधानो राजपुत्रो बभूव। तत्र वर्षकोटिं प्रव्रज्यां पालितवान् इत्येको भवः। ततो

देवोऽभूदिति द्वितीयः। ततो नन्दाभिधानो राजसूनुः छत्रानगर्यां जज्ञे इति तृतीयः। तत्र वर्षलक्षं सर्वदा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवत् इति चतुर्थः। ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्त-ब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानायाः कुक्षौ उत्पन्नः इति पञ्चमः। ततो द्व्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्यायाः कुक्षौ इन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहृतः-नीतः तीर्थङ्करतया च जातः, इति षष्ठः। उक्त-भवग्रहणं हि विना नान्यद्भवग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवतः, इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भवग्रहणादिदं षष्ठं तदप्ये-तस्मात् षष्ठमेवेति, सुष्ठूच्यते तीर्थङ्करभवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति।"

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देवानन्दा की कुक्षि मे उत्पन्न होना और उससे अपहृत होकर त्रिशलाकुक्षि में धारण होना अतिनिन्द्य या आश्चर्य नहीं किन्तु उत्तम भव है। अतः पृथक् भवनिर्देश से उत्तम भव होने के कारण यह स्वतः ही मङ्गलस्वरूप कल्याणक हो जाता है।

३-पञ्चाशक प्रकरण एवं टीकाकार अभयदेवसूरि द्वारा पञ्चकल्याणक स्वीकार करना अपना निजी महत्त्व रखता है। वहां सामान्य रूप से २४ तीर्थङ्करों के कल्याणकों की गणना का प्रसंग होने से पांच ही कहे गये हैं, इससे ६ कल्याणक की मान्यता में यत्किञ्चित् भी बाधा नहीं आती। देखिये, जिस प्रकार चौवीश तीर्थङ्करों की सामान्य गणना में १९ वें तीर्थंकर मल्लिप्रभु की स्त्रीरूप मे गणना नहीं करते हैं किन्तु मल्लिनाथजी कहकर पुरुष रूप में गिनते हैं। परन्तु विशिष्ट व्याख्या में या प्रसंग में मल्लि स्त्री थी, कहते हैं तो, क्या सामान्य प्रसंग से मल्लिप्रभुका स्त्रीत्व छूट जाता है, और क्या वे पुरुष मान ली जाती हैं? नहीं।

इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर की माता चौदह स्वप्न देखती है। उसमें ऋषभदेव की जननी वृषभ से, महावीर प्रभु की जननी सिंह से और अवशिष्ट अजितनाथ से पार्श्वनाथ पर्यन्त २२ की माताएं हस्ति से लेकर निर्धूम अग्निशिखा पर्यन्त चौदह स्वप्न देखती हैं। कल्पसूत्र में वीरचरित्र में त्रिशलाद्वारा दृष्ट स्वप्नों के अधिकार में आचार्य भद्रबाहुस्वामी, सामान्य पाठ होने से एवं बहुलता की रक्षा करने के लिये सिंह स्वप्न से वर्णन प्रारंभ न कर हस्ति स्वप्न से ही वर्णन प्रारंभ करते हैं, तो क्या यह मान सकते है कि त्रिशला ने चौदह स्वप्नों में सर्वप्रथम सिंह का स्वप्न न देखकर हाथी का स्वप्न देखा था ?

यही क्यों ? आचार्य जिनवल्लभसूरिने स्वयं सर्व जिन पञ्चकल्याणकस्तोत्रों में सामान्य जिनेश्वरों की स्तुति एवं कल्याणकनिर्देश मात्र होने से महावीरप्रभु के पांच ही कहे हैं, तो क्या हमें जिनवल्लभसूरि का ही पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना होगा ? या उन्हें वितथवचनी कहना होगा ? कदापि नहीं। वस्तुतः सामान्य प्रसंग से पञ्चाशक में महावीरदेव के पांच ही कल्याणक कहे हैं तो अतिरिक्त कल्याणक का अभाव नहीं हो जाता। अतः सामान्य विशेष व्याख्या को मध्यस्थ दृष्टि से देखें तो छ कल्याणक की मान्यता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

४—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के 'उसभे णं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीई छट्ठे होत्था' इस पाठ के अनुसार यहां यह सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि क्या शास्त्रकार ने राज्याभिषेक को कल्याणक स्वीकार कर 'पंच उत्तरासाढे' कहा है ? परन्तु इसका समाधान इसकी टीका करते हुए टीकाकार तपागच्छीय आचार्य विजयसेनसूरि के शिष्य श्रीशान्तिचन्द्रगणि (जो धर्मसागरजी के ही समकालीन विद्वान थे) कहते हैं कि '**वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः**' महावीर के गर्भहरण की तरह यह

कल्याणक नहीं है, किन्तु राज्याभिषेक इन्द्र कर्तव्य होने से लक्षणा के साधर्म्य से एवं उत्तराषाढा नामक एक नक्षत्र में होने से शास्त्रकारने ' पंच उत्तरासाढे ' कहा है, इसमें कोई दोष नहीं है। इसीलिये आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने कल्पसूत्र में ' उसभे णं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीई पंचमे होत्था ' कहा है। अर्थात् चार कल्याणक उत्तराषाढा नक्षत्र में हुए हैं और पांचवां (निर्वाण) अभिजित नक्षत्र में। टीकाकार का पूरा मन्तव्य इस प्रकार है:—

" ननु अस्मादेव विभागसूत्रबलात् आदिदेवस्य षट्कल्याणकं समापद्यमानं दुर्निवारं इति चेत्? न, तदेव हि कल्याणकं यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधयः सकलसुरासुरेन्द्रा जीतमिति विवित्सवो युगपत् ससंभ्रमा उपतिष्ठंते, नह्ययं षष्ठकल्याणकत्वेन भवता निरूप्यमाणो राज्याभिषेकस्तादृशस्तेन वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः, अनन्तरोक्तलक्षणायोगात्। न च तर्हि निरर्थकमस्य कल्याणकाधिकारे पठनमिति वाच्यम्, प्रथमतीर्थेशराज्याभिषेकस्य जीतमिति शक्रेण क्रियमाणस्य देवकार्यत्व–लक्षणसाधर्म्येण समाननक्षत्रजाततया प्रसङ्गेन तत्पठनस्यापि सार्थकत्वात्, तेन समाननक्षत्रजातत्वे सत्यपि कल्याणकत्वाभावेन [अ]नियतवक्तव्यतया, कचित् राज्याभिषेकस्याकथनेऽपि न दोषः। अतएव दशाश्रुतस्कन्धाष्टमाध्ययने पर्युषणाकल्पे श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः " ते णं काले णं ते णं समये णं उसभे णं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीइ पंचमे होत्था।" इति पञ्चकल्याणकनक्षत्रप्रतिपादकसूत्रं ववन्धिरे। न तु राज्याभिषेकनक्षत्राभिधायकमपीति। न च प्रस्तुतव्याख्यानस्यानागमिकत्वं, आचाराङ्गभावनाध्ययने श्रीवीरकल्याणकसूत्रस्यैव-मेव व्याख्यातत्वात्। "

इस पाठ मे राज्याभिषेक भी कल्याणक हो; सन्देह का अवकाश ही नहीं रहता। यदि मानलें कि राज्याभिषेक भी

कल्याणक हो तो प्रायः प्रत्येक तीर्थङ्कर का राज्याभिषेक हुआ है उसे भी मानना होगा। यही क्यों? भगवान ऋषभदेव ने युगलिक धर्म का निवारण कर सुमङ्गला के साथ पाणिग्रहण किया, यह लौकिक व्यवहार से एवं गार्हस्थ्यधर्मरूप श्रेष्ठ कार्य होने से इसे भी कल्याणक मानने में क्या आपत्ति है? यदि इस प्रकार से कल्पनाओं का आश्रय लिया जाय तो पांच ही नहीं अपितु कितने ही कल्याणक प्रत्येक तीर्थंकर के हो सकते हैं, परन्तु शास्त्रविहित न होने से इन्हें कल्याणकों की कोटि में किसी भी शास्त्रकारने नहीं रखा, अतः राज्याभिषेक भी कल्याणक की कोटि में नहीं आ सकता।

५–कतिपय शास्त्रीय प्रमाणों के उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अब खरतरगच्छीय आचार्यों के लिखित प्रमाण छोड़कर केवल अन्यान्यगच्छीय आचार्यों के ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:—

(क) श्री पृथ्वीचन्द्रसूरि कल्पटिप्पन में लिखते हैं:—

"हस्त उत्तरो यासां ताः, बहुवचनं बहुकल्याणकापेक्षम्, इत्यत्र पञ्चसु पञ्च, स्वातौ षष्ठमेव ऽवन्यते।"

(ख) आचार्य विनयचन्द्रसूरि कल्पनिरुक्त (र. १३२५) में लिखते हैं:—

"हस्त उत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा–उत्तरफल्गुन्यो, बहुवचनं बहुकल्याणापेक्षम्। तस्यां हि विभोश्च्यवनं १, गर्भाद्गर्भ-सङ्क्रान्तिः २, जन्म ३, व्रतं ४, केवलं ५ चाभवत्। निर्वृतिस्तु स्वातौ ६।"

(ग) तपगच्छीय आचार्य कुलमण्डनसूरि कल्पावचूरिका में मूल पाठ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:—

"श्रीवर्द्धमानस्य षण्णां च्यवनादीनां कल्याणकानां हेतुत्वेन कथितौ तौ वा इति ब्रूमः।"

(घ) आचार्य जयचन्द्रसूरि अपने कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

" आषाढे सितषष्ठी, त्रयोदशी चाश्विने सिता चैत्रे । मार्गे दशमी सितवै-शाखे सा कार्त्तिके च कुहुः ॥ १ ॥
वीरस्य षट्कल्याणकदिनानि इति । "

(च) तपगच्छीय आ० श्रीसोमसुन्दरसूरि या तच्छिष्य स्वप्रणीत कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

" यत्राऽसौ भगवान् महावीरो देवानन्दायाः कुक्षौ दशमदेवलोकगतप्रधानपुष्पोत्तरविमानादवतीर्णः, पञ्चकल्याणकानि उत्तराफाल्गुनिनक्षत्रे जातानि । तद्यथा-...................................... स्वातिनक्षत्रे परिनिर्वृतः-निर्वाणं प्राप्तो भगवान्-मोक्षं गत इत्यर्थः । एतानि भगवतो वर्द्धमानस्य षट्कल्याणकानि कथितानि । "

(छ) अञ्चलगच्छीय धर्मशेखरसूरि शिष्य उदयसागर स्वप्रणीत कल्पसूत्रटीका (र. १५११ ज्ये. सु. ५) लिखते हैं:—

" हस्त उत्तरोऽग्रेसरो यासां ताः उत्तराफाल्गुन्यः, बहुवचनं पञ्चकल्याणकापेक्षया ' होत्था ' आसीत् । .... स्वातिना नक्षत्रेण ' परिनिर्वृतः ' निर्वाणं प्राप्तः । "

(ज) अञ्चलगच्छीय वाचनाचार्य श्रीमहावजी गणि शिष्य मुनि माणिकऋषि लिखित सं. १७६६ की प्रति[1] में लिखा है:—

" पञ्चसु च्यवनादिकल्याणकेषु हस्तोत्तरा-हस्तादुत्तरस्यां दिशि वर्त्तमाना यद्वा हस्त उत्तरो यासां ता उत्तराफाल्गुन्यो यस्य स पञ्च हस्तोत्तरो भगवान् ' होत्थ ' त्ति अभूत् । "

---

1 शान्तिनाथमंदिरस्य अचलगच्छ भंडार, कच्छ मांडवी पत्र १५० ।

(झ) जोधपुर केसरियानाथ भंडार में सुरक्षित कल्पसूत्र टीका की एक प्राचीन प्रति[1] में लिखा है—

" श्रीवर्द्धमानतीर्थाधिपतेः पञ्चकल्याणकानि हस्त-उत्तरो अग्रे यस्मात्, एवम्भूते उत्तराफाल्गुनीलक्षणे नक्षत्रे जातानि । मोक्षकल्याणकस्य स्वातौ जातत्वादिति । "

(ट) तपागच्छीय पं. शान्तिविजयगणि लिखित (ले. सं. १६६७ लाहोर) कल्पसूत्र—अन्तर्वाच्य सस्तबक[2] में लिखा है:—

" श्रमणतपस्वी भगवंत ज्ञानवंत श्रीमहावीरदेव, तेहना पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रे हुआ । .... स्वातिनक्षत्रे मोक्ष पहुंता श्रीमहावीरदेव । "

(ठ) उपकेश(कंवला)गच्छीय ककुदाचार्य सन्तानीय उपाध्याय रामतिलक शिष्य गणपतिलिखित[3] (ले. सं. १७२४) कल्पसूत्र बालावबोध में लिखा है—

" ए श्रीकल्पसूत्र तणइ प्रारंभइ जगन्नाथ श्रीमहावीरतणां छ कल्याणिक बोलियइ, तद्यथा—' ते णं का० पंचहत्थुत्तरे होत्था '— तिणइं समइं श्रमण भगवंत श्रीमहावीररहइं पञ्चकल्याणिक उत्तराफाल्गुनि नक्षत्रि चन्द्रमा तणइ संयोगि प्राप्त हुंतइ हुआं । ....ए संक्षिप्त वाचनाइं जगन्नाथ तणां छ कल्याणिक जाणिवा । "

(ड) आञ्चलिक मेरुतुङ्गसूरिरचित सूरिमन्त्रकल्प के पूर्वलिखित वर्धमानविद्याकल्प में लिखा है:—

" उपाध्यायादिपदचतुष्टयेन नवपदस्थापनादिनप्रतिपन्नषट्स्वपि महावीरकल्याणकेषु यावज्जीवं विशेषतपः कार्यम् । "

१ डावडा नं० १८ । २ जोधपुर केशरियानाथ भंडार डा. २० प्रत नं० ६ । ३ महेसाणा उपाश्रय के भंडार, पत्र ९१ ।

(ढ) तपागच्छीय श्रीशान्तिचन्द्रगणि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका करते हुए भगवान ऋषभप्रभु का राज्याभिषेक कल्याणक माना जा सकता है या नहीं ? प्रसग पर लिखते हैं:—"वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः ।" अर्थात् वीर के गर्भापहार की तरह यह (ऋषभ का राज्याभिषेक) कल्याणक नहीं है । इससे स्पष्ट है कि गर्भापहार कल्याणकों की परिधि में है।

(त) आगमिकगच्छीय आचार्य जयतिलकसूरि स्वप्रणीत सुलसाचरित्र के छट्ठे सर्ग मे लिखते हैं:—

" देवानन्दोदरे श्रीमान्, श्वेतषष्ठयां सदा शुचिः । अवतीर्णोऽसि मासस्या–षाढस्य शुचिता ततः ॥ १ ॥
त्रिशला सर्वसिद्धेच्छा, त्रयोदश्यामभूद् यतः । तवावताराक्तेनैषा, सर्वसिद्धा त्रयोदशी ॥ २ ॥
शुक्लत्रयोदश्यां यश्चा–चलमेरुं प्रचालयन् । चित्रं कृतवांस्तद्योगा–च्चैत्रमासोऽपि कथ्यते ॥ ३ ॥
यस्याद्यदशम्यां दुर्ग–मोक्षमार्गस्य शीर्षकम् । चारित्रमाद्दतं युक्ता, मासोऽस्य मार्गशीर्षता ॥ ४ ॥
दशम्यां यस्य शुक्लायां, केवलश्रीरहो ! त्वया । ह्यादत्ता तेन मासोऽस्य, युक्ता माधवता प्रभो ! ॥ ५ ॥
तव निर्वाणकल्याणं, यद्दिनं पावयिष्यति । तन्न वेद्मि यतो नाथ !, मादृशोऽप्यक्षवेदिनः ॥ ६ ॥
सिद्धार्थराजाङ्गज ! देवराज !, कल्याणकैः षड्भिरिति स्तुतस्त्वम् ।
तथाविधेह्यान्तरवैरिषट्कं, यथा जयाम्याशु तव प्रसादात् ॥ ७ ॥ "

इत्यादि एक नहीं सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं । अतः यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि जिनवल्लभगणि ने ही यह नूतन प्रतिपादन किया है । श्रीमान् जिनवल्लभगणि ने तो केवल जो वस्तु चैत्यवासियों के कारण 'विवर' में प्रविष्ट होती

निर्भीकता का परिचय दिया है। वस्तुतः गणिजी जा रही थी उसका पुनः उद्धार कर जनता के सामने रखकर अपनी असीम का यह षट्कल्याणकों का प्रतिपादन उत्सूत्र प्रतिपादन नहीं था, किन्तु सैद्धान्तिक वस्तु का ही प्रतिपादन था। यदि यह प्ररूपणा, उत्सूत्रप्ररूपणा होती तो तत्कालीन समग्र गच्छों के आचार्य इसका उग्र विरोध करते; प्रतिशोध में दुर्दम कदम उठाते। पर आश्चर्य है कि तत्कालवर्त्ति किसी भी आचार्यने इस प्ररूपणा का विरोध किया हो ऐसा प्रमाण प्राप्त नहीं होता है; प्रत्युत प्रतिपादन के प्रमाण अनेकों उपलब्ध होते हैं। अतः यह सिद्ध है कि यह प्ररूपणा तत्कालीन समग्र आचार्यों को मान्य थी। साथ ही यह भी मानना होगा कि खुद तपागच्छीय विद्वानोंने भी षट्कल्याणक लिखे हैं अतः धर्मसागरजी की स्वयं की प्ररूपणा ही निह्नव-मार्ग की प्ररूपणा है, आचार्य जिनवल्लभसूरि की नहीं।

इस कल्याणक के विषय में शास्त्रीय दृष्टि से विशेष अध्ययन करना हो तो मेरे शिरच्छत्र पूज्य गुरुदेव श्रीजिनमणिसागरसूरिजी म. द्वारा लिखित 'षट्कल्याणक निर्णय'× नामक पुस्तक देखें।

सङ्घबहिष्कृत !

जो व्यक्ति पाण्डुरोग से ग्रसित हो जाता है उसे सृष्टि की समस्त वस्तुएं पीतवर्णी ही प्रतीत होती हैं वैसे ही धर्मसागरजी को विद्वत्ता का पीलिया हो गया, तत्फलस्वरूप उनकी दृष्टि में समग्र गच्छवाले निह्नव, विशुद्ध और कठोर क्रियापात्री खरतर-गच्छ जैसा गण खर-तर, जिनवल्लभसूरि जैसा आचार्य उत्सूत्रप्रतिपादक, मालूम हुए। जिनवल्लभसूरि को उत्सूत्रप्ररूपक कहने के

× सुमतिसदन कोटा (राजस्थान) द्वारा प्राप्य।

पश्चात् एक जटिल समस्या उनके सन्मुख और आई कि ऐसे प्ररूपक तो संघ, गण-बहिष्कृत हुआ करते हैं तो क्यों न इनको संघबहिष्कृत सिद्ध कर दूं ? इसको सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता थी, प्रमाण के लिये साहित्य सागर में काफी गोता लगाया पर निष्फल हुए, अन्त में उनको एक प्रमाण मिल ही गया । वह यह था—

" मज्ञाकृतचैत्यकूटपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत-स्तन्मुद्राढढपाशबन्धनवतः शक्तस्य न स्पन्दितुम् ।
मुक्त्यै कल्पितदानशीलतपसोऽप्येतत्क्रमस्थायिनः, सङ्घव्याघ्रवशस्य जन्तुहरिणव्रातस्य मोक्षः कुतः ? ॥२३॥"

यह आचार्य जिनवल्लभसूरिप्रणीत सङ्घपट्टक की २३ वीं कारिका है । इसका अर्थ समस्त टीकाकारोंने निम्नलिखित किया है:—

" इन हीन आचारवाले चैत्यवासियों को देने के लिये बनवाये गये चैत्यरूप कूट अर्थात् जाल में जो फंसे हुए हैं, इसी हेतु जो अन्तःकरण से छटपटा रहे है, परन्तु इन चैत्यवासियों की मुद्रा अर्थात् ' हमारे चैत्य को छोड़कर अन्यत्र मत जावो ' ऐसी राजाज्ञारूप दृढ बन्धन से बन्धे हुए होने के कारण जरा भी हिलडुल नहीं सकते हैं । मुक्ति के लिये जो दान-शील-तप आदि करते हैं, परन्तु इन हीनाचारियों के कुसंघ की परम्परा में पड़े हुए हैं । ऐसे जो ये दयनीय भव्य प्राणीरूप हरिणों के झुंड हैं, उनका हीनाचारियों के कुसङ्घरूप व्याघ्र से छुटकारा कहां ? अर्थात् जैसे हरिण समूह जब व्याघ्रक्रम-व्याघ्र के पंजे मे आ जाता है तब उसका छुटकारा असंभव होता है उसी प्रकार इन हीनाचारियों के कुसङ्घरूप व्याघ्र के फंदे में पडे हुए भव्य प्राणीरूप हरिणों का छुटकारा कहां ? अर्थात् उनका मुक्तिगमन कैसे हो सकता है ? । "

इस ग्रन्थ के टीकाकार युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के कतिचित् अपूर्ण वाक्यों का उल्लेख करके उ. धर्मसागरजी और वर्त्तमान-

कालीन विजयप्रेमसूरि तथा तन्मतानुयायी जो तोड मरोडकर अर्थ करते हैं वह कितना विचारणीय तथा उपहासास्पद है, देखिये:—

पद्य में आये हुए " संघव्याघ्रवशस्य " शब्द पर विशेष ऊहापोह है। उनका मन्तव्य है कि संघ को व्याघ्र की उपमा देना पूर्ण रूप से अनुचित है। किन्तु किस सघ को व्याघ्र की उपमा दी है—विचारने का वे परिश्रम नहीं उठाते। आचार्य जिनपतिसूरि इस शब्द की व्याख्या करते हुये लिखते हैं:—

" अथ कथमिह संघस्य क्रूरतया व्याघ्रेण [नि]रूपणं ? तत्त्वे हि तस्य भगवन्नमस्कारो न घटामियृयात्। श्रूयते च तीर्थप्रवर्त्तनाऽनेहसि 'नमो तित्थस्से'त्याद्यागमवचनप्रामाण्येन भगवतस्तन्नमस्कारविधानं, तत्कथमेतदुपपद्यत इति चेत्, न, सद्गुनामश्रवणाद् संघेऽपि प्रकृते भवतः संघभ्रान्तेः। अन्यो हि संघो भगवन्नमस्कारविषयोऽन्यश्चाधुनिको भवदभिमतः। तथाहि—गुणगुणिनोः कथंचित्तादात्म्येन ज्ञानादिगुणसमुदायरूपः शुद्धपथप्रथनबद्धादरोऽनुलंघितभगवच्छासनः साध्वादिः सिद्धांते सङ्घ इत्यभिधीयते। यदाह—

सव्वोवि नाणदंसण—चरणगुणविभूसियाण समणाणं। समुदायो होइ संघो, गुणसंघाओ ति काऊणं ॥ १ ॥

एवंविधश्च संघो भगवन्नमस्कारविषयः। स हि भगवान्नमस्यदखण्डाखण्डलमौलिमालाललितक्रमकमलोऽपि तीर्थस्य साक्षात्स्रष्टापि प्राक्तनजन्मनिर्वर्त्तितभावसंघवात्सल्यादार्हन्त्यं मयावाप्तमिति कृतज्ञता प्रदिदर्शयिषया सद्बहुमानदर्शनाच्च लोकोऽप्येनं बहुमन्येत इति जिज्ञापयिषया च तं नमस्कुरुते।

गुणसमुदाओ संघो, पवयण—तित्थं ति हुंति एगट्ठा। तित्थयरो वि हु एयं, नमए गुरुभावओ चेव ॥ १ ॥
तप्पुधिया (?) अरहया, पूइयपूया य विणयकम्मं च। कयकिच्चोवि जह कहं, कहेइ नमए तहा तित्थं ॥ २ ॥

ज्ञरया कृतकृत्यत्वेन भगवतो यथाकथंचित्तत्रैव भवे मुक्तिसंभवात्किमनेनेति। साम्प्रतिकस्तु भवदभिप्रेत उन्मार्गप्रज्ञापकत्वेन,सम्मार्गप्रणाशकत्वेन, जिनाज्ञामर्यादालुण्टाकत्वेन, यतिधर्मगाणिक्यलुण्टाकत्वेन च गुणसमुदायरूपत्वस्य संघलक्षणस्याभावान्न संघः। यदुक्तम्—

केइ उम्मग्गट्ठियं, उस्सुत्तपरूवयं बहुं लोयं। दट्ठुं भणंति संघं, संघसरूवं अयाणंता ॥ १ ॥
सुहसीलाओ सच्छंदचारिणो वेरिणो सिवपहस्स। आणाभट्ठाओ बहु-जणाओ मा भणह संघोत्ति ॥ २ ॥

परं बहुकीकशसंघातरूपत्वात्सोऽपि संघ इत्यभिधया लोकेऽभिधीयत इति मुग्ध! नाम्ना विप्रलब्धोऽसि। यदुक्तं—

एक्को साहू एक्का वि साहुणि सावओ य सड्ढो य। आणाजुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठिसंघाओ ॥ १ ॥

अतः संघलक्षणाभावान्नायं बहुमानमर्हति, तद् बहुमानादिकारिणो भगवत्प्रत्यनीकादिभावेनाभिधानात्। यदुक्तं—

आणाए अवहुंतं, जो उववूहिज्ज मोहदोसेणं। तित्थयरस्स सुयस्स य, संघस्स य पच्चणीओ सो ॥ १ ॥

तथा—

जो साहिज्जे वट्टइ, आणाभंगे पवट्टमाणाणं। मणवायाकाएहिं, समाणदोसं तयं बिंति ॥ १ ॥

अतएव सुखसीलतानुरागादेरसंघमपि संघ इत्यभिदधतां प्रायश्चित्तं प्रतिपादितं सिद्धान्ते। यदाह—

असंघं संघं जे, भणंति रागेण अहव दोसेण। छेओ वा मूलं वा, पच्छित्तं जायए तेसिं ॥ १ ॥

तस्माद् युक्तं क्रूरतया प्रकृतसंघस्य व्याघ्रतया [नि]रूपणम्।"

गुणसमुदाय, संघ, प्रवचन तथा तीर्थ शब्द एकार्थक हैं तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों से परिपूर्ण साधु के समुदाय को

अन्यथा प्रमाणों के अभाव में इन कपोलकल्पित कल्पनाओं का साहित्य या ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व ही क्या ?

उत्सूत्र-प्ररूपक !

आ. जिनवल्लभसूरिने सूक्ष्मार्थविचारसार प्रकरण की १४ वीं गाथा के उत्तरार्ध में संहनन के अधिकार में लिखा है:—

" सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयणमिहट्ठिनिचउ त्ति ॥ १४ ॥ "

इस पद्य में उल्लिखित "सुत्ते सत्तिविसेसो" पर प्रज्ञापना सूत्र की टीका करते हुए [पृ. ४७०] आचार्य मलयगिरि लिखते हैं:—

" तेन यः प्राह सूत्रे शक्तिविशेष एव संहननमिति, तथा च तद्ग्रन्थः–" सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणं " इति स भ्रान्तः। मूलटीकाकारेणापि सूत्रानुयायिना संहननस्यास्थिरचनाविशेषात्मकस्य प्रतिपादितत्वात्, यत्त्वेकेन्द्रियाणां सेवार्त्तसंहननमन्यत्रोक्तं तत् टीकाकारेण समाहितं, औदारिकशरीरत्वादुपचारतः इदमुक्तं द्रष्टव्यं, न तु तत्त्ववृत्त्येति। यदि पुनः शक्तिविशेषः स्यात् ततो देवानां नैरयिकाणां संहननमुच्येत। अथ च ते सूत्रे साक्षादसंहनिन उक्ता, इत्यलं उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु। "

श्रीमलयगिरि के ' उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु ' शब्द पर श्रीसागरानन्दसूरि ने ३॥ पेज की टिप्पनी लिखकर और श्रीप्रेमविजयजी (वर्त्तमान–विजयप्रेमसूरि)ने सार्द्धशतक की प्रस्तावना में इसी विषय पर २॥ पेज लिखकर जो कलम तोडी है, और जिन शब्दों का प्रयोग× किया है, वह सचमुच में श्लाघ्य है !।

यहाँ श्रीजिनवल्लभसूरिने जो स्वरचित प्रकरण में शक्तिविशेष को संहनन कहा है वह शास्त्र–सम्मत है या नहीं ? पूर्व में

× ' अपरिणतभगवत्सिद्धान्तसारो वावदूक. सिद्धान्तबाहुल्यमात्मन ख्यापयन्नेव प्रललाप। ' कुमार्गगमृगसिंहनादीयं वचन। '

विचार करने के पश्चात् मलयगिरिजी के शब्दों पर हम विचार करेंगे।

श्रीजिनवल्लभसूरि और श्रीमलयगिरिजी के पूर्ववर्ती आचार्य, आप्तव्याख्याकार श्रीहरिभद्रसूरिने आवश्यकसूत्र की वृहद्वृत्ति [आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित पृ. ३३७. १] में लिखा है:—

" इह च इत्थंभूतास्थिसञ्चयोपमितः शक्तिविशेषः संहननं उच्यते, न तु अस्थिसञ्चय एव, देवानामस्थिरहितानामपि प्रथमसंहननयुक्तत्वात्। "

अर्थात्—इस प्रकार अस्थिसञ्चय से युक्त शक्तिविशेष को संहनन कहते हैं, केवल अस्थिसञ्चय को ही नहीं। क्योंकि देवताओं को अस्थिरहित होने पर भी प्रथम संहनन (वज्रर्षभनाराच) युक्त होने का कथन होने से।

इसी प्रकार सर्वगच्छमान्य नवाङ्ग टीकाकार श्रीअभयदेवसूरि स्वप्रणीत स्थानाङ्गसूत्र की टीका (आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित पृ. ३५७–१) में लिखते हैं:—

" संहननं–अस्थिसञ्चयः, वक्ष्यमाणोपमानोपमेयः शक्तिविशेष इत्यन्ये। "

जब आचार्य हरिभद्रसूरि केवल अस्थिसञ्चय को ही संहनन स्वीकार नहीं करते और आ० श्रीअभयदेवसूरि 'शक्तिविशेष इत्यन्ये' कह कर इस वस्तु को स्वीकार करते हैं, ऐसी अवस्था में 'भ्रान्त है' कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

तथा जीवाभिगम सूत्र में जब " सुरनेरइया छण्हं संघयणाणं असंघयणा " अर्थात्–देव और नारकी छहों+ संहननों से रहित

+ वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, और सेवार्त्त।

असंहनन है। देवों और नारकियों के छहों संहननों से रहित होने पर संहनन रह ही नहीं सकता; जब कि आवश्यक, स्थानाङ्ग आदि आगम ग्रन्थों में देव और नारकी का वज्रऋषभनाराच संहनन स्वीकार किया गया है; अतः यह विप्रतिपत्ति कैसी ? वस्तुतः अस्थिरहित होने पर भी शक्तिविशेष संहनन स्वीकार करने से ही प्रथम संहनन माना जा सकता है।

और देखिये, इसी सार्द्धशतक प्रकरण के टीकाकार चन्द्रकुलीय आ. श्रीधनेश्वरसूरि भी, जिनका सत्ताकाल आचार्य मलयगिरि से पूर्व है, इस पद्य की टीका करते हुए इसी मत को पुष्ट करते हैं:—

" सूत्रे–आगमे शक्तिविशेषः संहननमुच्यते। कोऽभिप्रायः ? वज्रर्षभनाराचादिशब्दस्य संहननाभिधायकस्य शक्तिविशेषाभिधायकतया व्याख्यातत्वात् शक्तिविशेषः संहननमागमे प्रोच्यते। ईदृशं च संहननं देवनारकयोरपीष्यत एव। तेन देवा वज्रर्षभनाराचसंहनिनो, नारकाः सेवार्तसंहनिन–इत्यागमाभिप्रायतो बोद्धव्यम्॥ " [जैन धर्म प्रसारक सभा द्वारा प्रकाशित पृ. १४.]

और इसी शक्तिविशेष संहनन परंपरा को मान्य रखते हुए कर्मग्रंथकार प्रसिद्ध आचार्य देवेन्द्रसूरिने भी अपने शतक नामक ग्रन्थ में यही वस्तु ×स्वीकार की है। ऐसी अवस्था में ऊपरि उल्लिखित शास्त्रीय प्रमाणों से यह तो स्पष्ट है कि शक्तिविशेष संहनन सर्वमान्य है, केवल जिनवल्लभसूरि की प्ररूपणा नहीं।

आचार्य मलयगिरि ने अपने वक्तव्य में 'मूलटीकाकारेणापि' शब्द किस टीकाकार को लक्ष्य रखकर रखा है, विचारणीय है।

× 'यत्तु देवेन्द्रनतपादपङ्कजे. श्रीमद्देवेन्द्रसूरिपादै स्वोपज्ञशतकवृत्तौ एवमेवोक्त तदप्येतद्ग्रन्थानुसारेणानुमीयते।' प्रेमविजयजी लि. सार्द्धशतक प्रस्तावना पृ. ३.

यदि इस मूल टीकाकार शब्द से प्रज्ञापना, जीवाभिगम आदि सूत्रों के टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि का ग्रहण करते हैं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है; क्या आ. मलयगिरि ने हारिभद्रीय आवश्यक टीका का अवलोकन नहीं किया था ? यदि करते तो वे स्वयं एकपक्षीय सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने वक्तव्यों में कैसे कर सकते थे ? और यदि हम मूल–टीकाकार शब्द से सार्द्धशतक टीकाकार आ. धनेश्वरसूरि का ग्रहण करते हैं तो इस टीका में कहीं पर भी ' एव ' का प्रयोग न होने पर भी आचार्य ने किस आधार से ' एव ' का प्रयोग किया ? चिन्त्य है ।

साथ ही मलयगिरि के ये शब्द ' उपचारत इदमुक्तं न तु तत्त्वदृष्ट्या ' गलतफहमी के द्योतक मात्र ही है, क्योंकि आचार्य जिनवल्लभसूरि स्वयं उपचार से ही शक्ति विशेष को संहनन स्वीकार करते है, निश्चय से नहीं। यदि वे औपचारिक प्रयोग न करते तो उन्हें ' सत्तिविसेसो संघयणं ' न कहकर ' सुच्चे सत्तिविसेसच्चिय संघयणं ' कहना अधिक इष्ट रहता, किन्तु ऐसा कथन नहीं है । अतः ' एव ' और अनौपचारिक कल्पना व्यर्थ ही है और साथ ही व्यर्थ है उत्सूत्रप्ररूपक की उपाधिप्रदान करना भी ।

दूसरी बात, इस सिद्धान्त को माननेवालों के लिये जो ' उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु ' विशेषण दिया गया है, वह तो कदापि युक्त नहीं कहा जा सकता । क्योंकि यदि यह विशेषण युक्त मानें तो सूत्रकार गणधर महाराज एवं, आचार्य हरिभद्रसूरि और आचार्य अभयदेवसूरि जैसे आप्तपुरुष भी उत्सूत्रप्ररूपकों की कोटि में आयेंगे ।

और साथ ही यह भी विचारणीय है कि एक तरफ तो आचार्य मलयगिरि स्वप्रणीत जिनवल्लभीय ' आगमिकवस्तुविचारसार

यत्वादाधाकर्म्मभोजित्वस्य च योगरूपत्वादिति। तथा 'आउयं चे'त्यादि, आयुः पुनः कर्म्म, स्यात्—कदाचिद्बध्नाति स्यान्न बध्नाति, यस्मात् त्रिभागाद्यवशेषायुषः परभवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिभागादिस्तदा बध्नाति, अन्यदा न बध्नातीति। तथा 'असाये'त्यादि, असातावेदनीयं च-दुःखवेदनीयं कर्म्म पुनः 'भूयोभूयः' पुनःपुनः 'उपचिनोति' उपचितं करोति। ननु कर्म्मसप्तकान्तर्वर्त्तित्वादसातावेदनीयस्य पूर्वोक्तविशेषणेभ्य एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किं* तद्ग्रहणेन ? इत्यत्रोच्यते—आधाकर्म्मभोजी अत्यन्तं दुःखितो भवतीति प्रतिपादनेन भयजननादाधाकर्म्मभोजित्वनिरासार्थमिदमित्यदुष्टमिति। 'अणाइयं'ति अविद्यमानादिकं 'अणवयग्गं'ति 'अवयग्ग'त्ति देशीवचनो अन्तवाचकस्ततस्तन्निषेधात् 'अणवयग्गं' अनन्तमित्यर्थः। अतएव 'दीहमद्धं'ति 'दीर्घाद्धं' प्रभूतकालं 'चाउरंतं'ति चतुरन्तं—देवादिगतिभेदाच्चतुर्विभागं, तदेव स्वार्थिक+प्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तं 'संसारकान्तारं' भवारण्यं 'अणुपरियट्टइ'त्ति पुनःपुनर्भ्रमति। 'आयाए'त्ति आत्मना 'धम्मं' चारित्रधम्मं श्रुतधम्मं वा। 'पुढविकायं नावकंखइ'त्ति पृथ्वीकायं नापेक्षते—नानुकम्पत इत्यर्थ इति। एवं चानेन गाथासूत्रेणात्मनः कर्म्मबन्धाभिधानादात्मकर्म्मेत्यभिहितमिति गाथार्थः ॥ ७ ॥

एवं तावन्नामान्वर्थप्रतिपादनद्वारेण प्रथमदोषं व्याख्याय साम्प्रतं तमेव विशेषतो व्याचिख्यासुरिमां द्वारगाथामाह—

दी०—अष्टावपि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि 'अधो' नरके बध्नाति ×प्रकृति-स्पृष्टरूपाभ्यां, प्रकरोति—स्थिति-बद्धरूपाभ्यां,

॥ ७ ॥

* "किमेतद्ग्र०" अ. य.। + "इकण्" इति पर्यायो अ. पुस्तके। "स्वार्थेऽण्" भां०।

× प्रकृत्यादिस्वरूपं मोदकदृष्टान्तेन ज्ञातव्यं, यथा—प्रकृत्या कश्चिन्मोदको वातं हरति कश्चित् पित्तं कश्चिच्च श्लेष्माणं, स्थित्या

चिनोति-अनुभाग-निधत्तरूपाभ्यां, उपचिनोति-प्रदेश-निकाचनारूपाभ्यां, कः ? कार्मिकभोजी साधुः, भोजीति तच्छीलार्थे इन् कारणे तच्छीलत्वनिरासार्थः। किमिदं स्वमनीषिकयोच्यते ? ×इत्याह-यद्भणितं सुधर्मस्वामिना 'भगवत्यां' पञ्चमाङ्गे स्फुटं, आलापकार्थ एवात्रोक्त इति गाथार्थः। एवमात्मनः कर्मबन्धादात्मकर्म ॥ ७ ॥

उक्तो नामचतुष्टयार्थः, साम्प्रतं तदेव नवभिर्द्वारैर्विशेषेणाह—

तं पुण जं[1] जस्स[2] जहा[3], जारिस[4]मसणे य तस्स जे दोसा[5]। दाणे[6] य जहा पुच्छा[7], छलणा सुद्धी[8] य तह वोच्छं ॥८॥

व्याख्या—तदाधाकर्म्म, पुनः शब्दो विशेषणार्थः, यत्किञ्चिदशनादिकमुच्यते, तदहं वक्ष्ये इति गाथाऽन्त्यक्रियया योगः, एवमन्यत्रापि, वक्ष्यति च–'असणाइचउब्भेय'मित्यादि १। तथा यस्य निमित्तं कृतं तत्स्यात्तं वक्ष्ये, वक्ष्यति च–'साहम्मियस्से'त्यादि २। तथा 'जह'त्ति यथा–यैः प्रकारैः प्रतिषेवणादिभिस्तत्स्यात्तान्वक्ष्ये, वक्ष्यति च–'पडिसेवणे'त्यादि ३। तथा 'यादृशं' यस्य वस्तुनस्तुल्यं तत्स्यात्, भणिष्यति च–'वंतुच्चारसुरे'त्यादि ४। तथा 'अशने' भोजने तस्याधाकर्म्मदोषवतः पिण्डस्य येऽतिक्रमादयो दोषाः स्युः, वक्ष्यति च–'कम्मग्गहणे'त्यादि ५। तथा 'दाणे

कश्चिद्दिनमेकं कश्चिद्द्वयं कश्चित्त्रयं, अनुभावेन-स्निग्धमधुरत्वलक्षणेन कश्चिदेकगुणानुभावः कश्चिद्द्विगुणानुभावः कश्चित्त्रिगुणानुभावः, प्रदेशैः–कणिकादिद्रव्यरूपैः कश्चिदेकप्रसृतिप्रमाणः कश्चिद्द्विप्रसृतिप्रमाण अपरस्त्रिप्रसृतिप्रमाणः, एवं कर्मापि किञ्चिज्ज्ञानमावृणोति किञ्चिद्दर्शनं किञ्चित्सुखदुःखे जनयतीति। × "स्वमनीषिकया ? इत्याह" क. अ. प. म.।

उद्गमाद्यदोषनिरूपणे द्वारनवकनामानि॥

य'त्ति 'दाने' वितरणे गृहस्थस्य ये दोषा यतिसत्कचरणघातादयः स्युस्तान्वक्ष्ये, च शब्दो दोषानुकर्षणार्थः, तथा च वक्ष्यति-
'जइणो चरणे'त्यादि ६। तथा 'जहा पुच्छ'त्ति 'यथा' येन प्रकारेण देशाद्यनुचित+भक्तदानादिलक्षणेन 'पृच्छा'
प्रश्नः सम्भवति, वक्ष्यति च-'देसाणुचियं बहुदव्व'मित्यादि ७। तथा 'छलण'त्ति 'छलना' साधोर्भिक्षार्थं प्रविष्टस्य
तथाविधकारणैरनेषणीयाऽऽशङ्काऽभावादशुद्धभक्तग्रहणरूपा व्यंसना यथा स्यात्, वक्ष्यति च-'थोवंति न पुट्ठ'मित्यादि ८।
तथा 'सुद्धी य'त्ति 'शुद्धिः' कथञ्चिदशुद्धपिण्डग्रहणेऽपि निर्दोषता यथा स्यादेतद्विपक्षत्वाचाशुद्धिर्यथा स्यात्, च शब्द उक्त-
समुच्चये। 'तह वोच्छं'ति। 'तथा'तेन-शुद्धग्रहणपरिणामादिना प्रकारेण 'वक्ष्ये' अभिधास्ये, वक्ष्यति च-'आहा-
कम्मपरिणओ' इत्यादि ९। इति द्वारगाथा समासार्थः ॥ ८ ॥ सम्प्रत्याद्यद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—'तत्' आधाकर्म, पुनर्विशेषोक्तौ, यद्भक्तादि १, यस्य कृते कृतं स्यात् २, यथा-यैः प्रकारैः ३, यादृशं-यत्तुल्यं
४, अशने च तस्य ये दोषाः ५, दाने दातुश्च ये [दोषाः] ६, यथा पृच्छा-बाह्याचरणदर्शनात्प्रश्नः ७, छलना अनेषणीया-
शङ्काऽभावादशुद्धग्रहणे ८, शुद्धिश्च-सदोषपिण्डग्रहणेऽपि निर्दोषता ९, तथा वक्ष्ये इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ अथाद्यद्वारमाह—

असणाइचउब्भेयं, आहाकम्ममिह बेंति आहारं। पढमं चिय जइजोग्गं, कीरंतं निट्ठियं च तहिं ॥९॥

व्याख्या—'असणाइचउब्भेयं' ति 'अशनं' भोजनं 'आदिः' प्रथमं येषां पानखादिमस्वादिमानां ते तथा,

॥ ८ ॥

+ "०तदानादिभक्तलक्षणेन" अ. य.। "तदानादिलक्षणेन" ह. क. प.।

ते च 'चत्वारः' चतुःसङ्ख्या 'भेदाः' प्रकारा यस्य स तथा, तं आहारमिति योगः। तत्राशनं-शालितन्दुलसूपादि, पानं-सौवीरतन्दुलधावनादि, खादिमं फलपुष्पादि, स्वादिमं-हरीतकीशुण्ठ्यादि। इमं च किमित्याह-'आहाकम्ममिह बेंति'त्ति आधाकर्म्म इह-जिनप्रवचने, न तु शाक्यादिशासने, अथवा इहेति पिण्डविशुद्धिप्रक्रमे, अन्यथा यद्गेहादिकं चीयते वस्त्रादिकं +व्यूयते तुम्बकादेश्च यन्मुखादि क्रियते तदपि, ब्रुवते-प्रतिपादयन्ति, गणधरादय इति गम्यते। 'आहार' पिण्डमिति योजितमेव। किमविशेषेणैव? नेत्याह-'पढम'मित्यादि, प्रथम-मादौ "चिय-चेव-एवार्थे" इति वचनात् 'चिय'शब्द एवार्थे द्रष्टव्यस्तस्य च प्रयोगं दर्शयिष्यामः। 'यतियोग्यं' साध्वर्थं, उपलक्षणत्वात् गृहिनिमित्तं च 'क्रियमाणं' कर्त्तुमारब्धं तथा 'निष्ठितं' निष्ठां प्राप्तं-साधुग्रहणयोग्यतां गतमित्यर्थः, चः समुच्चये 'तहिं' ति प्राक्तनावधारणस्येह सम्बन्धात्तत्रैव-साध्वर्थमेव यतिनिमित्तमेवेत्यर्थः। अनेन च वक्ष्यमाणे प्रथम-तृतीयभङ्गद्वये आधाकर्म्म भवति, नान्यत्रेत्यावेदितमिति गाथार्थः॥ ९॥ 'जइजोग्गं कीरंतं, निट्ठियं च तहिं'तीत्युक्तं, अत्र च क्रियमाणं निष्ठितमिति पदद्वयेन भङ्गचतुष्कं सूचितमतस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—

दी०—अशनं १, आदिशब्दात्पानं २ खादिमं ३ स्वादिमं ४ चेति चतुर्भेदमाहारं 'इह' ×जिनमते पिण्डविशुद्धौ वा तद्विद आधाकर्म ब्रुवते, कीदृशं? प्रथममेव यतियोग्यं मिश्रं वा 'क्रियमाणं' कर्त्तुमारब्धं 'निष्ठितं' निष्पादितं वा 'तस्मिन्' यत्यर्थं, इति गाथार्थः॥ ९॥ कृतनिष्ठितयोश्चतुर्भङ्गीमाह-

+ "वूयते" अ०। "धूयते-व्रूयते" इत्यपि प्रत्यन्तरे। × 'जैनमते" प. अ.।

तस्स कड तस्स निट्ठिय, चउभंगो तत्थ दुचरिमा कप्पा। फासुकडं रद्धं वा, निट्ठियमियरं कडं सव्वं ॥१०॥

व्याख्या—'तस्स कड तस्स निट्ठिय'त्ति विभक्तिलोपात्तस्य कृतं तस्य निष्ठितमिति वाक्ये 'चउभंगो'त्ति चतूरूपो भङ्गश्चतुर्भङ्गो,जातिनिर्देशाच्चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थः। तत्राद्यः कण्ठोक्त एव १। तदुपलक्षितास्त्वन्ये त्रय इमे—तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं २, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं ३, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति ४। तत्र तस्येति प्रस्तावात्साधोर्निमित्तं 'कृतं' कर्तुमारब्धं तथा तस्येति साधोरेव निमित्तं निष्ठितमिति सर्वथा प्रासुकीभूतं राद्धं वेति प्रथमः १। तथा तस्य कृतमिति पूर्ववत्, ततो दातुः साधुगोचरदानपरिणामापगमादन्यस्येति गृहस्थस्य निमित्तं, निष्ठितमिति पूर्ववदिति द्वितीयः २। तथाऽन्यस्य कृतमिति पूर्ववत्, ततो दातुः साधुविषयदानपरिणामभवनात् क्रियान्तरप्रवर्त्तने तस्य निष्ठितमिति पूर्ववदिति तृतीयः ३। तथा अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति पूर्ववदिति चतुर्थः ४। 'तत्थ'त्ति तत्र-तेषु चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये 'द्विचरमौ' द्वितीयचतुर्थौ, तौ किमित्याह—'कप्प'त्ति कल्प्यौ—साधोरासेवायोग्यौ, एतद्वर्त्तिभक्तादेः शुद्धत्वात्, प्रथमतृतीयौ त्वकल्प्यावेव, तत्सम्भविभक्तादेः पूर्वमाधाकर्मत्वेनाभिहितत्वात्। अथ कृतनिष्ठितस्वरूपमाह—'फासुकड'मित्यादि, प्रगता 'असवः' प्राणा यस्मात्तत्प्रासुक-निर्जीवं 'कृतं' विहितं यत्तन्दुलादि, तथा 'रद्धं व'त्ति राद्धं-संस्कृतं, वा समुच्चये, तत्किमित्याह—'निष्ठितं' निष्ठाङ्गतमभिधीयत इति शेषः। तथा 'इयरं'ति 'इतरत्' अन्यत्—यन्न प्रासुकी कृतं यच्च न राद्धं, तत्किमित्याह—'कृतं' कृताख्यं 'सर्वं' निरवशेषमिति गाथार्थः॥ १० ॥ एनमेवार्थं दृष्टान्तपुरस्सरं विशेषेणाह—

दी०—'तस्य' साधोर्योग्यं कृतं तस्य निष्ठितमित्येको भङ्गः १, तदुपलक्षितास्त्रयोऽन्ये, यथा—तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं

२, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं ३, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं ४ चेति । तत्र तेषु द्वितीयचतुर्थौ भङ्गौ 'कल्प्यौ' शुद्धौ । कृतनिष्ठितयोर्लक्षणमाह–'प्रासुकं' निर्जीवं यत्तन्दुलादि कृतं राद्धं वा तन्निष्ठितं, इतर-द्विपरीतं कृताख्यमिति गाथार्थः ॥ १० ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेनाह—

साहुनिमित्तं ववियाइ, ता कडा जाव तंदुला दुच्छडा। तिच्छडा उ निट्ठिया पा-णगाइ जहसंभवं नेज्जा ॥११॥

व्याख्या—'साधुनिमित्तं' यत्यर्थं 'ववियाइ'त्ति 'उप्ता' रोपिता, आदिशब्दाल्लूनपूनादिपरिग्रहः, तन्दुला इति योगः । 'ता'इति तावत्, किमित्याह–'कृताः' कृताख्या, भण्यन्त इति शेषः । इह च सर्वत्र 'क्रियमाणं कृत'मिति वचनात्, 'कृतं' क्रियमाणं व्याख्येयं। 'जाव'त्ति यावत् 'तन्दुलाः' शाल्यादिकणाः 'दुच्छड'त्ति द्वौ 'वारौ' छटिताः' कण्डिताः। अत्र च तन्दुलानामुप्तलूनादिविशेषणानि प्रस्थककारणदारुणि प्रस्थकव्यपदेशवत् कारणे कार्योपचारादवसेयानि । तथा 'तिच्छडा उ'त्ति त्रीन् वारान् 'छटिताः' कण्डिता इत्यर्थः । तुः पुनरर्थे, ततश्च याव[द्व]द्विश्छटितास्तावत्कृताः, त्रिश्छ-टिताः पुनस्त एव 'निष्ठिता'निष्ठिताख्या, भण्यन्त इति प्रक्रमः । अत्र च विशेषज्ञापनार्थं वृद्धसम्प्रदायः कश्चिदुच्यते, यथा–यदि प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा करटिं छटित्वा तन्दुलाः कृतास्तृतीयां वारां त्वात्मनिमित्तं छटिता राद्धा वा, ते साधूनां कल्पन्ते । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तं स्वनिमित्तं वा तृतीयां वारां तु साधु-निमित्तमेव कण्डिताः, राद्धास्त्वात्मनिमित्तं, ते एकेषामादेशेन एकेनान्यस्मै दत्तास्तेनाप्यन्यस्मायित्यादिरूपेण यावत् सहस्र-सङ्ख्ये स्थाने गतास्तावन्न कल्पन्ते, ततः परं कल्पन्ते, अन्येषां तु न कदाचिदपि । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधु-

निमित्तं+स्वनिमित्तं वा तृतीयां वारां त्वात्मनिमित्तमेव कण्डिता, राद्धाः पुनः साधुनिमित्तमेव, ते न कल्पन्ते । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा तृतीयवारां तु साधुनिमित्तमेव कण्डिता राद्धाश्च तदर्थमेव, तेऽपि *साधूनामकल्प्या एव, निष्ठिततन्दुल×तत्पाकजनितद्विगुणाधाकर्म्मदोषदुष्टत्वात् । एवमशनाहारमाश्रित्योक्तं, अथ पानकाद्याहारमङ्गीकृत्योच्यते–'पाणगाइ जहसंभवं नेज्ज' त्ति । पानकं–द्वितीयाहारभेदस्तदादि–'प्रथमं यस्य तत्तथा, तत्कर्मतापन्नमादिशब्दात् खादिमस्वादिम§ग्रहः । तत्किमित्याह–'यथासम्भवं' कृतनिष्ठितसम्भवानतिक्रमेण 'नयेत्' प्रज्ञापकः कर्त्ता श्रोतृप्रतीतौ प्रापयेत् । †तथाहि–पानकं यतिनिमित्तखातकूपादिगतं तदर्थमेव च तत आनीतं यावत्तथाभूतपरिणामेनैव कर्त्रा प्रासुकी क्रियमाणं नाद्यापि सर्वथा प्रासुकी भवति तावत्कृतं, ततस्तथाभूतपरिणामेनैव कर्त्रा क्वथनादिना सर्वथा प्रासुकी कृतं तु निष्ठितं । खादिमं–कर्कटिकादाडिमाम्रमातुलिङ्गकुष्माण्डवृन्ताकादि, तत्साधुनिमित्तमुप्तं यावत्तथाभूतपरिणामेनैव दात्रा तत् खण्डीकृतं, तथाभूतं च क्षणे क्षणे प्रासुकी भवत्सद्यावत्तत्परिणामस्यैव दातुर्नाद्यापि सर्वथा प्रासुकी भवति तावत् कृतं, ततः साधुनिमित्तमेव रन्धनादिना प्रासुकी कृतं तु निष्ठितं । स्वादिमं–शृङ्गबेरादि, तदपि खादिमवदवसेयं । ननु स्वादिमं–शृङ्गबेरादीत्ययुक्तमुक्तं, सिद्धान्ते तस्याशनाहारमध्ये अधीतत्वात्, तथाचाहावश्यकचूर्णिकारः–"असणे अल्लगमूलग–मंसाइ"त्ति, न, अराद्धप्रासुकावस्थस्य स्वादिमत्वात्, तस्यैव साधुग्रहणयोग्यत्वेन मुख्यरूप-

+ "०त्तमात्मनिमित्तं वा" भां० । * "तेऽपि न कल्पन्त एव" य. अ. ह. क. प. । × "०तन्दुलाया (सम्पन्न इति पर्यायः) तत्पाक०" अ० । "०तन्दुलायात तत्पाक०" य. ह. क. । § "०दिमपरिग्रहः" अ. । † "यथाहि" अ. प. य. ह. क. ।

नेह चिन्तयितुमभिप्रेतत्वात्, आह च—

"सचित्तभावविकली-कयम्मि दव्वम्मि मग्गणा होई। का मग्गणा? उ दव्वे, सचेयणे फासुभोईणं ॥१॥"

'मार्गणे'ति आधाकर्म्मविचारणेत्यर्थः। तथेह सर्वत्र भक्तपानादेस्तदर्थे निष्ठागमने दातुः साध्वर्थं क्रियाविशेषो द्रष्टव्यो, न तु तद्दानपरिणाममात्रमेव, क्रियाशून्यस्य तस्यादुष्टत्वात्। यदाह—

"न म्तु परिणाममेत्तं, पयाणकाले असक्कियारहियं। गिहिणो तणयं तु जइं, दूसइ आणाइ पडिबद्धं ॥ २ ॥"

तथा विभिन्नदेयमाश्रित्य स्वभोग्यायत्र वस्तुनि सङ्कल्पनं क्रियाकाले तद्दुष्टं, विषयोऽनयोः पुण्यार्थं यावदर्थिकयोरित्यर्थः। स्वोचिते तु यदारम्भे तथा सङ्कल्पनं क्वचिन्न दुष्टं, शुभभावत्वात्, तच्छुद्धापरयोगवत्। अत्र च भक्ताधाकर्म्मसम्भवप्रदर्शकमिदमुदाहरणं, यथा—अणेगकुलमयसंकुलो कोद्दवरालगकूरपउरभिक्खो सुलभरमणिज्जवसहीसंजुओ निव्वाघायसज्झायनिव्वाहो एगो गामो अत्थि। तत्थ य (जिणदत्तो नाम) सावओ परिवसइ, साहू य तत्थ एंति, परं आयरियाइपाउग्गो सालिकूरो नत्थि त्ति सावएण भण्णमाणावि न चिट्ठंति। अन्नया खेत्तपडिलेहणत्थं केइ साहुणो तत्थ आगया, ठिया कइवि दिणे, तओ गुरुपाउग्गं नत्थि त्ति अणभिरुइयखेत्ता पट्ठिया गुरुसमीवं। तओ सावएणं एगो साहू पुच्छिओ—'किं तुब्भं खेत्तं रुइयं न व'त्ति। तओ तेण साहुणा उज्जुगत्तेण उ भणियं—'जुज्जइ गणस्स खेत्तं, परं गुरुपाउग्गो सालिकूरो नत्थि'त्ति। तओ गएसु तेसु विन्नायपरमत्थेण इमिणा वावियाणि सालिबीयाणि, जाया य बहवे सालिमूडया, अन्नया य पओयणवसेण ते अन्ने वा साहुणो आगए दट्ठूण तेण चिंतियं—'तहा एएसिं सालिकूरं देमि जहा विन्नायपउरपाउग्गदव्वसंभवा गुरुणो आ[णेंति]-

गोत्ति(?) आहाकम्मियसंकं च न करेंति त्ति। तओ ×विरिंचिऊण सयणाईण दिन्नो साली, भणिया य—'सयं खाएज्जह साहूणंपि दिज्जह'। तेहिं तहेव रद्धो। इमो य वइयरो नाओ बालाईहिं, साहुणो य एसणोवउत्ता भिक्खं हिंडंता तेसिं संकहं सुणंति, जहा एगो +भणइ—'एए ते साहुणो, जेसिं अट्ठाए घरे घरे सालिकूरो रद्धो'। अन्नो +भणइ-मम घरे एएहिं लद्धो, अवरो +भणइ—अहंपि एएसिं तं दाहामि, अन्नो *मायरं भणइ—एयं साहूणं देहि देहि, अन्नो भणइ—थक्के थक्कावडियं संपन्नं, जेण अभत्तए सालिभत्तयं जायं। एत्थ लोइओ दिट्ठंतो नेओ, जहा-काइ महिला भणइ—"मज्झ य पइस्स मरणं, दियरस्स य मे मया भज्जा। तो कालाणुरूवमिमं, संवुत्तं"ति। तहा अन्नो जणणिं भणइ—चाउलोदगं देहि, अन्नो आयामं, अन्नो कंजियं, इच्चाइ बालाइजणजंपियं सोउं पुच्छंति—किमेयं ?ति। तओ ताणि उज्जुगाणि कहयंति, माइट्ठाणियाणि पन्नवियाणि वा परोप्परं निरिक्खंति। एवं च नाऊण ताणि घराणि परिहरंता तत्थेव अन्नघरेसु भिक्खं हिंडंति, अणिव्वाहे पुण पच्चासन्नगामे वयंति त्ति। एतदनुसारतस्तु पानादीनामपि सम्भवो भावनीय इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

प्रतिपादितमाधाकर्म्मस्वरूपप्रतिपादकं प्रथमद्वारमथ यस्येति द्वितीयद्वारावसरः, तत्र यस्य कृते कृतमाधाकर्म्म स्याद्यस्य च कृते कृतं न स्यादित्येतदभिधित्सुराह—

दी०—साधुनिमित्तमुप्ताः-शाल्यादयो रोपिताः, आदिशब्दान्मूनादि ज्ञेयं, तावत्कृता यावत्तन्दुला द्वौ वारौ 'छटिताः' क(ख)ण्डिताः, त्रीन् वारॉश्छटिताः पुनस्त एव निष्ठिताख्याः स्युः, इदमशनमाश्रित्योक्तं, इतराश्रितमाह—पानकादिशेष-

× " विरंचिऊण [विभज्य] " अ. ह. क. प. । + "पभणइ" अ. । * "सायरं" सादरमिति पर्यायोऽपि अ. ।

लघुवृत्त्या-
वाधाकर्म-
सम्भवप्रद-
र्शकोदा-
हरणम्.

॥ ११ ॥

माहारत्रयं यथासम्भवं नयेत्, कोऽर्थः ?, साध्वर्थं कूपादिखनन १चिर्भटिकादि २हरीतक्याद्यारोपणादि ३भावैः कृतनिष्ठिते (प्रतीते), श्रोतृप्रतीतौ प्रापयेत् । अत्रोदाहरणं—एकस्मिन् ग्रामे कदशनाहारिणि सूरियोग्यभक्तालाभात्साधवः सूरिं नानयन्ति, श्रावकश्चैकस्तदुत्कण्ठितः । अन्यदा केषाञ्चित्साधूनां वर्षाक्षेत्रं विलोक्यानिच्छया पश्चाद्गच्छतां तेन साधुरेकः पृष्टः— कुतः क्षेत्रं न रुचितं ?, स च ऋजुको गुरुप्रायोग्यशाल्योदनाद्यभावादित्याह । ततस्तेन वर्षाकाले शालिरुप्तो बहुकश्च जातो, यतिष्वागतेषु स्वजनगृहेषु शालीन् दत्वा भणितं—स्वयं भोक्तव्यः साधूनाञ्च दातव्यः, तैस्तथा कृते 'साध्वर्थं शालि'रिति बालकाद्यालापाद् ग्राह्यलिङ्गैश्चानेषणां ज्ञात्वा ते न जगृहुः । एवं पानकाद्याहारेष्वपि लक्ष्यमिति गाथार्थः ॥ ११ ॥

उक्तं यदिति द्वारं, साम्प्रतं यस्येति द्वितीयमाह—

साहम्मियस्स पवयण—लिंगेहिं कए कयं हवइ कम्मं। पत्तेयबुद्धनिण्हय—तित्थयरट्ठाए पुण कप्पे ॥१२॥

व्याख्या—'**साहम्मियस्स**'त्ति 'समानेन' तुल्येन 'धर्मेण' स्वभावेन चरतीति साधर्मिको, विवक्षितसदृशपर्यायवानित्यर्थः, तस्य कथमिह साधर्म्मिकता ग्राह्येत्याह—'**पवयणलिंगेहिं**'ति, प्रवचनं च लिङ्गं च प्रवचनलिङ्गे, ताभ्यां । तत्र प्रवचनं—सकलजीवादिपदार्थप्ररूपकं अत्यन्तानवद्यचरणकरणप्रवर्तकं अचिन्त्यशक्तिकलितं अविसंवादकं भवार्णवतरणपरमबोहित्थकल्पं द्वादशाङ्गं, तस्य च निराधारस्याऽसम्भवात्तदाधारभूतः सङ्घोऽपि प्रवचनं, तथा 'लिङ्ग्यते' चिह्नयते साधुरनेनेति लिङ्गं-रजोहरणमुखपोतिकागोच्छकपात्रकादीनि । '**कए**'त्ति 'कृते' निमित्तं '**कयं**'ति 'कृतं' विहितं, अशनादि इति गम्यते '**भवति**' जायते, किमित्याह—'**कम्मं**'ति सूचकत्वादाधाकर्म्माभिहितशब्दार्थं, इदमुक्तं भवति—

उक्तरूपप्रवचनलिङ्गाभ्यां सङ्घान्तर्वर्त्तिसाधूनां सङ्घान्तर्वर्त्तिसाधु-रेकादशप्रतिमाप्रतिपन्नश्रावकश्च साधर्म्मिको +भवति, तस्य कृते अशनादि कृतं आधाकर्म्म भवतीति । अनेन च प्रवचनतः साधर्मिको न लिङ्गतः १, लिङ्गतो न प्रवचनतः २, प्रवचनतो लिङ्गतश्च ३, न प्रवचनतो न लिङ्गतः ४, इति सिद्धान्तप्रसिद्धचतुर्भङ्गीतृतीयभङ्गवर्त्तिसाधर्म्मिकार्थं कृतं न कल्पत इति प्रतिपादितं । *एतद्वर्ज्यशेषभङ्गत्रयसम्भविसाधर्म्मिकेभ्यस्तु कृतं कल्पत एवेत्याह 'पत्तेयबुद्धनिण्हये'त्यादिपश्चार्द्ध-तत्रैकं वृषभादिबाह्यनिमित्तं प्रतीत्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः-समयप्रसिद्धसाधुविशेषाः, ते च सम्भवे सति जघन्यतो रजोहरणमुखपोतिका×-मात्रोपकरणकलिता उत्कृष्टतस्तु चोलपट्टक-मात्रक-कल्पत्रिक-वर्जितनवविधोपधिधारिणः, तथा नियमतो जघन्यत एकादशाङ्गश्रुतविद उत्कृष्टतस्तु भिन्नदशपूर्वश्रुतवेदिनः, तथा देवताऽर्पितलिङ्गाः ' रूप्पं पत्तेयबुद्ध 'त्ति वचनाल्लिङ्गवर्जिता वा भवन्तीति । तथा 'निन्हुवते' स्वाग्रहवशात्तीर्थकरवचनं निराकुर्वन्तीति निन्हवा-जमालि-तिष्यगुप्तप्रभृतयः । तथा येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुरुत्तरमहामोहावर्त्तरौद्रं विचित्रदुःखौघदुष्टश्वापदगणं रागद्वेषपवनप्रक्षोभितं सन्ततसंयोगवियोगतरङ्गदुर्गमं प्रबलमनोरथवेलाकुलं संसारापारसागरं तरन्ति तत्तीर्थं, तच्च प्रवचनं तदाधारत्वाच्चतुर्वर्ण्णश्रमणसङ्घश्च, तत्कुर्वन्तीति तीर्थकराः-शास्तारः, एतेषामर्थाय-निमित्तं कृतमशनादीति प्रक्रमः। पुनः शब्दो भिन्नवाक्यताप्रतिपादनार्थः । ' कल्पते ' गृहीतुं युज्यते । अयमिह भावार्थः-प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकराश्च प्रवचनलिङ्गातीतत्वात् ' न प्रवचनतो न लिङ्गत ' इति चतुर्थे भङ्गे वर्त्तन्ते, अतस्तदर्थं कृतं कल्पते, आधाकर्मत्वाभावात्, उक्तं च कल्पभाष्ये-

+ " भवतीति " अ. । * " एतद्वर्जे० " प. ह. क. । × " मुखवस्त्रिका " अ. य. ।

" जीवं उद्दिस्स कडं, कम्मं सोवि य जया उ साहम्मी । सोवि य तइए भंगे, लिंगाईणं न सेसेसु ॥ १ ॥ " अस्या अपि व्याख्या-' जीवं ' प्राणिनं ' उद्दिश्य ' आश्रित्य ' कृतं ' विहितं यदशनादि, तत्किमित्याह-' कम्मं 'ति तदेवाधाकर्म्म स्यान्नान्यद्, अनेन च यदि कश्चिद् गृही× मुग्धबुद्धिः स्नेहादिना गृहीतप्रव्रज्यस्य मृतस्य जीवतो वा पित्रादेः प्रतिकृतेः पुरतो ढौकनाय बल्यादिकं निष्पादयति, तदर्थमेव मृतभक्तं वा कुर्यात्, तदाधाकर्म्म न भवतीति प्रतिपादितं । सोऽपि न जीवो यदा तु साधर्म्मिकः, सोऽपि च साधर्म्मिको यदि तृतीयभङ्गे भवति ' लिंगाइणं'ति लिङ्गप्रवचनयोरित्यर्थः, न 'शेषेषु' प्रथमद्वितीयचतुर्थेष्विति । किञ्च-" साहम्मिओ न सत्था+, तस्स कयं तेण कप्पइ जईणं । जं पुण पडिमाण कयं, तत्थ कहा ? को अजीवत्ता ॥ १ ॥" इह च कृतमित्यत्र तत्रत्यप्रक्रमवशादशनादीति शेषो दृश्यः । ' तत्थ 'त्ति तत्र-प्रतिमार्थकृते 'कथे'ति कल्प्याकल्प्यविचारः, ' के'ति न काचिदित्यर्थः । अजीवत्वादित्यचेतनत्वात्प्रतिमाया इति । अन्यच्च-" संवट्टमेहपुप्फा, सत्थुं निमित्तं कया जइ जईणं । न हु लब्भा पडिसिद्धुं, किं पुण पडिमट्ठमारद्धं ? ॥ १ ॥ अन्यथा-" जइ समणाण न कप्पइ, एवं एँगाणिया जिणवरिंदा । गणहरमाईसमणा, अकप्पिए न वि य चिट्ठंति ॥ १ ॥ तम्हा कप्पइ ठाउं, जह सिद्धाययणंमिँ होइ अविरुद्धं "ति । ननु यदि तीर्थकरार्थं कृत-

× " मुग्धः स्नेहादिना " अ. । + " शास्ता " । १ " का [कथा.] वार्त्ता ? " । २ " शास्तु-स्तीर्थकरस्य " । ३ " यतीनां न प्रतिषेद्धुं लभ्याः-यतीनां ते आधाकर्मिका न भवन्तीति तरसुतरां न प्रतिषेद्धुं लभ्यमिति भावः " । ४ " एकाकिनः " । ५ " [सिद्धायतने] प्रासादे-समवसरणे " इति पर्यायाः अ. ।

माधाकर्म्म न स्यात्ततो भक्त्या तदर्थं निष्पादिते अनिश्राकृतेऽपि तद्भवने किं न निवासादि क्रियते ?, उच्यते—महाशातनादोषप्रसङ्गात्, आह च "जइ वि न आहाकम्मं, भत्तिकयं तह वि वज्जयंतेहिं, भत्ती खलु होइ कया, इहरा आसायणा परमा ॥१॥" ननु यथा अर्हन् स्वार्थकृतं भक्ताद्याधाकर्मिकत्वाद्वर्जयति, तथा किन्न वातोदकपुष्पवर्षणादिकां सपर्यामपि वर्जयति ?, अवर्जयित्वा कथं दोषवान्न भवतीति ?, उच्यते—"तित्थयरनामगोयस्स, खयट्ठा तह य चेव साभव्वा। धम्मं कहेइ अरहा, पूयं वा सेवए तं तु ॥१॥ खीणकसाओ अरहा, कयकिच्चो अविय जीयमणुवत्ती। पडिसेवंतो वि तहा, अदोसवं होइ तं पूयं ॥ २ ॥' साभव्व 'त्ति स्वो भावः स्वभावस्तस्य भावः स्वाभाव्यं, तस्मात्; यथाहि—"आपो द्रवाश्चलो वायुर्दाहकोऽग्निः" इत्यादयो भावाः स्वं स्वं स्वभावं नातिवर्त्तन्ते, एवं तीर्थकरजीवोऽपि तामवस्थां प्राप्तस्तथाविधसपर्यानुभवनस्वभावत्वाद्धर्मं कथयति पूजां चासेवते तां देवादिभिः कृतामित्यलं प्रसङ्गेनेति। तथा लिङ्गतो न प्रवचनत इति द्वितीयभङ्गे निन्हवाः, सदृशलिङ्गत्वान्मिथ्यादृष्टित्वेन प्रवचनबाह्यत्वाच्च, वर्त्तन्ते, अतस्तदर्थमपि कृतं कल्पत एव, केवलं ते क्वापि निन्हवत्वेन ज्ञाताः स्युः क्वाप्यज्ञातास्ततश्च यत्र स्थाने जनेन ज्ञाताः स्युस्तत्र द्वितीयभङ्गे, यत्राज्ञातास्तत्र लोकेन साधुबुध्या ग्रहणात्प्रागुक्ततृतीयभङ्गे वर्त्तन्त इति, तदा न कल्पते। तथा प्रवचनतो न लिङ्गत इति प्रथमे भङ्गे एकादशप्रतिमावर्जप्रतिमास्थश्रावका एकप्रवचनान्तर्वर्त्तित्वाद्रजोहरणादिलक्षणसाधुलिङ्गाभावाच्च, वर्त्तन्त इत्यत्र

१ "साधुनिश्रारहिते विधिचैत्ये जिनभवने कृते"। २ "[जीतं] कल्प [तद्] अनुवर्त्ती"। ३ "केवलावस्थां" इति पर्यायाः अ.।

कल्पते, यदाह—× दस ससिहागा सावग-पवयणसाहम्मिया न लिंगेण। लिंगेण उ साहम्मी, नो पवयण-निन्हगा सव्वे ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तं यस्येति द्वारं, साम्प्रतं यथेत्यस्यावसरः, तत्र च यैः प्रकारैराधाकर्म्मपरिभोगजन्यः कर्म्मबन्धः स्यात्तान् सदृष्टान्तानभिधातुमाह—

दी०-प्रवचनलिङ्गाभ्यां साधर्मिकस्य कृते कृतं भवत्याधाकर्म, तत्र प्रवचनं-द्वादशाङ्गी तदाधारभूतः सङ्घोऽपि, लिङ्गं-रजोहरण-मुखवस्त्रिकाद्यं, ताभ्यां सङ्घान्तर्वर्त्ती यतिजन एकादशप्रतिमास्थः श्रावकश्च साधर्मिको ज्ञेयः। स च चतुर्द्धा, यथा-प्रवचनतः साधर्मिको न लिङ्गतः १, लिङ्गतो न प्रवचनतः २, प्रवचनतो लिङ्गतश्च ३, न प्रवचनतो न लिङ्गतः ४। अत्र तृतीयभङ्गभवं न कल्पते, इतरभङ्गत्रयभवं तु शुद्धमित्याह-प्रत्येकबुद्धा जघन्यत एकादशाङ्गिन उत्कृष्टतस्तु +भिन्न-(त्रुटित)दशपूर्विणो देवतार्ऽर्पितलिङ्गा अलिङ्गाश्च, निह्नवा जमाल्यादयः, तीर्थकरा-जिनास्तदर्थाय कृतं पुनः कल्पते, द्वौ प्रवचनलिङ्गातीतत्वाच्चतुर्थभङ्गे ज्ञेयौ निह्नवास्तु द्वितीये, अर्हद्भिम्बबल्याद्यर्थमपि कृतं कल्पते, तृतीयभङ्गोक्तसाधर्मिकजीवार्थं तु नैव। ननु यदर्हदर्थे कृतं कल्पते तत्कथं न तद्भवने वासः ?, सत्यं, महाऽऽशातनादोषादिति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तं यस्येति द्वारं, अथ यथेति तृतीयं सदृष्टान्तमाह—

पडिसेवण[1]-पडिसुणणा[2], संवास[3]ऽणुमोयणाहिं[4] तं होइ। इह तेण[1]रायसुय[2]पल्लि[3]-राय[4]दुट्ठेहिं दिट्ठंता ॥१३॥

× " दशप्रतिमास्थाः श्रावकाः सशिखाकाः-शिखायुक्ता भवन्ति " इति पर्यायः अ.। + " अभिन्न० " क.।

व्याख्या—प्रतिषेवणं–प्रतिषेवणा आसेवना परिभोग इति यावत् १ । तथा प्रतिश्रवणं प्रतिश्रवणा–कर्त्तुमिच्छतोऽनुज्ञादानलक्षणा २ । तथा संवसनं संवासः, आधाकर्मभोजिभिः सहैकत्रावस्थानं ३ । तथाऽनुमोदनं अनुमोदना आधाकर्मभोजिप्रशंसनं ४ । अत्र च प्रतिषेवणा च प्रतिश्रवणा चेत्यादिद्वन्द्वः कार्यः, ततश्चैताभिः प्रतिषेवणादिभिः क्रियमाणाभिः, किमित्याह–'तं'ति तदाधाकर्म–तद्भोगादिजन्यः कर्मबन्ध इति हृदयं 'भवति' जायते । एवं प्रतिषेवणादीनां उद्देशमात्रं कृत्वा, अथैतास्वेवोदाहरणान्याह–'इहे'ति आसु प्रतिषेवणादिषु यथाक्रमं स्तेनाश्च–चौराः, राजसुतश्च–नृपपुत्रः, पल्लिश्च-भिल्लप्रायजनसन्निवेशः, राजदुष्टश्च-नृपापराधकारी, स्तेनराजसुतपल्लिराजदुष्टास्तैः करणभूतैः, किमित्याह–'दृष्टान्ता' उदाहरणानि, भवन्तीति प्रक्रमः । एतांश्च प्रतिषेवादिस्वरूपव्याख्यानावसरे अनन्तरमेव वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

इदानीं प्रतिषेवणा-प्रतिश्रवणे व्याख्यातुमाह—

दी०—'प्रतिसेवना' आधाकर्मपरिभोगः १, प्रतिश्रवणा–तद्भोक्तुरनुज्ञा २, संवासस्तद्भोजिभिस्सह ३, अनुमोदना–तद्भोक्तृप्रशंसा ४, आभिस्तदाधाकर्म भवति, तज्जन्यः कर्मबन्धः स्यादिति गाथा[? पूर्वार्द्धा]र्थः । आसां यथाक्रमं दृष्टान्तानाह–'इह' एषु स्तेना–श्चोराः १, राजसुतो–नृपपुत्रः २, पल्लि–भिल्लस्थानं ३, राजदुष्टो–नृपापराधी ४, तेषां दृष्टान्तास्ते च यथास्थानं वक्ष्यामीति गाथार्थः ॥ १ ॥ अथाद्यद्वयार्थमाह—

सयमन्नेण व दिन्नं, कम्मियमसणाइ खाइ पडिसेवा ।
दक्खिन्नादुवओगे, भणओ लाभो त्ति पडिसुणणा ॥ १४ ॥

लघुवृत्त्या-वुद्गमाद्यदोषे यथेति द्वार-स्वरूपम् ।
॥ १४ ॥

व्याख्या—स्वयमात्मनाऽऽनीतमिति गम्यते। अन्येन वा आत्मव्यतिरिक्तसाधुनाऽऽनीयेति गम्यते। वा शब्दो विकल्पार्थो 'दत्तं' वित्तीर्णं, किमित्याह—'कम्मियं'ति कर्म्मणा—साध्वर्थक्रियया निर्वृत्तं कार्मिकं-आधाकर्म्मदोषवत् 'अशनादि'भक्तपानादि, किं करोतीत्याह—'खाइ'त्ति खादति मोहोपहतचित्ततया निःशूकत्वाद्भक्षयति, यः साधुरिति गम्यते । न पुनरेवं भावयति, यथा—"जस्स कए आहारो, पाणिवहो तस्स होइ नियमेणं। पाणिवहे वयभंगो, वयभंगे दुग्गई चेवत्ति ॥ १ ॥" तस्य किं भवतीत्याह—प्रतिषेवा पूर्वोक्तशब्दार्था स्यादिति शेषः, अत्र च पुरा सूचितं चौरोदाहरणं यथा—

एगंमि गामे अणेगे चोरा परिवसंति, ते य अन्नया एगाओ सन्निवेसाओ गावीओ हरिऊण नियगामाभिमुहा चलिया। जाहे सदेसं पविट्ठा तओ नियमंडलोत्ति काउं निब्भया भोयणवेलाए तेसिं गोणीणं मज्झाओ कित्तियाओ विणासिऊण भोयणत्थं पइउं लग्गा, तम्मि पत्थावे केइ पहिया मिलिया, भोयणकरणत्थं च सव्वेवि भोत्तुकामेहिं चोरेहिं निमंतिया। तओ केई भुंजिउं पयट्टा, केहिवि गोमंसभक्खणं बहुपावंति काउं सयं भक्खणं न कयं, किंतु अन्नेसिं परिवेसणाइ× पारद्धं। एत्थंतरे कूविया+ आगया, तओ तेहिं ते सव्वेवि गहिया, तत्थ जे पहिया आसि 'पहिया अम्हे'त्ति भणंता वि गोमंसभक्खणपरिवेसणाइ×दोसेण तेवि इयरेवि तेहिं वहियत्ति। एवमित्थ वि जे कम्मियं भत्ताइ आणिंति, तं सयं भुंजंति, अन्ने य तेण निमंतंति, निमंतिया य जे तं भुंजंति अन्नेसिं च जे तं परिवेसंति भायणाणि वा जे संठवेंति, ते सव्वे वि नरगाइफलेणं चिक्कणकम्मुणा लिप्पंतित्ति, उक्तं च—
"जे वि य परिवेसंती, भायणाणि धरंति य। तेवि वज्झंति तिव्वेणं, कम्मुणा किमु भोइणो ? ॥ १ ॥"

× परिवेसणाए" प. अ. य. । + "वाहरिका" इति पर्यायः अ. भां. ।

अत्र योजना यथा—चोरट्ठाणीया आहाकम्मभक्खगनिमंतगसाहुणो, मंसभक्खगपहियसरिसा निमंतियाहाकम्मभोइ-साहुणो, गोमंसपरिवेसगाइपहियतुल्ला कम्मियपरिवेसगाइसाहुणो, पहतुल्लं मणुस्सजम्मं, कूवियसरिसाणि कम्माणि, मरणाइट्ठाणीयं नरगाइगमणंति। अत्र च स्वतो निमन्त्रणातो वा आधाकर्मभोक्तृसाधुषु मुख्यतः प्रतिसेवा प्रसङ्गतः प्रतिश्रवणादयश्च भावनीया इति। अथ प्रतिश्रवणां व्याख्यातुमाह–'दक्खिन्ने'त्यादिपश्चार्द्धं, तत्र 'दक्खिन्नादुवउगे'त्ति दाक्षिण्यं प्रतीतं, तदादिः-प्रथमं यस्य तत्तथा, तेन। विभक्तिलोपश्च सूत्रे प्राकृतत्वादित्युक्तमेव। आदिशब्दात् स्नेह-सम्बन्धभयादिपरिग्रहः। उपयोगो यतिजनप्रतीतो भक्तादिग्रहणसमयभाव्यनुष्ठानविशेषः। सचाऽयं लेशतः–यदा हि किल साधवो भिक्षाद्यर्थं× जिगमिषवो भवन्ति, तदा कायिक्यादिव्यापारं कृत्वा पात्राद्युपकरणं गृहीत्वा सम्यगुप-युक्ताः सन्तो गुरोरग्रतः स्थित्वा भणन्ति, यथा–'संदिसह उवओगं करेमो'त्ति, ततः 'करेह'त्ति वचनोच्चारण-तस्तेनाऽनुज्ञाताः सन्तः 'उवओगकरावणियं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थूससिएण'मित्यादिसूत्रमुच्चार्य कायो-त्सर्गेण तिष्ठन्ति चिन्तयन्ति च तत्र नमस्कारमुत्सारितकायोत्सर्गाश्च नमस्कारपाठपुरस्सरमर्द्धावनतगात्रा+ भणंति, यथा-'संदिसह'त्ति, अत्र च निमित्तोपयुक्तो ब्रूते गुरुर्यथा–'लाभो'त्ति। ततः साधवः सविशेषावनता वदन्ति, यथा–'कहघे-त्थामो'त्ति, अत्र च गुरुर्भणति–'यथा तह'त्ति× यथा गृहीतं पूर्वसाधुभिरित्यर्थः। एवं चाभिहिते गुरुणा साधवो भणन्ति, यथा–'आवस्सियाए जस्स य जोगो'त्ति, यस्य च भक्तवस्त्रादेः प्रवचनोक्तेन विधिना'योगः' सम्बन्धः प्राप्तिलक्षण इत्यर्थः, इति।

× " भिक्षार्थं " अ. मां.। + " ०गात्रा भवन्ति भणन्ति च " य.। × " यथा तिहि–त्ति " अ.।

तस्मिन् क्रियमाणे सति, आधाकर्मभोक्तृसाधुनेति गम्यते। 'भणतो' ब्रुवाणस्याचार्यादेरिति गम्यते। किमित्याह–'लाभो'त्ति लाभमिति शब्दं, किं स्यादित्याह प्रतिश्रवणा–वर्णितशब्दार्था, स्यादिति प्रक्रमः। इह च सूत्रकृता "आलोइए सुलद्धं, भणइ भणंतस्स पडिसुणणा" इति ग्रन्थान्तरप्रसिद्धप्रतिश्रवणायाः स्वरूपान्तरं प्रशंसारूपत्वादनुमोदनैव विवक्षितेति न न्यूनता सूत्रस्याशङ्कनीयेति। उपलक्षणत्वाद्वा तदपीह द्रष्टव्यमिति। अत्रापि प्राक् सूचितं राजसुतोदाहरणं, यथा–

एगो रायपुत्तो रज्जगहणुस्सुओ चिंतेइ, जहा-'एस मम पिया थेरोवि न मरइ त्ति नियभडे सहाए काऊण एयं मारित्ता रज्जं गिण्हामि'त्ति। तओ नियभडेहिं सह इमं मंतियं, तत्थ केहिवि वुत्तं-'अम्हे तुह सहाया होमो'केहिवि वुत्तं-'एवं करेहि' केहिवि तुसिणीकया, केहिवि तं सव्वं रन्नो निवेइयं। तओ रन्ना पढमा तिन्निवि कुमारो य वावाइया, चउत्था पुण पूइयत्ति। एवं लोगुत्तरेवि जे आहाकम्मं आणेत्ता सयं भुंजंति, अन्ने य तेण निमंतंति, जे य निमंतिया 'भुंजह तुब्भे अम्हेवि भुंजामो'त्ति भणंति, जे य आहाकम्मभोइचित्तरक्खणत्थमुवओगे 'लाभो'त्ति जंपंति, आलोइए 'सुलद्धं'ति वा भासंति, जे य मोणेण अच्छंति, ते सव्वेवि नरगाइफलेण दारुणकम्मुणा लिप्पंति। जे पुण पडिसेहंति, ते कम्मबंधाओ मुच्चंतित्ति। उवणओ पुण एवं+ कायव्वो, जहा-कुमारठाणीया आहाकम्मनिमंतगसाहुणो, पिइवहठाणीओ आहाकम्मपरिभोगो, पढमभडत्तिगठाणीया सेसनिमंतियाइसाहुणो, चउत्थपुरिसठाणीया तब्भोगपडिसेहगसाहुणोत्ति। अत्र च आधाकर्मभोक्तॄणां प्रतिसेवादयश्चत्वारोऽपि भावनीयाः, तथाहि—आधाकर्मभोजित्वात्प्रतिसेवना, निमन्त्रणाद्वारेणान्येषामपि तत्परिभोगं प्रति प्रवर्त्तकत्वात्प्रतिश्रवणा,

+ "पुणरेवं" अ. य.।

तद्भोजिभिश्च सहैकत्रावस्थानात्संवासस्तद्भोजिबहुमानाच्चानुमोदना तेषां, यदाह—"पडिसेवणा पडिसुणणा, संवासऽणुमोयणा य चउरोवि । पिइमारगरायसुए, विभासियव्वा जइजणे य× ॥ १ ॥" शेषाणां तूक्तानुसारतो यथासम्भवं वाच्यमिति । तथेह दृष्टान्ते पदातिभिर्दार्ष्टान्तिके तु निमन्त्रितादिसाधुभिः प्रकृतमिति प्रतिश्रवणोक्तेति गाथार्थः ॥१४॥

अथ संवामानुमोदने व्याख्यातुमाह—

दी०—स्वयमानीतं अन्येन वा दत्तं 'कार्मिकं' आधाकार्मिकमशनादिपिण्डं यः साधुर्निश्शूकः खादति, सा प्रतिसेवा । अत्र चौरोदाहरणं कथ्यते–केचिच्चौराः कुतोऽपि गा अपहृत्य स्वग्रामासन्नमाजग्मुः, तत्र निर्भयानां तेषां स्वयं मारितगोमांसाशनकाले केचित्पथिका मिलितास्तद्भोक्तुं निमन्त्रिताश्च, ततः कैश्चिद्भुक्तं, कैश्चिद्गोमांसशूकया नैव, परं परिवेषणादिसाहाय्यं कृतं । अत्रान्तरे वाहरिकैस्ते चौरा 'मार्गस्था वय'मिति वदन्तोऽपि पथिकाश्च हताः । अत्रोपनयः–चौराभा आधाकर्मप्रतिसेवकाः, पथिकाभास्तन्निमन्त्रणाभोजिनः, परिवेषकाभास्तत्सहायाः, पथावस्थानाभं नृजन्म, गोमांसाशनकल्पमाधाकर्मभोजनं, वाहरिकाभानि कर्माणि+, मरणाभं नरकादिगमनमिति । प्रतिश्रवणामाह–विभक्तिलोपाद्दाक्षिण्यादिना, आदिशब्दात्सम्बन्धस्नेहभयादिना, 'उपयोगो' यतिप्रतीतं भक्तादिग्रहणकालानुष्ठानं, यथा–भिक्षाद्यर्थं व्रजन्तो यतयः कृतकायिक्यादिव्यापारा गृहीतपात्राद्युपधयो गुरुं वदन्ति–सन्दिशत उपयोगं कुर्मः, ततस्तदादेशेन तदर्थमष्टोच्छ्वासमुत्सर्गं विधायान्ते नमस्कारोच्चारपूर्वं 'संदिसह'त्ति भणन्ति, गुरुराह–'लाभु' त्ति, नम्राङ्गास्तेऽप्याहुः–'कह गिण्हासु'त्ति ?, गुरु-

× " ०जणेणं " अ. प. । + " वाहरिकाभा विषयाः " ह. ।

दीपिकाया-मुद्गमाद्य-दोषस्य यथेति द्वारे प्रतिसेवा-प्रति-श्रवणयोः स्वरूपम् ॥

मणति-'जह गहिगं पुव्वसाहुहिं'ति, तेऽप्याहुः-'इच्छं आवस्सियाए जस्स य जोगु'त्ति, अ(त)स्मिन् कार्मिकाशिना साधुना क्रियमाणे गुरो'र्लाभु'त्ति भणतः प्रतिश्रवणा, केऽप्यशुद्धभक्तालोचने 'सुलद्धं'त्ति भणतस्तामाहुः, अत्रानुमोदनैव स्थापितेति न विरोधः। अत्रोदाहरणं यथा- एको राज्ञः सुतो राज्योत्सुकः स्थविरपितृवधोद्यतः स्वाभिप्रायं रहसि भटानामाह, ततः कैश्चिदुक्त-सहाया वयमिहार्थे, कैश्चित्कुरुष्वेति, कैश्चिन्मौनं कृतं, कैश्चिद्राज्ञो निवेदितं। अथ राज्ञा प्रथमे त्रयः सकुमारा मारिताश्चतुर्थाश्च पूजिताः। अत्र योजना-कुमाराभाः कार्मिकनिमन्त्रकाः, पितृवधाभस्तद्भोगः, प्रथमभटत्रयाभास्तत्प्रतिश्रवणादिकारकाः, चतुर्थभटाभास्तन्निषेधका इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ अथ संवासानुमोदने आह—

संवासो सहवासो, कम्मियभोइहिं तप्पसंसाओ। अणुमोयणत्ति तो ते, तं च चए तिविहतिविहेणं ॥१५॥

व्याख्या—संवसनं संवासो भण्यते, कः? इत्याह-'सहवास' एकत्रावस्थानं। कैरित्याह-कार्मिकभोजिभिराधाकर्मसेविभिः, साधुभिरिति गम्यते। अत्र च पूर्व(सूरि)सूचितः पल्लिदृष्टान्तो यथा-एगाए विसमगिरिसन्निविट्ठाए पल्लिए बहवे चोरा माहणवणियादओ य परिवसंति। ते य चोरा एगस्स राइणो मंडले चोरियं काउं पल्लीए पविसंति। अन्नया अमरिसाऊरियहियएण महासामग्गिं काऊण तेण राइणा सा पल्ली गहिया, तीए गहिज्जमाणीए केवि चोरा हया केवि नट्ठा, बंभणवणियाइएहिं चिंतियं, जहा-'अम्हं अचोराणं राया न किंचिवि करेहि'त्ति न ते पलाणा। तओ राइणा तेवि गिण्हाविया। तओ तेहिं भणियं, जहा-'देव! अम्हे बंभणवणियादओ न पुण चोरा, तओ राइणा उल्लवियं-'रे पाविट्ठा!! तुब्भे चोरेहिंतोवि अहिययरमवराहिणो, जेण अम्हाणं अवराहकारीणं मज्झे वसह'त्ति, एवं भणंतेणं राइणा तेवि निग्गहियत्ति। एवं अम्हवि जे आहा-

कम्मभोईहिं साहूहिं समं वसंति ते तद्दोसाओ चेव कलुसियसुहपरिणामा उवचियजम्मजरामरणनिबंधणकम्ममहाभरा अवस्सं दुग्गईए पवडंति। एत्थोवणओ जहा–रायट्ठाणीयाणि कम्माणि, पल्लिट्ठाणीया वसही, चोरट्ठाणीया आहाकम्मभोइसाहुणो, वणियाइठाणीया आहाकम्मभोइसहवासिसाहुणो, उवालंभमरणठाणीया दुग्गइत्ति। इह च वणिग्ब्राह्मणादिभिः सहवासदोषदुष्टसाधुभिश्च प्रकृतं, चौराणामाधाकर्म्मभोक्तृसाधूनां च पूर्ववत् प्रतिषेवादयश्चत्वारोऽपि भावनीया इत्युक्तः संवासो, अथानुमोदनामाह–'तप्पसंसाओ अणुमोयणत्ति'त्ति। तेषामाधाकर्म्मभोक्तृसाधूनां तस्य चाधाकर्मिकभक्तस्य 'प्रशंसा' सुखपारणकं भवतां? सुन्दरा यूयं? सुखदैवसिकं युष्माकं? शोभना एते, य एवं मिष्टाहारेण जीवन्तीत्याद्युक्तिस्वरूपा साध्विदं कालोचितमेतदित्यादिवचनसंदर्भरूपा वा श्लाघा, तुः पुनरर्थस्तदर्थश्च स्वयं भावनीयः। किमित्याह–'अनुमोदना' पूर्वोक्तशब्दार्था, उच्यत इति प्रक्रमः, इति शब्दः प्रतिषेवादीनां व्याख्यानपरिसमाप्तिं द्योतयति। अत्रापि प्रागभिहितो राजदुष्टदृष्टान्तो यथा–

एगो वणियकुमारो अईव इत्थिलोलुओ अंतेउरसमीवेण गच्छंतो दिट्ठो रायमहिलाहिं, तेणवि ताओ सरागं पलोइयाओ जाओ य परोप्परं दढमणुराओ। तओ दिव्वजोएणं कहवि संपत्तीए सो ताओ पइदिणं सेविउं पयट्टो। पच्छा रन्ना नाओ। तओ विसिट्ठवत्थनेवत्थो विचित्ताभरणविभूसिओ कयकुंकुमंगरागो तंबूलरंजियाहरो रयणीए अंतेउरे पविट्ठो समाणो वहेऊण नयरमज्झे पक्खित्ताविओ। तत्थ य अव्वत्तवेसधारिणो राइणा चारियपुरिसा वावारिया, भणिया य, जहा–'जे एयं पसंसंति निंदंति य ते मम सगासे आणेयव्व'त्ति। पभाए य सो नागरगाइलोगेणं वेढिओ, तत्थोवलद्धवुत्तंतेहिं केहिंवि भणियं, जहा-'जाएण जीव लोगंमि सयलेण वि नरेणावस्सं मरियव्वं, परं जाओ नरवइमहिलाओ अम्हारिसेहिं अकयपुन्नेहिं लोयणेहिंपि दट्ठुं दुल्लभाओ,

लघुवृत्त्या-वुद्गमाद्यदोषस्य यथेति द्वारे संवासानुमोदनयोः स्वरूपम् ॥

ताओ त्ति जं भाणिऊण मओ, ता एस धन्नो कयपुन्नो सुलद्धं एयस्स माणुसं जम्मं सुजीवियं च एयस्सेव'त्ति। अन्नेहिं भणियं–'पावकारी एसो, जो जणणिमरिमाणं नियमामिभज्जाणं चुक्को'त्ति। एयं च सोउं ते चारपुरिसेहिं रन्नो समप्पिया। राइणा वि जेहिं सो पसंसिओ ते वावाइया, इयरे मुक्का पूइया य त्ति। एवं लोगुत्तरेवि एगे साहुणो आहाकम्मं भुंजंति, अन्नरे जंपति–'धन्ना एए, सुहं जीवंति'। अन्ने पुण भणंति–'धिरत्थु एतेसिं, जे अरिहंतवुत्तसिद्धंतनिसिद्धं विवुहजणगरहणिज्जमाहारमाहारेंति। एत्थोवणओ इमो–अंतेउरठाणीयं आहाकम्मं, तस्सेवगवणियसुयसरिसा तस्सेवगसाहुणो, 'धन्नो एसो'त्ति जंपगपुरिसठाणीया तस्सेवगपसंसगा, 'अहन्नो एसो'त्ति जंपगपुरिससरिसा तेस्सेवगनिंदगा, रायठाणीयाणि कम्माणि, मरणठाणीयो संसारोत्ति। अत्र च वणिक्पुत्रप्रशंसकपुरुषैराधाकर्म्मभोक्तृप्रशंसकसाधुभिश्च प्रकृतं, वणिक्पुत्रस्याधाकर्म्मभोक्तृमाधूनां पुनः पूर्ववत् प्रतिपेवादयश्चत्वारोऽपि भावनीया इति। उक्ताः प्रतिपेवादयस्तांश्च ज्ञात्वा सुसाधुना यद्विधेयं तदुपदिशन्नाह–'तो ते' इत्यादि, ततो यतः आधाकर्म्म-तद्भोक्तृसाध्वपरिहारिणां साधूनां उक्तलक्षणाः प्रतिपेवादयो दुर्गतिगमननिबन्धना दोषाः सम्भवन्ति तस्मात्कारणात्तान् निन्द्यजीविकानिरतान् अयथावादकारिणो निःशूकशिरोमणीन् शटिततांबूलपत्रकल्पानाधाकर्म्मभोजिसाधून् तच्च संयमजीवितसद्योविनाशविषतुल्यमाधाकर्म्मदोषदुष्टमाहारं, चः समुच्चये, 'चए'त्ति त्यजेत्–परिवर्जयेत्। कथमित्याह–'तिविहंतिविहेणं'ति त्रिविधंत्रिविधेन करणकारणानुमतिविशिष्टमनोवाक्कायैरित्यर्थः। तत्र तद्भोक्तृसाधून् प्रतिश्रवणासंवासानुमोदनातो वर्जयेत्, यथा–न तेषां तद्विषयामनुज्ञादानलक्षणां प्रतिश्रवणां त्रिविधेन करणेन कुर्यान्नाप्येवमेवान्येन कारयेत् नाप्यन्यं कुर्वन्तमेवं समनुजानीयात्। तथा न तेषु स्ववैरिपु

मध्ये स्वयं वसेत्, नाप्यन्यं साधुं वासयेन्नाप्यन्यं वसन्तं मनोवाक्कायैः समनुजानीयात्। एवमनुमोदनामपि तेषां स्वयं न कुर्यात्, न कारयेन्नाप्यन्यं कुर्वाणं त्रिविधेन करणेनानुजानीयात्। आधाकर्मिकं च प्रतिषेवाऽनुमोदनतो विवर्जयेद्यथा—न तत्स्वयं त्रिविधेन भुञ्जीत नान्यं भोजयेन्नाप्यन्यं भुञ्जानं समनुजानीयात्। एवमनुमोदनेऽपि वाच्यमिति गाथार्थः ॥ १५ ॥

उक्तं यथेति द्वारं, साम्प्रतं यादृशमिति द्वारं, तत्र यानीव दृश्यते यादृशं यैर्वस्तुभिः समानमाधाकर्मिकमित्येतदभिधातुमाह—

दी०—'संवासः' सहवासः कार्मिकभोजिभिः, अत्रोदाहरणं—एकस्यां पर्वतान्तर्वर्तिपल्ल्यां चौराधिष्ठितायां बहवो वणिग्विप्रादयो(ऽपि) वसन्ति। अन्यदा तच्चौरोपप्लवादेकेन राज्ञा पल्लिं गृहीत्वा केचिच्चौरा हताः केचिन्नष्टाः, 'निरपराधा वय'-मिति वदन्तोऽपि चोरसंवासाद्वणिजादयोऽपि निगृहीताः। अत्रोपनयः—नृपाभानि कर्माणि, पल्लितुल्या वसतिः, चोराभाः कार्मिकभोजिनः, वणिगा[द्या]भास्तद्भोजिसंवासिनः, निग्रहाभा दुर्गतिरिति। अनुमोदनामाह—तेषां कार्मिकभोक्तृणां प्रशंसया 'धन्या सुन्दरभोजिनो यूय'मित्यादिकया 'तु' पुनरनुमोदनेति। अत्राख्यानकं—एको वणिकुमारः सुरूपः स्त्रीलोलो नृपान्तःपुरीभिर्दृष्टः, उभयानुरागाद्द्रव्यवहृतिछद्मना ताः शिषेवे, यावद्राज्ञा ज्ञातो (हतो), हत्वा च राजमार्गे क्षिप्तः, ततः स कैश्चि—'द्धन्योऽसौ, योऽन्येषां दृग्भ्यामप्यदृश्यान् राजदारान् संसेव्य अवश्यम्भाविमरणमापे'त्यादिवचनैः प्रशंसितः, अन्यैश्च 'पापीयानसौ, यो जनन्य इव निजस्वामिभार्याः सिषेवे' इत्यादिनिन्दितः। ततो नृपेण पूर्वनियुक्तचरानीतास्तत्प्रशंसका हताः निन्दकाश्च पूजिता इति। अत्रोपनयः—अन्तःपुराभमाधाकर्म, वणिक्सुताभास्तद्भोजिनः, प्रशंसकाभास्तदनुमोदकाः, निन्दकाभास्तद्गर्हकाः, नृपाभानि कर्माणि, मरणाभः संसारः। एषु दृष्टान्तेषु एकमुख्यत्वे प्रसङ्गादन्येऽपि योज्याः।

उक्ताः प्रतिषेवणाद्याः, अतस्तद्योगे विधेयमाह-ततः कारणात्तान्-कार्मिकभोजिनो यतीन् तच्चाधाकर्म त्रिविधं त्रिविधेन-मनोवाक्कायैस्त्यजेदिति गाथार्थः ॥ १५ ॥ उक्तं यथेति द्वारं, अथ यादृशं तदिति चतुर्थमाह—

वंतुच्चारसुरागो-मंससममिमंति तेण तज्जुत्तं । पत्तं पि कयतिकप्पं, कप्पइ पुव्वं करिसघट्ठं ॥१६॥

व्याख्या—'वान्तं च' भुक्तोद्गिलितं 'उच्चारश्च' पुरीषं 'सुरा च' मद्यविशेषो 'गोमांसं च' बहुला+ पिशितं, तानि तथा, तैरत्यन्तं सर्वजनजुगुप्सितैः 'समं' तुल्यं संयमिनां निन्द्यत्वादिदमाधाकर्मिकभक्तादि । इति शब्दो यस्मादर्थस्ततश्च यस्मादिदमेभिरतिकुत्सितैः समानं, तेन कारणेन 'तद्युक्तं' तेनाधाकर्म्मणा 'युक्तं' खरण्टितं, किं तदित्याह-'पात्रमपि' भाजनमपि 'कयतिकप्पं' ति कृता-विहितास्त्रयस्त्रिसङ्ख्याः 'कल्पाः' समयप्रसिद्धा धावनप्रकारा यस्य तत्कृतत्रिकल्पं, तदेव किं ? 'कल्पते' यतीनां परिभोक्तुं युज्यते । किंविशिष्टं सदित्याह-'पूर्वं' कल्पकरणकालात्प्रथमतः 'करीषघृष्टं' शुष्कगोमयसंसृष्टं । इदमुक्तं भवति-यदि कथञ्चिदनाभोगादिगृहीताधाकर्म्मभक्तादिना संसृष्टं भाजनं स्यात्तदा गोमयादिसम्मार्जनतो निर्लेपताविधानपुरस्सरं कल्पत्रये कृते सत्येव तत् साधूनां परिभोक्तुं कल्पते, नान्यथा, अतो वान्तोच्चारादिवत्तदप्यत्यन्तं गर्हितमेवेति । अत्र कश्चिदाह-वान्तोच्चारगोमांसग्रहणमत्र कर्त्तुमुचितं, न सुराग्रहणं, तस्या लोकपेयत्वात्, पेयस्य च जुगुप्सितत्वेनानारूढत्वाद् अन्यथा पेयत्वायोगात् । नैवं, तस्याः कैश्चिदेव जघन्यचरितैः पाने आचरितत्वात् ,न च तदाचरितमपि शिष्टानां प्रमाणं, अन्यथा

+ "एकवारप्रसूता गौ बहुला इत्युच्यते" इति पर्यायः अ । "बहुला तु, सुरभ्यां नीलिकैलयोः ॥ १२७३ ॥" इति हैमानेकार्थः ।

वान्तोच्चारादीनामपि सारमेयादिभिर्भोजने आचरित्वात्तेषामपि भक्ष्यत्वप्रसङ्गात्। एवं च न किञ्चिदपेयमभक्ष्यं वा स्यादिति यत्किञ्चिदेतदिति। अथवा वैदिकमतापेक्षं सुराया जुगुप्सितत्वमिति। उपलक्षणमात्रं चेह वान्तादिग्रहणं, तेन गङ्गरिकाकरभीक्षीरल्हसुनपल[ा]ण्डुकाकमांसादीन्यपि वेदसमयगर्हितानीह द्रष्टव्यानि, एवं चाभक्षणीयमेवेदमित्युक्तं भवति। ततोऽस्यैवाभोज्यत्वसमर्थनार्थं दृष्टान्त उच्यते–एगंमि नगरे एगो सेवगो परिवसइ, तस्सऽन्नया जेट्ठभाया पाहुणगो आगओ। तओ तेण नियमहिलाए मंसमाणिऊण समप्पियं, तं च तीसे घरवावारवावडाए मज्जारेण भक्खियं। तओ तीए भयसंभंतहिययाए अन्नं मंसं अलभमाणाए कप्पडियमडयमंसं साणेण तक्खणगिलिउग्गिलियं दिट्ठं, तं च गहेऊण धोविय संधूविय अन्नवण्णं करिय भोयणत्थमुवट्ठियाणं ताणं परिवेसियं। तेहि य गंधेण नायं, जहा–'वंतमेयं'ति। तओ भत्तुणा रुट्ठेण सा ताडिया अन्नं च रंधाविया, तओ भुत्तं ति। केई भणंति–जहा केणइ मंसासिणा कप्पडिएणं अईसाररोगपीडिएणं मंसखंडाणि वोसिरियाणि, मज्जारेण य मंसे खद्धे भत्तुणो भएण तीए ताणि चेव गिण्हित्ता धोवियाणि, जाव परिवेसियाणि। तओ उवलद्धवुत्तंतेण दारगेण वारिओ जणओ, जहा–अम्माए एयाणि एवं कयाणि, ता ताय ! मा भक्खेहि त्ति। तओ तेण सा निब्भच्छिया अन्नं च रंधाविय भुत्तं ति। एवमाधाकर्म्माप्यभोज्यमित्युपनय इति गाथार्थः॥ १६ ॥

उक्तं यादृशमिति द्वारं, साम्प्रतमशने च तस्य ये दोषा इति द्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—वान्तो-चार-सुरा-गोमांसानि प्रतीतानि, तत्सममिदं आधाकर्मेति, इति यस्मादर्थे, यत एभिस्तुल्यं तेन हेतुना 'तद्युक्तं' आधाकर्मखरण्टितं पात्रमपि 'कृतत्रिकल्पं' त्रीन्वारान् धौतं, 'पूर्वं' प्रथमं 'करीषघृष्टं' शुष्क-

गोमयोन्मृष्टं कल्पते, नान्यथेति । अत्र सुराग्रहणं शिष्टानुसारेण, अन्यथा वान्तादीन्यपि कुकुराद्यशनाद्भक्ष्याणि स्युः, अतो वान्तादिवत्सर्वथेदं साधुभिस्त्याज्यं । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह–कश्चित्सेवको मिलनायातभ्रातृकृते स्वमहिलाया मांसमर्पयत् । तद्गृह्यापृतायां मार्जारेण भक्षितं, मा तदभावेन भर्तृभीता मृतकमांसं शुना वान्तं दृष्ट्वा तदेव संस्कृत्य तयोर्ददौ, तौ च गन्धादिना तद्वान्तं विज्ञाय तां च निर्भर्त्स्य नवीनमानीय भुक्तौ । केऽप्याहुः–सा केनाप्यतीसारिणा व्युत्सृष्टं मांसमाप, तच्च बालकेन पितुराख्यातमिति, एवमाधाकर्माप्यभोज्यमिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

उक्तं याद्दग्द्वारं, अथ तदशने ये दोषा इति पञ्चममाह—

कम्मग्गहणेऽइक्कमं-वइक्कमा तहऽइयारेऽणायारा । आणाभंगेऽणवत्था, मिच्छत्तं-विराहणा य भवे ॥१७॥

व्याख्या—‘ कर्मण ’ आधाकर्मणो ‘ ग्रहणं ’ उपादानं कर्मग्रहणं । इह च ‘ कर्मग्रहण’मित्युक्तेऽपि “ आहाकम्मग्गाही, अहो अहो नेइ अप्पाण ”मित्यादाविव भक्षणमित्यपि व्याख्येयं, (+यतः)ग्रहणमात्र एव वक्ष्यमाणदोषासम्भवात् प्रस्तुतद्वारविरोधाच्च । तस्मिन्सति किमित्याह–‘अइक्कमे ’त्यादि, अतिक्रमव्यतिक्रमौ वक्ष्यमाणलक्षणौ, दोषाविति शेषः, वचनव्यत्ययाद्भवेतामिति वक्ष्यमाणक्रियायोगः । तथाऽतीचारानाचारौ वक्ष्यमाणलक्षणावेव । किमियन्त एव तद्ग्रहणे दोषा भवेयुरुतान्येऽपि ?, उच्यते—अन्येऽपि, यत आह–‘ आणे’त्यादि, ‘ आज्ञा ’सर्वज्ञवचनं, तस्या ‘भङ्गो’ऽतिक्रमणमाज्ञाभङ्गस्तद्ग्रहणे भवेत् । आह च–“ आणं सव्वजिणाणं, गिण्हंतो तं अइक्कमइ लुद्धो । आणं चऽइक्क-

---

+ केवलं अ पुस्तक एवोपलभ्यतेऽयं शब्दः ।

मंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं ? ॥१॥" अत्र लुब्ध इति विशेषणं योऽलुब्धो ग्लानादिकारणे यतनया तद्गृह्णाति न स तामतिक्रामतीति ज्ञापयति। तथा आज्ञां चातिक्रामन् कस्य शास्त्रविशेषस्यादेशात् ?, न कस्यापीत्यर्थः, करोति शेषं प्रत्युपेक्षणा-शिरस्तुण्डमुण्डनावश्यकाद्यनुष्ठानं, तद्भङ्गे तस्यव्यर्थत्वादिति भावः १। तथाऽनवस्थाऽन्येषां धर्मविषयेऽनास्था तद्ग्रहणे भवेत्, आह च–" एक्केण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो। सायाबहुलपरंपर–वोच्छेओ संजमतवाणं ॥१॥" अस्या भावार्थः—एकेनापि साधुना कृतमकार्यमाधाकर्म्मसेवादिलक्षणमवलोक्य करोति 'तत्प्रत्यया'त्तदालम्बनेन पुनरपरोऽपि साधुरकार्यं। ततश्च 'सायाबहुल'त्ति 'सातबहुलत्वात्' सुखाभिलाषित्वात् प्राणिनां, परम्परयैकमकार्यं कुर्वन्तं दृष्ट्वाऽन्यः, तत् प्रत्ययादपर, एवं यावत्सर्वेषामकार्ये प्रवृत्तौ व्यवच्छेदः संयमतपसोः स्यादिति २। तथा 'मिथ्यात्वं' विपर्यस्ताध्यवसायलक्षणं तदपि तद्ग्रहणे भवेत्, यदाह–"जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो ?। वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥ १ ॥" अस्या भावार्थः—यः कश्चित्साधु'र्यथावादं' यथाप्रतिज्ञातं न करोति, साधुना हि प्रव्रज्याग्रहणकाले 'सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामी'ति वदता प्राणिवधहेतुत्वादाधाकर्म्मापि प्रत्याख्यातमेव, अतस्तद्भुञ्जानेन तेन यथावादो न कृतः स्यादिति मिथ्यादृष्टिस्ततस्तस्मात्सकाशात्, हुर्वाक्यालङ्कारे, कोऽन्यो ?, नान्यः कोऽपि, किन्तु स एवेत्यर्थः, स्यात्, किञ्च–वर्द्धयति च मिथ्यात्वमात्मना+परस्य गृहस्थादेः 'शङ्कां' अहो एतेऽन्यथावादिनः अन्यथाकारिण इत्यादिलक्षणामारेकां× जनयन्निति ३। तथा विराधनाऽऽत्मसंयमोभयप्रवचनविनाशस्तल्लक्षणो दोषस्तद्ग्रहणे,

+ "०मात्मनः" अ. य.। × "०माशङ्कां" अ.।

लघुवृत्त्या-
द्यदोषस्य
पञ्चमद्वारे-
ऽतिक्रमा-
दीनामा-
ज्ञाभङ्गादी-
नां च निरू-
पणं।

वः महुचये, भवेज्ञावेत। यत आह–"खद्धे निद्धे य रुया, सुत्ते हाणी तिगिच्छणे काया। पडियरगाण य हाणी, कुणइ किलेसं च किस्संतो ॥ १ ॥" अस्या अपि भावार्थः—किलाधाकर्म प्रायः प्राघूर्णकस्येव साधोरपि गौरवेण विधीयत इति स्वादुः स्निग्धं च स्यात्, ततश्च 'खद्धे'ति प्रचुरे स्वादुतया स्निग्धे च तस्मिन् भक्षिते सति 'रुजा' ज्वरविशूचिकादिलक्षणो व्याधिः स्यादनेन चात्मविराधनोक्ता, ततश्च 'सुत्ते'ति सूत्रार्थपौरुष्यकरणात्सूत्रार्थयोर्हानिः स्यात्तथा चिकित्सायां क्रियमाणायां 'कायाः' पृथिव्यादयो व्यापाद्यन्ते। तथा प्रतिजागरकसाधूनां च हानिः सूत्रार्थयोरनेन च संयम विराधनोक्ता। तथा करोति क्लेशं–दीर्घरोगितामित्यर्थः, 'क्लिश्यमानः' पीडामनुभवन्सन्। अनेन चोभयविराधनोक्ता। उपलक्षणत्वाच्चाहो नम्मराX अमी सितपटभिक्षव, एतत् शास्त्रकारेण चामीषां सम्यग्भोजनादिविधिर्नोपदिष्टो, येनैते एवमनुभवन्तीत्यादिलक्षणा प्रवचनविराधनाऽपि द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

अथ प्रागुक्तानतिक्रमादिदोषान् व्याख्यातुमाह—

टी०—आधाकर्मग्रहणे अतिक्रमव्यतिक्रमौ तथा अतीचारा-नाचारौ वक्ष्यमाणार्थौ दोषौ स्यातां। किमन्येऽपीत्याह–'आज्ञाभङ्गः' सर्वज्ञवचनातिक्रमः, तथा 'अनवस्था' अन्येषां धर्मेऽनास्था, तथा मिथ्यात्वं, यथोक्ताकरणात्, तथा विराधना आत्मसंयमोभयरूपा, तत्र गौरवादाधाकर्म, तच्च स्निग्धं रोगायेत्याद्यात्मविराधना, तद्योगे संयमस्योभयस्यापि भवेदिति गाथार्थः ॥ १७ ॥ अतिक्रमादीनामर्थमाह—

X "भक्षणशीला" इति पर्यायो भां. पुस्तके।

आहाकम्मामंतण–पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ। पयभेयाइ वइक्कम, गहिए तइएयरो गिलिए ॥१८॥

व्याख्या—'आहाकम्मामंतण'त्ति विभक्तिलोपादाधाकर्म्मणा–पूर्वोक्तशब्दार्थेना'मन्त्रणं' मो यते ! गृहाणेदमिति गृहस्थाभ्यर्थनं, तस्मिन् सति 'प्रतिश्रृण्वति' ग्रहीष्यामीति जल्पति अनिषेधधिया मौनावलम्बिनि वा सति साधौ, किमित्याह–'अतिक्रमो' मनाक् चारित्रधर्म्मोल्लङ्घनं 'भवति' जायते। ततः 'पयभेयाइ'त्ति विभक्तिलोपा'त्पदस्य' चरणस्य भेद-स्तद्ग्रहणार्थं गमनायोत्पाटनं पदभेदः, स आदिर्यस्य तद्गृहगमनादेस्तत्पदभेदादि, तस्मिन् विहिते सति यावत्तन्न गृह्णाति तावत्किमित्याह–विशेषेणातिक्रमो–व्यतिक्रमः, पूर्वस्माद्गुरुश्चरणापराध इत्यर्थः। ततो 'गृहीते' पात्रकादौ स्वीकृते सति, आधाकर्मणीति प्रक्रमः, यावन्मुखे न प्रक्षिपति तावद्वसत्यागमनादावपि, किमित्याह–तृतीयो–ऽतिचारोऽतिशयेन चारश्चारित्रलङ्घनमतिचारो, द्वितीयापराधाद्गुरुतरचरणापराध इत्यर्थः। तत 'इतरो'ऽनाचारस्तत्र 'आचारः' कल्पो मर्यादेति यावत्तन्निषेधादनाचारः, तृतीयदोषाद्गुरुतमचारित्रदोष इत्यर्थः। स भवति, क्व सतीत्याह– 'गिलिते' गलरन्ध्रादधः प्रवेशिते, आधाकर्मकवलादाविति प्रक्रमाद्गम्यत इति। केचित्तु ग्रहणं कवलोद्धरणमेव यावद्गिलनं तु मुखे क्षेप इति व्याख्यान्तीति। अत्राह कश्चित्–नन्वतिक्रमादयः प्रस्तुतदोषाः "पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि। चारित्तंमि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥१॥" इत्याद्यागमानुसारतः सर्वथा चरणाभावरूपा एव व्याख्यातुं युज्यन्ते, न पुनर्यथा भवद्भिरत्र चरणापराधरूपा व्याख्यायन्ते, नैवं, उत्तरगुणगोचराणामतिक्रमादीनां सूत्रे सर्वथा चरणाभावसम्पादकत्वानभिधानात्, यदाह दशाचूर्णिकृत्–

१ "पिण्डविषयाणा" इति पर्यायः अ।

"शबलयति "*विचारणायां मूलेगुणेसु आइमेसु तिसु भंगेसु सबलो भवइ। चउत्थभंगे सव्वभंगो, तत्थ अचरित्ती चेव भवइ। उत्तरगुणेसु चउसुं वि ठाणेसु सबलो"त्ति। अत्र भङ्गकास्तत्रत्यप्रक्रमवशादतिक्रमादय एवावसेयाः। यद्येवं 'पिंडं असोहयंतो' इत्यादिग्रन्थः कथं नीयते ?, उच्यते-निश्चयनयाभिप्रायतया उत्सर्गदेशनाविषयतया अभीक्ष्णमेवागोचरतया वा नेतव्योऽयमिति। अपरस्त्वाह-ननु मनसा चरणविषयप्रतिषेवायां गच्छवासिनां प्रायश्चित्तं नोक्तमागमे। यदाह-" जीवो पमायबहुलो, पडिवक्खे दुक्करं ठवेउं जे। कित्तियमेत्तं वहिही, पच्छित्तं दुग्गयरिणी वा ॥१॥" अस्या भावार्थः-मनसा सेविते नास्ति प्रायश्चित्तं, यतोऽयं जीवः प्रमादबहुलः, सदा तस्याऽभ्यस्तत्वादतः प्रतिपक्षेऽप्रमादलक्षणे 'दुक्करं'ति दुष्करं स्थापयितुं 'जे' इति पादपूरणे, किञ्च-कियन्मात्रमयं जीवोऽतिचपलचित्तजनितापराधसम्भवं प्रायश्चित्तं वक्ष्यति ? दरिद्राधमर्ण इवेति। न च प्रायश्चित्ताभणनेऽप्यतिचारसद्भावस्तत्सम्भवे तदभणनस्यानुपपन्नत्वात्। तत्किमिहोच्यते ? गृहस्थेनाधाकर्मनिमन्त्रणे ×तदपरिजिहासोर्मौनावलम्बिनोऽपि साधोरतिक्रमलक्षणश्चरणापराधः। अत्रोत्तरं-मनसा सेविते प्रायश्चित्तं नास्तीति यदुच्यते तत्र तपःप्रभृतिकं प्रायश्चित्तं नास्तीत्यवगन्तव्यं। प्रतिक्रमणादिकन्तु तत्राप्यस्त्येव, मनोदुष्प्रणिधानादौ प्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तस्य सुप्रसिद्धत्वात्। एवं च सति मनोविराधनायां कथं न प्रायश्चित्तं ? कथं न नापराध ? इत्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ १८ ॥

*अत्र "शबल इति" एव भवितुमर्हतीति मम मतिः। १ मूलगुणेषु प्राणातिपातादिषु यथाक्रमं अतिक्रमादयः सयोज्या इति भावः। २ अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतीचार-अनाचाराः [illegible]"। ३ "विचार्यते" इति पर्यायः [illegible]। ४ [illegible]

साम्प्रतं तद्भोजनदोषाधिकार एव यः कथञ्चिदेतद्भुक्त्वा सम्यग्गुरुभ्योऽपुनःकारेणालोच्य प्रायश्चित्तं न प्रतिपद्यते स विराधक एव भवतीत्यावेदयन्नाह—

दी०—'आधाकर्मामन्त्रणं' तद्दायकाभ्यर्थनं 'प्रतिशृण्वति' अनिषेधयति सति साधोरतिक्रमो-मनाक् चारित्रोल्लङ्घनं भवति, 'पदभेदादौ' तद्ग्रहणार्थं चलनादौ व्यतिक्रमः पूर्वस्मादधिकः, 'गृहीते' स्वीकृते तस्मिंस्तृतीयोऽतीचाराख्यो द्वितीयादधिकः, इतरश्चतुर्थोऽनाचाराख्यस्तृतीयादधिको 'गिलिते' तस्मिन् भक्षिते स्यात्। अत्र विभक्तिलोपादिकं प्राकृतत्वादिति गाथार्थ ॥ १८ ॥ अथ कथञ्चिदेतद्भुक्त्वा यो नालोचयति स किमित्याह—

भुंजइ आहाकम्मं, सम्मं न य जो पडिक्कमति लुद्धो। सव्वजिणाणाविमुह-स्स तस्स आराहणा नत्थि ॥

व्याख्या—यः साधु'र्भुङ्क्ते' अभ्यवहरति, किं तदित्याह-'आधाकर्म' पूर्वोक्तस्वरूपं, सम्यग्भावशुद्ध्या 'न च' नैव 'य' इति योजितमेव, 'प्रतिक्रामति' प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या तद्भोजनात् प्रतिनिवर्त्तते। किं विशिष्टः सन्नित्याह-'लुब्धो' गृद्धः, अनेन च यः कथञ्चिद्भुक्त्वाऽपि सम्यक्प्रतिक्रामति पश्चालुब्धो ग्लानादिकारणे भुङ्क्ते तस्य व्युदासः कृतो वेदितव्य इति। 'सर्वजिनाज्ञाविमुखस्य' समस्ततीर्थकरोपदेशपराङ्मुखस्य तस्य-द्रव्ययतेः, किमित्याह-'आराधना' सुगतिनिबन्धनसदनुष्ठाननिष्पादना 'नास्ति' न विद्यत एवेति गाथार्थः ॥ १९ ॥

उक्तमशने तस्य ये दोषा इति पञ्चमद्वारं, साम्प्रतं 'दाने च तस्य ये दोषा' इति षष्ठद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—भुङ्क्ते आधाकर्म यः साधुः, सम्यग्भावाच्च न प्रतिक्रामेत्-प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या गुरोर्नालोचयेत् 'लुब्धो' गृद्ध-

स्तम्य-द्रव्ययतेः सर्वजिनाज्ञाविमुखस्य आराधना सुगतिहेतुत्वनुष्ठानरूपा नास्तीति गाथार्थः ॥ १९ ॥

उक्तं तदशने दोषद्वारं, अथ षष्ठं तद्दाने दोषाख्यमाह—

जइणो चरणविघाइ-त्ति दाणमेयस्स नत्थि ओहेण। बीयपए जइ कत्थ वि, पत्तविसेसे व होज्ज जओ ।२०।

व्याख्या—'यतेः' साधोः सम्बन्धि 'चरणं' चारित्रं विहन्ति विषमिश्रान्नवत्प्राणान् परिभुक्तं सद्विनाशयतीत्येवं शीलं चरणविघाति। उपलक्षणं चैतत्तद्दायकाशुभाल्पायुर्बन्धनिबन्धनत्वस्य, तथा च प्रज्ञप्तिसूत्रं-[श. ५ उ. ६ पत्र २२५] "कहण्णं भंते! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?, गोयमा! (तिहिं ठाणेहिं, तंजहा-) पाणे अइवाइत्ता १, मुसं वइत्ता २, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता ३, एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।" अस्यार्थः—'कथं' केन प्रकारेण, 'ण'मिति वाक्यालङ्कारमात्रे, भदन्त! 'जीवाः' प्राणिनः "अप्पाउयत्ताए त्ति-अल्पमायुर्यस्यासावल्पायुष्कस्तस्य भावस्तत्ता, तस्यै-अल्पायुष्कतायै, स्वल्पजीवितव्यनिबन्धनमित्यर्थः, अल्पायुष्कतया वा कर्म आयुष्कलक्षणं 'प्रकुर्वन्ति' बध्नन्ति?। ('पाणे अइवाइत्त' त्ति) प्राणान्-जीवान्' तिपात्य' विनाश्य 'मुसं वइत्त'त्ति मृषावादमुक्त्वा 'तहारूवं'ति तथाविधस्वभावं-भक्तिदानोचितपात्रमित्यर्थः 'समणं व'त्ति 'श्राम्यति' तपस्यतीति श्रमणोऽतस्तं 'माहणं व'त्ति मा हनेत्येवं योऽन्यं प्रति वक्ति स्वयं हननिवृत्तः सन्नऽसौ माहनः, अथवा ब्रह्म-ब्रह्मचर्यं कुशलानुष्ठानं वाऽस्यास्तीति ब्राह्मणोऽतस्तं, 'वा' शब्दौ समुच्चये, 'अफासुएणं'ति न प्रगता 'असवो' असुमन्तो यस्मात्तदप्रासुकं-सजीवमित्यर्थः, तेन, 'अणेसणिज्जेणं'ति

एष्यत इत्येषणीयं–कल्प्यं, तन्निषेधादनेषणीयं, तेन अशनादिना प्रसिद्धेन ' पडिलाभेत्त 'त्ति ' प्रतिलम्भ्य ' लाभवन्तं कृत्वा । अथ निगमयन्नाह–एवमित्यादि । ' एवं ' उक्तलक्षणेन क्रियात्रयेणेति, शेषं सुबोधं । अयमत्र भावार्थः–अध्यवसायविशेषादेतत्त्रयं जघन्यायुःफलं भवति । अथवेहापेक्षिकी अल्पायुष्कता ग्राह्या, यतः–किल जिनागमाभिसंस्कृतमतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगिनं कञ्चन मृतं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति–नूनमनेन भवान्तरे किञ्चिदशुभं प्राणिघातादिकमासेवितं अकल्प्यं वा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्योऽप्यल्पायुः संवृत्त इति । अन्ये त्वाहुर्यो जीवो जिनसाधुगुणपक्षपातितया तत्पूजार्थं पृथिव्याद्यारम्भेण १, स्वभाण्डासत्योत्कर्षणादिना २, आधाकर्मादिकरणेन च ३, प्राणातिपातादिषु वर्त्तते तस्य वधादिविरतिनिरवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षयेयमल्पायुष्कता समवसेया " । अथवेहाप्रासुकादिदानमल्पायुष्कतायां मुख्यं कारणमितरे तु सहकारिकारणे इति व्याख्येयं, प्राणातिपातन–मृषावादनयोर्दानविशेषणत्वात्, तथाहि–प्राणानतिपात्याधाकर्मादिकरणतो, मृषोक्त्वा यथा–भो यते ! स्वार्थमिदं सिद्धं भक्तादि, कल्पनीयं चेदं भवतामतो नानेषणीयमिदमिति शङ्का कार्येति । ततः प्रतिलम्भ्य साधून् दातृप्राणिनोऽल्पजीवितव्यनिबन्धनमायुर्बध्नन्तीति । एवमस्य गमनिकामात्रमुक्तं, विस्तरार्थस्तु तद्वृत्तेरवसेयः । अथ प्रकृतमुच्यते–तत्र ' चरणविघाइ त्ति ' इति शब्दो हेतौ, तत इति हेतो'र्दानं' साधुभ्यो वितरणं, एतस्य– आधाकर्मणो भक्तादेर्नास्ति– शास्त्रविहितं विवेकिगृहिणां न विद्यते, केन ? इत्याह–' ओघेन ' उत्सर्गेण– कारणमन्तरेणेत्यर्थः । कारणतस्तु स्यादपीत्यावेदयन्नाह ' बीयपए ' इत्यादि, उत्सर्गापेक्षया द्वितीयपदमपवादस्तस्मिन् यदि चेत् कथमपि कुत्रचिदनिर्वाहादौ तद्दानं भवेत् । अत्र च यदीति ब्रुवाणः कादाचित्कत्वमस्यावेदयति, यतो न संविग्नभावित-

श्रावकाः आगमाभिज्ञत्वात्साधुसंयमबाधापरिहारित्वात्तदुपष्टम्भकत्वाच्च सुयतिभ्य एतद्यथाकथञ्चित्प्रयच्छन्ति, नापि सुयतयो यथाकथञ्चिदेव गृह्णन्ति । यदाह—" कारणपडिसेवा वि हु, सावज्जा निच्छए अकरणिज्जा " । किं सर्वथा ? नेत्याह—" बहुसो विचारइत्ता ", कर्त्तव्येति शेषः । " अधारणिज्जेसु अत्थेसु ॥१॥ " अत्यागाढकारणेष्वित्यर्थः । " जइ वि य समणुन्नाया ", सावद्यप्रतिषेवेति प्रक्रमः । " तहवि य दोसो न वज्जणे दिट्ठो । दढधम्मया हु एवं, नाभिक्खनिसेवनिद्दयया ॥२॥ " तथा पात्रविशेषः—समग्रगुणयुक्तपात्रं, तद्विषये, वा शब्दोऽशुद्धदानसम्भवप्रकारान्तरसमुच्चयार्थः । यदि तद्दानमिति प्रक्रमो, भवेत्—स्यात् । ननु किं कारणमपवादमेवाश्रित्येदं दीयते, नोत्सर्गतोऽपीत्यत आह—' जओ 'त्ति, यतो—यस्मात्कारणादिदं वक्ष्यमाणं सूत्रमत्र नियामकमस्तीति गाथार्थः ॥ २० ॥ तदेवाह—

दी०—यतेश्चारित्रविघातित्वादिति हेतोरेतस्याधाकर्मणो दानं विवेकिनां नास्ति ' ओघेन ' उत्सर्गेण—कारणं विना, तदेवाह—द्वितीयपदे अपवादाख्ये यदि काप्यनिर्वाहादौ पात्रविशेषे वा तद्दानं भवेत्, नान्यथा, यत इति वक्ष्यमाणोक्ताविति गाथार्थः ॥ २० ॥ तामेवाह—

संथरणंमि असुद्धं, दोण्ह वि गेण्हंतदेंतयाणऽहियं । आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥ २१ ॥*

---

१ ' ०चरणविघातीदमिति ' इत्यपि प्र० । * समुद्धृतेयं गाथा समानामशीत्यधिके सहस्रेऽणहिलपत्तने श्रीमद्दुर्लभराजराजसदसि चैत्यवासीन्विजित्य खरतरबिरुदसम्प्रापक—श्रीमज्जिनेश्वरसूरिवरविनेयावतंसैर्नवाङ्गवृत्तिविधानात्खरतरगच्छप्रतिष्ठाप्रापकैराचार्य-

व्याख्या—' संस्तरणे ' प्रासुकैषणीयाहारादिप्राप्त्यैव साधूनां निर्वाहे सति अशुद्धमनेषणीयं गृह्यमाणं दीयमानं, चेति गम्यते । द्वयोरपि, नैकस्य कस्यापीत्यपि शब्दार्थः, गृहीतृदात्रोः–साधुश्रावकयोरित्यर्थः । किमित्याह–' अहितं' अनर्थहेतुत्वादपथ्यं स्यादिति शेषः । उत्सर्गतस्तावदेवं, अपवादतस्तु ' आउरे 'त्यादि, ' आतुरो ' रोगी, तस्य ' दृष्टान्त ' उदाहरणं न्याय इति यावदातुरदृष्टान्तस्तेन, यथा हि रोगिणः कामप्यवस्थामाश्रित्य पथ्यमप्यपथ्यं स्यात्काञ्चित् पुनः समाश्रित्यापथ्यमपि पथ्यं, तथा च भिषक्शास्त्रम्–" उत्पद्यते हि साऽवस्था, देशकालामयान् प्रति । यस्यां कार्यमकार्यं स्यात्, कर्मकार्यन्तु वर्जयेत् ॥ १ ॥ " कार्य–विधेयं, तदप्यकार्यं–न कर्त्तव्यं स्यात् । कर्मकार्य–कर्त्तव्यक्रियामित्यर्थः । एवमेव ' तं चेव 'त्ति तदेवाशुद्धमपि दीयमानं गृह्यमाणं च दातृगृहीत्रोर्हितमवस्थोचितत्वात्पथ्यं स्यात् । क्वेत्याह–' असंस्तरणे ' अनिर्वाहे दुर्भिक्षग्लानाद्यवस्थायामित्यर्थः । अयमभिप्रायो–यद्यपि इदमाधाकर्माज्ञाभङ्गाद्यनेकदोषकारणं वर्णितं, तथापि–" सव्वत्थ संजमं सं–जमाउ अप्पाणमेव रक्खेज्जा । मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही तया विरई ॥ १ ॥ काहं अच्छित्तिं अदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं । गणं च नीई व सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं ॥ २ ॥ सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमे वि धारेई । इय सालंबणसेवी, धारेइ जइं असढभावं ॥ ३ ॥ अप्पेण बहुमिच्छेज्जा, एयं पंडियलक्खणं । सव्वासु पडिसेवासु, एयं अट्ठपयं विऊ ॥ ४ ॥ न वि किंचि अणुन्नायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं । एसा तेसिं आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं ॥ ५ ॥ धावंतो

१ "नीई य व सार०" य. क. ह. । "नीईए सार०" प. ।

कारणविशेषतो दातव्यादातव्ये आतुरदृष्टान्तः ।

उन्माओ×, मग्गन्न् किं न गच्छइ ? कमेण। किं वा मउई किरिया, न कीरए? असहओ तिक्खं ॥ ६ ॥"
इत्याद्यागमाभिहितैर्यथावसरं बहुतरगुणलाभाकाङ्क्षया गृह्यमाणं दीयमानं च न दोषायेति गाथार्थः ॥ २१ ॥

अथ यदुक्तं-'पत्तविसेसे व होज्ज 'त्ति तद्व्याख्यानयन्नाह—

टी०-'संस्तरणे' शुद्धान्नादिलाभान्निर्वाहे सति अशुद्धं गृण्हतो द्वयोरपि गृहीतृदात्रो-र्यतिगृहस्थयोरहितं-अनर्थहेतुत्वाद-पथ्यं, 'आतुरदृष्टान्तेन' रोगिणो ज्ञातेन+, तस्य हि अवस्थाविशेषादन्नमेवापथ्यं पथ्यं च स्यात्, तथा तदेव तयोर्हितं-गुणहेतुत्वात्पथ्यं, क ? 'असंस्तरणे' दुर्भिक्षग्लानाद्यवस्थास्विति गाथार्थः ॥ २१ ॥ अत्र पात्रविशेपे वेति यदुक्तं तदाह—

भणियं च पंचमंगे, सुपत्तसुद्धऽन्नदाणचउभंगे। पढमो सुद्धो वीए, भयणा सेसा अणिट्ठफला ॥२२॥

व्याख्या-'भणितं च' प्रतिपादितं च, केत्याह-पञ्चमाङ्गे भगवत्यभिधाने, क स्थाने ? इत्याह-सुपत्तसुद्धऽन्नदाण-चउभंगे 'त्ति, शोभनं 'पात्रं' दानस्थानं सुपात्रं, तत्र तस्मै वा शुद्धान्नदानं-एषणीयाहारवितरणं सुपात्रशुद्धान्नदानं, तद्वि-षय'श्चतुर्भङ्गो' विकल्पचतुष्टयं, स तथा, तस्मिन्, किं भणितमित्याह-'पढमो 'इत्यादि, प्रथमः-सुपात्रे शुद्धान्नदानमित्येवं-लक्षण आद्यभङ्गः, शुद्ध-एकान्तेन निर्जराहेतुत्वान्निर्दोषः। द्वितीये-सुपात्रे अशुद्धान्नदानमित्येवंस्वरूपे द्विसङ्ख्यभङ्गके 'भजना' बहुतरनिर्जराऽल्पतरपापकर्मबन्धसम्भवाच्छुद्धेर्विकल्पना। शेषौ-कुपात्रे शुद्धान्नदानं कुपात्रेऽशुद्धान्नदानमित्येवं-

---

× "श्रान्तोऽपि गच्छन्" इति पर्यायः अ.। "उम्माओ" इ. क.। + "न्यायेन" अ. म.।

लघुवृत्त्या- वुद्गमाद्य- दोषे पात्र- दानयोश्च- तुर्भङ्गी।

लक्षणौ तृतीयचतुर्थभङ्गकावनिष्टफलावेव-*एकान्तेन पापकर्मबन्धहेतुत्वादनीप्सितकार्यप्रसाधकौ, इति शब्दाऽध्याहारादित्येतद्भणितं। तथा च प्रज्ञप्त्यष्टमशतषष्ठोद्देशकसूत्रम्-

"समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा एसणिज्जेणं फासुएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! एगंतसो से निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ "त्ति अस्यार्थः-' श्रमणोपासकस्य ' श्रावकस्य 'ण'मिति वाक्यालंकारे ' भदंत !' सकलकल्याणनिलय ! तथारूपं श्रमणं वा ' माहनं वा ' ब्राह्मणं वा प्रासुकैषणीयेनाशनादिना ' प्रतिलाभयतो ' लाभवन्तं कुर्वतः। ' किं कज्जइ 'त्ति किं फलं भवतीत्यर्थः ?, गौतम ! ' एगंतसो 'त्ति एकान्तेन निर्जरा क्रियते, 'से'त्ति तस्य श्रमणोपासकस्य ' नत्थि य से'त्ति नास्ति चैतद्यत् 'से' तस्य पापं कर्म ' क्रियते ' भवति, अप्रासुकदान इवेति प्रथमभङ्गार्थप्रतिपादकसूत्रार्थः।

द्वितीयभङ्गसूत्रं पुनरिदं-" समणोवासयस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! बहुतरिया निज्जरा कज्जइ अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ "त्ति अस्यार्थः प्राग्वन्नवरं-' बहुतरिय 'त्ति बहुतरा पापकर्मापेक्षया। ' अप्पतराए 'त्ति अल्पतरं निर्जरापेक्षया। अयमर्थः-गुणवते पात्रायाप्रासुकादिद्रव्यदाने चारित्रसाधनकायोपष्टम्भो १, जीवघातो २, व्यवहारतस्तच्चारित्रबाधा च ३ भवति। ततश्च चारित्रसाधककायोपष्टम्भान्निर्जरा जीवघातादेश्च पापं कर्म स्यात्। तत्र च

* " ०फलावेकान्तेन " ह. क.। + " गोयमा ! " अ. ह. क. य.।

द्धहेतोः सामर्थ्यात् पापापेक्षया बहुतरा निर्जरा, निर्जरापेक्षया चाल्पतरं पापं भवति । इह च विवेचका मन्यन्ते–असंस्तरणादिकारणत एवाप्रासुकादिदाने बहुतरा निर्जरा भवति, नाकारणे, *यदुक्तं–'संथरणंमि असुद्ध'मित्यादि×, तथा–" नायागयाणं कप्पणिज्जाणं, अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारसंजुत्तं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं "मित्यादि, अन्येत्वाहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशाद् बहुतरा निर्जरा भवत्यल्पतरं च पापं कर्मेति, निर्विशेषणत्वात्सूत्रस्य परिणामस्य च प्रमाणत्वात् । आह च–" परमरहस्समिसीणं, +समत्तगणिपिडगभरियसाराणं । परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं ॥ १ ॥ "ति । नन्वेवं धर्मार्थमप्रासुकादिदानं कर्त्तव्यमापन्नमित्यत्रोच्यते–आपद्यतां नाम, भूमिकापेक्षया को दोषः, यतो यतिधर्म्माशक्तस्य गृहस्थस्य द्रव्यस्तवे प्राणातिपातादिकमुक्तमेव प्रवचने, यच्चोच्यते–'संथरणंमि असुद्ध'मित्यादिना अशुद्धं द्वयोरपि दातृगृहीत्रोरहितायेति, तद्ग्राहकस्य व्यवहारतः संयमविराधनात् दायकस्य च लुब्धकदृष्टान्तभावितत्वेनाव्युत्पन्नत्वेन वा ददतः शुभाल्पायुष्कतानिमित्तत्वात् ।

* "यत उक्तं." अ. य. । × गाथेयं सम्पूर्णाऽस्यैव ग्रन्थस्यैकविंशतितमा । + पठितसमस्तगणिपिटकसाराणां–अधीतद्वादशांगधारीणां ।

१ पात्रापेक्षया । २ पासत्थाईहिं भाविया ते लुब्धकदृष्टान्तभाविया, कहं ?, ते पसत्था एवं कहंति–जहा लुद्धगो हरिणस्स पिट्ठओ धावइ, हरिणस्स पलायमाणस्स सयं लुद्धगस्स वि जेण तेणप्पगारेण हरिणं अंवेउं(?) वा धायतस्स सेयं, एवं जहा हरिणो तहा साहू, जहा लुद्धगा तहा सावगा साहू य, अकल्प्यकाण्डप्रहारात्ते पलायन्ति । पासत्था सड्ढे भणंति–जेण तेणप्पगारेण सव्वाइं अन्नीयाइ भाविऊण तुब्भेहिं कप्पियं अकप्पियं वा स [मप्पियव्वं] इति पर्यायाः अ. "

शुभमपि चाऽयुरल्पं अहितमिह विवक्षितमिति द्वितीयभङ्गप्रतिबद्धसूत्रसङ्क्षेपार्थः ।

तृतीयचतुर्थभङ्गकसूत्रं पुनरिदं–" समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं अस्संजयं अविरयं अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ" त्ति, प्रतीतार्थं चैतन्नवरं–' असंयतः ' सप्तदशप्रकारसंयमाद्बहिर्भूतस्तथा विविध-मनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतस्तन्निषेधादविरतः । तथा प्रतिहतानि स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन, प्रत्याख्यातानि हेत्वभावतः पुनर्वृद्धिनिरोधात्, कर्माणि ज्ञानावरणादीनि येन स तथा, तन्निषेधात् अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, तं, एवं च ' असंजए'त्यादिना निर्गुणः पात्रविशेष उक्तः, ' फासुएण वा अफासुएण वे'त्यादिना तु प्रासुकाप्रासुकादेर्दानस्य पापकर्मफलता निर्जराया अभावश्चोक्तः, असंयमोपष्टम्भस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । यश्च प्रासुकादौ जीवघाताभावेन अप्रासुकादौ च जीवघातसद्भावेन विशेषः सोऽत्र न विवक्षितः । पापकर्मणो निर्जराया अभावस्यैव चेह विवक्षितत्वादिति तृतीयचतुर्थभङ्गसूचकसूत्रार्थः । एवं तावत्–' सुपत्तसुद्धऽन्नदाणचउभंगे पढमो सुद्धो ' इत्यादिग्रन्थसुखावबोधार्थं सव्याख्यानं सूत्रत्रयमपि निदर्शितं । अत्र च द्वितीयसूत्रभावार्थं अन्ये पुनराहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशाद्बहुतरा निर्जरा भवत्यल्पतरं च पापकर्मेत्यादिलक्षणमाश्रित्य ' पत्तविसेसे व होज्ज'त्ति प्राक्तन[विंशतितम]गाथाऽवयवार्थो भावनीय इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

उक्तं दाने च तस्य ये दोषा इति षष्ठद्वारं, साम्प्रतं यथापृच्छेति सप्तमं द्वारं, तत्र यथा पृच्छा सम्भवस्तथा दर्शयितुमाह—

लघुवृत्ता-
वुद्गमाद्य-
दोषे दान-
पात्रयोश्च-
तुर्भङ्गी ।

टी०–भणितं चैतत्पञ्चमाङ्गे अष्टमशतषष्ठोद्देशके सुपात्रशुद्धान्नदानोपलक्षणे तच्चतुर्भङ्गे, यथा–सुपात्रे शुद्धान्नं १, सुपात्रे अशुद्धान्नं २, कुपात्रे शुद्धान्नं ३, कुपात्रे अशुद्धान्नमिति ४। एषां स्वरूपमाह–प्रथमो भङ्गः शुद्धो, निर्जराहेतुत्वात्, द्वितीये 'भजना' शुद्धेर्विकल्पना, बहुतरनिर्जराऽल्पतरपापबन्धात्। शेषौ द्वावनिष्टफलौ, एकान्तेन पापबन्धहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥२२॥

उक्तं दानद्वारं, अथ यथापृच्छेति सप्तमं आह—

देसाणुचियं बहुदव्व–मप्पकुलमायरो य तो पुच्छे। कस्स कए केण कयं?, लक्खिज्जइ वज्झलिंगेहिं ॥२३॥

व्याख्या–देशस्य–मालवकादिमण्डलस्यानुचितं–तत्रासम्भवादयोग्यं देशानुचितं, तथा 'बहु' प्रचुर, किं तदित्याह–'द्रव्यं' शाल्योदनादि, तथा 'अल्पं' एकद्व्यादिमानुषं 'कुलं' गृहं, तथा आदरो–दातुर्भक्तिविशेषकृतः सम्भ्रमः, नः समुच्चये, यदि स्यादिति शेषः 'तो'त्ति ततस्तदनन्तरं तदा वा–तस्मिन्काले, किमित्याह–'पृच्छेत्' प्रश्नं कुर्यात्, केनप्रकारेणेत्याह–'कस्से'त्यादि, कस्य–किं गृहस्थस्याऽऽहोस्वित्साधोः 'कृते' निमित्तं? तथा केन पुरुषादिना 'कृतं' निष्पादितमिदं शाल्योदनादि द्रव्यमिति प्रक्रमः। एवं च प्रश्ने कृते सति यदि दाता प्राञ्जलस्वभावो भवति तदा कथयत्येव यथाभवन्निमित्तमेतद्विहितं, अथ मायावित्वात्सत्यं न कथयति तथापि तत् ज्ञायत इति दर्शयन्नाह–'लक्खिज्जइ वज्झलिंगेहिं' ति 'लक्ष्यते' ज्ञायते यदुताशुद्धमिदमिति। कैः कृत्वेत्याह–बाह्यलिङ्गैः सविलक्षहसितपरस्परावलोकनस्खलद्भाषितादिभिर्बहिर्निचिह्नैः, ततश्च साधुभिस्तत्परिहर्त्तव्यमिति। अथ कदाचित्पृष्टे सति दाता रोषं कुर्यात्। का तप्तिर्युष्माकमस्मद्गृहवृत्तान्तपरिज्ञाने इत्यादिकं, साक्षेपवचनं वा किञ्चित् ब्रूयात्ततस्तद्भावमलीकसत्यकोपादिकं ज्ञात्वा गृहीतव्यमिति गाथार्थः ॥ २३ ॥

उद्गमाद्यदोषे दीपिकायां यथापृच्छेति सप्तमं लघुवृत्तौ च छलनेत्यष्टमं द्वारम्।
॥ २७ ॥

उक्तं यथापृच्छेति सप्तमद्वारं, साम्प्रतं छलनेत्यष्टमद्वारं व्याख्यातुमाह—
दी०—देशस्य मालवाकादेरनुचितं तत्रासम्भावि 'बहुद्रव्यं' शाल्योदनादि 'अल्पकुलं' स्तोकमानुषादि गृहं 'आदरश्च'
दातुर्भक्तिसम्भ्रमो यदि स्यादत्ततस्तदा वा पृच्छेत्–कस्य कृते इदं ? केन हेतुना पुंसा वा कृतं ? भक्तादीति पृष्टे यदि सत्यं
नाचष्टे तथापि लक्ष्यते बाह्यलिङ्गै–र्विविधशरीरादिचिह्नैरिति गाथार्थः ॥ २३ ॥ उक्तं यथापृच्छाद्वारं, अथ छलनेत्यष्टममाह—

थोवं ति न पुट्ठं न क–हियं च गूढेहिं नायरो व कओ। इय छलिओ वि न लग्गइ, सुओवउत्तो असढभावो॥

व्याख्या—'स्तोकं' स्वल्पं, द्रव्यमिति गम्यते, इति हेतोरुपलक्षणत्वाद्बह्वपि देशोचितमिति कारणाद्वा 'न' नैव 'पृष्टं' पूर्वोक्तप्रकारेण प्रश्नितं, साधुनेति गम्यते, तथा 'न' नैव कथितं–मायावित्वाद्गृहिभिः साधुना पृष्टमपि न निवेदितं, यथा भवदर्थं कृतमेदिति। 'वा' विकल्पे। तथा 'गूढै' रलक्ष्यस्वभावैः, गृहिभिरिति गम्यते। 'न' नैवादरो–भक्तिविशेषः कृतोऽभ्युत्थानवन्दनप्रसन्नवदनत्वादिसम्भ्रमो 'वा' विकल्पे 'कृतो' विहितः। इत्येवमनेन प्रकारेण 'छलितोऽपि' अशुद्धाहारग्रहणतो गृहिभिर्व्यंसितोऽपि, साधुरिति प्रक्रमः, किमित्याह–'न' नैव 'लगति' अशुद्धाहारग्रहणादिजनितकर्म्मणा सह श्लिष्यति। किंविशिष्टः सन्नित्याह–'श्रुते' पिण्डैषणाध्ययनादौ 'उपयुक्तो' दत्तावधानः–श्रुतोपयुक्तः, सिद्धान्तोक्तपिण्डदोषपरिज्ञानोपायावहितचित्त इत्यर्थः। पुनरपि किंविशिष्ट इत्याह 'अशठभावो' निर्म्मायचित्तपरिणतिरनेन चैतदाचष्टे–यः पिण्डैषणानभिज्ञोऽभिज्ञोऽपि वा प्रमादितयाऽनुपयोगवान् व्यंस्यते, स कर्मणा बध्यत एव, भगवदाज्ञाविराधकत्वात् क्लिष्टपरिणामत्वाच्चेति गाथार्थः ॥ २४ ॥

उक्त यथा छलना स्यादित्यष्टमद्वारं, अथ कथञ्चिदशुद्धपिण्डग्रहणेऽपि शुद्धिर्यथा स्यात्तद्विपक्षत्वात्तद्ग्रहणेऽप्यशुद्धिश्च यथा स्यादित्येवं लक्षणं नवमद्वारमभिधित्सुराह ।

टी०—स्तोकं देयद्रव्यं, उपलक्षणाद्बह्वपि देशोचितमिति न पृष्टं, पृष्टं चेन्न कथितं मायावित्वाद् गृहिभिस्तथा 'गूढं' रलक्ष्यैस्तैर्नेवादरो वा–भक्तिसम्भ्रमः कृत, इत्येवं 'छलितोऽपि' अशुद्धं ग्राहितोऽपि साधुर्न 'लगति' तज्जन्यकर्मणा न श्लिष्यति, कथम्भूतः ? 'श्रुतोपयुक्तः' एषणाविधिमाश्रधान 'अशठभावो' निर्मायचित्त इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

उक्तं छलनाद्वारं, अधुना शुद्धा(? शुद्ध्या)ख्यं नवममाह—

आहाकम्मपरिणओ, वज्झइ लिंगिव सुद्धभोई वि । सुद्धं गवेसमाणो, सुज्झइ खवगोव कम्मे वि ॥२५॥

व्याख्या—'आधाकर्मपरिणतो'ऽशुद्धाहारग्रहणभोजनाऽभिलाषी सन्, भिक्षुरिति गम्यते । किमित्याह–'बध्यते' आधाकर्मभोगप्रभवदारुणकर्मणा श्लिष्यते । क इवेत्याह–'लिङ्गिवत्' तथाविधद्रव्यसाधुवेषधारकपुरुषवत् । अनेन च संविधानकं सूचयति । किंविशिष्टो भिक्षुरित्याह–'शुद्धभोज्यपि' प्रासुकैषणीयाहाराभ्यवहार्यपि, न केवलमशुद्धभोजीत्यपि शब्दार्थः । अनेन च परिणाम एव तत्त्वतः कर्मबन्धकारणमित्याचष्टे । लिङ्गिसंविधानकं चेदम्—

एगम्मि नगरे एगेण सावएणं संघभोज्जं दवावियं । तं च सोऊणं एगो साहू पच्चासन्नगामाओ तग्गहणत्थं सिग्घमागओ । तओ तं भिक्खट्ठमुवट्ठियं दट्ठुं सावएणं भणिया साविया 'देहि एयस्स भिक्खं'ति । तीए भणियं–सव्वंपि तं दिन्नं । तओ तेण भणियं-मम भत्तमज्झाओ देहि । तओ तीए ओयणमोयगाइयं पडिपुन्नं भोयणं दिन्नं, साहुणा य संघभत्तं ति मन्न-

माणेण अइसाउं उक्कोसगं च त्ति मुच्छिएण य तं भुत्तं ति। एवं च सो सुद्धंपि भुंजंतो असु(द)द्धपरिणामवसेण आहाकम्म-परिभोगदोसजणियकम्मुणा बद्धोत्ति।

अनेन च शुद्धग्रहणेऽपि शुद्धिर्यथा न स्यादित्येतत्प्रतिपादितं, अथाशुद्धग्रहणेऽपि शुद्धिर्यथा स्यात्तथा दर्शयति–'शुद्ध'-मित्यादि, 'शुद्धं' निर्दोषं, पिण्डमिति गम्यते। 'गवेषयन्' आगमनीत्या मार्गयन्, साधुरिति प्रक्रमः, किमित्याह–शुद्ध्यति–विशुद्धपरिणामत्वात्कर्ममलक्षपणतो निर्मली भवति, क इवेत्याह–'क्षपक इव' विकृष्टतपःकर्तृसाधुवत्। अनेनापि संविधानकं सूचयति। क्व सत्यपीत्याह–'कम्मण्यपि' आधाकर्मभोगेपीत्यर्थः। न केवलमितरभोग इत्यपि शब्दार्थः। अनेन च परिणामशुद्धिरेव तत्त्वतः कर्मक्षयकारणमित्याह। पठ्यते च 'परमरहस्समिसीण'मित्यादि। क्षपकसंविधानकं चेदं—

एगम्मि सुविहियसाहुगच्छे एगो साहू इहपरलोयनिरासंसो सम्मं अहिगयजिणवयणरहस्सो वोसट्ठचत्तनियदेहो विगिट्ठ-तवोकम्मनिरओ चिट्ठइ। अन्नया य सो खवगसाहू मासक्खवणपारणगनिमित्तं 'मा इहनगरे तवचरणावज्जियलोगाओ अणे-सणा भविस्सइ'त्ति गओ पच्चासन्नगामं। तत्थ य एगाए सावियाए उवलद्धखगतवोकम्मवुत्तंताए 'मा कयाइ खवगो इह एइ' त्ति संजायदाणसद्धाए घयगुलसंजुत्तं पायसं संसाहियं, तहा 'मा आहाकम्मसंकाए खवगो न गिण्हहि'त्ति माइट्ठाणेण पत्त-पुडयमल्लगाणि पायसखरंटियाणि इओ तओ पक्खित्ताणि डिंभरूवाणि य माइट्ठाणं गाहियाणि, जहा–जया एरिसो साहू इत्था-गच्छइ तया तुब्भे भणेज्जह, जहा–अम्मो! बहुयं पायसं अम्हाणं परिवेसियं, अहं च तुब्भे निब्भच्छिस्सामि। तओ भणिज्जह–किं दिणे दिणे पायसं रंधिज्जइ?, न किंपि कज्जं अम्हं इमिणा, भग्गाइं अम्हे इमस्स त्ति। इत्थंतरे सो खवगो भिक्खं हिंडंतो

भवियव्वयावसेण पढमं तीसे चेव घरमागओ,सा य भत्तिभरपूरियनिरंतरहिययावि संवरियागारा अकयसंभमा मोणेणं चेव ठिया। ताणि य माइट्ठाणपन्नवियाणि डिंभरूवाणि तहेव काउमारद्धाणि। तओ तीए ताणि तहेव निब्भच्छिऊण एयाणि ताव मत्तिच्छियाणि न गिण्हंति, जइ तुज्झ रोयइ तो तुमं गिण्ह इमं पायसं ति भणमाणीए तस्स जावणा निमित्तं घयगुलसंजुत्तस्स पायसस्स भायणं भरेऊण आणियं, साहुणा य एसणोवउत्तेणं सुद्धं ति कलिऊण गहियं, तओ पज्जत्तं ति काउं नियत्तो गोयराओ, आगओ य किंचि वि रहपएसं। तत्थ य समालोइयपडिक्कंतो कयतक्कालोचियसज्झायजोगो चिंतिउं पय(त्तो)ट्टो, जहा—जइ एत्थावसरे केइ अद्धाणाइपडिवन्नगा साहुणो एंति, परमन्नगहणेण य मे अणुग्गहं करिंति, तो तारिओ होमि भवन्नवाओ त्ति, इच्चाइ-सुद्धऽज्झवसाणपरो तंमि य विसिट्ठाहारे मासक्खवणपारणगपत्ते वि अमुच्छिओ कड्ढिऊण पंचनमोक्कारं विहीए भुंजिउं पयत्तो। तओ सुहज्झवसायस्स भोयणावसाणे निरावरणं पडिपुन्नं केवलवरनाणदंसणं समुप्पन्नं सिद्धो य कालेणं भयवं खवगकेवलित्ति॥

इह च परिणामशुद्धिरेव तत्त्वतः कर्म्मक्षयकारणमित्युक्तं, तत्र परिणामशुद्धिरपि सर्वज्ञाज्ञाराधनानुगतैव यथोक्त-फलप्रसाधिका, नान्यथेति मन्तव्यं। यथोक्तं—" भावशुद्धिरपि ज्ञेया, यैषा मार्ग्गानुसारिणी। प्रज्ञापनाप्रियाऽत्यन्तं, न पुनः स्वाग्रहात्मिका॥ १॥" ततश्च स्वच्छन्दभावपरिहारार्थं आज्ञाभङ्गाभङ्गकारिणां महापायस्वकार्यप्रसाधकत्वप्रतिपादकमुदाहरणमुच्यते—

एगंमि नगरे एगस्स रन्नो पत्तपुप्फफलसमिद्धपायवगणरमणिज्जाणि दोन्नि उज्जाणाणि अहेसि, तं जहा—चंदोदयं च सूरोदयं च। तत्थ चंदोदयं नगरस्स अवरदिसाए, सूरोदयं पुव्वदिसाए। अह वसंतसमए अंतेउरकीलाकोउगत्थिणा पत्थिवेणं संज्झाए

पडहगदावणपुरस्सरं नियपुरिसेहिं नयरे घोसावियं, जहा–भो भो ! सुणंतु तणकट्ठहाराइणो पुरिसा ! रन्ना समाइट्ठं–अहं पभाए अंतेउरपरिगओ सूरोदये उज्जाणे गमिस्सामि, तं तुब्भेहिं चंदोदये चेव गंतवं ति। तओ राया पच्चूसे सूरोदये गमणागमणेसु संमुहो सूरो त्ति कलिऊण चंदोदयं गओ। तं च घोसणं सोउं जे तत्थ दुरप्पाणो सिडिंगप्पायपुरिसा, ते 'अम्हे दुल्लभदंसणाओ नरिंदमहिलाओ पासिस्सामो' त्ति चिंतिऊण सूरोदयं गया। तत्थ य पच्चलदुमसालासु लिक्किउं ठिया। ते य उज्जाणारक्खियपुरिसेहिं रायाणाभंगकारिणो त्ति गहेऊणं पहया बद्धा य। जे पुण तणहारगाइणो घोसणं सोऊणं चंदोदयं गया, तेहिं सहसापविट्ठाओ दिट्ठाओ वरवसणभूसणधराओ पवणिंदुमुहीओ वियसियवरकमलदीहरलोयणाओ निवंगणाओ, तओ तेवि तहेव बद्धा, नयराभिमुहं चलियस्स य अवरण्हे राइणो दंसिया दोवि वग्गा उज्जाणपालएहिं। तओ राइणा पुच्छिऊण तव्वइयरं सूरोदयगामिणो अदिट्ठोवरोहा वि ममाणाभंगकारिणो त्ति वहाविया, इयरे आणाकारिणो त्ति दिट्ठोवरोहा वि विसज्जिय त्ति। एवमित्थ वि तित्थयराणाभंगकारिणो अकयाहाकम्मभोगा वि जम्मजरामरणवेयणानिबंधणदारुणकम्मबंधाइयं महाऽणत्थं पाविंति, इयरे कहिंचि तब्भोगकारिणो वि ताओ मुच्चंति सकज्जपसाहगा य भवंति। भणियं च–"सयलसुरासुरपणमिय–
जिणगणहरभणियसमयपरतंता। आराहिऊण सम्मत्त–नाणचरणाइं परमाइं ॥ १ ॥ सत्तट्ठभवग्गहण–
ब्भंतरकालंमि केवलं नाणं। उप्पाडिऊण जंति य, विहुयमला सासयं मोक्खं ॥ २ ॥ तत्थ य जरजम्मण–
मरण–रोगतण्हाछुहाभयविमुक्का। साइअपज्जवसाणं, कालमणंतं लहंति सुहं ॥ ३ ॥" इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

एवं चाज्ञाभङ्गाद्यनेकदोषनिबन्धने आधाकर्मग्रहणे प्रतिपादिते सत्याह कश्चित्—

दी०–आधाकर्मपरिणतोऽशुद्धपिण्डार्थी 'बद्ध्यते' तज्जन्यकर्मणा श्लिष्यते शुद्धभोज्यपि, आस्तामितरः। क इव? इत्याह–'लिङ्गीवत्' वेषधारकसाधुवत्, तत्कथेयं–कश्चित्साधुरेकस्मिन्नगरे कस्यापि श्रावकस्य गृहे सङ्घभोज्यं श्रुत्वा तीरग्रामाद्रसलोलतया तत्राजगाम, तद्भिक्षार्थं श्रावकप्रेरिता पत्नी 'सर्वमग्रे दत्त'मित्युवाच, ततो 'मम भक्तादपि देही'त्युक्त्वा दापितं सम्पूर्णमिष्टान्नं, सङ्घभक्तधिया विहृत्य बुभुजे, स चैवमशुद्धपरिणामादशुद्धकर्मणा बद्धः। किमशुद्धभोज्यपि शुद्ध्यति? इत्याह–शुद्धं गवेषयन् 'शुद्ध्यति' कर्ममलक्षयान्निर्मली भवति 'कर्मण्यपि' आधाकर्मभोगेऽपि 'क्षपक इव' उत्कृष्टतपःकर्तृसाधुवत्। तत्कथेयं–यथा कस्मिंश्चिद् गच्छे साधुरेको निरीहस्तपस्वी मासक्षपणान्ते पारणार्थमनेषणीयभयाद् ग्रामान्तरं+ यावस्तत्रैका श्राविका विज्ञाततत्पारणा दानश्रद्धया झटिति कृतपरमान्ना प्रगुणितघृतगुडा आधाकर्माच्छादनाय बहिः क्षिप्तपायसोपलिप्तपत्रादिपुटका 'नित्यं न रोचत इद'मिति शिक्षितक्षीरान्नभोजिबालका तं क्षपकं गृहमायान्तं वीक्ष्य क्षीरान्नपूर्णभाजनं सघृतगुडमुत्पाट्य बालपरिवेशनच्छद्मनाऽभ्युत्थिता तेषां शिक्षावशादगृण्हतां क्षपको जल्पितो–'यदि तव रोचते तदा गृहाणे'त्युक्ते शुद्धधिया विहृत्य तदशुद्धमप्यमूर्च्छितो भुञ्जानो विशुद्धाध्यवसायवशात्तदन्ते केवलज्ञानमाप, एवमसावशुद्धभोज्यपि शुद्धान्वेषणाच्छुद्ध इति गाथार्थः॥ २५॥

अथ त्रिकरणशुद्धस्य साधोराधाकर्मणा को दोषः? इति पूर्वपक्षयन्नाह—

+ "०न्तरं ययौ, तत्रैका" क. ज. म.।

नणु मुणिणा जं न कयं, न कारियं नाणुमोइयं तं से।
गिहिणा कडमाइयओ, तिगरणसुद्धस्स को दोसो ? ॥ २६ ॥

व्याख्या-नन्विति प्रश्ने, 'मुनिना' साधुना यदशनादिकं 'न' नैव 'कृतं' स्वयं निष्पादितं तथा 'न' नैव 'कारितं अन्येन निर्वर्त्तितं तथा 'न' नैवा'नुमोदितं' परेण क्रियमाणं कृतं वा श्लाघितं तदशनादिकं 'से'त्ति तस्य मुनेर्गृहिणा-अगारिणा 'कृतं' निष्पादितं सत् 'आइयओ'त्ति आददानस्य-गृह्णतः, किंविशिष्टस्य मुनेरित्याह-'त्रिकरणशुद्धस्य' मनोवाक्कायैर्निर्दोषस्य सतः 'को दोषः' किं दूषणं ?, न कोऽपीत्यर्थः। अयमत्र प्रेरकाभिप्रायः-इह किल तावज्जीवस्य मनोवाक्कायैः सावद्ययोगकरणादिरूपतया व्यापृतेरेव दोषो जायते, न चैतेषां मध्यादेकमपि साधुसत्कं गृहिणा साध्वर्थं पिण्डे क्रियमाणे व्याप्रियते, अतः कथं तद्ग्रहणे तस्य दोषसम्भवः ? इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ अत्रोत्तरमाह—

दी०-नन्विति पूर्वपक्षे, मुनिना यन्न कृतं न कारितं नानुमोदितं, तदाधाकर्म 'से' तस्य गृहिणा कृतमा'ददानस्य' गृण्हतः त्रिकरणशुद्धस्य को दोषः ? इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ अत्रोत्तरमाह—

सच्चं तहवि मुणंतो, गिण्हंतो वड्ढए पसंगं से। निद्धंधसो य गिद्धो, न मुयइ सजियं पि सो पच्छा ॥२७॥

व्याख्या-' सत्यं ' अवितथमेतदनन्तरोक्तमिति गम्यते। ' तथापि ' एवमपि सतीत्यर्थः। ' मुणन् ' साध्वर्थमिदं विहितमित्यवगच्छन्, साधुरिति गम्यते, किं कुर्वाण ? इत्याह-' गृह्णन् ' स्वीकुर्वन् गृहिणा दीयमानं, पिण्डमिति गम्यते।

किं करोतीत्याह–'वर्द्धयति' वृद्धिं नयति। कमित्याह–'प्रसङ्गं' पुनःपुनराधाकर्मकरणप्रसक्तिं, कस्येत्याह–'से'त्ति तस्य दातृगृहिणः, अपरं च तद्ग्रहणे साधुरपि यत्करोति तदाह–'निद्धंधसो' निःशूको–निर्दय इत्यर्थः। च शब्दो दोषान्तरसमुच्चयार्थः। तथा 'लुब्धो' गृद्धः किं करोतीत्याह–'न' नैव 'मुञ्चति' परित्यजति, किं तदित्याह–'सजियं पि'त्ति सजीवमपि–अप्रासुकमपि, न केवलं निर्जीवमित्यपि शब्दार्थः। 'सो'ऽशुद्धाहारग्राही साधुः 'पश्चात्' सकृदपि ग्रहणानन्तरं, अयमत्राभिप्रायः–अकुशलाभ्यासतो निर्द्धन्धसत्वसद्भावात्तत्रैव सदा रतिमान् भवति। यदाह–"करोत्यादौ तावत्सघृणहृदयः किञ्चिदशुभं, द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं च कुरुते। तृतीयं निःशङ्को विगतघृणमन्यत्प्रकुरुते, ततः पापाभ्यासात्सततमशुभेषु प्ररमते ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

व्याख्यातं शुद्धिरिति नवमद्वारं, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्याता "तं पुण जं जस्से"त्यादिद्वारगाथा, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्यात आधाकर्म्माख्यः प्रथमपिण्डोद्गमदोषः। अथ मूलद्वारगाथाऽभिहितं द्वितीयदोषमौद्देशिकाभिधानं व्याख्यातुमाह—

दी०–सत्यमिदं, तथाप्येवं सति 'मुणंतो' जानन् मुनिस्तथा गृह्णन् कार्मिकं वर्द्धयति 'प्रसङ्गं' नित्यमाधाकर्मकरणप्रसक्तिं 'से' तस्य गृहिणः, स्वयं कथं ? इत्याह–'निद्धंधसो य' निश्शूकश्च 'गृद्धो' लुब्धः सन्न मुञ्चति 'सजीवमपि' अप्रासुकमपि साधुः 'पश्चात्' तद्ग्रहणानन्तरमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

उक्तो नवभिर्द्वारैराधाकर्माख्यः प्रथम उद्गमदोषः, अथ द्वितीयमौद्देशिकाख्यमाह—

उद्देसियमोहविभा-गओ य ओहे सए जमारंभे। भिक्खाउ कइवि कप्पइ, जो एही तस्स दाणट्ठा ॥२८॥

औद्देशिक-द्वैविध्य-माद्यस्य च स्वरूपम्।

व्याख्या—इहौद्देशिकं द्विविधं भवति, तद्यथा—ओघौद्देशिकं विभागौद्देशिकं चेति, एतदेवाऽऽह—'औद्देशिकं' पूर्वोक्तशब्दार्थं, ओघ इति विभक्तिलोपा'दोघत' ओघमाश्रित्य, उद्देशादिवक्ष्यमाणभेदाविवक्षणात्सामान्यत इत्यर्थः। तथा 'विभागतो' विभागमाश्रित्य, उद्देशादिवक्ष्यमाणविशेषविवक्षणाद्विशेषत इत्यर्थः। चः समुच्चये। स्यादिति शेषः। तत्राद्यभेदं विवृण्वन्नाह—'ओहे'त्यादि। 'ओघे' ओघविषयं औद्देशिकं तत्स्यात्, यत्किमित्याह—यत् 'स्वके' स्वकीये—स्वार्थप्रवर्त्तित इत्यर्थः। यदित्यस्य योगो दर्शित एव। कस्मिन्नित्याह—'आरम्भे' अग्निज्वालनस्थाल्यादि[आ]*रोपणादिके पाकादिव्यापारे, किमित्याह—भिक्षाभक्तादिविभागान् '+कत्यपि' कियतीरपि द्वित्रादिकान्, न पुनः समग्राहारमपीत्यपिशब्दार्थः, 'कल्पते' विवक्षयति, काचिद्दात्रीति गम्यते। किमर्थमित्याह—यः कश्चिदनिर्द्धारितस्वरूपः पाषण्डिकादिरेष्यति—आगमिष्यति, तस्य पाषण्डिकादे'र्दानार्थं' वितरणानिमित्तं। इदमुक्तं भवति—यत्काचिदगारिणी क्वचिद्दुर्भिक्षादावनुभूतबुभुक्षादिदुःखा समासादितसुभिक्षभोजनमात्रधना "नादत्तं भुज्यते न चाकृतं फलती"ति भावितमतिः स्वार्थनिष्पाद्यमानाहारमध्याद्यः कश्चिदेष्यति तस्य दानार्थं कतिचिद्भिक्षाः सङ्कल्पयति तदोघौद्देशिकं, एतच्च पिण्डैषणोपयुक्तेन साधुना "दिन्नाओ ताओ पंच—वि+रेहाओ करेइ देइ व गणंती। देह इओ माय! इओ, अवणेह य एत्तिया भिक्खा ॥ १ ॥" इत्यादिदातृचेष्टाभिरवगम्य निस्सन्देहेऽनापृच्छ्य सन्देहे त्वापृच्छ्य परिहर्त्तव्यं। विवक्षितभिक्षासु ×च दत्तासु अदत्तासु च अन्योद्धृतासु वा शेषं शुद्धत्वाद् गृहीतव्यमिति गाथार्थः ॥ २८ ॥ उक्तमोघौद्देशिकं, साम्प्रतं विभागौद्देशिकं व्याचिख्यासुराह—

॥ ३१ ॥

* °स्थाल्यारो° क. प.। + कियत्यपि प. क. ह। + पंच ति° ह.। × °चादत्तासु दत्तासु च अन्यत्रो° अः, च दत्तासु अन्यत्रो° प. क. ह।

दी०–औद्देशिकमोघतो विभागतश्च द्विधा, तत्र 'ओघः' सामान्यतो दातृविकल्पस्तस्मिन्, किमित्याह–यत् 'स्वके' स्वार्थे
आरंभे पाकादौ भिक्षाभक्तादिविभागान् ' कल्पयति ' कियती अपि कल्पते, काचिद्दात्रीति गम्यं, किमर्थं ? इत्याह–यः
कश्चिदनिर्दिष्टः पाषंडिकादिरेष्यति तस्य दानार्थमिति स्पष्टं । कल्पितभिक्षादानादूर्द्ध्वं च शुद्धमिति ॥ २८ ॥

उक्तमोघौद्देशिकं, अथ द्वितीयं भेदैराह––

वारसविहं विभागे, चउहुद्दिट्ठं कडं च कम्मं च । उद्देससमुद्देसा–देससमाएसभेएणं ॥ २९ ॥

द्वादशविधत्वमेव दर्शयति–
व्याख्या––'द्वादशविधं' द्वादशप्रकारं 'विभागे' विभागविषयं औद्देशिकं भवतीति गम्यते । तथा कृतं च वक्ष्यमाणलक्षणं,
'चउहुद्दिट्ठ'मित्यादि, चतुर्भिः प्रकारैश्चतुर्द्धा भवति, किं तदित्याह–उद्दिष्टं वक्ष्यमाणलक्षणं, उद्देशं च
चः शब्दश्चतुर्द्धेत्यस्यानुकर्षणार्थः, तथा कर्म च वक्ष्यमाणस्वरूपं, चः प्राग्वत् । केन प्रकारेणेत्याह–'उद्देसे'त्यादि,
वक्ष्यमाणलक्षणं, एवं समुद्देशं चादेशं च समादेशं च उद्देशसमुद्देशादेशसमादेशानि, एतल्लक्षणो यो'भेदः' प्रकारस्तेन । अयमर्थः–
विभागौद्देशिकमुद्दिष्ट–कृत–कर्मलक्षणमूलभेदात्त्रिविधं, तदपि प्रत्येकं उद्देश–समुद्देशा–देश–समादेशलक्षणोत्तरभेदाच्चतुर्विधमित्ये-
वमिदं द्वादशविधं भवतीति गाथार्थः ॥ २९ ॥ साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टोद्देशादिभेदचतुष्टयं व्याचिख्यासुराह––

दी०–द्वादशविधं तद्विभागे विचार्यमाणे, कथं ? इत्याह–' चतुर्द्धा ' उद्दिष्टं १ कृतं २ कर्म ३ चेति त्रिभेदमपि चतु-
ष्प्रकारं, कैः ? उद्देश–समुद्देश–आदेश–समादेशभेदैर्द्वादशविधमिति गाथार्थः ॥ २९ ॥ उद्देशा×दीनां व्याख्यानमाह*––

× " °शादीनाह " म. । * " व्याख्यामाह " क. प. ।

जावंतियमुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं । समणाणं आएसं, निग्गंथाणं समाएसं ॥ ३० ॥

व्याख्या--'जावंतिय' त्ति सूचकत्वा+द्यावदर्थिकानां-समस्तार्थिनां निमित्तं कल्पितं, अशनादीति सर्वत्र गम्यं, भवेत्, किमित्याह-'उद्देशं' औद्देशिकाख्यं । तथा 'पाषण्डं' व्रतं, तद्विद्यते येषां ते पाषण्डिनश्चरकाऽदयस्तेषां निमित्तं विवक्षितमशनादि 'भवेत्' स्यादिति क्रियापदं सर्वत्र सम्बन्धनीयं। किमित्याह-'समुद्देशं' समुद्देशसञ्ज्ञं । तथा 'श्रमणानां' निर्ग्रन्थ-शाक्य-तापस-गैरिका-जीविकलक्षणानां निमित्तं कल्पितं भवेत्, किमित्याह-'आदेशं' आदेशिकनामकं । तथा 'निर्ग्रन्थानां' साधूनां कृते कल्पितं भवेत्, किमित्याह-'समादेशं' समादेशाभिधमिति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथ प्रागुद्दिष्टमेवोद्दिष्ट-कृत-कर्मलक्षणं विभागौद्देशिकमूलभेदत्रयं विवृण्वन्नाह-

दी०-'यावन्तिकादीनां' समस्तार्थिनां कृते कल्पितं, भक्तादीति गम्यं, किं स्यात् ? उद्देशाख्यं, पाषण्डिनां-चरकादीनां कृते तदेव समुद्देशाख्यं भवेत्, श्रमणानां-निर्ग्रन्थ-शाक्य-तापस-गैरिका-जीविकानां कृते तच्चादेशाख्यं, निर्ग्रन्थानां-साधूनां कृते तत्समादेशाख्यमिति गाथार्थः ॥ ३० ॥ अथ प्रागुक्तोद्दिष्टादित्रयं विवृण्वन्नाह-

संखडिभुत्तुव्वरियं, चउण्हमुद्दिसइ जं तमुद्दिट्ठं । वंजणमीसाइकडं, तमग्गितवियाइ पुण कम्मं ॥३१॥

व्याख्या--'संखडि'त्ति विभक्तिलोपात्सङ्खड्यां-विवाहादिप्रकरणे 'भुत्तुव्वरियं'ति 'भुक्ते' स्वजनादिभिरभ्यवहृते

+ °त्वात्सूत्रं सद्या° प. । § "धाटिभिक्षाचराः" इति पर्यायः भ. ।

द्वादशविधे विभागौ-द्देशिके उद्देशादि-चतुर्णां स्वरूपम् ।

'उद्धरितं' शेषीभूतं भुक्तोद्धरितं यदोदन-तीमन-दधि-मोदकचूर्णादिभक्तं, तत्तदवस्थमेव 'चतुर्णां' चतुस्सङ्ख्यानां यावदर्थिक-पाषण्डिक-श्रमण-निर्ग्रन्थानामिति प्रक्रमादुगम्यते, निमित्तमिति शेषः। 'उद्दिशति' मनसा सङ्कल्पयति वाचा वा निर्दिशति, गृहस्थ इति गम्यते, यथा—समस्तभिक्षुकेभ्य इदं दातव्यं पाषण्डिकेभ्यो वेत्यादि, यदित्यस्य योगो दर्शित एव। 'तं' ति तद्भक्तं, किमित्याह—'उद्दिट्टं' उद्दिष्टौद्देशिकं, ज्ञातव्यमिति शेषः। एतस्य चाकल्प्यता यावदर्थिकाद्यर्थं व्यवस्थापिते तत्र जीवघातसम्भवात्। न चेदमित्थं स्थापनान्तर्भावि, 'सट्ठाण—परट्ठाणे'त्यादिभिन्नलक्षणत्वात्तस्या + इति। तथा 'वंजणमीसाइकडं तं'ति 'व्यञ्जनेन' दध्यादिना 'मिश्रं' संयोजितं—व्यञ्जनमिश्रं, तदादिर्यस्य तद्व्यञ्जनमिश्रादि, यदोदनादीति प्रक्रमः। आदिशब्दश्च स्वगतानेकभेदसूचनार्थो व्याख्येयः। 'कृतं' कृतौद्देशिकं तदोदनादि विज्ञेयमिति प्रक्रमः। इदमुक्तं भवति—'संखडिभुत्तुव्वरियं, चउण्हमुद्दिसइ जं' इत्यत्राप्यनुवर्त्तते, ततश्च प्रकरणोपभुक्तावशिष्टं यदोदनमोदकचूर्णादिकं 'व्यञ्जनेन' दधि—तीमन—विकट—फाणित—निर्भञ्जनघृतादिना तदर्थमेव मिश्रं कृत्वा चतुर्णां यावदर्थिकादीनां अन्यतरनिमित्तमुद्दिशति गृही, यदुत—इदममुकेभ्यो दातव्यमिति, तद्द्रव्यं औद्देशिकमपि सत् करम्बकादिलक्षण-पर्यायान्तरेण कृतत्वात् 'कृतं' कृतौद्देशिकमित्यवसेयमिति। तथा 'अग्गितवियाइ पुण कम्मं'ति 'अग्नि'र्वह्निस्तत्र तेन वा 'तापितं' उष्णीकृतं अग्नितापितं, गुडादीति गम्यते, तदादिर्यस्य तदग्नितापितादि, आदिशब्दात्सचित्त-जल—लवण—राजिकासम्मिश्रद्रव्यादिपरिग्रहः। पुनः शब्दो भिन्नवाक्योपदर्शनार्थः। 'कर्म' कर्मौद्देशिकं ज्ञातव्यं।

+ परम्परादिस्थापनाया भिन्नस्वरूपत्वादिति भावः (पर्यायः अ.)।

अयमत्र भावार्थः-इहापि 'संखडिभुत्तुव्वरियं' इत्याद्यनुवर्त्तते, ततश्च विवाहादिप्रकरणोपयुक्तावशेषं यन्मोदकचूर्ण-मुद्गौदनादिकं तदर्थमेव अग्नितापितगुडादिना पुनर्मोदकादि विधाय मुद्गादीन्वा पुनः संस्कृत्य सचित्तजल-लवणप्रभृतिद्रव्यसम्मिश्रदध्यादिना करम्बकं वा कृत्वा चतुर्णां यावदर्थिकादीनामन्यतरनिमित्तमुद्दिशति, तदौद्देशिकमपि [एतदेव ग्रन्थोक्तेन] "आहाए वियप्पेणं, जईण कम्ममसणाइकरणं जं। छक्कायारंभेणं, तं आहाकम्ममाहंसु ॥ ५ ॥" इत्येतल्लक्षणेन देशतः कर्मणा युक्तत्वात् 'कर्म' कर्मौद्देशिकं ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

व्याख्यात औद्देशिकाख्यो द्वितीयः पिण्डोद्गमदोषः, अथ तमेव तृतीयं पूतिकर्माख्यं व्यचिख्यासुराह—

टी०-'सङ्खड्यां' विवाहादौ भुक्तादुद्धरितं-शेषीभूतं भक्तादि चतुर्णां पूर्वगाथोक्तानां कृते, यदिति सर्वत्र, 'उद्दिशति' मनोवाग्भ्यां निर्दिशति तदुद्दिष्टाख्यं, तदेवोद्धरितं 'व्यञ्जनमिश्रादि' दध्यादिना मिश्रितं कूरादि कृताख्यमुच्यते, अग्निना तापितं गुडादिस्तदादिर्यस्य, आदिशब्दात्सचित्तजललवणादीनां सङ्ग्रहस्तदेवेत्थम्भूतं पुनः कर्माख्यं भवेदिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ उक्तं त्रयोदशधा औद्देशिकं, अथ तृतीयं पूतिकर्माख्यमाह—

उग्गमकोडिकणेण वि, असुइलवेणं व जुत्तमसणाई। सुद्धंपि होइ पूई, तं सुहुमं बायरं ति दुहा ॥३२॥

व्याख्या-उद्गमकोटिरविशुद्धकोटिर्मूलगुणा इत्येकार्थाः, सा चाधाकर्मलक्षणा, यद्वक्ष्यति [अत्रैव]-"इय कम्मं १ उद्देसिय-तिय २ मीस ३ ऽज्झोयरंतिमदुगं च। आहारपूइ १ बायर-पाहुडि १ अविसोहिकोडित्ति ॥ ५३ ॥" तस्या उद्गमकोटेरुपचारादुद्गमकोटिदोषयुक्ताहारस्य 'कणो'ऽवयव उद्गमकोटिकणस्तेनापि, न केवलं बहुने-

शब्दस्येवार्थत्वादशुचिलवेनेव-विष्ठाऽवयवेन यथा 'युक्तं' मिलितं, किं
त्यपि शब्दार्थः । 'असुइलवेणं व'त्ति 'वा' पूर्वावस्थायां सर्वथा दोषरहितमपि सत्,
तदित्याह-'अशनादि' भोजनपानादि । किंविशिष्टमपि सदित्याह-'शुद्धमपि' अपवित्रं-सदोषमित्यर्थः । एवं सामान्येन पूतिदोषम-
आस्तामशुद्धमित्यपि शब्दार्थः । 'भवति' जायते । किमित्याह-'पूति' अल्पदोषत्वाच्छ्लक्ष्णं तथा 'बादरं' बहुदोषत्वेन
भिधायाथ भेदतस्तमाह-'तं सुहुम'मित्यादि, 'तं'ति तत्पूति 'सूक्ष्मं' ॥ ३२ ॥ अथ तद्द्विविधमपि व्याख्यातुमाह--
स्थूलं । इत्यमुना प्रकारेण 'द्विधा' द्विप्रकारं भवतीति प्रक्रम इति गाथार्थः 'कणो'ऽवयवस्तेनापि, आस्तां
दी०-'उद्गमकोटि'रुद्गमदोपदशकविभागोऽत्रैवोद्गमदोपान्ते वक्ष्यमाणस्तद्दोषयुक्ताहारस्य भेदस्तदाह-तत्पूति सूक्ष्मं
बहुना, अशुचिलवेनेव, युक्तमशनादि, शुद्धमपि भवति 'पूति' अपवित्रं, एवं सामान्येनोक्त्वा
बादरं च द्विधेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ अथ द्वैविध्यमाह--

सुहुमं कम्मियगंधऽग्गि-धूमबप्फेहिं तं पुण न दुट्ठं । दुविहं बायरमुवगरण-भत्तपाणे तहिं पढमं ॥३३॥

व्याख्या-'सूक्ष्मं' बादरेतरं पूति स्यादिति शेषः, कैरित्याह-कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पैः । 'कार्मिकं' आधाकार्मिकं 'गन्धश्च'
भक्तादिमत्का घ्राणिः, 'अग्निश्च' वह्निः 'धूम'श्चाग्नीन्धनसम्पर्कजो वस्तुविशेषो 'बाष्प'श्चोष्णभक्तादेरूष्मा गन्धाग्निधूमबाष्पाः,
कार्मिकस्य गन्धाग्निधूमबाष्पाः कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पास्तैः । अयमर्थः-शुद्धमप्यशनादिकमाधाकार्मिकभक्तादिगन्धबाष्पा-
ग्निधूमैः सह मिलितं सूक्ष्मपूति स्यादिति । आह-यद्येवं तर्हि नास्त्येव किञ्चिदपूति, एकत्रोत्पन्नैरपि तैर्विशीर्यैतश्चेतश्च गमनतः
सर्वलोकभक्तादिव्याप्तेरित्याशङ्क्याह-'तं पुण न दुट्ठं'ति 'तत्' सूक्ष्मं पूति 'पुन'र्विशेषणे 'न' नैव 'दुष्टं' दोषकारि, किन्तु

प्ररूपणामात्रमेवैतन्न पुनः परिहार्यं, आचीर्णत्वादशक्यपरिहारत्वाच्चेति भावना । अथ बादरपूतिविवरणायाह–'दुविह' मित्यादि, 'द्विविधं' द्विप्रकारं 'बादरं' स्थूलं पूति स्यादिति प्रक्रमः । द्विविधमेवाह–'उवगरणभत्तपाणे'त्ति, शध्यमानस्य दीयमानस्य वा अशनादेर्यदुपकुरुते तदुपकरणं चुल्यादि, तच्च भक्तपाने च उपकरणभक्तपानं, 'तस्मिन्' तद्विषयं-उपकरणविषयं भक्तपानविषयं चेत्यर्थः । तत्राद्यं भेदं व्याचिख्यासुः प्रस्तावनामाह–'तहिं पढमं' ति 'तत्र' तयोर्मध्ये 'प्रथमं' आद्यमुपकरणपूत्यभिधानं एवं स्यादिति शेषः, इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ यथा स्यात्तथैव दर्शयति–

दी०–सूक्ष्माख्यं पूति स्यात्, कैः ? कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पैः प्रतीतैः, तत्पुनर्न दुष्टं, अशक्यपरिहारत्वादाचीर्णं । बादराख्यमाह–द्विविधं बादरं पूति–उपकरणविषयं भक्तपानविषयं च, तयोः प्रथममाहेति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

कम्मियचुल्लीभायण-डोवठियं पूइ कप्पइ पुढो तं। बीयं कम्मियवग्घार-हिंगुलोणाइ जत्थ छुहे ॥३४॥

॥ ३४ ॥ व्याख्या–'कार्मिका' आधाकर्मिकाः 'चुल्ली' चाधिश्रयणी 'भाजनं च' स्थाल्यादि 'डोवश्च' चट्टकश्चुल्लिभाजनडोवाः, कार्मिकाश्च ते चुल्लिभाजनडोवाश्च कार्मिकचुल्लिभाजनडोवाः । उपलक्षणं चैते कडुच्छुकोदूखलिकादीनां, तेषु 'स्थितं' गतं, शुद्धमप्यशनादीति गम्यते । किमित्याह–'पूति' पूर्वोक्तशब्दार्थं स्यादिति शेषः । ततश्च साधूनां ग्रहीतुं तन्न कल्पते । किं सर्वथा ? नेत्याह–'कप्पइ पुढो तं'ति 'कल्पते' ग्रहीतुं युज्यते 'पृथग्' विभिन्नं–स्वयोगेनान्यत्र सङ्क्रान्तमित्यर्थः, तदुपकरणपूति । अथ भक्तपानपूतिस्वरूपमाह–'बीय'मित्यादि, द्वितीयं–भक्तपानविषयं पूति तत्स्यादिति प्रक्रमः । यत्र किमित्याह–'कम्मिये'त्यादि, कार्मिका–न्याधाकर्मिकाणि वाघारहिङ्गुलवणादीनि, अत्र समासः सुकर एवेति न दर्शितः । यत्र शुद्धेऽ- ॥ ३४ ॥

प्यशनादौ 'छुहे'त्ति 'क्षिपति' संस्कारार्थं मध्ये प्रवेशयति, तत्र वाघारो हिङ्ग्वादिदहनसमुत्थो धूमः, हिङ्गुलवणे प्रतीते, नवरं–आधाकर्मिकत्वं हिङ्गुद्रव्यस्य स्वार्थनिष्पन्नमुद्गादिभक्तसंस्कारार्थं सचित्तोदकेन साधुनिमित्तं द्रवीकृतस्य, लवणस्य तु तदर्थमेव चूर्णितपरिणामितस्येत्यादिगमेन भावनीयं । आदिशब्दाज्जीरकादिपरिग्रह, इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ तथा–

दी०–कार्मिकार्थं चुल्लीभाजने प्रतीते, डोवश्चट्टुकः, उपलक्षणत्वादन्यदपि कार्मिकोपकरणं, तेषु स्थितं–तद्गतं शुद्धमपि भक्तादि उपकरणपूत्याख्यं वर्ज्यं, किं सर्वथा ? नेत्याह–कल्पते तत् 'पृथग्'विभिन्नं–स्वयोगेनान्यत्र सङ्क्रामितमित्यर्थः । द्वितीयमाह–'द्वितीयं' भक्तापानाख्यं पूति तत्स्यात्–यत्र कार्मिकवग्घारहिङ्गुलवणादीनि क्षिपेद्दाता संस्कारायेति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

एतदेवाह––

कम्मियवेसण धूमिय-महव कयं कम्मखराडिए भाणे । आहारपूइ तं कम्म-लित्तहत्थाइ छिक्कं च ॥ ३५ ॥

व्याख्या–'कार्मिकवेसनेन' तप्तघृतादिक्षिप्तकुस्तुम्बुरुणा, उपलक्षणत्वाद्राजिकादिना च 'धूमितं' स्फोटितं सन्धूमितमिति यावत्, कार्मिकवेसनधूमितं यत्पेयादीति गम्यते । अथवेति प्रकारान्तरद्योतनार्थः । 'कृतं' स्वार्थं निष्पादितं स्थापितं वा यदशनादीति गम्यते । क्वेत्याह–'कम्मखरडिए भाणे'त्ति 'कर्मखरण्टिते' आधाकर्मलिप्ते 'भाणे'त्ति भाजने स्थाल्यादिके । तत्किमित्याह–'आहारपूति'भक्तपानपूति स्यादिति शेषः, तत्पूर्वोक्तमशनादिकं । न केवलमेतदेव, किन्तु 'कर्म्मलिप्तहस्तादिस्पृष्टं च' आधाकर्मखरण्टितकर-करोटिकादिछुप्तं च । 'च' शब्द उक्तसमुच्चयार्थ, इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अथ दातृगृहभाजनविषयपूतिविभागं साधुपात्रकल्प्याकल्प्यविधिं चाभिधित्सुराह––

दी०—'कार्मिकवेशनेन' तप्तघृतराजिकादिक्षेपादिना धूमितं, अथवा कार्मिकखरण्टिते भाजने 'कृतं' निष्पादितं स्थापितं वा तद्भक्तादि आहारपूतिरुच्यते, न केवलं तत्, कार्मिकलिप्तहस्तादिस्पृष्टं चेति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ अत्र विशेषमाह—

पढमे दिणम्मि कम्मं, तिण्णि उ पूइकयकम्मपायघरं। पूइ तिलेवं पिढरं, कप्पइ पायं कयतिकप्पं॥३६॥

व्याख्याः—'प्रथमे' आद्ये—यत्राधाकर्मणः पाको विहित इत्यर्थः। 'दिने' दिवसे 'कर्म' आधाकर्मिकं। 'तिण्णि उ'त्ति 'त्रीणि' त्रिसङ्ख्यानि दिनानि पुनः 'पूति' पूत्यभिधानं स्यादिति शेषः। किं तदित्याह—'कयकम्मपायघरं'ति 'कृतो' विहितः 'कर्मण' आधाकर्माहारस्य 'पाको' रन्धनं यत्र तत्कृतकर्मपाकं, तच्च तद्गृहं चेति कृतकर्मपाकगृहं। तथा 'पूति' अपवित्रं स्यादिति वर्त्तते। किं तदित्याह—'तिलेवं पिढरं'ति 'त्रय'स्त्रिसङ्ख्या 'लेपा' भक्तादिदिग्धतारूपा यस्य तत्त्रिलेपं 'पिठरं' स्थालिका। अत्र वृद्धसम्प्रदायः—जम्मि य भायणे कम्मियं रद्धं तम्मि अकयतिकप्पे जइ गिही अप्पणो अट्ठाए रंधइ तो तं पूइं, पुणो बीयवाराए जं रंधइ तं पि पूइं, पुणो वि तइयवाराए जं रंधइ तं पि पूइं, चउत्थवाराए सुद्धं ति। अह अद्दाभावेण गिही निरवयवे वारतियं कप्पिए रंधइ तो पढमवेलाए वि सुद्धं चेव त्ति। इह चाधाकर्मपाकानन्तरं स्वार्थं वारत्रयं भक्तरन्धनेन यत्स्थालिकायाः खरण्टनत्रयं सम्पद्यते तल्लेपत्रयमभिप्रेतमतस्तदन्विता स्थालीका तदुपसंस्कृतं भक्तं च पूति भवतीति भावार्थः। अतः कार्मिकपाकगृहे दिनचतुष्कं न प्रवेष्टव्यं, परं "×अतरंताई जोग्गा–सईए+गिण्हंति

× अनिर्वाहादौ, आदिशब्दाद्बालग्लानादिग्रहः। + शुद्धाभावे।

तत्थ पविसेउं। *अन्नमहाणसुवक्खड, जं वा सन्नी सयं भुंजे ॥१॥" तथा 'कल्पते' परिभोक्तुं युज्यते, साधूना-मिति गम्यते 'पात्रं' स्वभाजनं, पूतिभक्तादिलिप्तमिति द्रष्टव्यं। किंविशिष्टं सदित्याह–'कृता' विहिता अङ्गुलिप्रोञ्छनकरीषो-द्वर्त्तनादूर्ध्वमिति द्रष्टव्यं, 'त्रय'स्त्रिसङ्ख्याः 'कल्पा' जलक्षालनरूपा यस्य तत्कृतत्रिकल्पमिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

व्याख्यातः पूत्याख्यस्तृतीयः पिण्डोद्गमदोषः, अथ तमेव मिश्रजाताख्यं चतुर्थं व्याख्यातुमाह–

दी०–प्रथमे दिने 'कर्म' कार्मिकं, त्रीणि दिनानि तु पूति स्यात्, किं तदित्याह–कृतकार्मिकपाकं गृहं, तत्र दिनचतुष्टयं न विहर्त्तव्य, तथा त्रिलेपं पिठरं स्थाल्यादि, इह कार्मिकपाकानन्तरं स्वार्थं वारत्रयं भक्तरन्धनेन अकृतत्रिकल्पस्य स्थाल्यादेः खरण्टनत्रयं त्रिलेपमाहुः, चतुर्थलेपे तु न पूतिरिति भावः। कृतत्रिकल्पे प्रथममेव शुद्ध्यति। तथा कल्पते यतीनां 'पात्रं' स्वभाजनं, पूतिभक्तादिलिप्तमिति गम्यं, कृतत्रिकल्पं–अङ्गुलीप्रोञ्छनकरीषोद्वर्त्तनादूर्द्ध्वं कृतास्त्रयः कल्पा–जलक्षालनरूपा यत्र तत्तथेति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ उक्तं पूतिकर्म, अथ चतुर्थं मिश्रजाताख्यमाह–

जं पढमं जावंतिय-पासंडिजईण अप्पणो य कए। आरभइ तं तिमीसं ति, मीसजायं भवे तिविहं ॥३७॥

व्याख्या–'जं'ति यदोदनादि 'प्रथमं' आदित एव अग्निसन्धुक्षणा+धिश्रयणदानादेः प्रभृतीत्यर्थः, आरभेत × तन्मिश्रजातं भवेदिति सम्बन्धः। किमर्थमित्याह–'जावंतिये'त्यादि 'यावदर्थिकाश्च' समस्तभिक्षुकाः 'पाषण्डिनश्च §'

* अन्यमहानसोपस्कृतं, तदभावे तु यत् ['सन्नी'] श्रावकः स्वयं भुङ्क्ते तन्महानसोपस्कृतमपि गृह्णन्ति (पर्यायाः अ.)।

+ ०णाद्रहणदा० प. क. ह. अ. । × आरभते प. क. ह. अ. । § पाषण्डिकाश्च प. क. ह. ।

सामान्यतो व्रतधारिणो 'यतयश्च' साधवो यावदर्थिकपाषण्डिकयतयस्तेषां, न केवलमेतेषामेव, किन्त्वात्मनश्च—स्वस्य, 'च' उक्तसमुच्चये 'कृते'ऽर्थे—निमित्तमित्यर्थः। 'आरमते' कर्त्तुमुपक्रमते, गृहस्थ इति गम्यते। 'तत्' प्रागुक्तमोदनादिकं निष्पन्नं सत् 'तिमीसं ति'त्ति 'त्रिभिः' पूर्वोक्तैर्यावदर्थिकादिभिः, श्रमणानां पाषण्डिषु प्रवेशात्, मिश्रं—साधारणं त्रिमिश्रमिति कृत्वा मिश्रजातं पूर्वोक्तशब्दार्थं 'भवेत्' स्यात् 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं—यावदर्थिकमिश्रजातं १, पाषण्डिमिश्रजातं २, साधुमिश्रजातं ३ चेत्यर्थः। स्वगृहमिश्रजातमिति क्वापि तृतीयभेदस्य संज्ञान्तरं दृश्यते, तत्राप्ययमेवार्थ इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

अभिहितो मिश्रजाताख्यश्चतुर्थः पिण्डोद्गमदोषः, साम्प्रतं तस्यैव स्थापनाभिधानस्य पञ्चमस्यावसरः, स्थापना च आधार-द्रव्य-कालोपाधिभेदात्रिधा सम्भवति, पुनरेकैका स्वस्थान-परस्थान-परम्परा-नन्तर-चिरे-त्वरभेदाद्द्विधेत्यतस्तान्सप्रतिभेदान्दर्शयन्नाह—

दी०—यद्भक्तादि 'प्रथमं' आदित एव 'यावन्तिकाः' समस्तभिक्षार्थिनः १ 'पाषण्डिनः' समान्येन व्रतधारिणो २ 'यतयः' साधवः ३, तेषामात्मनश्च कृत 'आरमते' पाकायोपक्रमते, तत्रिभिरेभिर्मिश्रमिति कृत्वा मिश्रजातं त्रिविधं भवेदिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ उक्तं मिश्रजातं, अथ पञ्चमं स्थापनाख्यमाह—

सट्ठाण परट्ठाण-परंपराणंतरं चिरित्तरियं। दुविह तिविहा वि ठवणा-सणाइ जं ठवइ साहुकए ॥३८॥

व्याख्या—स्वस्थानं च चुल्ल्युखादि, परस्थानं च × सुस्थितछब्बकादि, स्वस्थान-परस्थानं, तस्मिन्, यदशनादिकर्मता-

× "च बोहियडं छाबडउ" इति टिप्पितं अ. पुस्तके, तदेव वृत्तितयोल्लिखितं प. ह. प्रतिकृतयोः।

पन्नं साधुकृते गृहस्थः स्थापयति तत्स्थापनेति योगः। अनेन चाधारोपाधिकं स्वस्थानस्थापना परस्थानस्थापना चेति स्थापनायाः सिद्धान्तप्रसिद्धं भेदद्वयं दर्शितं, यदाह–"सट्ठाणपरट्ठाणे, दुविहं ठवियं तु होइ नायव्वं।"। किंविशिष्टं तदशनादि स्थापयति? इत्याह–'परंपराणंतरं'ति अपरापरद्रव्यादिपर्यायसन्तानः परम्परः, स यस्य क्षीरादेर्विद्यते तत्परम्परसम्बन्धात्परम्परं। तथा न विद्यते 'अन्तरं' पर्यायान्तरलक्षणो विशेषो यस्य तदनन्तरं घृतादि। ततश्च परम्परं चानन्तरं च परम्परानन्तरं–तत्परम्पररूपमनन्तररूपं चेत्यर्थः। अनेन च द्रव्योपाधिकं परम्परस्थापना अनन्तरस्थापना चेति ग्रन्थान्तराभिहितं स्थापनाभेदद्वयमुक्तं। तथा 'चिरित्तरियं'ति 'चिरं च' प्रभूतकालं 'इत्वरं च' स्वल्पकालं चिरेत्वरं तत्। अनेन च कालोपाधिकं चिरस्थापना इत्वरस्थापना चेति सिद्धान्तोक्तं स्थापनाया द्वैविध्यं प्रदर्शितं। इत्येवं सा 'द्विधा' स्वस्थानादिभेदेन द्विप्रकारा। 'त्रिधाऽपि' प्रकारत्रयेणापि, न केवलमेकधा द्विधा वेत्यपि शब्दार्थः। अयमत्र भावार्थः–प्रत्येकं सकलस्थापितभेदसङ्ग्रहात् स्वस्थानस्थापना परस्थानस्थापना चेत्येवं, परम्परस्थापना अनन्तरस्थापना चेत्येवं वा चिरस्थापना इत्वरस्थापना चेत्येवं वा द्विविधा स्थापना भवतीति। स्थापनं स्थापना–न्यसनमित्यर्थः, भवतीति शेषः, अशनादि–भोजनपानादि यदनिर्दिष्टस्वरूपं किञ्चित्स्थापयति–न्यस्यति–धारयतीत्यर्थः, गृहस्थ इति गम्यते, साधुकृते-यतिनिमित्तमिति गाथार्थः॥ ३८॥ अथ स्वस्थानादिस्वरूपं बिभणिषुराह—

दी०–स्वस्थानं भक्तपाकस्य चुल्ल्यादि, परस्थानं छब्बकादि, तस्मिन् अशनादि यत्स्थापयति साध्वर्थं सा स्थापना, तच्च कथम्भूतं? परम्परं क्षीरादि अनन्तरं घृतादि, तच्च तदिति समासः। तथा चिरेत्वरं–बहुकालाल्पकालभेदात्, एवं

स्थापना स्वस्थानादिभेदेन त्रिधाऽपि प्रत्येकं द्विधा भवतीति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ अथ स्वस्थानादिस्वरूपमाह—

चुल्लुक्खाइ सट्ठाणं, खीराइ परंपरं घयाइयरं । दव्वट्ठिई जाव चिरं, अचिरं तिघरंतरं कप्पं ॥३९॥

व्याख्या–'चुल्लि'श्चाधिश्रयणी 'उखा च' स्थाली चुल्ल्युखे, ते आदी यस्या×वचुल्लकादेराधारभूतवस्तुनः तच्चुल्ल्युखादि, किमित्याह–'स्वस्थानं' निजाश्रयो, भण्यत इति शेषः । अयमत्र भावार्थः–भक्तपाकस्य स्वस्थानं द्विधा भवति–स्थानस्वस्थानं भाजनस्वस्थानं च । तत्र चुल्ल्यादिकं तिष्ठत्यस्मिन् स्थाल्यादीति स्थानमाधारस्तद्रूपं स्वस्थानं स्थानस्वस्थानमुच्यते । स्थाल्यादिकं तु भाजनस्वस्थानमिति । सुस्थितादिकं छब्बकवारकादिकं च परस्थानमुच्यत इति स्वयमेव द्रष्टव्यं, सुज्ञानत्वाच्च गाथायां नोक्तमिति । स्थापनायोजना तु प्राग्दर्शितैवेति । तथा 'खीराइपरंपर'त्ति क्षीरादि–दुग्धेक्षुरसप्रभृतिद्रव्यं, किमित्याह–दधि-म्रक्षण-कक्कवादिपर्यायपरम्पराऽन्वितत्वात्परम्परं भण्यत इति शेषः । अयमर्थः–क्षीरादिविकारद्रव्येषु परम्परास्थापनाऽपि स्यात् । कथमिति चेदुच्यते–किल काचिदगारिणी केनापि साधुना क्षीरं याचिता सती क्षणान्तरे दास्यामित्यभ्युपगम्य समयान्तरे तत्सम्प्राप्तौ अन्यत्र लब्धदुग्धं साधुं प्रत्युवाच, यदुत–गृहाणेदं, तेन चोक्तं–लब्धं मयाऽन्यत्र प्रयोजनोत्पत्तौ तु युष्मदीयमपि गृहीष्ये । एवं चाकर्ण्य सा ऋणभीतेव अद्य तावत्साधुर्न गृह्णाति (ग्रन्थाग्रं १०००), दातव्यं चेदं मयाऽस्मायन्यथा साधुऋणं दुर्मोक्षमिह परत्र च भविष्यति, न चेदमित्थमेव धर्तुं शक्यते, विनश्वरत्वात्ततो दधि कृत्वेदमागामिनि दिने दास्यामीति विचिन्त्य स्थापनाञ्चकार । ततो द्वितीयदिने दधि

× य. ह. अ. पुस्तकेष्वेवंविधः पाठः, क. प. पुस्तकयोस्तु " यस्य चुल्ल्युखादेरा. " इति पाठः ।

दीयमानं साधुना नेष्टं, ततो नवनीतदानबुद्ध्या पुनः स्थापनामकार्षीः, एवं मन्थु×दानबुद्ध्या, एवं तक्रदानबुद्ध्या इत्येवं परम्परस्थापनाऽपि क्षीरे स्यादेवमिक्षुरसादिष्वपि यथासम्भवं वाच्यमिति । तथा 'घयाइयरं'ति 'घृतादि' घृतगुडप्रभृति-क्रमविकारिद्रव्यं, किमित्याह—'इतरद्' अनन्तरं भण्यते—घृताद्यविकारिद्रव्येष्वनन्तरस्थापनैव स्यादित्यर्थः । तथा 'दव्वट्ठिई जाव चिरं'ति द्रव्यस्य घृतगुडादेः 'स्थिति'र्विवक्षितपर्यायेणावस्थानं द्रव्यस्थितिस्तां यावन्मर्यादीकृत्य 'चिरं' चिर-स्थापितमित्यर्थः । भण्यत इति प्रक्रमः । तच्चोत्कृष्टतो देशोनामपि पूर्वकोटिं यावत्सम्भवतीति । तथा 'अचिरं तिघरंतरं कप्पं'ति 'अचिरं' इत्वरस्थापितं भण्यते, किं तदित्याह—'त्रिगृहान्तरं' गृहत्रयान्तरालवर्त्तिद्रव्यं । इदमुक्तं भवति—पङ्क्ति-स्थितगृहत्रयमध्यादेकस्मिन् गृहे साधुसङ्घाटकस्य भिक्षां जिघृक्षोस्तदपरतृतीयगृहादेकस्यापि साधोर्दृष्टिविषयभूतात्तद्दानार्थं यत्स्वहस्तस्थापितं कश्चिद् भक्ताद्यानयति तदित्वरस्थापितं, एतच्च प्रज्ञापनामात्रेणैवैवमुच्यते, न पुनः परिहार्यं, अत एवाह—'कप्पं'ति 'कल्प्यं' कल्पनीयं "भिक्खग्गाही एगत्थ, कुणइ बीओ य दोसु उवओगं" इत्याद्यागमाभिज्ञसाधूनां ग्राह्यं, आचरितत्वात्, उत्कृष्टाचीर्णाभ्याहृतवदिति गाथार्थः ।। ३९ ।।

प्रतिपादितः स्थापनाख्यः पञ्चमः पिण्डोद्गमदोषः, साम्प्रतं तमेव षष्ठं प्राभृतिकाभिधानं प्रतिपादयितुमाह——

दी०—चुल्ली प्रतीता, 'उखा' स्थाली, तदादि स्वस्थानं, तस्मादुद्धृत्यान्यत्क्षेपणस्थानं परस्थानं स्वयमत्र ज्ञेयं, क्षीरादिदधिप्रक्षणादिपरम्परायोगात् परम्परं, घृतादि इतरदनन्तरं, अनन्तरपर्यायान्तराभावात् । तथा 'द्रव्यस्थितिपर्या-

×वस्त्रे बद्ध्वा निष्काशितजलस्तकभावादर्वाग्भावि वा दधिपरिणामविशेषो मन्थुः ।

उद्गम-षोडशके प्राभृतिका-निरूपणम् ।

पूर्वकोटिं सम्भवति । इत्व-येण, द्रव्यस्य-घृतादेरवस्थानं द्रव्यस्थितिस्तां यावत्स्थापितं चिराख्यं, तच्चोत्कृष्टतो देशोनामपि राख्यमाह–त्रिगृहान्तरं साधोः पङ्क्तिस्थितगृहत्रयमध्यादेकस्मिन् विहरतस्तृतीयगृहे साधुदर्शनाद्दानार्थं यद्धस्तादौ स्थापितं भक्तादि तदित्वरं, एतच्च कल्प्यं, गृहत्रयादुपरि नैवेति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ उक्ता स्थापना, अथ षष्ठं प्राभृतिकाख्यमाह–

बायरसुहुमुस्सक्कण-मोसक्कणमिय दुहेह पाहुडिया ।
परओ करणमुस्सक्कण-मोसक्कणमारओ करणं ॥ ४० ॥

व्याख्या—'बायरसुहुमुस्सक्कणं'ति 'बादरं च' स्थूरारम्भगोचरतया स्थूरं 'सूक्ष्मं च' सूक्ष्मारम्भगोचरतया अल्पं, समाहारत्वाद्बादरसूक्ष्मं, बादरसूक्ष्मं च तदु'त्ष्वष्कणं च' उत्सर्पणं, साध्वर्थायेति गम्यते, बादरसूक्ष्मोत्ष्वष्कणं । तथा 'ओसक्कणं'ति 'च' शब्दाध्याहाराद्बादरसूक्ष्मविशेषणानुवृत्तेश्च बादरसूक्ष्मावष्वष्कणं च–स्थूलाल्पावसर्पणं, इत्येवं 'द्विधा' द्विप्रकारा 'इह' अत्र प्रकरणे, अन्यत्र प्रकारान्तरेणापि "तं पागडमियरं वा, करेइ उज्जुअणुज्जुवे"त्येवंविधेन द्वैविध्यं समस्तीत्यत इहेत्युक्तं, प्राभृतिका पूर्वोक्तशब्दार्था स्यादिति शेषः । उत्ष्वष्कणावष्वष्कणस्वरूपमाह–'परओ' इत्यादि, स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेः 'परतो'ऽग्रतः 'करणं' आरम्भस्य प्रवर्त्तनं, किमित्याह–'उत्ष्वष्कणं' उत्ष्वष्कणशब्दार्थ उच्यत इति शेषः । तथा 'अवष्वष्कणं' अवष्वष्कणशब्दार्थ उच्यते, किं तदित्याह–स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेरारतो–ऽर्वाक्करणं-साध्वर्थमारम्भस्य प्रवर्त्तनं । इह च सूक्ष्ममुत्सर्पणमवसर्पणं वा सूक्ष्मप्राभृतिका, यथा काचित्सूत्रं कर्त्तयन्ती दारकेण भोजनं

॥ ३८ ॥

याचिता सती ब्रूते–साधौ समागते तवापि दास्यामीत्येवं दारकदानस्योत्सर्पणतस्तथा साध्वर्थायोत्थिता पुत्र ! तवापि
दास्यामीत्येवं दारकदानस्यावसर्पणतः । तथा बादरमुत्सर्पणमवसर्पणं च, बादरा सा यथा साधुसंविभागकरणान्महन्मङ्गलं
पुण्यं वा जायत इति भावनया साधुदानार्थं पुत्रविवाहादिदिनस्योत्सर्पणतोऽवसर्पणतश्चेति गाथार्थः ॥ ४० ॥
इत्युक्तं पिण्डोद्गमदोषेषु षष्ठं प्राभृतिकाद्वारं, अथ तेष्वेव सप्तमं प्रादुष्करणद्वारं व्याख्यातुमाह–
दी०–'बादरसूक्ष्मं' स्थूलाल्पं 'उत्ष्वष्कणं' साध्वर्थं भाव्युत्सवादेरारम्भस्या+ग्रतः करणं, 'अवष्वष्कणं' च शब्द-
लोपात्तस्यैवार्वाक्करणमित्येवं स्थूलाल्पभेदाद्द्वयमपि द्विधा इह ग्रंथे प्राभृतिकोच्यते । भेदव्याख्यामाह–परतः करणं उत्ष्व-
ष्कणं, यथा–काचिन्नारी दारकेण याचितभोजना ब्रूते–साध्वागमे×तवापि दास्यामीति सूक्ष्मं तत् । बादरं तु साधुदानं
पुण्यायेति श्रद्धया भाविविवाहादेः साध्वर्थमग्रतो नयनं । तथा अवष्वष्कणं 'आरतो'ऽर्वाक्करणं तथैव सूक्ष्मबादरभेदाभ्यामिति
गाथार्थः ॥ ४० ॥ उक्ता प्राभृतिका, अथ सप्तमं प्रादुष्करणाख्यमाह–

पाओयरणं दुविहं, पागडकरणं पगासकरणं च । सतिमिरघरे पयडणं, समणट्ठा जमसणाईणं ॥४१॥

व्याख्या–प्रादुष्करणं प्रागुक्तशब्दार्थं तदुच्यत इति शेषः । यत्सतिमिरगृहे श्रमणार्थमशनादीनां प्रकटनमिति सम्बन्धः ।
तच्च पुन'र्द्विविधं' द्विभेदं, तद्यथा 'पागडकरणं पगासकरणं च'त्ति 'प्रकटे' सप्रकाशे–गृहाद्बहिरित्यर्थः 'करणं'
देयद्रव्यादेर्व्यवस्थापनं प्रकटकरणं, तथा 'प्रकाशस्यो'द्द्योतस्य 'करणं' विधानं प्रकाशकरणं, चः समुच्चये, सतिमिर-

+ "ऽरम्भस्य परतः" ह. । × "साध्वागमने तवापि दास्यामीति" म. । "साध्वागमनेन दास्यामीति" ह. ।

गृहे-सान्धकारागारे 'प्रकटनं' प्रकाशनं 'श्रमणार्थं' साधुनिमित्तं, साधवो ह्यन्धकारवति गृहे अचक्षुर्विषयत्वाद्भिक्षां न गृह्ण-न्तीत्यतस्तेषां भिक्षाग्रहणनिमित्तमित्यर्थः, यदशनादीनां-भक्तपाना+दीनां गृहिणा विधीयत इति× गाथार्थः ॥ ४१ ॥

अथ प्रकटकरण-प्रकाशकरणे व्याख्यातुमाह-

दी०-प्रादुष्करणं तदुच्यते-'यत्सतिमिरगृहे' सान्धकारस्थाने, अचक्षुर्विषयभिक्षाया अग्रहणात्, श्रमणार्थमशनादीनां प्रकटनमिति योगः, तद्द्विविधं-प्रकटकरणं प्रकाशकरणं चेतिभेदाभ्यामिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ भेदयोरर्थमाह-

पायडकरणं बहिया-करणं देयस्स अहव चुल्लीए। बीयं मणि-दीव-गवक्ख-कुड्डछिड्डाइकरणेणं ॥४२॥

व्याख्या-प्रकटकरणमुक्तशब्दार्थं, भण्यत इति शेषः। किं तदित्याह-'बहियाकरणं'ति 'बहिस्ता'दन्धकारगृहाद्बहिः 'करणं' विधानं, कस्येत्याह-'देयस्य' दातव्यवस्तुनः अथवेति प्राकारान्तरप्रदर्शनार्थः 'चुल्ल्या' अधिश्रयण्याः। अत्र यदि सञ्चारिणीमन्यां वा स्वार्थविहितां चुल्लिं बहिः करोति तदाऽयमेवैको दोषः स्यादथ साध्वर्थाय नूतनामेव तां करोति तत उपकरणपूतिदोषोऽपीति। तथा 'बीय' मित्यादि, द्वितीयं-प्रकाशकरणं, स्यादिति शेषः। केनेत्याह-'मणिदीवे'त्यादि, मणिश्च-रत्नविशेषो 'दीपश्च' प्रदीपो 'गवाक्षश्च' वातायनः 'कुड्यच्छिद्रं च' भित्तिविवरं मणिदीपगवाक्षकुड्यच्छिद्राणि, एतान्यादिर्यस्यान्यद्वार-पूर्वकृतद्वारवर्द्धनादेस्तत्तथा, तस्य 'करणं' केनापिरूपेण विधानं,

---

+ " ०पा न प्रभृतीनां " प. ह. क.। × " ०ति शेषः, इति गा०. " प. ह. क.।

तेन । इदमुक्तं भवति–यत्कश्चिदविवेकि दायको मन्दप्रकाशगृहमध्यस्थितस्यैव दातव्यवस्तुनः साधुभिक्षाशुद्ध्यर्थं मणिप्रदीपाग्निप्रभया गवाक्षादिकरणेन वा प्रकाशं करोति तत्प्रकाशकरणमुच्यत इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

इत्युक्तं पिण्डोद्गमदोषेषु सप्तमं प्रादुष्करणद्वारं, साम्प्रतं तेष्वेवाष्टमं क्रीतद्वारं व्याचिख्यासुराह—

टी०–प्रकटकरणाख्यं देयस्य वस्तुनः सान्धकारगृहाद्बहिस्तात्करणं अथवा चुल्ल्या, द्वितीयं प्रकाशकरणाख्यं स्यात्, केन ? मणिदीपगवाक्षकुड्यच्छिद्रादिकरणेनेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ उक्तं प्रादुष्करणं, अथाष्टमं क्रीताख्यमाह—

किणणं कीयं मुल्लेण, चउह तं सपरदव्वभावेहिं । चुन्नाइ कहाइ धणाइ-भत्तमंखाइ रूवेहिं ॥ ४३ ॥

व्याख्या–'क्रयणं' अन्यसकाशात्साध्वर्थं यद्भक्तादेर्ग्रहणं, तत्किमित्याह–'क्रीतं' क्रयणक्रीतयोरभेदोपचारात् क्रीताख्यं तद्भक्ताद्युच्यत इति शेषः । केन यत् क्रयणमित्याह–'मूल्येन' स्वद्रव्यादिना वक्ष्यमाणेन । तच्च पुनर्मूल्यं कतिविधं भवतीत्याह 'चउह तं'ति 'चतुर्द्धा' चतुर्भिः प्रकारैस्तन्मूल्यं । कैरित्याह–'सपरदव्वभावेहिं'ति स्वश्चात्मा परश्चान्यः स्वपरौ, तथा द्रव्ये च वक्ष्यमाणलक्षणे भावौ च वक्ष्यमाणलक्षणावेव द्रव्यभावाः, ततश्च स्वपरयोर्द्रव्यभावाः स्वपरद्रव्यभावास्तैः, किंस्वरूपैरित्याह–'चूर्णादी'त्यादि 'चूर्ण' औषधद्रव्यसङ्करक्षोदः, स आदिर्यस्य स्वद्रव्यगणस्य स चूर्णादिः, स च 'कथे'ति धर्मकथा, साऽऽदिर्यस्य स्वभावप्रकारसमूहस्य स कथादिः, स च 'धनं' रूपककपर्दकादि, तदादिर्यस्य परद्रव्यसमुदयस्य स धनादिः, स च भक्तश्चासौ मङ्खश्च भक्तमङ्खः, स आदिर्यस्य भक्तिमत्तथाविधजनसमाजस्य स भक्तमङ्खादिः, भावप्रक्रमेऽपि भावभाववतोरभेदोपचारान्मङ्खादीत्युक्तं । मङ्खश्च सुकृतदुष्कृतफलसूचकचित्रफलकोपजीवी भिक्षुविशेषः, स च-चूर्णादिकथादि-

धनादिभक्तमल्लादयस्ते 'रूपं' स्वरूपं येषां स्वपरद्रव्यभावानां ते तथा, तैः । इदमुक्तं भवति—आहारादिलिप्सया चूर्णनिर्माल्यगुटिकागन्धचन्दनवाहुकण्डकवालपोत्तकादिलक्षणेनात्मद्रव्येण गृहिणः प्रदत्तेन यदशनादिकं साधुना लभ्यते तदात्मद्रव्यक्रीतमुच्यते, अत्र च दोषाः—चूर्णादिप्रदानानन्तरं दैववशतो नितरां मान्द्ये मरणे वा गृहस्थस्य उड्डाहः स्यादथ कथञ्चिन्नीरोगत्वं भवेत्ततश्चाटुकारिता असंयतप्रगुणीकरणेऽधिकरणदोषश्च साधोः स्यादिति । तथा आहारलिप्सयैव धर्मकथा-तर्कोपन्यासविकृष्टमासादितपश्चरण-शीतोष्णाद्यातापनाकरणलक्षणेनात्मभावेन यदवाप्यते तद्भावक्रीतं, अत्र च दोषाः—स्वानुष्ठानफल्गुताकरणप्रभृतयो वाच्याः । तथा सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन गृही स्वद्रव्येण साधुनिमित्तं यदशनादि क्रीणाति तत्परद्रव्यक्रीतं, अत्र दोषाः प्रतीता एव । तथा साधुभक्तमल्लादिसत्कविज्ञानलक्षणेन परभावेनोपार्जितं यदशनादि साधुना लभ्यते तत्परभावक्रीतं । अत्र सम्प्रदायो यथा—किलैकदा एकः साधुशय्यातरमल्लो भक्त्या साधून् भक्तपानादिना निमन्त्रितवान्, ते च शय्यातरपिण्डोऽयमिति न जगृहुः । ततस्तेनाननुगृहीतेन दित्सुना गतप्राये वर्षाकाले कतरस्यां दिशि यूयं गमिष्यथेति पृच्छा चक्रे, तेऽप्यूचुरमुकस्यां दिशीति । ततश्च स तत्राग्रत एव गत्वा निजविज्ञानेन लोकपरिचयं चकार, दीयमानं च कार्ये गृहीष्यामीति वचनपुरस्सरं न स्वीकृतवाँस्तावद्यावत्साधवः समाययुस्ततश्च घृतक्षीरादिकं महत्तरगृहादावितश्चेतश्च याचनतो मीलितं तेभ्यो दत्तवानिति । अत्र च परभावक्रीताभ्याहृतस्थापनालक्षणं दोषत्रयं स्यादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

उक्तं पिण्डोद्गमेष्वष्टमं क्रीतद्वारं, साम्प्रतं तेष्वेव नवमं प्रामित्यद्वारमभिधित्सुराह—

दी०—यतिदेयवस्तुनः क्रयणं क्रीतं स्यात्, केन ? मूल्येन । तच्च स्वपरद्रव्ययोर्भावैर्गाथोत्तरार्द्धोक्तैश्चतुर्द्धा । तत्र चूर्णादि,

चूर्ण-औषधद्रव्यसंयोगस्तेन गृहिणोऽर्पितेन साधुर्यल्लभते तत्स्वद्रव्यक्रीतं १। कथादीति, भक्ताद्यर्थं +धर्माद्याख्यानं, तया यद्वाप्तं तत्स्वभावक्रीतं २। धनादीति, धनं-सचित्ताचित्तमिश्रभेदं स्वद्रव्यं, तेन साध्वर्थं गृही गृहीत्वा ×यद्देयं ददाति तत्परद्रव्यक्रीतं ३। भक्तमल्लादीति, कश्चित्साधुभक्तः स्वविज्ञानेन रञ्जितजनान् याचयित्वा यद्ददाति तत्परभावक्रीतं ४। सर्वत्रादिशब्दस्तद्गतानेकभावदर्शनायेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ उक्तं क्रीतं, अथ नवमं प्रामित्यमाह--

समणट्ठा उच्छिंदिय, जं देयं देइ तमिह पामिच्चं। तं दुट्ठं जइभइणी-उद्धारियतेल्लनाएणं ॥ ४४ ॥

व्याख्या--'श्रमणार्थं' यतिनिमित्तं 'उच्छिंदिय'त्ति 'उच्छिद्य' अन्यत उद्यतकं गृहीत्वा यत्किञ्चिद् 'देयं' दातव्यं भक्तादिवस्तु 'ददाति' श्रमणेभ्य एव प्रयच्छति, गृहस्थ इति गम्यते 'तद्' दातव्यं भक्तादिवस्तु 'इह' अत्र प्रकरणे प्रवचने वा 'पामिच्चं'ति प्रामित्यमपमित्यं वा, उच्यत इति शेषः। इदं चात्र सामान्यभणनेऽपि लौकिकलोकोत्तरापमित्य भेदाद्विविधं विज्ञेयं, आगमे तथा भणनाद्यदाह--"पामिच्चं पि य दुविहं, लोइयलोउत्तरं समासेणं।" इत्यादि। 'तं'ति पुनः शब्दार्थस्य गम्यमानत्वात् तत्पुन 'दुट्ठं' दोषकारि। केन प्रत्ययेनेत्याह--यतिभगिन्युद्धारिततैलज्ञातेन, यतिभगिन्या-साधुस्वस्रा 'उद्धारितं' मूल्याभावादुद्धारके गृहीतं यत्तैलं-स्नेहविशेषस्तस्य तल्लक्षणं वा 'ज्ञातं' उदाहरणं, तेन। तच्चेदं--

ते णं काले णं ते णं समए णं कोसलाविसए एगो कुलपुत्तओ होत्था। सो य धम्मं सोऊण संजायसंवेगो निक्खंतो।

+ "धर्मव्याख्यानतया" ह. म.। × "यद्ददाति" क. ह. म.।

कमेण समहिगयसुत्तत्थकिरियाकलावो सयणदंसणत्थं गओ सन्नायसन्निवेसं। तत्थ य बाहिं ठिएण पुच्छिओ एगो पुरिसो, जह-को मम सन्नायगाणं जीवइ ? त्ति। तेण भणियं-उच्छिन्नं सव्वं पि ते कुलं, नवरं-एगा तव भगिणी जीवइ त्ति। तओ इमं निसामिऊणं पविट्ठो तीसे मंदिरे। सा य तं सहोयराणगारं लोयविरलसिरोरुहं मलाविलं तवोकिससरीरं दट्ठूण अइहरिसभरापूरियमाणसा समूससियरोमकूवा भत्तिबहुमाणपुव्वं पज्जुवासिऊण तन्निमित्तं किंचि आहारपाणं काउं पयट्टा, निवारिया य साहुणा। तओ तीए अहो एस भट्टारओ पाणं न गिण्हइ त्ति विचिंततीए उच्छिदिऊण दिन्नं तेल्लकरिसं, साहुणा य कप्पइ त्ति गहियं। तओ य तमणुसासिय विहरिओ अन्नत्थ साहू। तेल्लं पि अपरिमियवुड्ढीए वड्ढमाणं जायं अइबहुयं। तओ तं दाउमचायंतीए से दासत्तं पडिवन्नं। कालंतरेण य पुणो वि आगओ साहू, सुणिओ य तीसे दासत्तणवइयरो तेण बाहिं ठिएणेव। तओ अप्पाहियं×-मा रुय, अचिरेणेव तं दासत्तणओ मोएमो त्ति। पविट्ठो य खणंतरे भिक्खट्ठाए भगिणिसामिणो गिहंमि। तत्थ य उदगसंघट्टभिक्खापडिसेहे कए पुच्छियं घरवइणा-को एत्थ दोसो ? त्ति। साहूणा वि समयभणियदोसपरिकहणा वित्थरेण कया। तओ तेण आउट्टेण भणियं-कहिं मे+वसहि ? त्ति। साहुणा भणियं-अज्जवि नत्थि। तओ दिन्ना तेण से वसही, ठिओ य तत्थ धम्मकहाए साहू, गाहिओ य सो सम्मत्ताणुव्वयाणि। बहुवोलीणे य वासारत्ते गंतुकामेण आपुच्छिओ गिहवई, कहियं च थावच्चोदाहरणं, जहा-थावच्चो सावओ जाओ, तओ तेणाभिग्गहो गहिओ-जो मम कुलाओ कोइ वि पव्वयइ सो मया न वारेयव्वो। तओ तस्स पुत्तो पव्वज्जाए उवट्ठिओ, न य तेण धारिओ, पव्वइओ। तेण वि इमं सोऊण

× [आप्याहितं-]कथापित। +'ते' प. क. ह.।

एसोच्चिय अभिग्गहो गहिओ । इत्थंतरम्मि सा तस्स साहुणो भगिणी पव्वज्जाए उवट्ठिया, मुक्का य तेणं पव्वइया । कित्तिया य एरिसा नाणिणो भविस्संति ? तम्हा पामिच्चं न घेत्तव्वं ति, एस लोइय पामिच्चदिट्ठंतो त्ति ।

लोकोत्तरापमित्यं तु यत्साधोः सकाशादपरसाधुर्वस्त्रादिकं कतिपयदिनभोगबुद्ध्या तद्विधान्यदानबुद्ध्या चोद्यतकं गृहीत्वाऽन्यस्मै साधवे प्रयच्छति स्वयं वा परिभुङ्क्ते तद्विज्ञेयं । तत्र चामी दोषाः—" मइलिय-फालिय-खोसिय-हियनट्ठे वावि अन्नमग्गंते । अइसुंदरे वि दिन्ने, दुक्कररोई कलहमाई ॥ १ ॥" तत्र 'मलिनितं' शरीरादिमलदिग्धं 'पाटितं' द्विधाकृतं 'खोसितं' जीर्णतां नीतं 'हृतं' चौरादिना गृहीतं 'नष्टं' पतितं, शेषं सुबोधमिति । अत्रापवादो यथा—" उव्वत्ताए दाणं, दुल्लभ-खग्गूड-अलस-पामिच्चे । तं पि य गुरुस्स पासे, ठवेइ सो देइ मा कलहो ॥ १ ॥" 'उव्वत्ताए दाणं'त्ति सीदतः साधोर्मुधिकया वस्त्रादेर्दानं कार्यमित्येष तावदुत्सर्गमार्गः, अपवादतस्तु दुर्लभे वस्त्रे 'खग्गूडे' शठे अलसे वा अपमित्यं स्यात्, खग्गूडो हि वक्रतया अलसस्तु याचनाकष्टभयेन, न मुधिकया तद्ददातीत्यपमित्यं क्रियत इति भावः । शेषं प्रतीतमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

इत्युक्तं नवमं प्रामित्यद्वारं, साम्प्रतं दशमं परिवर्त्तितद्वारमभिधातुमाह—

दी०—श्रमणार्थं 'उच्छिद्य' उच्छिन्नं गृहीत्वा यद्देयं ददाति तेभ्यस्तमिह प्रामित्यं स्यात्, तत्पुनर्दुष्टं यतिभगिन्युद्धारिततैलज्ञातेन, तच्चेदं—कोशलविषये एकः कुलपुत्रको निष्क्रान्तः, स च गीतार्थत्वे स्वजनानन्वेष्टुं चलितस्ततः सर्वमपि तत्कुलं व्यवच्छिन्नं, भगिन्येकैव कष्टं जीवतीति कुतोऽपि ज्ञातवृत्तान्तस्तत्र जगाम । भगिन्यपि तद्दर्शनादतीव हृष्टा यतिना निषिद्ध-

पाकादिक्रिया वणिजो गृहात्तैलकर्षं वर्द्धमानमुद्धारेणानीय तस्मै ददौ। विहृते साधौ तत्तैलं प्रवर्द्धमानं दातुमक्षमा तद्गृहे दासत्वमापन्ना। कालेन साधुरपि तत्रागतो ज्ञाततद्दासत्ववृत्तान्तस्तस्य वणिजो गृहासन्ने स्थितवर्षाकल्पो वणिजं सकुटुम्बं बोधितवान्। ततो मया व्रतार्थी न कश्चिन्निषेध्य इति गृहीताभिग्रहस्य वणिजः सुतो व्रतं जग्राह। साऽपि यतिभगिनी व्रतार्थिनी दासत्वान्मुक्ता प्रव्रजितेति भ्रातृसाहाय्याद्व्रतं तैलाच्च दासत्वं प्राप्तेति प्रामित्यं वर्जयेत्। एतच्च लौकिकं, यदा साधुः साधोः पार्श्वादन्यार्पणबुद्ध्या वस्त्रादिकमुद्धारेण गृह्णाति तदा लोकोत्तरमपि कलहादिदोषकृज्ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

उक्तं प्रामित्यं, अथ परिवर्त्तिताख्यं दशममाह—

पल्लट्टिय जं दव्वं, तदन्नदव्वेहिं देइ साहूणं। तं परियट्टियमेत्थं, वणिदुगभगिणीहिं दिट्ठंतो ॥ ४५ ॥

व्याख्या—'पल्लट्टिय'त्ति 'परिवर्त्त्य' साध्वर्थं परावर्त्तं कृत्वा यत्किञ्चिद् 'द्रव्यं' घृतशाल्योदनादिवस्तु, काभ्यामित्याह—'तदन्नदव्वेहिं'ति तच्च—परिवर्त्तनीयद्रव्यापेक्षया समानजातियं, अन्यच्च-तदपेक्षयैव विजातीयं, तदन्ये च ते द्रव्ये च तदन्यद्रव्ये, ताभ्यां 'ददाति' प्रयच्छति 'साहूणं'ति 'साधुभ्यो' यतिभ्यस्तद्घृतादिद्रव्यं, किमित्याह—'परिवर्त्तितं' परिवर्त्तितसञ्ज्ञं, भण्यत इति शेषः। अयमर्थः—साधुगौरवनिमित्तं आत्मलाघवपरिहारार्थं वा स्वकीयदुर्गन्धघृतादिवस्तुनी घृतकोद्रवौदनादिद्रव्यसमर्पणेन यत्परकीयसुगन्धघृतशाल्योदनादिद्रव्यं गृहीत्वा साधुभ्यो ददाति, तत्परिवर्त्तितमुच्यत इति। 'एत्थं'ति एतदपि लौकिकलोकोत्तरभेदाद्द्विविधमवसेयं, यदाह—"**परियट्टियं पि दुविहं, लोइय लोउत्तरं समासेणं**"ति। अत्र लौकिकपरिवर्तिते 'वणिदुगभगिणीहिं'ति 'वणिग्द्विकस्य' वाणिजकयुगलस्य 'भगिन्यौ' स्वसारौ वणिग्द्विकभगिन्यौ-

उद्गम-षोडशके दशम-परिवर्तित-दोष-वर्णनम्।

॥ ४२ ॥

ताभ्यां 'दृष्टान्त' उदाहरणं विज्ञेयमिति । तद्यथा–

वसन्तपुरे नगरे द्वौ वाणिजकौ–देवदत्तधनदत्तनामानौ बभूवतुः । तत्र देवदत्तभगिनी लक्ष्मीनाम्नी धनदत्तेन परिणीता, धनदत्तभगिनी च बन्धुमती देवदत्तेन । अन्यदा देवदत्तभ्राता समुपजातवैराग्यस्तृणवदपहाय कटुकविपाकान् कामभोगान् प्रव्रजितः । स चैकदा साधुविहारचर्यया विहरन् वसन्तपुरनगरमाजगाम । तत्र च कृतोचितसूत्रार्थपौरुष्यादि- साधुकृत्यो यथोचितभिक्षासमये विहरन्ननुकम्पया भगिनीलक्ष्मीगृहं प्रविष्टः । चिन्तितं च तया, यथैकं तावदेष मम भ्राता अपरं साधुरन्यच्च प्राघूर्णकस्तदसौ विशिष्टां प्रतिपत्तिमर्हति, केवलं दारिद्र्यभावान्नास्मद्गृहे तथाविधं किञ्चिद्दातव्यमस्ति । ततश्च कोद्रवौदनेन निजभ्रातुर्देवदत्तस्य गृहाच्छाल्योदनं परिवर्त्य सा तस्मै सादरमदात् । इतश्च देवदत्तो भुञ्जानो बन्धु- मत्या भणितो, यथा–प्रयच्छामि कोद्रवौदनं यदि ते रोचते, नो चेत्तिष्ठत्विति । एतच्च श्रुत्वा अविज्ञाततद्वृत्तान्ततया झटि- त्युल्लसितकोपानलेन ताडिताऽसौ दृढं । तया चोक्तं–तवैव भगिन्या नीतः शाल्योदनः, किं मामेवमनपराधकारिणीमपि ताडयसि, ततः स्थितोऽसौ । धनदत्तेनापि तं व्यतिकरं विज्ञाय ममानया परगृहादेवं कूरमानीय प्रयच्छन्त्या अतीव लघुत्व- मापादितमिति विचिन्त्य सञ्जातप्रचण्डकोपेन किं पापे ! मामेवं जने लघू करोषीति ब्रुवाणेन स्वजाया लक्ष्मीरपि प्रहतेति । अमुमर्थं विज्ञाय साधुना धर्मकथनपुरस्सरमुपशमय्य तानि सर्वाण्यपि प्रव्राजितानीति । कियन्तश्चेदृशा आत्मपरोत्तारण- समर्था भविष्यन्ति ? । तस्मात्परिवर्त्तितं सर्वथा न ग्राह्यमिति भावः ।

लोकोत्तरपरिवर्त्तितं त्विदं–यच्छ्रमणः श्रमणेन सह वस्त्रादिपरिवर्त्तनं करोति । तत्र चामी दोषाः–"ऊणऽहियदुब्बलं वा,

आधेपूद्गमदोषेषु दशमे परिवर्त्तिते वणिग्द्विकभगिन्युदाहरणम् ।

खरगुरुच्छिन्नमइलं असीयसहं । दुव्वण्णं वा नाउं, विपरिणमे अन्नभणिओ वा ॥१॥" तत्र 'न्यूनं' लघु 'अधिकं' अतिबलं 'दुर्बलं' जीर्णप्रायं 'खरं' कर्कशस्पर्शं 'गुरु' भारिकं 'छिन्नं' पाशकदशापर्यन्तरहितं 'मलिनं' मलाविलं 'अशीतसहं' शीतरक्षणाक्षमं 'दुर्वर्णं' विरूपच्छायमित्यादिदोषान्वितं परकीयवस्त्रादिकं विज्ञाय स्वयं परेण वोत्प्रासितो विपरिणमेद्दायक-ग्राहकयोर्मध्यादेकतर इत्यतस्तत्परिवर्त्तनं न कार्यं, कारणे तु विधिना कर्त्तव्यमपीत्याह च–" एगस्स माणजुत्तं, न उ बीयस्सेवमाइकज्जेसु । गुरुपायमूले ठवणं, सो दलयइ अन्नहा कलहो ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

प्रतिपादितं दशमं परिवर्त्तितद्वारं, इदानीमभ्याहृतलक्षणमेकादशद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

दी०–परावर्त्य यद्द्रव्यं दुर्गन्धघृतादि तदन्यद्रव्यैः सुगन्धघृतादिभिर्ददाति साधुभ्यस्तत्परिवर्त्तितं स्यात्। इत्थं अत्र वणिग्द्विकभगिन्योर्दृष्टान्तः, स चायं–वसन्तपुरे द्वौ वणिजौ देवदत्तधनदत्ताख्यौ, तत्राद्यस्य भगिनी लक्ष्म्याख्या द्वितीयेन परिणीता, द्वितीयस्य च भगिनी बन्धुमत्याख्या प्रथमेन । अथ प्रथमस्य× भ्राता विषयविरागाद्गृहीतव्रतो विहरन् लक्ष्मी-गृहं प्रविष्टः, सा च चिरायातभ्रातृगौरवार्थं गृहराद्धकोद्रवकूरेण बन्धुमतीगृहराद्धं शालिकूरं परावर्त्तनानीय तस्मै ददौ । * इतश्च देवदत्तो भुञ्जानः कोद्रवकूरदर्शनात्कुपितः पापे ! किं राद्धमिदमिति बन्धुमतीमताडयत्, यावत्तया कथितं–तवैव भगिनी शालिकूरं गृहीत्वा गतेति । धनदत्तोऽपि विदितवृत्तान्तो लक्ष्मीं प्रति कुपितः, आः पापे ! परगृहराद्धं धान्यमानीय मामेवं लघू करोपीति तां ताडितवानिति जनाद्विज्ञाततत्कलहोत्थानो मुनिस्तान् सम्बोध्य प्रव्रज्यामग्राहयत् । तदेवं परिवर्तितं

× " ०स्य लघुभ्राता " अ । * " अदश्च " म ।

॥ ४३ ॥

दोषाय । एतदपि लोकलोकोत्तरभेदात् पूर्ववद्द्विधेति गाथार्थः ॥४५॥ उक्तं परिवर्तितं, अथैकादशमभ्याहृतमाह—

गिहिणा सपरग्गामाइ आणियं अभिहडं जईणट्ठा । तं बहुदोसं नेयं, पायडच्छन्नाइबहुभेयँ ॥ ४६ ॥

व्याख्या–'गृहिणा' अगारिणा 'सपरग्गामाइ आणियं'ति स्वश्च–निवासमात्रापेक्षया साधोरात्मीयः, परश्च–स्वकीयाद-
न्यः स्वपरौ, तौ च तौ ग्रामौ च–सन्निवेशविशेषौ स्वपरग्रामौ, तावादी यस्य स्वपरदेशपाटकगृहादिस्थानविशेषस्यासौ स्वपर-
ग्रामादिस्तस्मादानीतं–साधुस्थाने प्रापितं स्वपरग्रामाद्यानीतं, यदशनादीति गम्यते । तत्किमित्याह–'अभिहडं'ति अभ्याहृतं
पूर्वोक्तशब्दार्थः, तद्भण्यत इति शेषः । किमर्थमानीतमित्याह–'यतीनां' साधूनां 'अर्थाय' निमित्तं । 'तं'ति पुनः शब्दाध्या-
हारात्तदभ्याहृतं पुनर्बहुदोषं–संयमात्मविराधनालक्षणानेकानर्थकारणं 'ज्ञेयं' तत्परिजिहीर्षुणा सत्त्वेन बोद्धव्यं । तत्र स्वपरग्रा-
मादेर्जलपथेन स्थलपथेन वा पादाभ्यां नावादिना गन्त्र्यादिवाहनेन वा साध्वर्थं भक्तादि गृहीत्वा समागच्छतो गृहिणः
पृथिव्यादिसत्त्वोपमर्देन संयमविराधना, जलनिमज्जनमकरकच्छपग्राहकण्टकादिचौरश्वापदादिभ्यस्त्वात्मविराधनेति । तथा
'पागडच्छन्नाइबहुभेयं'ति 'प्रकटं' च प्रकाशं यदन्यैरपि ज्ञायत इत्यर्थः । 'छन्नं' च गुप्तं–यन्नान्येन केनापि लक्ष्यत इत्यर्थः,
प्रकटछन्ने, ते आदी येषां आचीर्णानाचीर्णप्रभृतिभेदानां ते प्रकटछन्नादयस्ते 'बहवो'ऽनेके 'भेदाः' प्रकारा यस्य तत्प्रकट-
छन्नादिबहुभेदं । अत्र 'च' शब्दाध्याहारो द्रष्टव्य इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

अथाचीर्णस्वरूपं तद्ग्रहणविधिं चाह—

दी०–गृहिणा स्वपरग्रामादेरादिशब्दाद्देशपाटकगृहादेरप्यानीतं यतीनामर्थाय अभ्याहृतं स्यात्, तद्बहुदोषं ज्ञेयं, मार्गे

जीवोपमर्दादिहेतुत्वात्। तथा 'प्रकटं' अन्येषां ज्ञातं 'छन्नं' अन्यैरलक्ष्यं, आदिशब्दादाचीर्णानाचीर्णादयो बहवो भेदा यस्य तत्तथेति, च शब्दाध्याहार इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ अथाचीर्णमाह—

आइण्णं तुक्कोसं, हत्थसयंतो घरे उ तिन्नि तहिं। एगत्थ भिक्खग्गाही, बीओ दुसु कुणइ उवओगं ४७

व्याख्या-'आचीर्णं' गीतार्थसाधुभिर्ग्रहणे आचरितं अभ्याहृतं ['तु'] पुनरुत्कृष्टं-सर्वबहु। कियदित्याह-'हस्तशतान्तः' करशतमध्ये। 'गृहाणि' त्वगाराणि पुन'स्त्रीणि' त्रिसङ्ख्यानि यावत्। एतदुक्तं भवति-महत्यां भोक्तृजनपङ्क्तौ दूरप्रवेश-तथाविधगृहे पङ्क्तिस्थितगृहत्रये वा साधुसङ्घाटकस्य भिक्षां जिघृक्षोस्तद्दानार्थं यद्भक्तादि कश्चिद्धस्तशतादानयति, तदुत्कृष्ट-माचीर्णाभ्याहृतं,परतस्त्वनाचीर्णाभ्याहृतं,उपयोगासम्भवात्। हस्तपरिवर्त्तनरूपं तु जघन्याचीर्णाभ्याहृतं, शेषं तु मध्यममिति। 'तहिं'ति 'तत्र' तेषु त्रिषु गृहेषु मध्ये 'एकत्र' एकस्मिन् गृहे, यत्र भिक्षार्थं धर्मलाभो विहित इत्यर्थः। 'भिक्षाग्राही' भिक्षा-प्रतीच्छकः-सङ्घाटकाग्रेतनसाधुरित्यर्थः। 'बीओ'त्ति 'च' शब्दाध्याहाराद्द्वितीयश्च-भिक्षाग्राहकादपरः 'द्वयो'र्धर्मलाभित-गृहादितरयोरगारयोर्विषये, किमित्याह-'करोति' विदधाति 'उपयोगं' अवधानं अनेषणीयावगतये गृहद्वयभिक्षादायकगतं व्यापारं निभालयतीत्यर्थः। आह-ननूक्तं स्थापनायां "अचिरं तिघरंतरं कप्पं" ति, तदस्याचीर्णाभ्याहृतस्य इत्वरस्थापि-तस्य च को विशेषः? उच्यते-तत्र कालविवक्षा, इह तु गृहत्रयापान्तरालक्षेत्रविवक्षेति विशेष इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

उक्तमेकादशमभ्याहृतं द्वारं, अधुना द्वादशं उद्भिन्नद्वारं व्याख्यातुमाह—

दी०-आचीर्णमभ्याहृतं 'तु' पुनरुत्कृष्टं हस्तशतस्य 'अन्त'र्मध्ये गृहाणि त्रीणि यावत्, तेषु गृहेषु मध्ये एकस्मिन्

आद्येषूद्-
गमदोषे-
ष्वेकादशेऽ-
भ्याहृत
आचीर्णा-
नाचीर्णयोः
स्वरूपम्।

गृहे भिक्षार्थमाश्रिते भिक्षाग्राही साधुर्द्वितीयस्तु द्वयोरितरगृहयोः करोत्युपयोगं–दायिकाश्रितां शुद्धिमन्वेषयतीति। नन्वस्य इत्वरस्थापनायाश्च को भेदः? सत्यं, तत्र कालस्य विवक्षा इह तु क्षेत्रस्येति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

उक्तमभ्याहृतं, अथ द्वादशमुद्भिन्नाख्यमाह—

जउछगणाइविलित्तं, उब्भिदिय देइ जं तमुब्भिन्नं। समणट्ठमपरिभोगं, कवाडमुग्घाडियं वावि ॥४८॥

व्याख्या–'जतुछगणादिना' लाक्षागोमयप्रभृतिना, आदि शब्दान्मृत्तिकया च 'विलिप्तं' उपलिप्तं जतुछगणादिविलिप्तं, तत्कर्मतापन्नं कोष्ठिकादीति गम्यते। 'उद्भिद्य' उद्घाट्य, श्रमणार्थमित्यत्रापि सम्बध्यते 'ददाति' साधुभ्यः प्रयच्छति, गृहस्थ इति गम्यते, यद्भक्तादि 'तदुद्भिन्नं' उद्भिन्नाख्यं उच्यत इति शेषः, कोष्ठिकाद्युद्भिन्नभाजनसम्बन्धात्। तथा 'श्रमणार्थं' साधुनिमित्तं 'अपरिभोगं' अव्यापारं 'कपाटं' लोकप्रसिद्धं 'उद्घाट्य' उद्घाटं कृत्वा 'वा' विकल्पार्थो भिन्नक्रमयोगश्च, ततश्चेदमुक्तं भवति–कपाटं वा उद्घाट्य यद्भक्तादि ददाति तदप्युद्भिन्नमिति। अपि शब्दात्कपाटार्गलादर्दरकाद्यपनयनग्रहः। अत्र च दोषाः–कोष्ठिकादावुद्भिद्यमाने षड्जीवनिकायवधः, उद्भिन्ने च क्रयविक्रयादिविषयमधिकरणं, पुनरुपलिप्यमानेऽप्य-ग्निपृथिव्युदकादिवधः स्यात्। कपाटेऽप्युद्घाट्यमाने पुनर्दीयमाने च साध्वर्थं गृहकोकिलामूषिकादिवधः स्यात्, अव्यापार-दर्दरकेऽप्यपनीयमाने कुन्थु-पिपील्यादिजीवविराधना स्यादित्युद्भिन्नं वर्जनीयमेवेति, कारणतस्तु यतनया ग्रहणेऽपि न दोषो, यदाह–" घेप्पइ अकुंचियागम्मि, कवाडे पइदिणं परिवहंते। अजऊमुद्दियगंठी, परिभुज्जइ दद्दुरो जो य ॥ १ ॥" 'अकुञ्चिकाके' अविद्यमानोल्लालकच्छिद्र इत्यर्थः, यद्वा अकेङ्कारव इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

व्याख्यातं द्वादशमुद्भिन्नद्वारं, साम्प्रतं त्रयोदशं मालापहृतद्वारं व्याचिख्यासुराह–

दी०–'जतु' लाक्षा 'छगणं' गोमयं, आदिशब्दान्मृत्तिकादयस्तैर्लिप्तं स्थानमुद्भिद्य–साध्वर्थमुद्घाट्य ददाति यद्भक्तादि तदुद्भिन्नाख्यं स्यात्। तथा श्रमणार्थं 'अपरिभोगं' अव्यापारं कपाटमुद्घाट्य, वा अपिशब्दात्कपाटार्गलाद्यपीति गाथार्थः ॥४८॥

उक्तमुद्भिन्नं, अथ त्रयोदशमं मालापहृतमाह—

उड्ढअहोभयतिरिएसु, मालभूमिहरकुंभीधरणिठियं। करदुग्गेज्झं दलयइ, जं तं मालोहडं चउहा ॥४९॥

व्याख्या–ऊर्द्धाधउभयतिर्यक्ष्विति इतरेतरद्वन्द्वः, ऊर्द्धाधउभयतिर्यग्दिक्समाश्रितेष्वित्यर्थः। केष्वित्याह–मालेत्यादि, विभक्तिलोपान्मालभूमिगृहकुम्भिधरणिषु, तत्र 'मालो' मञ्चो गृहोपरिभागो वा, तद्ग्रहणस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सीकक-नागदन्तकादीनामूर्द्धगतानां परिग्रहः। तथा भूमिगृहं लोकप्रतीतं, तद्ग्रहणाच्चाधोदिग्गतानां गर्त्तादीनां परिग्रहः। तथा 'कुम्भी' उष्ट्रिका, तदुपादानाच्च उभयाश्रितव्यापाराणां कुशूलादीनामवरोधः, उच्चकुम्भ्यादिषु हि तन्मध्यगतदेयाकर्षणार्थं पार्ष्ण्युत्पा-टनेनोर्द्धाश्रितव्यापारोऽधोमुखबाह्वादिप्रसारणे चाधोगतव्यापारो दातुरित्युभयाश्रितव्यापारत्वमिति। तथा 'धरणि'र्मेदिनी, तद्ग्रहणाच्च तिर्यगाश्रितानां करेण कष्टप्राप्याणां शेषाधारविशेषाणां सङ्ग्रहो द्रष्टव्यः। ततश्चैतेषु मालादिषु 'स्थितं' गतं–समाश्रितमित्यर्थः। किंविशिष्टं सदित्याह–'करदुर्ग्राह्यं' हस्तदुष्प्राप्यं सत्, किमित्याह–'दलयइ'त्ति 'ददाति' साधुभ्यः प्रयच्छति गृही यद्भक्ताद्यादाय तन्मालापहृतं, दोषविशेषो भण्यत इति शेषः। एतच्च व्याख्यातोपाधिभेदा'च्चतुर्द्धा' चतुष्प्रकारं, यथा–ऊर्द्धमालापहृतं अधोमालापहृतमित्यादि। ननु मालान्मञ्चादेरपहृत–मानीतं मालापहृतमुच्यते, तत्कथं भूमिगृहाद्या-

आधेषूद्-
गमदोषेषु
त्रयोदशस्य
मालाप-
हृतस्य
निरूपणम्।

॥ ४५ ॥

नीतमपि तदभिधेयतया व्याख्यायते ? उच्यते—व्युत्पत्तिनिमित्तमेवेदमस्य, प्रवृत्तिनिमित्तं तु भूमिगृहाद्यानीतमपि, आगमे तथा रूढत्वादित्यदोषः । अत्र चोदाहरणं यथा—

इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जयपुरे नगरे पगइभद्दओ दाणधम्मरुई जक्खदिन्नो नाम गाहावई होत्था । पगइविणीया य वसुमई से भारिया। अन्नया य गोयरचरियाए विहरंतो समागओ से गिहे गुणरयणागरो नाम एगो साहू। उट्ठिया य वसुमई सिक्कगमालोहडभिक्खं दाउं । तओ अकप्पो त्ति काऊण पडिसेहेऊण निग्गओ सो भयवं । तयणंतरं च भिक्खट्ठं पविट्ठो एगो तच्चणिओ, पुच्छिओ य सविम्हएण जक्खदिन्नेण, जहा—भो ! कीस इमिणा साहुणा भिक्खा न गहिय त्ति ? । तओ तेण पावोवहयमइणा भणियं, जहा—अदिन्नदाणा खु इमे वराया, केवलमेएसिं सत्थयारेण गलओ चेव न मोडिउ त्ति । तओ गिहवइणा असंबद्धपलावी एसो त्ति किमणेण संलत्तेणं ति चिंतिऊण दवाविया भिक्खा वसुमईए । सा वि जाहे उच्चसिक्कगठियकुडगाओ हत्थं छोढूण मोयगे गिण्हइ ताहे मोयगसुरभिगंधवसपविट्ठेण कण्हाहिणा करे डक्क त्ति पलवंती पडिया धस त्ति धरणीयले। आउलीहूओ य जक्खदिन्नो, जीवाविया य कहवि गारुडिएहिं। अन्नदियहम्मि पुणो समागओ सो साहू, भणिओ य जक्खदिन्नेणं, जहा—भयवं ! तम्मि दिणे जाणंतेण वि कीस न साहिओ ? भुयंगमो, अहो भे निद्दयत्तणं !! ति । तओ साहुणा भणियं, जहा—भो ! न मए नाओ भुयंगमो, किंतु अम्हाणं मालोहडभिक्खागहणं सपच्चवायं ति काऊण पडिसिद्धं भयवया जिणेणं ति । धम्मो य साहिओ । तं च सोऊण अहो आरहओ धम्मो अइनिउणो त्ति भावियाणि संबुद्धाणि दोवि । गओ साहू सट्ठाणं ति । अथास्य बहुदोषता ख्यापनार्थमन्यदपि कथानकमुच्यते—

किर एगम्मि नगरे एगया एगो साहू भिक्खट्ठाए पविट्ठो, निस्सेणिमालोहडं भिक्खं दलमाणिं अगारिं पडिसेहेऊण निग्गओ। एत्थंतरे पविट्ठो एगो परिव्वायगो, पुच्छिओ य गिहवइणा–कीस अणेण साहुणा भिक्खा न गहिय त्ति ? । तओ तेण भणियं–अदिन्नदाणा इमे त्ति। तओ तस्स भिक्खादाण निमित्तं निस्सेणिमारुहंती धस त्ति पडिया से भारिया गोहुमजंत-गोवरि, फाडिया य से कुच्छी, निवडिओ य फुरफुरायमाणो गब्भो, मया य सा। अन्नदियहम्मि आगएण साहुणा पुच्छिएण तहेव संबोहेऊण पव्वाविउ त्ति। इत्याद्यनेकापायकारणं मालापहृतं विज्ञाय संयमिना परिहार्यमेवेति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

व्याख्यातं त्रयोदशं मालापहृतं द्वारं, अथ चतुर्दशमाच्छेद्यद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—ऊर्द्धाधउभयतिर्यक्षु यथासङ्ख्यं माल-भूमिगृह-कुम्भी-धरणीषु स्थितं, तत्र 'माले' मञ्चे गृहोपरितनभागे वा, उप-लक्षणाच्च सिक्ककादि, ऊर्द्धस्थितं १, भूमिगृहादिष्वधःस्थितं २, कुम्भीकोष्ठिकादिषु पार्ष्ण्युत्पाटनादधोबाहुप्रसारणाच्च उभयस्थितं ३, 'धरणिः' पृथ्वी, तत्रस्थेषु कष्टप्राप्याधारेषु तिर्यक्स्थितं ४, करदुर्ग्राह्यं 'दलयति' ददाति यद्भक्तादि तन्माला-पहृतं व्याख्यातोपाधिभेदाच्चतुर्द्धा स्यादिति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ उक्तं मालापहृतं, अथ चतुर्दशमाच्छेद्यमाह—

अच्छिंदिय अन्नेसिं, बलावि जं देंति सामिपहुतेणा। तं अच्छेज्जं तिविहं, न कप्पए ऽणणुमयं तेहिं ॥५०॥

व्याख्या–'आच्छिद्य' अपहृत्य-उद्दाल्येति यावत्। केभ्यः सकाशादित्याह–'अन्नेसिं'ति अन्येभ्यो दातुमनीप्सद्भ्योऽपि कौटुम्बिकदासभृतकादिभ्यो 'बलादपि' हठादेव–बलात्कारेणैवेत्यर्थः। यद्भक्तादि, किमित्याह–'ददति' साधुभ्यः प्रयच्छन्ति। के कर्त्तारः ? इत्याह–'सामिपहुतेण' त्ति, 'स्वामी च' राजा 'प्रभुश्च' गृहादिनायकः 'स्तेनाश्च' चौराः स्वामिप्रभुस्तेनाः।

तदाच्छेद्यं—आच्छेद्याख्यो दोषविशेषो भण्यत इति शेषः । एतच्च 'त्रिविधं' स्वामिप्रभुस्तेनलक्षणदायकभेदात्रिप्रकारं विज्ञेयं । इदं च सर्वमपि 'न' नैव 'कल्पते' साधूनां ग्रहीतुं युज्यते । किंविशिष्टं सदित्याह—'अननुमतं' अननुज्ञातं, अनुज्ञातं तु कल्पत एवेत्यर्थादुक्तं भवति । 'तेहिं' ति "तैः" कौटुम्बिकादिभिरनेकदोषसम्भवात् । यदाह— "गोवालए य भयए, खरए पुत्ते य धूयसुण्हाय । अवि[अचि]यत्तमसंखडाई, केइ पओसं जहा गोवो ॥ १ ॥" अस्या भावार्थः— गोपालके तथा 'भृतके' कर्मकरे 'द्व्यक्षरे' दासे तथा पुत्रे दुहितरि च 'स्नुषायां च' वधूटिकायां, चकाराद्भार्यादिपरिग्रहः । एतद्विषये प्रभोराच्छेद्यं स्यात्, ततश्च स यद्येतेभ्यः— स्वामिकौटुम्बिकादिभ्योऽपि, चौरास्तु पथिकादिभ्योऽपि, अनीप्सद्भ्यः सकाशाद् गृहीत्वा भक्तादिकं प्रयच्छन्ति, साधवस्तूपरोधादिनाऽपि यदि गृह्णन्ति तदैते दोषाः स्युः । 'अप्रीति'र्गोपादीनां मानसं दुःखं स्यात्, तथा 'असंखडं' कलहः, आदिशब्दादन्तराया-दत्तादानै-कानेकद्रव्यव्यवच्छेदो-पाश्रयनिष्कासन—गालीप्रदान-प्रभृतिदोषजालपरिग्रहः । तथा केचित् प्रद्वेषं साधोरुपरि गच्छेयुः, यथा गोपः कश्चित् ।

किल केनापि प्रभुणा कस्यापि गोपस्य भृतिदिने तदीयदुग्धं कियदप्याच्छिद्य साधवे दत्तं, साधुना तु गृहीतं । ततश्च स पयोभाजनमादाय स्वगृहमागमत् । दृष्टं च न्यूनं पयोभाजनं तद्भार्यया, ततः सा तस्मै आक्रोशान् दातुं प्रवृत्ता, चेटरूपाणि च रोदितुं लग्नानि । ततो गोपोऽप्युल्लसितबहलकोपानलः सञ्जातसाधुवधपरिणाम इतश्चेतश्च तदन्वेषणं कुर्वाणो ददृशे साधुना, ज्ञाततदभिप्रायेण च तत्परितोषार्थमेवमालापश्चक्रे, यथा—गृहपतिनिर्बन्धान्मया त्वदीयदुग्धं गृहीतं, साम्प्रतं च तवार्पणायोच्चलितोऽहं, न च भवद्गृहं जानामीति गृहाणेदं, ततो गोपेन सञ्जातोपशमेनोक्तं, यथा—तवैव भवत्वेतच्चिरं च त्वया जीवितव्य-

मिति मुक्तोऽसि, द्वितीयवारमेवं माकार्षीरिति। एवमनेकदोषनिबन्धनमिदं ज्ञात्वा मुमुक्षुभिः परिहार्यमेवेति गाथार्थः ॥५०॥

व्याख्यातं चतुर्दशमाच्छेद्यद्वारं, साम्प्रतं पञ्चदशमनिसृष्टाख्यद्वारं विभणिषुराह—

दी०–'आच्छिद्य' उद्दाल्य 'अन्येभ्यो' भृत्यादिभ्यः सकाशाद्बलादपि यद्ददति स्वामिप्रभुस्तेनाः। तत्र 'स्वामी' राजा 'प्रभु'र्गृहादीनां पतिः 'स्तेना'श्चौराः, तदाच्छेद्यं त्रिविधं स्वामिप्रभुस्तेनभेदैर्न कल्पते 'अननुमतं' अननुज्ञातं तैर्भृत्यादिभिरिति गाथार्थः ॥ ५० ॥ उक्तमाच्छेद्यं, अथ पञ्चदशमनिसृष्टमाह—

अणिसिट्ठमदिन्नमणणु–मयं व बहुतुल्लमेगु जं देज्जा। तं च तिहा साहारण–चोल्लगजड्डाणिसिट्ठं ति॥५१

व्याख्या–'अनिसृष्टं' अनिसृष्टसञ्ज्ञदोषो, भवेदिति गम्यते। किं तदित्याह–'अदत्तं' अवितीर्णं यद्वा 'अननुमतं' अमुत्कलितं–अननुज्ञातमित्यर्थः। 'वा' विकल्पार्थः। 'बहूनां' अनेकेषां स्वामिनां 'तुल्यं' साधारणं बहुतुल्यं 'एको'ऽद्वितीयो दाता यन्मोदकादिकं कर्मतापन्नं 'दद्यात्' प्रयच्छेदिति। 'तच्च' तत्पुनरनिसृष्टं 'त्रिधा' उपाधिभेदात्त्रिप्रकारं स्यात्, केनोल्लेखेनेत्याह–'साहारणचोल्लगजड्डाणिसिट्ठं'ति, अनिसृष्टशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्साधारणानिसृष्टं चोल्लकानिसृष्टं जड्डानिसृष्टं चेत्येवं। तत्र साधारणं–बहूनां मित्रादिस्वामिनां सामान्यं यन्मोदकादि, तदेव तद्विषयं वा अनिसृष्टं साधारणानिसृष्टं। तत्रोदाहरणं, यथा—

खिइपइट्ठिए नगरे माणिभद्दपमुहेहिं बत्तीसाए जुवाणमित्तेहिं गोट्ठियभत्तं कारियं नीयं च रमणिज्जुज्जाणे, ततो ते तत्थेगं रक्खवालं काऊण गया न्हवणनिमित्तं। एत्थंतरे भिक्खानिमित्तं समागओ एगो साहू। तओ रक्खवालजुवाणएण भणियं–

भयवं! अन्नेसिंपि एगतीसाए मित्ताणं सामन्ना एए मोयगा, कहमेगो ते देमि ?। साहुणा भणियं-ते कहिं गया ?। तेण भणियं ण्हाइउं ति। साहुणा भणियं-अहो ते विन्नाणं!! जं परसंतिएण वि पुण्णं न तरसि काउणं ति, किंच बत्तीसाए वि मोयगेहिं दिन्नेहिं तत्र एगो चेव गच्छिही, ता सामन्नदव्वेणं अप्पव्वएणं बहुपुन्नहेउणा कुणसु मोयगदाणेण धम्मं ति। एवं पुणरुत्तभणिएणं तेणं दिन्ना से मोयगा। तओ सो ताओ ठाणाओ नियत्तंतो पुच्छिओ सम्मुहावडियमाणिभद्दाईहिं, जहा-भयवं! किमित्थ तए लद्धं ? ति, तेण वि समएणं संलत्तं-न किंचिवि त्ति, तओ तेहिं बला पलोयंतेहिं दिट्ठं से मोयगभरियं भायणं, पुच्छिओ य रक्खवालो, तेण वि भीएण संलत्तं-न मए दिण्णं ति। तओ सलोत्तो चोरो त्ति भणंतेहिं गहिओ साहू, आयड्ढिऊण नीओ ववहारत्थाणं, पुच्छिओ य कारणिएहिं, साहियं च सव्वं जहावुत्तं तं साहुणा, चिंतियं च तेहिं-समुज्जुओ एस साहु त्ति, भणिओ य- मा पुणो एवं काहिसि निव्विसएण+ य गंतव्वं ति, मुक्को त्ति।

यस्मादेते दोषास्तस्मान्न ग्राह्यमिदं। तथा स्वामिना पदातिभ्यः प्रसादी क्रियमाणं कौटुम्बिकेन क्षेत्रादिस्थितकर्मकरेभ्यो दीयमानं भक्तं चोल्लको भण्यते, स एव तद्विषयं वा अनिसृष्टं चोल्लकानिसृष्टं। एतच्चाननुज्ञातं अदत्तादानान्तरायादिदोषसम्भवाद् ग्रहीतुं न कल्पत एव। तथा 'जड्डो' हस्ती, तस्य सम्बन्धि भक्तपिण्डरूपं वस्तु राज्ञा गजेन चानिसृष्टं जड्डानिसृष्टं, एतदप्यननुज्ञातं साधुभक्तमेण्ठादिना दीयमानमपि न कल्पते, राजपिण्ड-गजान्तराया-दत्तादाना-त्मोपघातादिदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

+ निर्विषयेण-देशातिक्रमेण गन्तव्यमित्यर्थः। (प० अ०)

दी०—अनिसृष्टं तत्स्यात् यद् 'बहुतुल्यं' बहूनां सत्कं, तैरदत्तमननुमतं वा तयोर्मध्यादेको दद्यात्। तच्च त्रिधा—साधारण-चोल्लग–जड्डानिसृष्टभेदैः। तत्र 'साधारणं' बहुस्वामिकं, तथा 'चोल्लकः' स्वाम्यादिना सेवकादीनामेकत्र प्रसादीकृतं भक्तादि, तद्विषयं २। 'जड्डो' हस्ती, तद्भक्तपिण्डमभ्याहृत्तं ३, राजपिण्डादत्तादिदोषकृज्जड्डानिसृष्टमित्याहुरिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

उक्तमनिसृष्टं, अथ षोडशमध्यवपूरकाख्यमाह—

जावंतियजइपासं-डियरथमोयरइ तंदुले पच्छा। सऽट्ठा मूलारंभे, जमेस अज्झोयरो तिविहो ॥५२ ॥

व्याख्या—'यावदर्थिकाश्च' समस्तभिक्षाचरा 'यतयश्च' निर्ग्रन्थाः 'पाषण्डिनश्च' सर्वतीर्थिकास्ते तथा, तेषामर्थाय-निमित्तं यावदर्थिकयतिपाषण्डिकार्थं। किमित्याह—यद् 'अवतारयति' क्षिपति स्थाल्यां, गृहस्थ इति गम्यते। कानित्याह—'तन्दुलान्' धान्यकणान्, उपलक्षणत्वाज्जलादि च। कथमित्याह—'पश्चात्' मूलारम्भोत्तरकालं। क्व सतीत्याह—'सऽट्ठा मूलारम्भे'त्ति 'स्वार्थाय' आत्मनिमित्तं-गृहनिमित्तमित्यर्थः। मूलारम्भे—अग्निज्वालनाद्रहणदानादिलक्षणे व्यापारे प्रवृत्ते सतीत्यर्थः। यदित्यस्य सम्बन्धो दर्शित एव। एषोऽयं 'अध्यवपूरो'ऽध्यवपूरकाख्यो दोषो, भण्यत इति शेषः। स च यावदर्थिकादिविषय भेदात्रिविध—स्त्रिप्रकारः स्यात्, यथा—यावदर्थिकमिश्राध्यवपूरको यतिमिश्राध्यवपूरकः पाषण्डिमिश्राध्यवपूरकश्चेति। इह च श्रमणमिश्राध्यवपूरकोऽपि घटते, केवलं कुतोऽपि कारणाच्छ्रमणाः पाषण्डिनां मध्ये विवक्षिता इत्यसौ नोक्त इति सम्भावयामः। अस्य चाद्यभेदे यावत्पश्चात्प्रक्षिप्तं तावत्युद्धृते शेषं स्थालीगतं कल्पत एव, न शेष भेदयोरिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ व्याख्यातं षोडषमध्यवपूरकाख्यद्वारं, तद्व्याख्यानाच्च समार्थिताः सर्वेऽपि पिण्डोद्गमदोषा, अथ तेष्वेवाविशोधिकोटिमभिधातुमाह—

आद्येषूद्गमदोषेषु षोडशस्याध्यवपूरकस्य स्वरूपम्।

॥ ४८ ॥

दी०—'यावदर्थिनः' सर्वे भिक्षार्थिनो 'यतयः' साधवः 'पाषण्डिनः' सर्वतीर्थिकास्तदर्थं यदवतारयति–प्रक्षिपति स्थाल्यां, गृहीति गम्यं। तन्दुलानुपलक्षणत्वात्सर्वधान्यादीन्, पश्चान्मूलारम्भस्य, क्व सति ? स्वार्थाय मूलारम्भे कृतेऽग्निज्वालनाद्ग्रहणादौ, एषोऽध्यवपूरकस्त्रिविध उक्तभेदैरिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ व्याख्याताः षोडशोद्गमदोषाः अथ तेष्वप्यविशोधिकोटिमाह—

इय कम्मं उद्देसिय–तियमीसऽज्झोयरंतिमदुगं च। आहारपूइबायर–पाहुडियविसोहिकोडि त्ति ॥५३॥

व्याख्या—इत्येतेषु षोडशसु पिण्डोद्गमदोषेषु मध्ये कर्मेत्याधाकर्म, तथा 'उद्देसिय'त्ति औद्देशिकं द्वादशविधं, उद्दिष्ट-कृत-कर्माख्यौद्देशिकानां प्रत्येकं चतुर्भेदत्वात्। तत्र कर्मौद्देशिकस्य मोदकचूरी पुनर्मोदककरणादेर्यत्त्रिकं पाषण्डिश्रमणनिर्ग्रन्थ-विषयं समुद्देशिकादेशिकसमादेशिकाभिधानं, तदौद्देशिकत्रिकं। तथा 'मिश्रं च' मिश्रजातं। अध्यवपूरश्चा–ध्यवपूरकः, तौ तथा, तयोरन्तिमं–चरमं यद्द्विकं तन्मिश्राध्यवपूरान्तिमद्विकं। 'चः' समुच्चये, स च बादरप्राभृतिका चेत्येवं योज्यः। तथा 'आहारपूति' भक्तपानपूति तथा बादरप्राभृतिका च उक्तलक्षणा, किमित्याह–अविशोधिकोटिः, अविद्यमाना 'शोधिः' शुद्धता आत्मार्थीकरणेऽपि भक्तादेर्यत्र सा तथा, सा चासौ कोटिश्च–उद्गमदोषविभागोऽविशोधिकोटिरित्येवं भण्यत इति शेषः। इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

साम्प्रतमस्या एवातिदुष्टताख्यापनार्थं पात्रविषयविधिमाह—

दी०—इत्येतेषु षोडशोद्गमदोषेषु मध्ये कर्माख्य आद्यदोषः १, तथौद्देशिकत्रिकं–चतुर्विधकर्मौद्देशिकान्त्यभेदत्रयं २, तथा मिश्राध्यवपूरकयोरन्तिमद्विकं, द्वयोरपि पाषण्डियतिविषयौ द्वौ द्वौ भेदौ, आहारपूति बादरप्राभृतिका चोक्तलक्षणा,

एतद्दोषदशकं अविशोधिकोटिरुद्गमदोषविभागो भण्यत इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ तद्योगे विधिमाह—

तीइ जुयं पत्तं पि हु, करीसनिच्छोडियं कयतिकप्पं। कप्पइ जं तदवयवो, सहस्सघाई विसलवोव ॥५४॥

व्याख्या—'तया' अविशोधिकोट्या 'युतं' खरण्टितं स्पृष्टं वा, किं तदित्याह—'पात्रमपि' साधुभाजनमपि 'हु'र्वाक्यालङ्कारमात्रे, किंविशिष्टमित्याह—'करीषेण' शुष्कगोमयचूर्णेन, उपलक्षणत्वाद्भस्मादिना च 'निश्छोटितं' घृष्टं—उद्वर्त्तितमित्यर्थः। करीषनिश्छोटितं सत्, पुनरपि किंविशिष्टं सदित्याह—'कृता' विहितास्त्रय—स्त्रिसङ्ख्याः 'कल्पा' जलप्रक्षालनरूपा यस्य तत्कृतत्रिकल्पं, उपलक्षणत्वादातपादिशोषितं च, किमित्याह—'कल्पते' साधूनां परिभोक्तुं युज्यते। ननु किमिति कृतकरीषोद्वर्त्तन-कल्पत्रिकमेव पात्रमपि कल्पते? नान्यथेत्याह—'ज'मित्यादि 'यद्' यस्मात्कारणात्तस्या—अविशोधिकोटेरवयवो—लवस्तदवयवः, अप्यर्थस्य गम्यमानत्वादविशोधिकोटिलेशोऽपि। किमित्याह—सहस्राणि हन्तुं शीलमस्येति सहस्रघाती, क इवेत्याह—'विषलव इव' प्रधानगरलेशो यथा, इदमुक्तं भवति—यथा अतिप्रधानविषलवोऽपि अन्यान्यवेधेन परम्परया प्राणिसहस्राणि भक्तादिसहस्राणि वा विनाशयति, एवमविशोधिकोटिलवोऽपि शुद्धभक्तसहस्राण्यपि दूषयतीति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

अथ विशोधिकोटिं तद्गतविधिं च प्रतिपादयन्नाह—

दी०—'तया' अविशोधिकोट्या युतं पात्रमपि करीषनिश्छोटितं कृतत्रिकल्पं कल्पत इति पूर्ववत्। 'यद्' यस्मात् 'तदवयवो'ऽविशोधिकोटिलेशः सहस्रघातीविषलव इव भक्तादिसहस्राणि विनाशयतीति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

अथ विशोधिकोटिं तद्विधिं चाह—

सेसा विसोहिकोडी, तदवयवं जं जहिं जया पडियं। असढो पासइ तं चिय, तओ तया उद्धरे सम्मं ॥५५॥

व्याख्या–'शेषा' अविशोधिकोट्युद्धरितोद्गमदोषा धात्र्यादयश्च, किमित्याह–विशोधिप्रधाना कोटी विशोधिकोटी, भण्यत इति शेषः। तत्र च 'तस्या' विशोधिकोट्या 'अवयवो' अंशस्तदवयवस्तं यं कञ्चन कूरादिकं यत्र पात्रैकदेशे शुद्धभक्तमध्ये वा 'यदा' यस्मिन्नेव क्षणे 'पतितं' गतं–मिलितमित्यर्थः। 'अशठो'ऽमायावी–मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषरहित इत्यर्थः। 'पश्यति' अशुद्धमिदमित्यवगच्छति, तदा किं कुर्यादित्याह–'तं चिये'त्यादि 'तमेव' विशोधिकोटयंशं 'तत'स्तस्मात्पात्रकाच्छुद्धभक्तमध्याद्वा 'तदा' तस्मिन्नेव काले 'उद्धरेत्' पृथक्कुर्यात्परित्यजेदित्यर्थः, साधुरिति गम्यते। न पुनः कालविलम्बं कुर्याच्चिरावस्थाने शुद्धस्याप्यशुद्धतापत्तेः। कथं? 'सम्यग्' निरवयवतयेति गाथार्थः॥ ५५॥

अथ पूर्वोक्तमेवार्थं विषयविभागेनाह—

दी०–'शेषा' उद्धरिता उद्गमदोषभवा धात्र्यादिदोषभवा च विशोधिकोटिः स्यात्, तस्या 'अवयवं' लेशं यं कञ्चन 'यस्मिन्' पात्रैकदेशे शुद्धभक्ते वा यदा पतितं 'अशठो' गृद्धिरहितो यतिः पश्येत्तदा ततः पात्राच्छुद्धभक्ताद्वा तमेव लेशं 'उद्धरेत्' विधिना त्यजेत्–सम्यग् निर्लेपयेदिति गाथार्थ॥ ५५॥ अत्र विशेषमाह—

तं चेव असंथरणे, संथरणे सव्वमवि विगिंचंति। दुल्लभदव्वे उ असढा, तत्तियमित्तं चिय चयंति ॥५६॥

व्याख्या—'तं चेव'त्ति तमेव–निपतितमात्रमेव विशोधिकोटयंशं 'विगिंचंती'ति योगः, क्वेत्याह–'असंस्तरणे' अनिर्वाहे। 'संस्तरणे' पर्याप्तौ पुनः 'सर्वमपि' समस्तमेव शुद्धमशुद्धं चेत्यर्थः। 'विगिंचंति'त्ति परित्यजन्ति, साधव

इति गम्यते । इदमुक्तं भवति–यदि कथञ्चिदनाभोगादिना शुद्धभक्तमध्ये विशोधिकोटिदोषदूषितं भक्तं गृहीतं स्यात्, पश्चाच्च विज्ञातं, ततो यदि तेन विनाऽपि निर्वहन्ति तदा सर्वमपि विधिना परित्यजन्ति, अथ न निर्वहन्ति तदा प्रत्यभिज्ञाय तदेव परित्यजन्ति, परं यदा शुद्धशुष्कभक्तमध्ये विशोधिकोटिदोषवत्तक्रतीमनादिद्रवद्रव्यं निपतितं भवेत्तदा शुद्धं काञ्जिकादिजलं तन्मध्ये प्रक्षिप्य करं च भाजनमुखे दत्वा गालयन्ति यथा तत्सर्वं निस्सरतीति । आर्द्रे तु शुद्धतक्रादिके यद्यशुद्धं शुष्कौदनादि पतितं स्यात्तदा यावच्छक्नुवन्ति तावत्तन्मध्यात्करेणोद्धृत्य परित्यजन्तीति, यदा तु द्रव एव द्रवं निपतितं स्यात्तदा नादि पतितं स्यात्तदा यावच्छक्नुवन्ति तावत्तन्मध्यात्करेणोद्धृत्य परित्यजन्तीति, यदा तु द्रव एव द्रवं निपतितं स्यात्तदा किं विधेयं ? इत्याह 'दुल्लभे'त्यादि, दुर्लभद्रवे तु–दुष्प्राप्य+घृतादिद्रवरूपे वस्तुनि पुनरशुद्धे ×इतरघृतादिमध्ये निपतिते, सतीति गम्यते । 'अशठा' अमायाविनः–सत्यालम्बना इति भावः । 'तावन्मात्रमेव' पतितद्रव्यप्रमाणमेव तदाकलय्य 'चयंति'त्ति 'त्यजन्ति' विधिना परिष्ठापयन्ति साधव इति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

अथोद्गमदोषनिगमनं उत्पादनादोषप्रस्तावनां चाह—

दी०—तमेव विशोधिकोटयंशं 'असंस्तरणे' अनिर्वाहे 'विगिंचंति' त्यजन्तीति योगः, संस्तरणे सर्वमपि शुद्धमशुद्धं च त्यजन्ति, दुर्लभद्रव्ये–घृतादौ ※द्रव्ये द्रवद्रव्ययोगादुष्प्रापे त्वशठास्तावन्मात्रमेव पतितद्रव्यप्रमाणं त्यजन्ति, निर्लेप÷सलेपे काञ्जिकादिना शोध्यमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ अथोद्गमदोषनिगमनं उत्पादनादोषप्रस्तावनां चाह—

+ "दुष्प्राप०" प. क. ह. । × "०श्चेतर०" ह. क. । ※ "द्रव्ये दुष्प्रापे" ह. । ÷ "निर्लेपे सलेपं" क. "निर्लेपं सलेपं" ह. । अस्मद्धिया तु "निर्लेपं सलेपेन" इति शुद्धमाभाति ।

भणिया उग्गमदोसा, संपइ उप्पायणाए ते वोच्छं। जेऽणज्जकज्जसज्जो, करिज्ज पिंडट्ठमवि ते य ॥५७॥

व्याख्या—'भणिताः' प्रतिपादिताः, के? इत्याह—'उद्गमदोषाः' *पिण्डोत्पत्तिदूषणानि। 'सम्प्रति' इदानीं 'उत्पादनाया' गृहस्थात्सकाशात्साधुना स्वार्थं भक्ताद्युपार्जनारूपायाः सम्बन्धिनस्तान् दोषान् 'वक्ष्ये' अभिधास्ये, यानुत्पादनादोषान् 'अणज्जकज्जसज्जो' त्ति 'अनार्यकार्येषु' पापकर्मसु—सावद्यव्यापारेष्वित्यर्थः। 'सज्जः' प्रगुणोऽनार्यकार्यसज्जः सन् 'कुर्याद्' विदध्यात्, कश्चिल्लौल्योपहतः साध्वाभास इति गम्यते। 'पिण्डार्थमपि' क्षणिकतृप्तिमात्रफलजघन्यभक्तादिग्रासनिमित्तमपि। 'ते य' ते दोषाः पुनरमी भवन्तीति गम्यत इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

अथ प्रस्तावितोत्पादनादोषानेव नामतः सङ्ख्यातश्च दर्शयन्नाह—

दी०—भणिता उद्गमदोषा गृहस्थाश्रिताः, सम्प्रत्युपादनाया—गृहस्थात्साधुना भक्तोपार्जनरूपायास्तान् दोषान् वक्ष्ये, यान् दोषाननार्यकार्यसज्जः—सावद्यव्यापारप्रगुणः साध्वाभासः पिण्डार्थमपि कुर्यात्, ते चामी—वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः ॥५७॥

अथ तान्नामतः सङ्ख्यातश्च गाथाद्वयेनाह—

धाई[1]-दूई[2]-निमित्ते[3], आजीव[4]-वणीमगे[5] तिगिच्छा[6] य। कोहे[7] माणे[8] माया[9], लोभे[10] य हवंति दस एए ॥५८॥

पुव्विं पच्छासंथव[11], विज्जा[12]-मंते[13] य चुण्णे[14]-जोगे[15] य। उप्पायणाए दोसा, सोलसमे मूलकम्मे[16] य ॥५९॥

* "पिण्डोद्गमदू०" य.।

कर्म, मव्रनस्य वा मूलं कर्म-मूलकर्म । 'चः' शब्दः पुनः शब्दार्थस्तत्प्रयोगो दर्शित एवेति द्वारगाथाद्वयार्थः ॥५८-५९॥

साम्प्रतं प्रथमदोषं धात्रीत्वकरणलक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

दी०—'धात्री' बालानां, तस्याः कर्म धात्रीकर्म १, दूती परस्परसन्दिष्टार्थकथनात् २, निमित्तं-अतीताद्यर्थसूचनम् ३, आजीवो जात्यादि कथनादुपजीवनम् ४, वनीपकं-अभीष्टजनप्रशंसनम् ५, चिकित्सा-रोगप्रतीकारः ६ । क्रोधो ७, मानो ८, माया ९, लोभश्च १०, स्पष्टाः, भवन्ति दर्शते ॥ ५८ ॥ तथा पूर्वं-पश्चात्संस्तवो-दायकश्लाघनम् ११, विद्या-देव्यधिष्ठिता ससाधना च १२, मन्त्रो-देवाधिष्ठितोऽसाधनश्च १३, चूर्णो-नयनाञ्जनादिरूपः १४, योगश्च-सौभाग्यादिकृद्द्रव्यनिचयः १५, एतेषां प्रयोगादुत्पादनादोषाः, षोडशः पुनर्मूलकर्म-गर्भोत्पादनादि चेति गाथाद्वयार्थः ॥ ५९ ॥ तत्र धात्रीदोषमाह—

बालस्स खीरमज्जण-मंडणकीलावणंकधाइत्तं। करिय काराविय वा, जं लहइ जई धाइपिंडो सो ॥६०॥

व्याख्या—'बालस्य' शिशोः 'खीर-मज्जण-मंडण-कीलावणं-ऽकधाइत्तं'ति 'क्षीरं च' दुग्धं 'मज्जनं च' स्नानं 'मण्डनं च' विभूषा 'क्रीडापनं च' रमणं 'अङ्कश्चो'त्सङ्गः, ते तथा, तद्विषयं धात्रीत्वं क्षीर-मज्जन-मण्डन-क्रीडापना-ङ्कधात्रीत्वं कर्मतापन्नं 'करिय' त्ति 'कृत्वा' स्वयं विधाय, अथवा 'काराविय' त्ति 'कारयित्वा' अन्यसकाशान्निष्पाद्य 'वा' विकल्पे; यथा कश्चित्साध्वाभासः परिचितागारीगृहे भिक्षार्थं गतो रुदन्तं बालकं विलोक्य तन्मातरं प्रतीदमाह-रोदित्ययं क्षीराहारो बालकः, अहो तेऽतिप्रमादिता !!, किं सुलभानि पुत्रजन्मानि ?, ततो झगित्येव देहि मे भिक्षां ततः पाययामुं स्तनं, यद्वाऽलं मे भिक्षया, एनमेव तावत्पायय स्तन्यं, भूयोऽप्यहमागमिष्यामि । अथवा ब्रवीति-तिष्ठ त्वं निराकुला, अहमेवास्य

क्षीरं दास्यामीति। एवं मज्जन-मण्डनादिष्वपि धात्रीत्वकरणकारणद्वारेण यत्पिण्डं 'लभते' प्राप्नोति 'यति'स्तथाविधसाधुः 'धाईपिंडो'त्ति धात्रीत्वकरणाल्लब्धः पिण्डो मध्यमपदलोपात् धात्रीपिण्ड इत्युच्यत इति शेषः। 'सो'त्ति सः अनन्तरोक्तः। अत्र च भूयांसो दोषाः, यथा—भद्रकत्वाद्बालकजननी अशुचिभिक्षां दद्यात्प्रान्तत्वात्प्रद्वेषं वा कुर्यात्, कर्मोदयाद्बालकस्य ग्लानत्वे सत्युड्डाहश्च भवेत्, चाटुकारिण इति जनेऽवर्णवादश्च स्यात्, स्वजना अन्ये वा सम्बन्धं वा शङ्केरन्नित्यादि। उदाहरणं चात्र—

इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे कोल्लयरं नाम नयरं होत्था, तत्थ य जंघाबलपरिहीणा संगमथेराभिहाणा गुणरयणनिहिणो सूरिणो परिवसंति। अन्नया य संपत्ते कक्खडे दुब्भिक्खकाले संगमथेरायरिएहिं अणुन्नायनियगच्छपरिव्वुडो सीहाभिहाणसीसो पट्ठाविओ सुभिक्खदेसंतरं, आयरिया वि महाणुभागा मासकप्पेण विहरिउमसमत्था "जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला, +अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥ १ ॥"त्ति सुत्तमणुसरिऊणं तं खित्तं नवविभागे काऊण चउविहाए दव्वखेत्तकालभावरूवाए जयणाए जयमाणा तत्थेव विहरिंसु, तत्थ दव्वओ पीढफलगाइसु, खेत्तओ वसहिपाडएसु, कालओ एगत्थ पाडए मासं वसिऊणं बीयमासे अन्नत्थ वसहिं गवेसिउं× वसंति, भावओ सव्वत्थ निम्ममत्ता विहरंति। इओ य अन्नया कयाइ आयरियपउत्तिगवेसणानिमित्तं पट्ठविओ सीहेण दत्ताभिहाणसीसो। पत्तो य तं नयरं। तओ आयरिया ❀नीयवासिणो त्ति काऊण ठिओ तप्पडिस्सयाओ बाहिं, वंदिया य किंपि सूरिणो, भिक्खासमए

+ "अध्यात्मविशुद्धियुक्तस्य" (पर्यायः अ०) × "गवेसिय" य.। ❀ नित्यवासिन इति कृत्वा (पर्यायः अ०)।

पविट्ठो भिक्खट्ठाए तेहिं समं। ×अन्नाउंछचिरहिंडणेण य समुप्पन्नो से संकिलेसो, अहो णु कुंढ*त्तणेण इमो पंतकुलाणि मं हिंडावेइ, भद्दकुलेसु पुण अप्पणा गिण्हिस्सइ। एवंविहं च से संकिलिट्ठपरिणामं नाऊण पविट्ठो एगम्मि+ ईसरकुले तेण समं सूरि। तत्थ य पूयणागहगहियं चेडरूवं रुयंतं दट्ठूण चप्पुडियादाणपुव्वयं भणियं सूरिणा-मा रुय चेडरूव! त्ति। तओ से अचिंततत्थामत्थयाए पणट्ठा झत्ति कडपूयणा§, ठिओ तुण्हिक्को चेडो। तओ पहट्ठवयणपंकयाए उवणीयं से जणणीए भरियं मोयगाणं थालं, गुरुणा वि भणिओ दत्तो-भद्द! गिण्हसु इमं ति। तओ घेत्तूण पज्जत्तं ति भणिऊण गओ दत्तो उवस्सयं। गुरू वि अंतपंतेसु कुलेसु भमिऊण पत्तो उवस्सयं, भुत्तं च तेहिं। तओ आवस्सगवेलाए आलोएमाणो भणिओ गुरुणा-भद्द! सम्ममालोएहि। तेण भणियं तुब्भेहिं चेव समं विहरिओम्हि, किमित्थासम्मं? ति। गुरुणा भणियं-सुहुमधाईपिंडो तुमए परिभुत्तो, छोडियाकरणेण पूयणाचिगिच्छापिंडो य। अहो सुहुमे वि एस मे दोसे पलोएइ, अप्पणो पुण महंते वि न पिच्छइ। अथवा "सर्वः परस्य पश्यति, वालाग्रादपि तनूनि छिद्राणि। नात्मगतानि तु पश्यति, हिमगिरिशिखरप्रमाणानि ॥८॥" इइ चिंतिऊण निग्गओ उवस्सयाओ बाहिं ति। तओ जहासन्निहियदेवयाए गुरुपडिणीओ त्ति काऊण वेउव्वियं अब्भवद्दलयं, कयं महंतंऽधयारं जणिओ खरफरुसमारुओ, वरिसाविओ घणो। तओ तिम्मंतेण* भयविहुरमाणसेण य वाहरिया सूरिणो, तेहि वि कओ सद्दो-आगच्छसु त्ति। तेण भणियं-अंधयारे न पेच्छामि वसहिदुवारं। तओ सूरिणा खेला-

×अज्ञातोञ्छः, कोऽर्थः? अज्ञातकृपणगृहादौ। ❀ मायावित्वेन (प. अ.)। + "एगंसि" अ.। § कटपूतनानाम राक्षसी (प. अ.)। * "भिम्नंतेणं" अ.। आर्द्रीभूतेन (पर्यायस्तत्रैव)

दीवयपरिग्गहो वि अत्थि आयरियाणं, समागओ गुरुसमीवं, लिद्धकरंगुलीपईवेण उज्जोविया वसही, चिंतियं चडणेण–अहो !! दीवयपरिग्गहो वि अत्थि आयरियाणं, समागओ गुरुसमीवं,
विरइओ अणेण अप्पणा संथारओ, गुरुणा वि उवसंहरिओ अंगुलिपईवो। जाए य तमंधयारे भणिओ गुरुणा, जहा–
किमज्जो ! तुब्भे पईवसहियाए वसहिए ठायह ? विहरंत य त्ति, तओ लज्जिओ सीसो। एत्थंतरे समागया देवया, सासिओ
तीए। तओ दिन्नं तेण चलणनिवडिएण गुरुणो मिच्छामि दुक्कडं, पडिवन्नं पायच्छित्तं ति गाथार्थः ॥ ६० ॥

अथ दूतीत्वकरणदोषं व्याख्यातुमाह—

दी०—'बालस्य' शिशोः 'क्षीरं' दुग्धं 'मज्जनं' स्नानं 'मण्डनं' विभूषा 'क्रीडापनं' रमणं 'अङ्क' उत्सङ्ग, एतद्विषयं
धात्रीत्वं कृत्वा स्वयमन्यस्मात्कारयित्वा वा यद्भक्तादि लभते यतिः स धात्रीपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

अथ दूत्याख्यमाह—

कहिय मिहो संदेसं, पयडं छन्नं व सपरग्गामेसु। जं लहइ लिंगजीवी, स दूइपिंडो अणत्थफलो ॥६१॥

व्याख्या–'कथयित्वा' निवेद्य, कं ? इत्याह–'मिथस्सन्देशं' परस्परसन्दिष्टार्थं, किंविशिष्टमित्याह–'प्रकटं' प्रकाशं अथवा
'छन्नं' गुप्तं, 'वा' विकल्पे, क्व ? इत्याह–'सपरग्गामेसु' त्ति 'स्वश्च' निवासमात्रापेक्षया साधोरात्मीयः 'परश्च' अन्यः
स्वपरौ, तौ च तौ 'ग्रामौ च' सन्निवेशविशेषौ स्वपरग्रामौ, तयोः। तत्र च स्वग्रामे परग्रामे वा भिक्षार्थं व्रजन् साधुर्मात्रादेः
सम्बन्धिनं सन्देशकं गृहीत्वा आहारादिलिप्सया अन्येन वा केनापि दुरध्यवसायेन दुहित्रादेस्तथैव निवेदयति, यथा–सा तव
माता अमुकं भणतीत्यादि प्रकटसन्देशकः। तथा गृहीतसन्देशकः कश्चिन्मायावी साधुर्द्वितीयसाधुप्रत्यायनार्थं कामप्यगारीणीं

प्रति वक्ति, यथा—अतिमुग्धा ते सुता, या अस्मान् प्रति वदति, यदुत—इदमिदं च मम मात्रे निवेदनीयमिति। साऽपि दक्षतया तदभिप्रायं विज्ञाय प्रतिभणति, यथा—वारयिष्यामि तां पुनरेवं ब्रुवाणामित्यादिकस्तु प्रच्छन्नसन्देशक इति यं पिण्डं 'लभते' प्राप्नोति, कः ? इत्याह—'लिङ्गेन' रजोहरणादिना धर्मचिह्नेन 'जीवितुं' निर्वोढुं शीलं यस्येति लिङ्गजीवी—साधुवेषमात्रधारीत्यर्थः। सोऽनन्तरोक्तः पिण्डः किं ? 'दूइपिंडो' त्ति दूतीत्वकरणोपायेन लब्धः पिण्डो दूतीपिण्ड इत्युच्यत इति शेषः। स च किंविशिष्टः ? इत्याह—'अणत्थफलो'त्ति, अनर्थान्—प्रचुरैहिकामुष्मिकापायान् 'फलति' जनयतीत्यनर्थफलो—ऽनेकदोषजालहेतुरित्यर्थः। सम्प्रदायश्चात्र—

किल कयोरपि ग्रामयोः परस्परं वैरमासीत्, तयोश्चैकस्मिन् साधुशय्यातरी परिवसति द्वितीये च तद्दुहिता, ततो द्वितीयग्रामे भिक्षार्थं प्रस्थितो निजजनकसाधुर्भणितः शय्यातर्या, यथा—मदीयदुहित्रे इदं कथनीयं, यदुतास्मद्ग्रामो भवद्ग्रामस्योपरि वधपरिणत आस्ते, ततो यत्नेनासितव्यमिति। साधुनापि तत्र गतेन तथैव तस्यै निवेदितं, तयाऽपि स्वभर्त्रे, तेनापि स्वग्रामाय, सोऽपि तदाकर्ण्य सञ्जातभयमत्सरः सन्नह्य स्थितः। आगतश्चात्रान्तरे सङ्ग्रामसज्जः प्रतिपक्षग्रामः, संवृत्तश्च परस्परं समरविड्डरः, जातं च शय्यातर्या जामातृभर्तृपुत्रमरणं। प्रादुर्भूते च केनायं व्यतिकरः कथितः ? इति जनवादे शय्यातरिकयैव शोकभरविधुरया लोकाय निवेदित, यथा—जामात्रादिवैरिणा मम पितृसाधुनेति। ततो लोके महानुड्डाहः साधोः समजनीति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ अथ निमित्तकरणदोषमाह—

दी०—कथयित्वा 'मिथःसन्देशं' परस्परसन्दिष्टार्थं 'प्रकटं' प्रकाशं 'छन्नं' गुप्तं वा स्वपरग्रामयो—र्निवासमात्रापेक्षया

आत्मीयान्यस्थानयोर्यल्लभते 'लिङ्गजीवी' साधुवेषधारी, स दूतिपिण्डोऽनर्थफलः, ऐहिकामुष्मिकदोषहेतुरिति गाथार्थः ॥६१॥

अथ निमित्ताख्यमाह—

जो पिंडाइनिमित्तं, कहइ निमित्तं तिकालविसयं पि। लाभालाभसुहासुह–जीवियमरणाइ सो पावो॥६२॥

व्याख्या–यः कश्चिद्द्रव्ययतिः 'पिण्डादीनां' आहारपात्रादीनां, 'निमित्तं' अर्थाय–पिण्डादिनिमित्तं, भक्तादिलिप्सयेत्यर्थः। किमित्याह–'कथयति' आचष्टे। किं तदित्याह–निमित्तं ज्ञानविशेषं। किंविशिष्टमित्याह–'त्रिकालविषयमपि' भूतभाविवर्त्तमानाद्धागोचरमपि। पुनः किंविशिष्टमित्याह–लाभालाभ–सुखासुख-जीवितमरणादि, लाभादिसूचकमित्यर्थः। तत्र 'लाभो'ऽभिलषितवस्तुप्राप्तिः 'अलाभो' हानिः 'सुखं' सातं 'असुखं' दुःखं 'जीवितं' प्राणधारणं 'मरणं' प्राणवियोगः, एतेषां द्वन्द्वः, आदिशब्दात्सुभिक्षदुर्भिक्षादिपरिग्रहः। एवंविधनिमित्तकथनं चोत्पादनादोष इति 'सो'ऽनन्तरोक्तः साधुः, किमित्याह–'पापः' पापोपदेशकत्वात्पापीयान्। अत्रेदमुदाहरणं—

एगम्मि सन्निवेसे गामभोइओ होत्था, सो य तओ नरिंदाएसेण देसंतरं गओ, चिरकाले य गए उव्वाहुलीभूया+ से भोइणी भिक्खानिमित्तमागयं एगं समणं पुच्छइ–भयवं! किं निमित्तं वियाणसि न व त्ति ?, तेण भणियं–सुट्ठु जाणामि। तीए जंपियं–जइ एवं ता कहेहि कया मे भोइओ एही ?, तेण संलत्तं–कल्लं ति। तीए भणियं–को एत्थ पच्चओ ? त्ति, तओ तेण गुज्झदेसतिलय–सुमिणदंसणाइओ पच्चओ साहिओ। तओ आउट्टाए भोइणीए दवाविया तस्स मोयगाइया

+ य. पुस्तकेऽय पाठः, "°लीहूया" ह. क. प., "°लीया" अ.।

पउरभिक्खा । बीयदियहम्मि य तीए कारिया संमज्जणो-वलेवण-सोत्थिय-वंदणमालाइया सघरसोहा, पट्ठविओ य परियणो भोइयाभिमुहो । तओ नियमंदिरसमायारदंसणत्थमेगागी समागच्छंतो दिट्ठो परियणेणं । तओ तेण भणियं-कहं ममागमणं वियाणियं ? तुब्भेहिं ति । परियणेण वि जंपियं-भोइणीवयणाउ त्ति । तओ विम्हियचित्तो समागओ गेहं, तओ मक्कोउगेणं पुच्छिआ घरिणी, तीए वि रंजियहिययाए सलाहमाणीए साहिओ गुज्झतिलय-सुमिणाइओ निमित्ताइसओ । तओ मिच्छावियप्पवसरुट्ठेण वाहरिऊण पुच्छिओ समणो, जहा-इमीए वलवाए केरिसो गब्भो ? त्ति, तेण भणियं- +पंचपुंडो किसोरो त्ति । तओ भोइएण फालावियं वलवाए पुट्टं, दिट्ठो य जहाऽऽदिट्ठो किसोरो, भणियं ×च तेण-जइ एयं सव्वं न हुंतं तो ते पुट्टं फालियं हुंतं ति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ अथाजीवनादोषं व्याख्यातुमाह—

दी०—यः साधुः पिण्डादीनां निमित्तं-आहारवस्त्रपात्रादीनां लिप्सया कथयति निमित्तं-ज्ञानविशेषं त्रिकालविषयमपि, तथा लाभालाभ-सुखासुख-जीवितमरणादी[ति]नि (?) निमित्तविशेषणं स्पष्टं, स पापः, पापोपदेशकत्वादिति गाथार्थः ॥६२॥

तथा आजीवाख्यमाह—

जच्चाइधणाण पुरो, तग्गुणमप्पं पि कहिय जं लहइ। सो जाई-कुल-गण-कम्म-सिप्प-आजीवणापिंडो॥६३

व्याख्या—जातिर्वक्ष्यमाणलक्षणा, सा आदिर्येषां कुलादिवस्तूनां तानि तथा, तान्येव 'धनं' स्वोत्कर्षहेतुतया वित्तं येषां ते जात्यादिधनास्तेषां, दातॄणामिति गम्यते, पुरतो-ऽग्रतस्तद्गुणं-दातृसमानजात्यादिधर्मकं 'आत्मानमपि' स्वमपि

+ पञ्चचन्द्रकः (पर्यायः अ.)। × "चऽणेण" ह. ।

स्वजात्यादिपक्षपातरञ्जितेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सकाशात्प्राप्नोति, साधुरिति
'कथयित्वा' वचनेन प्रकाश्य यं पिण्डं लभते—स्वजात्यादिपक्षपातरञ्जितेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सकाशात्प्राप्नोति, एवं कुलं च गणश्च कर्म च शिल्पं
गम्यते । सो-ऽनन्तरोक्तः पिण्डः किमित्याह—'जाई'त्यादि, जातिश्च वक्ष्यमाणार्था, एवं कुलं च गणश्च कर्म च शिल्पं च, तानि तथा, तेषामाजीवना—उपजीवना सा तथा, तया लब्धः पिण्डो जाति-कुल-गण-कर्म-शिल्पाजीवनापिण्ड इत्युच्यत इति शेषः । इति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ अथ जात्यादीन्येव व्याख्यानयन्नाह—

दी०—'जात्यादिघनानां' वक्ष्यमाणजात्यादिवर्णनोत्कर्षचित्तानां 'पुरो'ऽग्रतः 'तद्गुणं' जात्यादिभिस्तुल्यमात्मानमपि स्वं कथयित्वा यल्लभते साधुः स जाति-कुल-गण-कर्म-शिल्पानामाजीवनापिण्डः स्यादिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

जात्यादिस्वरूपमाह—

माइभवा विप्पाइ व, जाई उग्गाइ पिउभवं च कुलं । मल्लाइगणो किसिमाइ, कम्मं चित्ताइ सिप्पं तु ॥६४॥

व्याख्या—'मातृभवा' जननीसमुत्था अथवा 'विप्पादि व'त्ति 'विप्रादिका' ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यप्रमुखा, चाविकल्पे, जाति—र्जातिशब्दाभिधेया, भण्यत इति सर्वत्र शेषः । तथा 'उग्रादि' उग्रभोगप्रभृतिकं, तत्रोग्रभोगौ—आदिदेवव्यवस्थापितौ वंशविशेषौ, यद्वा 'पितृभवं' जनकसमुत्थं, वा विकल्पार्थः 'कुलं' कुलसञ्ज्ञं । तथा मल्लादि-मल्ल-सारस्वतप्रभृति'र्गणो' गण-सञ्ज्ञः । मल्लगण सारस्वतगणस्वरूपं तु लोकरूढितो ज्ञेयं । तथा 'किसिमाइ'त्ति मकारस्यागमिकत्वात् 'कृष्यादि' कर्षण-वाणिज्यप्रभृति 'कर्म' कर्माख्यं । तथा 'चित्रादि' चित्रकर्म-सीवनप्रभृति पुनः 'शिल्पं' शिल्पनामकं, तुः—पुनरर्थे, तत्प्रयोगश्च दर्शित एवेति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ अथ वनिपकदोषं व्याख्यातुमाह—

दी०—'मातृभवा' जननीसमुत्था विप्रक्षत्रियवैश्यादिर्वा जातिः, उग्रभोगादि पितृभवं वा कुलं, मल्लसारस्वतादिर्गणो लोकप्रतीतः, कृषिवाणिज्यादि कर्म, चित्रसीवनादि शिल्पं, 'तु' पुनरिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ अथ वनीपकमाह—

पिंडट्ठा समणातिहि-माहणकिविणसुणगाइभत्ताणं। अप्पाणं तब्भत्तं, दंसइ जो सो वणीमो त्ति ॥६५

व्याख्या—'पिण्डार्थं' भोजनादिनिमित्तं–भक्तादिलिप्सयेत्यर्थः। आत्मानं तद्भक्तं, दर्शयतीति योगः। केषां ? इत्याह—श्रमणातिथिब्राह्मणकृपणशुनकादिभक्तानां, श्रमणाश्च—निर्ग्रंथ-शाक्य-तापस-गैरिका-जीविकलक्षणाः, तत्र 'निर्ग्रन्था' जैनमुनयः 'शाक्याः' सौगतयतयः 'तापसा' वनवासिपाषण्डिविशेषाः 'गैरिकाः' परिव्राजकाः 'आजीविका' गोशालमतवर्तिभिक्षुका इति। अतिथयश्च-प्राघूर्णकाः 'ब्राह्मणाश्च' धिग्जातीयाः 'कृपणाश्च' दरिद्रादयः 'शुनकाश्च' सारमेयास्ते तथा, ते आदिर्येषां काकशुकगवादीनां ते तथा। तेषां 'भक्ता' भक्तिमन्तो ये दातृलोकास्तेषां पुरत 'आत्मानं' स्वं, किं ? इत्याह—तद्भक्तं, तेषां-श्रमणातिथिप्रभृतीनां 'भक्तं' प्रशंसादिविधानतो भक्तिमन्तं। तथाहि—आहारादिलिप्सुश्चाटुकारबुद्धया निर्ग्रन्थानाश्रित्य ब्रूते, यथा—भोः श्रावक ! तवैते गुरवः +श्रुतार्णवपारदर्शिनो निर्मलचरणगुणधारिणः सुविहितयतिव्राततिलकाश्चेत्यादि, शाक्यादीनाश्रित्य वक्ति, यथा—भो भिक्षूपासकादय ! एते युष्मदीयश्रमणा ×निभृतभोजिनोऽतिसर्वसत्त्वकारुणिकाः अत्यन्तं दानरुचयोऽतिकष्टतपोविधानवृत्तयश्चेत्यादि, अतिथीनङ्गीकृत्य शेपदानापेक्षया तद्दानस्योत्तमतां वर्णयति, यथा—पाएण देइ लोगो, उवगारिसु परिचिएसु झुसिए वा। जो पुण अद्धाखिन्नं, अतिहिं पूएइ तं दाणं ॥ १ ॥"

+ "श्रुतसुद्रार्णव" अ० । × निश्चिन्त्य भोजिनः ।

'झुसिए'त्ति अध्युषिते—आश्रित इत्यर्थः । ब्राह्मणानुद्दिश्य प्राह, यथा—सम्प्रदानभूततया लोकानुग्रहकारिभ्यो जातमात्रब्राह्मणेभ्योऽपि दत्तं महाफलं भवति, किम्पुनः षट्कर्मनिरतेभ्य इति, कृपणानुररीकृत्यैवमाह, यथा—दरिद्रेभ्य इष्टवियोग*विधुरितेभ्योऽबान्धवेभ्यो दारुणातङ्कनि§पीडितेभ्यश्छिन्नकरचरणाद्यवयवेभ्यश्च सत्त्वेभ्यो ददद्दानं पातकमपहरतीति, शुनोऽधिकृत्य पुनरेवमाह, यथा—एते कौलेयका गवादिभ्योऽप्यतिदुर्लभतराहाराश्छिच्छिकारतिरस्कृतस्वेष्टविहाराः लता[१ लत्ता]लगुडलेष्ट्वाद्यभिघातसदाबाधितदेहा गौरीहराश्रयाः कैलासशैल†कलिपतालया यक्षाभिधानदेवजातयो मह्यागताः श्वाकृतिचारिणः पूजापूजयोश्च सत्योर्लोकस्य हिताहितकारिणश्चेत्यतोऽतिदुष्करकारकत्वाद्देवतात्मकत्वाच्च पूजनीया एत इति । इत्येवं 'दर्शयति+' प्रकटयति यः दोषाश्चात्र मृषावाद-मिथ्यात्वस्थिरीकरणा-धिकरणप्रवर्त्तनादयो यथासम्भवं वाच्याः । कश्चित्साध्वाभासः, सोऽनन्तरोक्तो 'वणीमो त्ति'त्ति प्राकृतत्वाद्वनीपक इत्युच्यत इति शेषो वनीपकत्वकरणं चोत्पादनादोष इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ अथ चिकित्सादोषमभिधातुमाह—

दी०—पिण्डार्थं 'श्रमणा' निर्ग्रन्थ-बौध-तापस-परिव्राजकादयः 'अतिथयः' प्राघूर्णकाः 'माहणा' ब्राह्मणाः 'कृपणा' दरिद्रान्धच्छिन्नाङ्गादय 'शुनकादयः' कुक्कुर¶काकबकगवादयस्तेषां भक्ता ये दातृजनास्तेषां पुरत आत्मानं 'तद्भक्तं' श्रमणादीनां प्रशंसादिना भक्तिपरं दर्शयति । एतत्प्रशंसादिना मृषावादमिथ्यात्वाधिकरणादयो दोषा यथार्हं ज्ञेयाः । एवं यः साधुः,

---

* "०विधुरेभ्यः" अ० । "विधुरतिभ्यः" प. क. ह. । § "निष्पीडितेभ्यः" अ० । † "श्शैलशिरः कलिपता०" अ० । + "दर्शयति यः कश्चित्" ह. क. । ¶ "कुक्कुरादयः काक०" क. । अस्मद्धिया "कुक्कुरादयः [आदिशब्दात्] काक०" इति भवितुमर्हतीति ।

द्वितीयोत्पादनादोषेषु पंचमो वनीपकदोषः ।

स 'वणिमु'त्ति वनीपक इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ अथ चिकित्साख्यमाह—

भेसज्ज-वेज्जसूयण-मुवसामण-वमणमाइकिरियं वा । आहारकारणेण वि, दुविहतिगिच्छं कुणइ मूढो ॥६६

व्याख्या—इह किल द्विविधा चिकित्सा स्यात्–सूक्ष्मा बादरा च । तत्राद्यां प्रतिपादयन्नाह–'भेसज्ज–वेज्जसूयणं'ति 'भैषज्यं×' चौषधविशेषो 'वैद्यश्च' भिषक्, तयोः 'सूचनं' अर्थापत्त्या निवेदनं–भैषज्यवैद्यसूचनं, यथा–किल कश्चिद्गृही रोगाघ्राततनुर्भिक्षादिगतं साधुमवलोक्य पृच्छति, यथा–भगवन् ! एतस्य मदीयव्याधेः कमपि प्रतीकारं जानीषे ?, स चाह–ममाप्येवंविधव्याधिरमुकेन त्रिफलाद्यौषधेन प्रगुणो जातो, यद्वा सासूयं* वक्ति, यथा–किमहं वैद्यो ? यद्रोगप्रतिक्रियां वेत्सीत्येवं पर्यवसितवृत्त्या§ साधुनाऽबुधरोगिगृहिणश्चिकित्सा वैद्यं पृच्छामीति वा ज्ञापितं भवति । अथ बादरचिकित्सामाह–'उवसामणवमणमाइकिरियं व'त्ति, मकारस्यागमिकत्वादुपशमनं–चोदीर्णपित्तादेः प्रशमनं, वमनं च प्रतीतं, ते तथा, ते आदी यस्याः स्वेदन-विरेचन-क्षार +सिरावेधाग्निकर्मादिक्रियायाः सा तथा, सा चासौ 'क्रिया च' कर्म, सा तथा, तां, वाशब्दो विकल्पार्थः । इत्येवं द्विविधचिकित्सां करोतीति योगः । 'आहारकारणेनापि' अशनादिहेतोरपि । अपिशब्दस्तुच्छाहारग्रासमात्रनिमित्तमपि ×जैनमुनेश्चिकित्साकरणे विरूपं द्योतयति । 'द्विविधचिकित्सां' दर्शितप्रकारेण द्विभेदरोगप्रतिक्रियां 'करोति' सूचाद्वारेण साक्षाद्वा विधत्ते, साधुरिति प्रक्रमः । किंविशिष्ट ? इत्याह–'मूढ'श्चारित्रमोहवांश्चिकित्साकरणं चोत्पादना-

---

× भेषजमेव भैषज्यम् । * सरोषम् । § निश्चयनयवृत्त्या (प० अ.) । + "०शिरावेधा०" प० ह० । "धमन्यां तु, धमनिर्नाडिनाडकौ । नाडी शिरा सिरा" इति शब्दरत्नाकरः ३ । १९४ । × तत्त्वज्ञसाधोरपि (पर्यायः अ०) ।

दोष इति । दोषाश्चात्र—क्वाथक्कथनादौ षड्जीवनिकायोपघातादयः स्युः, तथा तप्तायोगोलककल्पो गृहस्थोऽपि नीरोगः कृतः सन् सर्वत्र सावद्ये प्रवर्त्तितो भवति । दुर्बलान्धव्याघ्रोदाहरणं चात्र, यथा-किल केनापि भिषजा दुर्बलान्धव्याघ्रः सज्जलोचनो विहितः सन्ननेकसत्त्वव्यापत्तिं कृतवान्, एवं दुर्बलरोगिचिकित्सितगृहस्थोऽपि सावद्यक्रियां करोति, दैवयोगाच्च साधुविहित-क्रियाऽनन्तरं रोगिणो व्याधेरत्युदये सति कुपिततत्पित्रादेः सकाशात् साधोरनर्थः स्यात् प्रवचनोपघातश्चेत्यादि, इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ अथ क्रोधपिण्डमाह—

टी०—इह चिकित्सा द्विविधा—सूक्ष्मा बादरा च*, तत्र सूक्ष्मा यथा—भैषज्यमौषधं, वैद्यो—भिषक्, तयोः सूचनं—कथनं, बादरा च यथा—उपशामनं पित्तादीनां, वमनं प्रतीतं, आदिशब्दात्स्वेदनविरेचनादिग्रहस्तेषां क्रिया वा-कर्म वा, आहारकारणे-नापि द्विविधां चिकित्सां करोति मूढ इति स्पष्टो गाथार्थः ॥ ६६ ॥ अथ क्रोधमाह—

विज्जातवप्पभावं, निवाइपूयं बलं व से नाउं । दट्ठूण व कोहफलं, देइ भया कोहपिंडो सो ॥ ६७ ॥

व्याख्या—विद्या च प्रतीता, उपलक्षणत्वान्मन्त्रयोगादिपरिग्रहः । तपश्च मासक्षपणादि, ते तथा, तयोः 'प्रभाव' उच्चाटनादिसामर्थ्यं, तं । तथा 'नृपादिपूजां' राजाऽमात्यप्रभृतिसन्मानादिसपर्यां । तथा 'बलं' शरीरसामर्थ्यं, वा शब्दो विकल्पार्थः । 'से' तस्याधिकृतसाधोः सम्बन्धिनं । किमित्याह—'ज्ञात्वा'ऽवगम्य, तथा 'दृष्ट्वा'ऽवलोक्य, वाशब्दः पूर्वापेक्षया

* "०रा च, तद्यथा—भै०"

कस्यापि मरणादिकं कार्यं क्रोधफलं । किं करोतीत्याह–
विकल्पार्थः । किं तदित्याह–'क्रोधस्य' कोपस्य 'फलं' शापदानतः
'ददाति' प्रयच्छति गृहस्थः साधवे यं पिण्डमिति गम्यते । कस्मात्कारणादित्याह–'भयात्' किलायं साधुर्भिक्षाऽदाने कुपितो शारीर-
+विद्यामन्त्रयोगादिभ्य उच्चाटनकरणादिना, तपसस्तु शापदानादिना, राजाऽमात्यादिबलेन निस्सारणदण्डादिना,
बलेन परुषभाषण-यष्टिमुष्टिप्रहारदानादिना मा मेऽनर्थं करिष्यतीत्यादिलक्षणात्त्रासात्, अत्र च सर्वत्र कोप एव पिण्डोत्पादने
मुख्यं कारणं द्रष्टव्यं, कोपपिण्डाधिकारत्वात्, विद्यादीनि तु तत्सहकारिकारणान्येवेति न विद्यापिण्डादिभिः सहास्य लक्षण-
साङ्कर्यमिति । स किमित्याह–क्रोधादुत्पादितः पिण्डः क्रोधपिण्डः सो-ऽनन्तरोक्तः स्यादिति शेषः । इह च पिण्डशब्दस्य प्रधान-
त्वेऽपि क्रोधः प्रधानोऽवसेयः, उत्पादनादोषाणां प्रस्तुतत्वात्तस्यैव च दोषत्वात्, एवमन्यत्रापि यथासम्भवं वाच्यम् । अत्र चोदा-
हरणं सूत्रकारो लाघवार्थं "कोहे घेवरखवगो" इत्यग्रेतनगाथांशेन भणिष्यति, +वयं तु स्वस्थानत्वादत्रापि ब्रूमः, यथा—

×हत्थकप्पे नयरे एगो साहू मासक्खवणपारणगदिणे भिक्खं हिंडंतो धिज्जातीयगेहे मयगभत्तसंखडीए पविट्ठो, तत्थ य
धिज्जाइयाणं घयउरा※ दिज्जंति । साहू य तत्थ अणाढाइज्जमाणो चिरं अच्छित्ता सकोवो§ अन्नहिं दाहित्थ त्ति भणिऊणं निग्ग-
ओ । तत्थ दिव्वजोगेण वीयं मयं । तत्थ वि तहेव मासियमयगभत्तसंखडीए पविट्ठो, अलभमाणो य अन्नहिं दाहित्थ त्ति
भणंतो निग्गओ, पुणो वि दिव्वजोएण तइयं माणुसं मयं, तत्थ वि तहेव मयगसंखडीए तइयं वारं पविट्ठो, अलभमाणो य
अन्नहिं दाहित्थ त्ति भणंतो जाव निग्गओ घराओ ताव एगो थेरबारवालो तइयं पि वारं एरिसं साहुवयणं सोऊण सयलं

+ "मन्त्रविद्यायोगादिभ्यः" अ. । + यशोदेवसूरयः । × "हत्थिकप्पे" अ० । ※ "घेउरा" अ० । § "सकोहो" यः ।

वइयरं कहेइ घरवइणो, भणइ य–पसाएह एयं समणं, मा सव्वे वि मरिस्सइ त्ति। तओ तेण वाहरिऊण खामित्ता पडिलाभिओ घयपुन्नेहिं ति। एवं च यो लभ्यते स क्रोधपिण्ड इत्युच्यत इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ अथ मानपिण्डमाह—

दी०—विद्योपलक्षणान्मन्त्रयोगाद्यपि, तपो मासक्षपणादि, तयोः प्रभावं–उच्चाटनादिसामर्थ्यं, नृपामात्यादिपूजां, बलं वा शारीरिकं, 'से' तस्य ज्ञात्वा, दृष्ट्वा [वा] क्रोधफलं शपनादिकं, ददाति गृही भयादुक्तहेतूनां, स क्रोधपिण्डः स्यात्। विद्यादीन्यत्र क्रोधोत्पादकानीति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ अथ मानमाह—

लद्धिपसंसुत्तुइओ, परेण उच्छाहिओ अवमओ वा। गिहिणोऽभिमाणकारी, जं मग्गइ माणपिंडो सो ।६८

व्याख्या—'लब्धिश्च' लाभः 'प्रशंसा च' श्लाघा, ते तथा, ताभ्यां 'उत्तुइओ'त्ति गर्वितोऽहङ्कारवान्, यद्वा 'परेण' अन्येन साध्वादिना 'उत्साहितः' त्वमेवास्य कार्यस्य करणे समर्थो, नान्य, इत्यादिवचनेन प्रेरितः, यद्वा 'अवमतो'ऽपमानित–स्त्वया न किञ्चित्सिद्ध्यतीत्यादिवचनेन तिरस्कृतो, वा विकल्पे, परेणेत्यत्रापि योज्यते। 'गृहिणो' गृहस्थस्याभिमान–महमने न साधुना याचितस्ततोऽस्मै स्वकीयमदित्सुं कलत्रादिकं तिरस्कृत्यापि मया दातव्यमस्येत्येवंरूपमहङ्कारं 'करोति' विधत्ते, इत्येवंशीलोऽभिमानकारी सन्, साधुरिति गम्यते, यं सेवतिकाद्याहारजातं 'मृगयति' गवेषयति, स किमित्याह–मानादुत्पादितः पिण्डो मानपिण्डः सोऽनन्तरोक्तः स्यादिति शेषः। अत्राप्युदाहरणं "माणे सेवइयखुड्डगो नायं"ति वक्ष्यमाणगाथाऽवयवेन वक्ष्यति, तदपि स्वस्थानत्वादत्रैवोच्यते—

अत्थि कोसलाविसए गिरिफुल्लियं नाम नयरं, तत्थ य सेवइयाछणे तरुणसमणाणं समुल्लावे एगेण भणियं–अज्ज

द्वितीयोत्पादनादोषेषु सप्तमे क्रोधपिण्डदोषे घृतपूरक्षपकोदाहरणम्।

भिक्खावेलाए को किर न लब्भइ ? इड्डगाओ, जो पच्चूसे आणेइ सो नाम लद्धिमंतो । तओ भणियमेगेण चेल्लगेण–अहमाणेमि । तेहिं भणियं–किं नाम ताहिं घयगुलरहियाहिं अपज्जत्ताहि य । तओ जारिसियाओ इच्छह तारिसियाओ आणेमि त्ति भणंतो निग्गओ चेल्लओ, पत्तो इब्भगेहं, दिट्ठाओ तत्थ घयगुलसंजुत्ताओ पभूयाओ सेवइयाओ, ओहासिया तग्घरिणी बहुप्पयारं, पडिसिद्धो य बाढमणाए, तओ संजायाहंकारेण भणियमणेण–अवस्स मए एयाओ घेत्तव्वाओ, तीए भणियं–जइ एयाणं एगंपि गिण्हसि ता मे नासाए मुत्तिज्जसु त्ति । तओ घराओ निग्गंतूण पुच्छिओ तेण कस्सइ सगासे घरसामी, साहिओ य तेण सो परिसागओ । पत्तो य तत्थ खुड्डगो। तओ पुच्छिया परिसापुरिसा, जहा–कयरो ? तुम्हाणं देवदत्तो त्ति, तेहिं भणियं–किं तेण ?, खुड्डएण भणियं–किंचि जाइस्सं । तेहिं भणियं–अलं तेण किवणेण जाइएण, अम्हे मग्गसु त्ति । देवदत्तेण भणियं–जं मग्गसि तमहं देमि त्ति । तओ साहुणा जंपियं–जइ एएसिं छण्हं पुरिसाणं अन्नयरो न भवसि तओ मग्गामि । तेहिं भणियं–के ते छप्पुरिसा ?, चेल्लएण पयंपियं—

" सेडंगुलि बगुड्डावे, किंकरे तित्थण्हायँए । गिद्धावर[रिं]खिं हद–न्नएँ य पुरिसाहमा छउ ? "

तत्थ सेडंगुलि त्ति, जहा–एगेण नियजायानिद्देसवत्तिणा कुलउत्तेणं छुहालुणा पच्चूसे चेव भणिया नियमहिला, जहा–रंधेसु जइ मे रोयइ, जेणाहं भुंजामि त्ति । तीए सयणट्ठियाए चेव समुल्लविओ य–जइ छुहिओ तओ अवणेसु चुल्लिओ छारं, आणेहि इंधणं, पज्जालेसु जलणं, जलाउन्नं काऊणमारोवेसु चुल्लीमत्थए थालिं, कोट्ठगाओ आणेऊण पक्खिवसु तंदुले, तओ रंधिऊण साहिज्जसु, जेणाहमुट्ठिऊण परिवेसेमि । तेण वि पिया जं आणवेइ त्ति भणिऊण तहेव कयं, जाव तीए परिविट्ठं ।

एवं तस्स पइदिणं चुल्लीओ छारमवणितस्स सेडाओ अंगुलीओ पभाए लोया पिच्छंति त्ति सेडंगुली भण्णइ त्ति १ ।

तहा बगुड्डावे त्ति, जहा–एगो कुलपुत्तओ अच्चुक्कडपेमपरवसो पमणिओ नियपिययमाए, जहा–तलागाओ तुमं पइदिणमुदयमाणेसु त्ति । तओ सो दिवसे ओलज्जमाणो रयणीए चरमजामे दिणेदिणे कुडवं घेतूण सलिलमाहरंतो बगे उड्डावेइ त्ति विन्नायवुत्तंतेण जणेण बगुड्डावो त्ति भण्णइ २ ।

तहा किंकरे त्ति, जहा–किर एगो कुलपुत्तओ नियपजायाए अच्चंताणुरत्तो पच्चूसे चेव सयणाओ उट्ठिऊण आएसं मग्गइ, जहा–पिययमे ! आइससु किं करेमि ? त्ति, तीए भणियं–उदगमाणेसु । तं संपाडिऊण पुणो वि भणइ–किं करेमि ? सा भणइ–खंडेसु तंदुले । तस्समत्तीए पुणो वि भणइ–किं करेमि ?, सा भणइ–देहि मे भोयणं । तं दाऊण भणइ–किं करेमि ? सा भणइ–उज्झसु उच्छिट्ठमल्लए । तं काऊण भणइ–किं करेमि ? तीए भण्णइ–धोएसु चलणए त्ति । एवं च जणेणं सो किंकरो त्ति वुच्चइ त्ति ३ ।

तहा तित्थण्हायए त्ति, जहा–एगो तरुणनरो नियजायं भणइ–जहाऽहं पिए ! ण्हाउमिच्छामि, तीए भणिओ-+ जइ एवं ता घेत्तूण तेल्लामलए परिहिऊण पोत्तिं गहेऊण कुडयं वच्चसु सरोवरं । तत्थ जहिच्छं मज्जिऊण देवऽच्चणं च काऊण जलापुण्णकुडयं घेत्तूण लहुमागच्छसु त्ति । तेण पिययमा जं आणवेइ त्ति भणिऊण तहेव कयं, तओ तित्थण्हायओ त्ति लोगे पसिद्धिमागओ ४ ।

+ " भणिय " अ. ।

तहा गिद्धावरंखि त्ति जहा–एगो जुवाणपुरिसो नियमहिलावयणाणुवत्तणपरो एगया भोयणट्ठमुवविट्ठो भणइ–पिए! लुक्खमिणं×, देसु घयं ति, तीए वि रंधंतीए तहट्ठियाए चेव भणियं–इओ सणियं थेवं सरसु त्ति, तओ सो गिद्धपक्खी विव सरिओ थेवं, तओ साहिक्खेवं भणियमणाए–पुणो वि सरसु त्ति, एवं पुणो पुणो तीए भण्णमाणो ताव सरिओ जाव महिलासमीवं ति। तओ तव्वुत्तंतं नाऊण कुसलेण जणेण गिद्धावरंखि त्ति पवुच्चइ त्ति ५।

तहा हदन्नओ त्ति, जहा–एगो कुलपुत्तओ नियजायाणुरत्तचित्तो नियडिंभरूवाणि उच्छंगाइगयाणि सययं कीलावेइ, तम्मुत्तपुरीसोवलित्ताणि चीवराणि य पक्खालेइ, तओ हदन्नओ त्ति पसिद्धिं गओ ६।

एवं च खुड्डगेण सिट्ठे परिसापुरिसेहिं भणियं सोवहासं–भयवं! सव्वेवि+ दोसा एत्थ निवसंति, ता मा एयं मग्गसु। गिहवइणा भणियं–मा एयाणं वयणाणि निसुणसु, ×नोहमेरिसो, जायसु जं ते रुच्चइ त्ति। चेल्लएण भणियं–जइ एवं ता देसु घयगुलसणाहाओ सेवईयाओ। तओ देमि त्ति भणंतो गओ चेल्लयसहिओ घरसमीवं। एत्थंतरम्मि साहिओ तस्स जायाभंड*-णवुत्तंतो खुड्डएण, जइ एवं ता चिट्ठसु ताव इहं ति भणंतो पविट्ठो गेहम्मि गिहवई, भणिया य जाया, जहा–सिद्धं? भोयणं ति, तीए वि तह त्ति पडिवन्ने भणिया–उत्तारेसु मालाओ घयगुलं, जेण दियाइणो भुंजावेमि। तओ निस्सेणीए आरूढा मालं, अवणीया तेण निस्सेणी। तओ वाहरिऊण घयगुलपज्जत्ताहिं पडिलाभिओ चिल्लओ इट्ठगाहिं। तओ तं पेच्छिऊण कओ अणाए

× "°मिणं भोयणं, देसु" य.। + "°वि एए दोसा" अ.। × "नाहमेरिसो" प. क. अ.। * "भिडण" ह. अ.।

कलयलो। खुड्डएणावि सनासानिसियंगुलिणा दावियं से नासियाए काइयावोसिरणं ति। तओ पत्तयं भरिऊण गओ खुड्डओ, ते सव्वे साहुणो भुंजाविय त्ति। एवं यो लभ्यते स मानपिण्डः, दोषाश्चात्र–वनितादेः प्रद्वेषात्मवधादयः प्रवचनोपघातादयश्च मन्तव्या इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ अथ गाथापूर्वार्द्धेन मायापिण्डमाह—

दी० 'लब्धिप्रशंसाभ्यां' लाभश्लाघाभ्यां 'उत्तुइओ' गर्वितः, यद्वा परेण साध्वादिना उत्साहितस्त्वमेवास्य क्षम इत्यादि वचनैस्तथा 'अवमतो' अपमानितस्त्वया न किञ्चित्सिद्ध्यतीत्यादिना साधुगृहिणोऽभिमानकारी सन् यं पिण्डं 'मृगयते' गवेषयति स मानपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ अथ मायालोभाख्ये आह—

मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।

व्याख्या—'मायया' शाठ्येन–परप्रतारणबुद्ध्येति यावत्। 'विविधरूपं' काणकुब्जाद्यनेकस्वभावं। किं तदित्याह– 'रूपं' निजाकारं 'आहारकारणे' मोदकादिपिण्डनिमित्तं 'करोति' विधत्ते यः साधुस्तस्यैवं लब्धो मायापिण्डो भवति, आषाढभूतियतेरिव, यद्वक्ष्यति–'मायाए असाढभूइ'त्ति। तत्कथानकं च स्वस्थानत्वादत्रापि ब्रूमः, तथाहि—

दीवजलहीण मज्झे, सव्वाणं सारदव्वमणिज्जो। जंबुद्दीवो दीवो, कुलसेलविभूसिओ अत्थि ॥ १ ॥ तत्थ भरहम्मि वासे, दाहिणखंडम्मि अत्थि जयपयडो। देसाण मगहदेसो, जह चक्की सव्वमणुयाणं ॥ २ ॥ तत्थ य अइरमणिज्जं, पमुइयजणसंकुलं पुरं अत्थि। रायगिहं नामेणं, नहं व कविसूरमुणिकलियं ॥ ३ ॥ तत्थासि सत्तुमायंग–कुंभनिद्दलणकेसरिकिसोरो। पणयजणपूरियासो, सीहरहो नामनरनाहो ॥४॥ अह अन्नयाकयाई, विहरंता समणसंपयसमेया। धम्मरुईआयरिया, समागया तत्थ

गुणसिलए ॥ ५ ॥ उज्जाणे तेसि पुणो, बहुविन्नाणो आसाढभूइत्ति । नामेण आसि सीसो, स अन्नया भिक्खकज्जेणं ॥ ६ ॥
नीहरिओ वसहीओ, पत्तो निवनडगिहं तओ तत्थ । लद्धो रसगंधड्ढो, अइपवरो मोयगो एगो ॥ ७ ॥ तत्तो विणिग्गएणं,
विचिंतियं तेण एस ता गुरुणो । होही मग्गामि पुणो, तत्थऽन्नं अप्पणो हेउं ॥८॥ अच्छि काणं काउं, पुणो गओ तत्थ सो
पुणो लद्धो । एसोवज्झायाणं, भविस्सइ इय मणे काउं ॥ ९ ॥ पुणरवि खुज्जयरूवं, करित्तु तत्थेव अइगओ खुड्डो । लद्धे तहेव
चिंतइ, एसो संघाडियजइस्स ॥ १० ॥ होहि त्ति कुट्ठिरूवं, काउं पत्तेण तो पुणो लद्धो । एत्तो चिल्लयचरियं, पासाओवरित-
लगएणं ॥ ११ ॥ दट्ठूण चिंतियमिमं, नडेण अवो !! सुसुंदरो एस । होइ नडो ता एसो, केण पगारेण घेत्तवो ? ॥ १२ ॥
एवं चिंततेणं, लद्धोवाएण तेण तं झत्ति । वाहरिय सबहुमाणं, भाणं भरियं मोयगाणं ॥ १३ ॥ भणिओ य तेण एसो, भद्द !
तए भिक्खकज्जसज्जेणं । पइदियहं महगे(हं)हे, आगंतवं असंदिद्धं ॥ १४ ॥ एवं निसामिऊणं, विणिग्गओ खुड्डगो गओ
वसहिं । तयणंतरं च सयलं, तव्वुत्तंतं निवेइत्ता ॥ १५ ॥ भणिया नडेण भज्जा, मोयगदाणाइणा तए भद्दे ! । उवयरियव्वो
एसो, नियधूयाओ य तह भणसु ॥ १६ ॥ अणुकूलुवयारेहिं, ताओ जह तं वसम्मि आणंति । तत्तो नडीए भणिया-हिं
ताहिं पइदिवसमितस्स ॥ १७ ॥ सगिहम्मि तस्स सिंगार-हाससवियारवयणपमुहेहिं । अणुकूलुवसग्गेहिं, आमयकुंभोव
सलिलेणं ॥ १८ ॥ भिन्नं चित्तं बाढं, वीसरिओ सुगुरुवयणवरमंतो । नट्ठो कुलाभिमाणो, लज्जा वि हु दूरमोसरिया ॥ १९ ॥
उइयं चरणावरण, कम्मं अइदारुणं तओ लग्गो । परिहासखिड्डमाई, काउं भणिओ य तो ताहिं ॥ २० ॥ जइ अत्थि तुज्झ
कज्जं, अम्हेहिं चएसु तो णु पवज्जं । वीवाहेसु य अम्हे, जेणं पुण्णा रई होइ ॥ २१ ॥ तत्तो तहत्ति पडिव-ज्जिऊण स गओ

गुरूण पासम्मि । कहिओ नियपरिणामो, तत्तो गुरुणा इमं भणिओ ॥ २२ ॥ उत्तमकुलुब्भवाणं, विवेयरयणायराण होऊणं । को इह-परलोयविरुद्धं, किं जुत्तं ? एरिसं काउं ॥ २३ ॥ अविय-दीहरसीलं परिवा-लिऊण विसएसु वच्छ ! मा रमसु । को गोपयम्मि बुड्डइ ?, जलहिं तरिऊण बाहाहिं ॥ २४ ॥ " वरि विसु भुत्तु म विसयसुहु, एक्कसि विसिण मरंति नर ! । विसयामिसमोहिया, बहुसो नरइ पडंति ॥ २५ ॥ " तो खुड्डगेण भणियं, एवं एयं न एत्थ संदेहो । भयवं ! किंतु न तरिमो, पव्वज्जं संपयं काउं ॥ २६ ॥ यतः-अक्खित्तं मे चित्तं, ताहिं उत्तट्ठहरिणनयणाहिं+ । इय वोत्तुं मोत्तूणं, लिंगं गुरुपाय-मूलम्मि ॥ २७ ॥ नीहरिओ वसहीओ, पत्तो गेहं नडस्स ताओ वि । दोन्नि वि परिणीयाओ, पिउणा एवं च भणियाओ ॥ २८ ॥ धम्माणुरत्तचित्तो, उत्तमपगई य एस सप्पुरिसो । ता तह सुइभूयाहिं, अप्पमत्ताहिं च निच्चंपि ॥ २९ ॥ उवयरियव्वो जह नो, वेरग्गं तुम्ह गच्छइ कहिंचि । इय भणियाओ ताओ, तं आराहिंति तहचेव ॥ ३० ॥ [युग्मम्] एवं वच्चइ कालो, विसयसुहं तस्स अणुहवंतस्स । अह अन्नया कयाई, निम्महिलं नाडयं रन्नो ॥ ३१ ॥ दिवसे दंसेयव्वं, तओ गया राउलं नडा सव्वे । आसाढभूइपमुहा, तत्तो य इमम्मि पत्थावे ॥ ३२ ॥ पइरिक्कं नाऊणं, आसाढभूइनडस्स भज्जाओ । निब्भरमयपाणेणं, पणट्ठचेयन्नभावाओ ॥ ३३ ॥ विगलियनियंसणाओ, वमियमयगंधगरहणिज्जाओ । गंधायड्ढिय×भिणिहणि-भिणितमच्छियदुपेच्छाओ ॥ ३४ ॥ चिट्ठंति जाव ता झत्ति, राइणो दूइकज्जवक्खेवे । नाडयऽवसराभावे, समागया नियय-ठाणेसु ॥ ३५ ॥ सव्वे वि नडा तत्तो, आसाढभूई वि वासभवणम्मि । निययम्मि संपविट्ठो, तत्तो ताओ पलोएत्ता ॥ ३६ ॥

+ उत्रस्तहरिणनयनाभिः । × " °भिणिभिणिभिणित° " प. °भिणिभिणित° ह. ।

द्वितीयो-
त्पादना
दोषेषु
मायापिण्डे
आषाढ-
भूत्युदा-
हरणम् ।

अच्चंतकुच्छियाओ, विरत्तचित्तो विचिंतिउं लग्गो । अव्वो !! मे मूढत्तं, अव्वो !! दुव्विलसियं मज्झ ॥ ३७ ॥ जं एयाणं कज्जे,
असुईभूयाण कुगइहेऊणं । तारिसयं सुइभूयं, निव्वाणसुहाण जणगं च ॥३८॥ चत्तं चरित्तरयणं, सुयधम्मो नासिओ अमयभूओ ।
मुक्को गुरुकुलवासो, आवासो सयलसोक्खाणं ॥३९॥ भग्गा जिणाणमाणा, वंतसरिच्छा निसेविया विसया । जाओ भट्ठपइन्नो,
धिद्धी !! मणुयत्तणं मज्झ ॥ ४० ॥ अविय-वेदुज्ज[वैडूर्य]वज्जपउरे, पत्ते रयणायरे जहा घेत्तुं । काय[काच]मणी नो जुत्ता,
अइतुच्छा पंडियजणस्स ॥ ४१ ॥ सग्गापवग्गसुहसंग-साहगे नरभवे तहा लद्धे । कामसुहं नो जुत्तं, असुंदरं सेवि[उं]यं (?)
दूरं ॥ ४२ ॥ ता रोगसोगजरमरण-नासणं चरणधम्ममणवज्जं । संपइ अकालहीणं, करेमि इय चिंतिउं झत्ति ॥ ४३ ॥ तत्तो
तासगिहाओ, निग्गच्छंतो नडेण सो दिट्ठो । नाओ य इंगिएहिं, जहा विरत्तो इमो नूणं ॥ ४४ ॥ गंतूण य तेण तहिं, बाढं
अंबाडिऊण धूयाओ । भणियाओ हा !! पावा !, किं ? एयं विलसियं तुम्ह ॥ ४५ ॥ पिच्छह गच्छइ एसो, विरत्तचित्तो महा-
नीही जइ ता । सक्कह आणेउं जे×, आणह +नो ताव मग्गेह ॥४६॥ आजीवणं तओ ता, ससंभमाओ गहाय नेवत्थं । पाएसु
तस्स लग्गा, एवं वुत्तुं पवत्ताओ ॥ ४७ ॥ सामिय ! अम्हऽवराहं, एगं खमिऊण एहि गेहम्मि । अणुरत्ता भत्ताओ, अम्हे
मा उज्झऽणाहाओ ॥ ४८ ॥ तेणुत्तं मा किंचिवि, जंपह तुब्भं विरत्तचित्तोऽहं । जइ एवं ता दाउं, पजीवणं वच्च ता बेंति
॥ ४९ ॥ पडिवज्जिऊण *एयं, तओ नियत्तेण सत्तरत्तेणं । निम्मवियं भरहेसर-चक्केसरचरियसंबद्धं ॥ ५० ॥ नामेण रट्ठवालं,
सव्वालंकारसारसोहिल्लं । दिव्वं नाडयमेगं, तत्तो य नडेहिं सव्वेहिं ॥ ५१ ॥ विन्नत्तो सीहरहो, जह देव ! असाढभूइणाऽपुव्वं ।

× पादपूरणार्थमव्ययम् । + "नो वा पमग्गेह" प. ह. क । * "एवं" प. ह. क ।

रइयं नाडयरयणं, तं पुण दढसत्तपुरिसाणं ॥ ५२ ॥ आभरण§भूसियाणं, पत्ताण सएहि पंचहि समग्गं । नच्चेयव्वं तत्तो, ताणि पसाई करेहि त्ति ॥ ५३ ॥ दिन्नाणि तओ रन्ना, नरिंदपुत्ताण पंच वि सयाणि । नट्टविहीकुसलाइं, सव्वाणि कयाणि तेणावि ॥ ५४ ॥ तत्तो नरिंदपुरओ, परिकलिओ तेहिं पंचहिं सएहिं । लग्गो नच्चेउं जे, आसाढभूई नडो बाढं ॥ ५५ ॥ इक्खागकुलनहंगण–विमलमियंकेण भरहराएण । अमरवइविलसिएणं, सट्ठीए वाससहस्सेहिं ॥ ५६ ॥ छखंडभरहविजओ, जहा कओ जह य नव महानिहिणो । चोद्दस वररयणाणि य, जेण विहाणेण लद्धाणि ॥ ५७ ॥ जह बारस वारिसिओ, कओ *महारज्जरायअहिसेओ । जह पंचविहा भोगा, भुत्ता दिव्वा अणुव्विग्गा ॥ ५८ ॥ एवं नच्चंतेणं, तह राया तोसिओ सपरिवारो । जह सव्वमलंकारं, दाउं तह साहुकारं च ॥ ५९ ॥ एगवसणं वसाणो×, आढत्तो पिच्छिउं दढक्खित्तो । तत्तो भरहोव्व इमो, पत्तो आयंसगेहम्मि ॥ ६० ॥ तत्थ य सरीरसोहं, पलोयमाणस्स निवडियं कहवि । एगंगुलीयरयणं, असिरीयं अंगुलिं तत्तो ॥६१॥ दट्ठूण कयवियक्को, सेसाभरणंपि मेल्लइ कमेणं । तत्तो य नियसरीरं, +उव्वियकमलं व कमलसरं ॥ ६२ ॥ अइविच्छायं पेच्छिय, परमं संवेगमागओ ताहे । जायं केवलनाणं, पणमुट्ठीओ कओ लोओ ॥ ६३ ॥ गहियं च दव्वलिंगं, रन्नो दाऊण धम्मलाभं च । आढत्तो निग्गंतुं, नडभरहो रंगमज्झाओ ॥ ६४ ॥ तत्तो सीहरवेणं, हा !! किं ? एयं ति जंपमाणेणं । भरहनरिंदो नियत्तिओ जेणं । अम्हे वि त्ति अच्चंतविम्हियाहिं, देवीहि य धरिउमाढत्तो ॥ ६५ ॥ नरनाह ! किं नियत्तो ?, भरहनरिंदो नियत्तिमो जेणं । अम्हे वि त्ति

§ "०णविभूसि०" ष. । * "महारायरज्जअ०" इति भवितुमुचितमाभात्यस्माकम् । × एकं 'वसनं' वस्त्रं परिदधानः ।
+ "उव्वियं" प. ह । "उज्झिय" क । उज्झितकमलसरोवरवत् ।

भणंतो, परिकलिओ निवइपुत्तेहिं ॥ ६६ ॥ पंचसयग्गमिएहिं, सव्वेहि वि गहियसाहुलिंगेहिं । सो निग्गओ महप्पा, गओ य
गुरुपायमूलम्मि ॥६७॥ कुसुमपुरम्मि वि नयरे, नच्चिज्जंतं पुणो वि तं लोगो । दट्ठूणं पव्वइओ, तं दट्ठुं नागरेहिं तओ ॥ ६८ ॥
एसो मायापिंडो, गिलाण-पाहुणग-वुड्ढमाईणं । कारणजायं मोत्तुं, न हु घेत्तव्वो सया कालं ॥ ६९ ॥ ति ।

अथ लोभपिण्डं गाथापश्चार्द्धेनाह—

गिण्हिस्सामिमं निद्धाइ, तो बहुं अडइ लोभेणं ॥ ६९ ॥

व्याख्या—'गिण्हिस्सं'ति 'ग्रहीष्ये' स्वीकरिष्यामि 'इमं' ति इदं हृदयकल्पनाप्रत्यक्षं 'स्निग्धादि' स्नेहवन्मोदक-प्रभृति, तत स्तेन कारणेन 'बहु' प्रभूतं 'अटति' भिक्षाकुलेषु भ्रमति । केन ? इत्याह—'लोभेन' लम्पटतया यः साधुस्तस्य लोभपिण्डो भवति । सिंहकेसरकयतेरिव, "लोभे केसरयसाहु"त्ति । तदुदाहरणमपि स्वस्थानत्वादत्रैव ब्रूमो, यथा—

चंपाए नयरीए, ऊसवदिवसम्मि खवगपारणगे । एगो खवगो गिण्हइ, अभिग्गहं जह मए अज्ज ॥ १ ॥ घेत्तव्वा सुसु-यंघा, केसरगा मोयग त्ति तो भिक्खं । हिंडंतो नयरीए, नेच्छइ सेसं तु दिज्जंतं ॥ २ ॥ अलभंतस्स य तत्तो, संजाओ संकिलिट्ठपरिणामो । तग्गयचित्तत्तणओ, पणट्ठचित्तस्स अह तस्स ॥ ३ ॥ किर धम्मलाभभणणे, विभासओ केसर त्ति पुणरुत्तं । पत्ताए रयणीए, जामदुगे केसर त्ति पयं ॥ ४ ॥ भणमाणो संपत्तो, सावयगेहम्मि सावएणावि । अवगयतब्भावेणं, भरिऊणं भायणं झत्ति ॥ ५ ॥ केसरयमोयगाणं, भणियमुवाएण बोहणनिमित्तं । भयवं ! मे पुरिमड्ढो, पच्चक्खाओ तओ कहसु ॥६॥ पुण्णो न व त्ति मुणिणा, कओवओगेण जोइयं गयणं । तारागणपरियरिओ, दिट्ठो तो गयणमज्झम्मि ॥ ७ ॥ मयलंछणो

द्वितीयो-त्पादना-दोषेषु क्रोधादि-चतुष्क-दृष्टान्ताभि-धानानि।

समग्गो, पच्चागयमाणसो तओ सम्मं । पडिचोइओ भणित्ता, विणिग्गओ नयरिमज्झाओ ॥ ८ ॥ सुत्तभणिएण विहिणा, परिट्ठवंतस्स+ सुद्धज्झाणस्स । तत्तो केवलनाणं, उप्पन्नं तस्स खवगस्स ॥ ९ ॥ इत्ययं लोभपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

अथ पूर्वोक्तस्वरूपान् क्रोधादिपिण्डचतुष्कदृष्टान्तानाह—

दी०—'मायया' वञ्चनेन 'विविधरूपं' नानाप्रकारं 'रूपं' अङ्गादिसंस्थानं 'आहारकारणे' भक्तादिलाभाय करोतीति मायापिण्डः। अथ गृहीष्येऽहमिदं स्निग्धादि उत्कृष्टं सिंहकेसरप्रभृति, ततः कारणाद्बहु-प्रचुरं 'अटति' तल्लाभाय भ्रमति 'लोभेन' रसगृद्ध्येति लोभपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ अथ क्रोधादिचतुष्टये दृष्टान्तानाह—

कोहे घेवरखवगो, माणे सेवईयखुड्डगो नायं । मायाएऽसाढभूई, लोभे केसरयसाहु त्ति ॥ ७० ॥

व्याख्या—'क्रोधे' क्रोधविषयपिण्डे 'घृतपूरक्षपको' घृतपूरसंविधानोपलक्षितः श्रमणविशेषः, ज्ञातमिति सर्वत्र योगः। तथा 'माने' मानपिण्डे 'सेवतिकाक्षुल्लकः' सेवतिकालाभसंविधानकवान् चेल्लकः। किं ? इत्याह—'ज्ञातं' दृष्टान्तो, ज्ञेयमिति सर्वत्र शेषः। तथा 'मायायां' मायापिण्डे 'आषाढभूतिः' आषाढभूत्यभिधानो मुनिः। तथा 'लोभे' लोभपिण्डे 'केसरकसाधुः'× सिंहकेसरकाभिधानमोदकव्यतिकरवान् श्रमणः। इति शब्दः प्रस्तुतज्ञातसमाप्तिं द्योतयति, ज्ञातानि तु पूर्वं स्वस्थान एव कथितानीति न पुनः कथ्यन्त इति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अथ संस्तवकरणदोषमाह—

+"०ट्ठवितस्स" य० क० ह०, "०ट्ठवेंतस्स" अ०। × °धु' सिंहकेसरकसाधुः सिंहकेसरका° भ० य० अ०।

टी०—अत्र ज्ञातमिति प्रत्येकं योज्यं, तत्र क्रोधे घृतपूरोपलक्षितः 'क्षपकः' तपस्वी 'ज्ञातं' दृष्टान्तः, स चायं–हस्तिकल्पे नगरे साधुरेको मासक्षपणान्ते मृतकभक्तोत्सवे धिग्जातीयगृहं गतो विप्रेभ्यो दीयमानेषु घृतपूरेषु चिरेणाप्यलब्धभिक्षः कोपादन्यस्मिन् दास्यन्तीत्युक्त्वा निर्गतः, दैववशात्तत्र द्वितीयो मानुषो मृतः, साधुरपि तथैव तन्मासिके गतः, तथैव दृष्ट्वा तदेवोक्त्वा वलितो यावत्तृतीयो मृतः, साधुरपि तथैवान्यस्मिन् दास्यन्तीति जल्पंस्तृतीयवारं द्वारपालेन दृष्टः, तेन च गृहाधिपस्यावेदितं, सोऽपि मरणभयात्साधुं क्षमयित्वा यथेच्छं घृतपूरैः प्रतिलाभितवानित्येवं क्रोधपिण्डः १।

मानेसेवतिकाभिरुपलक्षितः क्षुल्लको दृष्टान्तो यथा–कोशलादेशे गिरिपुष्पिते नगरे सेवतिकोत्सवे तरुणश्रमणानां संलापे एकेनोक्तं–अद्य बहुशोऽपि सेवतिका लभ्यन्ते, परं यः कल्येऽप्यानयति स लब्धिमान्, अन्येनोक्तं–किं घृतगुडरहिताभिस्ताभिः स्तोकाभिश्च ?। तत एकः क्षुल्लकोऽहमीदृशाः श्व आनेष्यामीति कृतप्रतिज्ञो द्वितीयदिने तदर्थं इभ्यगृहे तादृशास्ताः निरीक्ष्य तद्गृहिणीं विविधोक्तिप्रार्थितामप्यददतीं साहङ्कारमाह–यथातथाप्यहमिमां गृहीष्ये। तयोक्तं-यद्येवं भवति तदा मम नासा घर्षणीया। क्षुल्लकोऽपि तस्याः पतिं पर्षदासीनं कुतोऽपि ज्ञात्वा 'को भवतां मध्ये देवदत्ताख्य ?' इति पृच्छंस्तैरुक्तः–किं तेन ?, स आह–किञ्चित्तं याचिष्ये, तेऽप्यूचुः–अहो!! शून्यगृहेषु सुकुमारिका विलोकयसि, तदुपहासामर्षाद्देवदत्तः स्वयमाह–वद सोऽहमस्मि। क्षुल्लकेनोक्तं–यदि तेषां षण्णां न सप्तमस्तदा वच्मि। ते सर्वेऽपि सविस्मयमूचुः–के ते षट् ?, स आह—

"श्वेताङ्गुलिर्बकोड्डायी, तीर्थस्नातश्च किङ्करः। हदनो गृध्ररिङ्खी च, षडेते गृहिणीवशाः ॥ १ ॥"

तत्राद्यः–एकः कुलपुत्रकः प्रियानिर्देशकारी प्रगेऽपि क्षुधालुर्याचितभोजनः शयनस्थया पत्न्या भणितो–यदि भोक्ष्यसि

येन शीघ्रं भोजयामीति, नित्यं तथा कुर्वंश्चुल्लीभस्मापनयाज्ञातश्वेताङ्गुलिर्लोकेन
तदा चुल्लीभस्मापनीय ज्वलनेन्धनाद्यानय, पत्न्या भणितस्तडागात्प्रत्यहं त्वयैव जलमानेतव्यं ।
सेडा(श्वेता)ङ्गुलिरित्युच्यते १ । बकोड्डायी यथा—कश्चित्प्रियाभक्तः बकोड्डायीत्युच्यते २ । अथ तीर्थ-
ततः स तत्कुर्वाणो दिने लज्जमानः सान्धकारे तडागं याति, बकाश्चोड्डीयन्त इति लोकेन सरस्तीरे स्नात्वा शीघ्र-
स्नातो यथा—कश्चित्कान्तायत्तदेहो याचितस्नानः पत्न्योचे—गच्छ स्नानसामग्रीं गृहीत्वा तत्रैव प्रातरुत्थाय
मागच्छेरिति । स तत्र स्नानकरणाल्लोकेन तीर्थस्नात इत्युच्यते ३ । अथ किङ्करो यथा—एकः प्रियानुरागी किङ्कर
प्रिये ! किं करोमीत्याह, तया च खण्डन-पेषण-जलानयनादिदत्तादेशानां करणान्तेषु किं करोमीति भणाल्लोकेन क्रमेण
इत्युच्यते ४ । हदनो यथा—एकः कुलपुत्रको भार्यादेशादपत्यानां क्रीडापन-मूत्रोत्सर्गादिविधापन-तत्पोतकक्षालनादिकम-
करणेन दुर्गन्धवस्त्रादिर्लोकेन हदन इत्युच्यते ५ । गृध्रावरिंखी यथा—कश्चिद्भोजनोपविष्टो व्यञ्जनतक्रादि याचते, निजमहि-
लया गृहकर्मव्यापृतया साधिक्षेपं गृहाणेत्युक्ते दूराद् गृध्र इव रिङ्खन् २ तदासन्नं यातीति लोके गृध्रावरिङ्खीत्युच्यते ६ । तद-
हो !! एते षड् गृहिणीवशा इति क्षुल्लकवचनान्ते परिषत्पुरुषैरुक्तं—तैः षड्भिरप्येक एवासौ । देवदत्तोऽप्याह—किममीषां वचनै-
र्याचय मनोऽभीष्टं । क्षुल्लक ऊचे—यद्येवं तर्हि घृतगुडान्विताः प्रभूताः सेवतिका देहि मे निजाद् गृहात् । अथोत्थाय स कथित-
पत्नीवृत्तान्तं क्षुल्लकं द्वारेऽवस्थाप्य गृहिणीं चाकार्य व्यपदेशेन मालमारोप्य उत्सारितनिःश्रेणिकः क्षुल्लकं स्वनासाङ्गुलिघर्ष-
दर्शनेन तस्या ज्ञापितनासाघर्षमाकार्य सेवतिका ददावित्येवं मानपिण्डः २ ।

अथ मायायामाषाढभूतिर्यथा—राजगृहे सिंहरथो राजा, अन्यदा तत्रागतधर्मरुच्याचार्यशिष्यो विविधविज्ञानी

आपाढभूतिर्विहरन्नटगृहं गतः। तत्रैकमोदकलाभादेष सूरीणामिति विचिन्त्य पुनः काणीभूय द्वितीयं जग्राह, असावुपाध्यायस्येति कुब्जरूपेण तृतीयमादाय सङ्घाटिकसाधोरसाविति कुष्ठिकरूपेण चतुर्थमग्रहीत्। तच्च गवाक्षस्थेन नटेन दृष्ट्वा चिन्तितं—अहो !! मन्योऽसौ नटो भवतीति सङ्ग्रहार्थं तमाकार्य यथेष्टं मोदकांश्च दत्वा नित्यमत्रागन्तव्यमिति भणितवान्। अथ रूपपरावर्त्तादिलब्धिवानसौ तथोपचरणीयो यथा त्वत्पुत्रीरक्तोऽस्मद्गृहमायातीति नटेन शिक्षितया पत्न्या स नित्यं गृहमागच्छन् तथा स्वपुत्रीभिर्लोभितो यथा आमघट इवाम्भोभिर्भिन्नो गुरूनवगणय्य मुक्तव्रतस्ताः परिणीतवान्। तथाऽस्य पश्यतो मद्यादिकं ता नासेविषु। अन्यदा विविधनटावृतो नृपगृहं गत्वा तत्र द्यूतव्याक्षेपाद्वालितो निर्व्यञ्जनत्वात्पीतमद्यविसंस्थुलाः स्वपत्नीर्विलोक्य विषयविरक्तो निर्गच्छन्नसौ नटीभिस्ताभिर्याचिताजीवनोपायः सप्ताहेन श्रीभरतचक्रिनाटकं नव्यमकरोत्। (+ततश्च राज्ञे निवेद्य लब्धाभरणपात्रादिसमुदायः स्वयं श्रीभरतीभूय चक्रोत्पत्ति-दिग्विजय-राज्याभिषेकादिचरितं नाटितवान्) यावदादर्शगृहं गतस्तत्र चाङ्गुलीयकरत्नपातात्तथैव भरतभावनया लब्धकेवलालोको गृहीतद्रव्यलिङ्गो राजादीन् सम्बोध्य पात्रीकृतराजसुतपञ्चशतयाः प्रदत्तव्रतो भव्यलोकमबोधयत्। एवं मोदकादिग्रहणान्मायापिण्डः ३।

अथ लोभे केसरकसाधुर्यथा—चम्पायां साधुरेको मासक्षपणपारणे उत्सवदिने सिंहकेसरमोदकाभिग्रही विहरंस्तदलाभात्सञ्जातक्लिष्टाध्यवसायः केसरानेव ध्यायन् रजनीयामद्वयं बभ्राम। यावदेकेन श्राद्धेन विज्ञाततद्भावेन प्रदत्तमोदकपूर्णस्थालेन भगवन् ! पुरिमार्द्धो ममास्तीति पूर्णो न वेति पृष्टः। स च दत्तोपयोगो यावदूर्द्ध्वमीक्षते तावच्चन्द्रदर्शनादर्द्धरात्रं

+ अयमर्द्धचन्द्राकार चिह्नान्तर्गतः पाठः केवलं अ. पुस्तक एवावलोक्यते ।

मोदकान् विधिना परिष्ठापयन् शुद्धाध्यवसाय-
विज्ञाय लज्जितः सम्यक् प्रतिबोधितोऽस्मीति श्रावकं जल्पन्नगरान्निष्क्रम्य
वशात्केवलालोकमापेति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अथ संस्तवदोषमाह—

थुणणे संबंधे सं-थवो दुहा सो य पुव पच्छा वा । दायारं दाणाओ, पुवं पच्छा व जं थुणई ॥७१॥

व्याख्या-'स्तवने' गुणस्तुतिरूपे 'सम्बन्धे' स्वाजन्यलक्षणे संस्तवनं 'द्विधा' द्विभेदः, स्यादिति शेषः-गुणसंस्तवः
सम्बन्धिसंस्तवश्चेत्यर्थः । 'स च' स पुनरेकैकस्संस्तवो द्विधा स्यात् । कथं ? इत्याह-"पुव्व पच्छा व'त्ति विभक्तिलोपात्
'पूर्वं' पूर्वकाले संस्तव इत्यर्थः, तथा पश्चात्संस्तव इत्यर्थः । वा शब्दो विकल्पार्थः । तत्राद्यभेदद्वयं व्याचिख्यासुराह-
'दायार'मित्यादि 'दातारं' दायकं 'दानाद्' वितरणात् 'पूर्वं' पूर्वकाले तथा पश्चा-दुत्तरकाले, वा विकल्पार्थो, यत् 'स्तौति'
श्लाघते स पूर्वसंस्तवः पश्चात्संस्तवश्च । तत्राऽदत्ते दाने दातारं यत्संस्तौति साधुर्यथा-"सो एसो जस्स गुणा, वियरंति
अवारिया दसदिसासु । पुव्वं कहासु सुणिमो, पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥ १ ॥" इत्यादि, स पूर्वगुणसंस्तवः । आसि पुरा मे
दत्ते पुनर्दाने यत्संस्तौति, यथा-"विमलीकयऽम्ह चक्खू, जहट्ठिया वियरिया गुणा तुज्झ । आसि पुरा मे
संका, संपइ निस्संकियं जायं ॥ १ ॥" इत्यादि, स पश्चाद्गुणसंस्तवः । अनयोश्च दोषाः-मायामृषावादासंयतानुमोद-
नादयो द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ अथ सम्बधिसंस्तवभेदौ व्याचिख्यासुराह—

दी०—'संस्तवे' गुणस्तुतिरूपे 'सम्बन्धे' स्वाजन्यादौ संस्तवो द्विधा, स च पुनरेकैकः पूर्वं पश्चाद्वेति द्विधा स्यात् ।
तत्राद्यद्वयमाह-'दातारं' दायकं दानात्पूर्वं-प्रथमं तथा 'पश्चाद्वा' दानानन्तरं यत्स्तौति, तौ यथाक्रमं पूर्व-पश्चात्संस्तवाविति

द्वितीयोत्पादनादोषेषु संस्तवदोषनिरूपणं सोदाहरणम् ।

संस्तवनं संस्तव इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ सम्बन्धसंस्तवभेदावाह—

जणणिजणगाइ पुव्वं, पच्छा सासुससुराइ जं च जई । आयपरवयं नाउं, संबंधं कुणइ तदणुगुणं ॥७२॥

संबन्धसम्बन्धिनोऽभेदोप-

व्याख्या—'जननीजनकौ' मातापितरौ 'आदी' प्रथमौ यस्य भ्रातृभगिन्यादिसम्बन्धस्य स
चाराज्जननीजनकादिः । किमित्याह—'पूर्वं' पूर्वसंस्तवो, जनन्यादीनां पूर्वकालभावित्वात्, स्यादित्यत्रोत्तरत्र च शेषः । तथा
'पश्चात्' पश्चात्संस्तवः, क ? इत्याह—'श्वश्रूश्वशुरौ' दम्पत्योः पितरौ 'आदी' प्रथमौ यस्य कलत्रपुत्रादिसम्बन्धस्य स सम्ब-
न्धवद्वतोरभेदाध्यवसायाच्छ्वश्रूश्वशुरादिः। एवं सम्बन्धिसंस्तवं सामान्येन भेदतोऽभिधाय प्रकृतोपयोगमाह—'जं चे'त्यादि यं
कश्चन सम्बन्धं करोतीति योगः । च शब्दो भिन्नवाक्यताप्रतिपादनार्थः । क ? इत्याह—'यतिः' साधुः । किं कृत्वा ?
इत्याह—'आयपरवयं नाउं'ति आत्मपरौ प्रतीतौ, तयोर्वय-स्तारुण्यवृद्धत्वादिलक्षणा देहावस्था, तं 'ज्ञात्वा' अवगम्य ।
किं ? इत्याह—'संम्बन्धं' परिचयं-स्वाजन्यमिति यावत् 'करोति' भोजनलिप्सया विधत्ते । किंविशिष्टमित्याह—'तदनुगुणं'
तयोरात्मपरवयसोरनुगुणं—अनुरूपं, स पूर्वसम्बन्धिसंस्तवः पश्चात्सम्बन्धिसंस्तवश्च, विज्ञेय इति स्वयमायोज्यं। तथाहि—यदि
साधुः स्वयं तरुणो दात्री तु वृद्धा, तदा सम्बन्धविधानार्थं वक्ति—मम माता श्वश्रूर्वा तव सदृशी आसीत्, अथ साऽपि तरुणी,
तदा वक्ति—मम भगिनी भार्या वा त्वत्तुल्या बभूव, अथात्मना वृद्धः सा तु तरुणी बाला वा ततो वक्ति—मम सुता त्वत्समाना
विद्यते स्मेत्यादिगमेन च भावनीयं । अत्र दृष्टान्तो यथा— मातृस्थानतोऽधृतिपूर्वकमिव साश्रूणी

कश्चिद्भिक्षागतः साधुः काञ्चिन्निजमातृसमानां गृहस्थामवलोक्याहारादिलम्पटतया

भवत्या सदृशी मे माता
लोचने चकार। पृष्टश्च तया साधुर्यथा–किमेवं भगवानधृतिमानवलोक्यते?, तेनाप्युक्तं, यथा–भवत्या सदृशी मे माता
अभवदतस्तस्याः सरामीदानीं, ततस्तया मातृत्वप्रकटनार्थं तन्मुखे स्वकीयस्तनमुखप्रवेशो विहितः। ततस्तयोः स्नेहवृद्धिः
समजनि। तदनन्तरं चायं मे मृतपुत्रस्थाने भविष्यतीति विचिन्त्य विधववधूर्दासीव+ दारतया तया तस्मै प्रदत्तेति। एवं
शेषसंस्तवेष्वपि दोषभावना कर्त्तव्या, इति गाथार्थः॥ ७२॥

अथ विद्यादिदोषचतुष्टयं व्याचिख्यासुराह—

दी०–जननीजनकभ्रातृभगिन्यादिपूर्वसम्बन्धात्पूर्वसंस्तवः, तथा पश्चात्संस्तवः श्वश्रूश्वशुरकलत्रपुत्रादि, एवं यतियं
कश्चन आत्मपरयोर्वय–स्तारुण्याद्यवस्थां ज्ञात्वा 'सम्बन्धः' स्वाजन्यं परिचयं भक्ताद्यर्थं करोति, कथम्भूतं? तयोरात्मपर-
वयसोरनुगुणं–अनुरूपमिति गाथार्थः॥ ७२॥ अथ विद्यादिदोषचतुष्टयं गाथाद्वयेनाह–

साहणजुत्ता थीदे-वया व विज्जा[1] विवज्जए मंतो[2]। अंतद्धाणाइफला, चुन्नो[3] नयणंजणाईया॥ ७३॥

सोहगदोहग्गकरा, पायपलेवाइणो व इह जोगा[4]। पिंडट्ठमिमे दुट्ठा, जईण सुयवासियमईणं॥७४॥

व्याख्या–'साधनेन' जपहोमाद्युपचारेण 'युक्ता' समन्विता अक्षरपद्धतिः साधनयुक्ता विद्या, स्यादिति योगः।
लक्षणान्तरमाह–'थीदेवया व'त्ति स्त्री प्रज्ञप्त्यादिका 'देवता' अधिष्ठात्री यस्या अक्षरपङ्क्तेः सा स्त्रीदेवता, वा विकल्पार्थः।

+ ०र्दासीत्वदार०" अ०। "०र्दाराऽऽसीत्तत्तया तस्मै" प० ह० क०।

किमित्याह–'विद्या' विद्येति पदव्यपदेश्या, स्यादिति शेषः। तत्प्रयोगश्च दोषः, वक्ष्यति–"पिंडट्ठमिमे दुट्ठ"त्ति। अत्र च दृष्टान्तः—गंधसमिद्धे नयरे, विहरंता केइ आगया सूरी। बहुजइजणपरियरिया, अहऽन्नया तेसि साहूणं ॥ १ ॥ एगत्थ पिंडियाणं, परोप्परं एरिसो समुल्लावो। संजाओ जइ इहइं, ×अइपंतो इड्ढिमंतो य ॥ २ ॥ तच्चन्नियाण+ सड्ढो, ममत्थि न य सो कयावि समणाणं। किंचि पयच्छइ ता अत्थि ?, कोइ जो तं दवाविज्जा ॥ ३ ॥ तत्थेगेणं जइणा, भणियं जइ मे पयच्छह अणुन्नं। जेणाहं घयगुलवत्थ–माइयं तं दवावेमि ॥ ४ ॥ अणुनाओ तेहिँ गओ, भिक्खुवासयगिहम्मि विज्जाए। तं अहिमंतइ तो सो, अहिट्ठिओ तीए विज्जाए ॥ ५ ॥ घयगुलवत्थाईयं, पउरं साहूण देइ साहू वि। विज्जं संहरिऊणं, सट्ठाणं आगओ पच्छा ॥ ६ ॥ पच्चागयचेयन्नो, आरद्धो विलविउं जहा मज्झ। केण हियं ? घयमाई, मुसिओऽहं ? केण पावेणं ति ॥ ७ ॥

तथा 'विवज्जए मंतो'त्ति 'विपर्यये' विद्यालक्षणवैपरीत्ये, किमित्याह–'मन्त्रो' मन्त्राह्वः स्यात्, यदाह–"इत्थी विज्जाऽभिहिया, पुरिसो मंतोत्ति तव्विसेसोऽयं। विज्जा ससाहणा वा, साहणरहिओ य मंतो त्ति ॥ १ ॥" एतद्व्यापारणं च दोषः, अत्राप्युदाहरणं—

नयरम्मि पइट्ठाणे, मुरंडरायस्स एगया जाया। तिव्वा सिरम्मि वियणा, सा विज्जामंतमाईहिं ॥ १ ॥ बहुएहि विनोवरया, पालित्तयसूरिणो तओ तत्थ। वाहरिया तेहि लहुं, अणज्जमाणेहिं लोगेणं ॥२॥ मंतं झायंतेहिं, पएसिणी भामिया

× [अतिप्रान्तो-ऽतिकृपण ऋद्धिमांश्च] + बौद्धानां श्राद्धोऽस्ति।

तहा सम्मं । जाणुसिरे जह नट्ठा, सिरवियणा तस्स नरवइणो ॥ ३ ॥ तेणावि तओ सूरी, विउलेणऽसणाइणा पहिट्ठेणं ।
पडिलाभियत्ति एसो, पिंडो मंतऽज्जिओ नेओ ॥ ४ ॥

तथा 'अन्तर्द्धानादिफला'स्तिरोधानवशीकरणप्रभृतिकार्यसाधका 'चूर्णा' चूर्णनामानः स्युः । किंविधास्ते ? इत्याह—'नयनाञ्जनादयो' लोचनाञ्जन-मालतिलकप्रभृतय, एतत्प्रयोजनं च दोषः । तत्र चोदाहरणं——

पाडलिपुत्ते नयरे, आसि निवो सयललक्खणसमेओ । नामेण चंदगुत्तो, चाणक्को तस्स वरमंती ॥१॥ अह अन्नया कयाई, दुब्भिक्खे तत्थ दारुणे जाए । संभूयविजयगुरुणो, जंघाबलवज्जिया गच्छं ॥ २ ॥ देसंतरं विसज्जिउ–कामा सीसस्स गुरुपयगयस्स । साहिंता एगंते, मंतपए तंतजंते य ॥ ३ ॥ खुड्डगदुगेण निसुया, पच्छन्नट्ठिएण जाणिओ एगो । अंजणचुन्नो एत्तो, चलिओ देसंतरं गच्छो ॥ ४ ॥ गंतूण पंथभागं, विरहुकंठं गुरूण तं वलियं । सेसो साहुसमूहो, पत्तो निद्दिट्ठठाणम्मि ॥ ५ ॥ गुरुणा वि हु ते भणिया, दुट्ठु कयं जं समागया तुब्भे । चिट्ठह संपइ एत्थं, संतोसपरायणा नवरं ॥ ६ ॥ सयमेव गुरूहिं हिंडइ, भिक्खट्ठा सावगाइगेहेसु । फासुयमहेसणिज्जं, जं भिक्खं परिमियं लहइ ॥ ७ ॥ दाउं पढमं तेसिं, अप्पणा जमवसेसयं तस्स । तं भुंजई भोयणहीण–भावओ वुड्ढभावाओ ॥ ८ ॥ जाओ अइतणुयतणू, तं दट्ठुं खुड्डगा विचिंतंति । न कयं सुंदरमम्हे–हिमागया जमिह अस्स कओ ॥ ९ ॥ +अवराहो बाढ×मओ, अन्नं भोयणपहं गवेसेमो । अंतद्धाणकरं जं, तमंजणं जोइयं तेहिं ॥ १० ॥ गुरुणो अपरिकहित्ता, भोयणसमयम्मि चंदगुत्तस्स । विहियंजणा पविट्ठा, न य दिट्ठा केणइ

+ "अवरोहो" अ. । "उवरोहो" पा. ह. क. । × " ०कओ" प. ह. क. ।

विद्यापिण्डादिदोषचतुष्कनिरूपणं सोदाहरणम् ।

जणेण ॥ ११ ॥ लग्गा सहेव मोत्तुं, रन्ना पज्जत्तिमागया जाव । एवं पइदिवसं चिय, तेसुं भुंजंतएसु निवो ॥ १२ ॥
अच्छिन्नच्छुहो तुच्छी-भूओ देहेण पुच्छिओ भणइ । अज्ज ! न नज्जइ कज्जं, केणइ निज्जइ ममाहारो ॥ १३ ॥ थेवोच्चिय
मे भोगं, समेइ जाया मणम्मि वीमंसा । चाणक्कस्स न एसो, अईव जं सुंदरो कालो ॥ १४ ॥ ता कोइ अंतरहिओ,
थाले एयस्स भुंजए नूणं । तो इट्टगाण चुन्नो, भोयणसालंगणे खित्तो ॥ १५ ॥ बीयदिवसम्मि तेणं, पविसंताणं निभालिया
य पया । दिट्ठा पयपंतीओ, दोन्नि अपुव्वाओ तो झत्ति ॥ १६ ॥ दारनिरोहं काउं, धूमो संमोहकारओ विहिओ । जायाइं
अंसुसलिला-उलाइं लोयस्स नयणाइं ॥ १७ ॥ तक्खणमुत्तिऽण्णंजण-जोगा ते दोवि खुड्डगा दिट्ठा । चाणक्केण सलज्जो, जाओ
वसहीए पेसविया ॥ १८ ॥ अहमेएहिं विट्टा-लिओ त्ति राया दुग्गंछिउं लग्गो । भणिओऽणेणुब्भडभिउ-डिभीमभालेण
सुकयत्थो ॥१९॥ अज्जं चिय तं जाओ, विसुद्धवंसुब्भवो य तुममज्ज ! । जं बालकालपालिय-वएहिं एएहिं सह भुत्तं ॥ २० ॥
गंतूणं गुरुपासे, सीसोपालंभमाह चाणक्को । जा ता गुरुणा भणिओ, तइ सासणपालगे संते ॥ २१ ॥ एए छुहाऽपरद्धा,
निद्धम्मा होउमेरिसायारा । जं जाया सो सव्वो, तवावराहो न अन्नस्स ॥ २२ ॥ लग्गो पाएसु इमो, खमेह अवराहमेग-
मेयम्मे । एत्तो पभिई सव्वा, चिंता मे साहुविसयत्ति ॥ २३ ॥

तथा 'सौभाग्यदौर्भाग्यकरा' जनप्रियत्वाप्रियत्वजनकाः श्रीचन्दनधूपप्रभृतयो द्रव्यविशेषा योगाः, स्युरिति योगः । लक्षणान्तरमाह-'पादप्रलेपादय'श्चरणलेपप्रभृतयः, आदिशब्दादन्येऽपि जलस्तम्भ-नभोगमनादिविधायिनो लोकप्रसिद्धा औषधविशेषा द्रष्टव्याः । वा शब्दो विकल्पार्थः । 'योगा' योगसञ्ज्ञाः स्युः, तद्व्यापारणं दोषोऽतस्तत्राप्युदाहरणमुच्यते—

अत्थि आमीरविसए, अयलपुरं नाम पुरवरं रम्मं । तस्स य अदूरभागे, कण्हाबिण्णाऽभिहाणाओ ॥ १ ॥ दोन्नि नईओ तासिं तु, अंतरे बंभनामगो दीवो । तत्थ य पंचसएहिं, तावससीसाण परियरिओ ॥२॥ कुलवइ निवसइ एगो, सो य सया सव्वपव्वदिवसेसु । जोगोवलित्तपाओ, आरूढो पाउयाजुयलं ॥ ३ ॥ उत्तरिऊणं विण्णं, अयलपुरं एइ भोयणनिमित्तं । तो आउट्टो लोगो, सक्कारं कुणइ तस्स बहुं ॥ ४ ॥ वण्णेइ य तस्स गुणे, पच्चक्खो एस एत्थ देवो त्ति । निंदइ सावगलोगं, सो वि तओ वइरसामिस्स ॥ ५ ॥ माउलगअज्जसमियस्स, सूरिणो कहइ सयलवुत्तंतं । तेण वि भणियं थेवं, एयं जं माइठाणेणं ॥ ६ ॥ पायप्पलेवजोगा, नइउत्तरणं ति सावएहिं पि । विन्नायपओगेहिं, निमंतिउं कुलवई नीओ ॥ ७ ॥ नियगेहं भत्तीए, निच्छं-तस्सावि सोहया चलणा । धोयाउ पाउयाओ, दिन्नं से भोयणं पच्छा ॥८॥ सयलजणपरिवुडेणं, तेण समं आगया नईतीरे । सव्वेवि सावगा तो, चलिओ सो नीरमज्झम्मि ॥ ९ ॥ लग्गो बुड्डेउं +जे, जाया ओहावणा घणा तस्स । एत्थंतरम्मि सूरी, समागया अज्जसमियत्ति ॥ १० ॥ बहुलोयबोहणत्थं, चप्पुडियँ× दाउं तेहिं तो भणियं । बिण्णे ! परं तु पारं, गंतुं इच्छामि तो झत्ति ॥ ११ ॥ मिलिया दोण्ह*वि कूला, जाओ लोगस्स विम्हओ विउलो । नायरजणपरियरिया, तावसनिलयं गया सूरी ॥ १२ ॥ पारद्धा धम्मकहा, लोगो संबोहिओ बहू तत्थ । पव्वाविया य समगं, पंचसया तावसाणं पि ॥ १३ ॥ एवं पवयण-पुब्भा-सिऊण सूरी समागया नयरं । जाया य बंभदीवग-साहा मुणियपत्तसुसणाहत्ति§ ॥ १४ ॥

+ पादपूरणे । × "चप्पुडिउं" अ. ह. क., "चप्पुडिओ" प. । * "दोन्निवि" अ. । § [ज्ञाततत्त्वा मुनयस्त एव पत्राणि, तैः सुष्ठु सनाथा-युक्ता] ।

एते च विद्यामन्त्रादयः किमविशेषेण प्रयुज्यमाना दोषाः स्युरुत विशेषेणेत्याशङ्कयाह–'पिंडट्ठमिमे दुट्ठ'त्ति 'पिण्डार्थं' भक्तादिनिमित्तं, प्रयुज्यमाना अपि इति गम्यते, न पुनः पुष्टालम्बनेऽपि। यदुक्तं कल्पभाष्ये–"एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभियोगियं बंधे। बीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराहगुच्चं च ॥ १ ॥" अस्या भावार्थः–एतानि कौतुकभूतिकर्म-प्रश्नादीनि 'गौरवार्थं' ऋद्धिरससातगौरवनिमित्तं कुर्वाणश्चारित्र्यपि 'आभियोग्यं' कुदेवत्ववेद्यं-पारवश्यनिमित्तमित्यर्थः, कर्म बध्नाति, उपलक्षणत्वाच्चरणधर्मविराधकश्च भवतीत्येष तावदुत्सर्गः। द्वितीयं पुनरपवादपदमिदं, यदुत–गौरवरहितः कौतुकादीनि कुर्वन्नपि चारित्राराधकः स्यात् 'उच्चं च' उच्चैर्गोत्रं च कर्म निबध्नाति, न पुनर्विराधक आभियोग्यकर्मबन्धकश्च स्यादिति भाव इति। 'इमे'त्ति 'इमे' एते अनन्तरोक्ता विद्यामन्त्रादयः। किमित्याह—'दुष्टा' गर्हिताः, प्रतिविद्यास्तम्भनवधबन्धनादीनां, पापाजीवी-मायावी-कार्मणकारी चायं साधुरित्यादिलोकापवादादीनां, चरणविराधन-कुगतिगमनादीनां च दोषाणां कारणत्वात्। केषामेते दुष्टा? इत्याह–'यतीनां' साधूनां, किंविशिष्टानां? इत्याह–'श्रुतवासितमतीनां' सिद्धान्तभावितबुद्धीनां, एतच्च स्वरूपविशेषणं, साधूनां श्रुतवासितमतित्वव्यभिचाराभावादिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

अथ मूलकर्मलक्षणं षोडशं दोषमाह–

दी०–'साधनयुक्ता' जापहोमादिसाध्या 'स्त्रीदेवता च' देव्यधिष्ठिता अक्षरपङ्क्तिर्विद्या, सा पिण्डार्थं दोषाय। तथा 'विपर्यये' विद्यालक्षणवैपरीत्येन मन्त्रोऽसाधनो देवाधिष्ठितश्चेति भावः। तथाऽन्तर्द्धानादिफला-स्तिरोधानवशीकरणादिकार्यसाधकाश्चूर्णा 'नयनाञ्जनादयो' लोचनाञ्जनभालतिलकादयः ॥ ७३ ॥ तथा सौभाग्यदौर्भाग्यकराः श्रीचन्दनधूपादिद्रव्यविशेषा

योगाः स्युः । 'पादप्रलेपादय'श्चरणलेपमुख्या, आदिशब्दादन्येऽपि जलस्तम्भ-नभोगमनादिकरा औषधविशेषा योगा ज्ञेयाः। पिण्डार्थमिमे विद्यादयः प्रयुज्यमाना दुष्टाः, पुष्टालम्बने कदाचित्प्रयुक्ता अपि न दोषायेति भावः, केषां ? यतीनां 'श्रुतवासितमतीनां' सिद्धान्तभावितबुद्धीनामिति गाथाद्वयार्थः ॥ ७४ ॥ अथ मूलकर्माख्यमाह—

मंगलमूलीण्हवणाइ, गब्भवीवाहकरणघायाई । भववणमूलं कम्मं, ति मूलकम्मं महापावं ॥७५॥

व्याख्या—मङ्गलमूलिकाभिर्लोकप्रसिद्धाभिः 'स्नपनादि' सौभाग्यनिमित्तं मज्जनादि, आदिशब्दाद्रक्षाबन्धनधूपनादिपरिग्रहः । तथा गर्भविवाहौ प्रतीतौ, तयोः प्रत्येकं 'करण-घातादि' निर्वर्त्तन-विनाशप्रभृति, आदिशब्दाद्गर्भस्तम्भ-कन्यकाभिन्नत्वाभिन्नत्वदोषकरणादिपरिग्रहः। एतच्च, च शब्दार्थस्य गम्यमानत्वाद्भक्ताद्यर्थं साधुना क्रियमाणं कार्यमाणं, चेति गम्यते, मूलकर्मोच्यत इति योगः। अन्वर्थमाह—'भववणमूलं कम्मंति'त्ति 'भववनस्य' संसारकाननस्य 'मूलं' कारणं 'कर्म' क्रियेति हेतोः, किं ? 'मूलकम्मं'ति मूलकर्मोच्यत इति शेषः । किंविधं तदित्याह—'महापावं'ति महापापहेतुत्वान्महापापं—अत्यन्ताशुभं, अत एव भववनमूलमिदमित्युक्तं। तथाहि—एतेषु मूलकर्मरूपेषु स्नपन-गर्भाधान-विनाश-परिणयन-विधान-विघातादिषु पिण्डनिमित्तं साधुना क्रियमाणेषु कार्यमाणेषु वा षण्णां जीवनिकायानां वधादयो मैथुनप्रवृत्ति-सदाभोगान्तरायादयः प्रद्वेष-प्रवचनोपघातादयश्च दोषाः कृता भवन्ति। तत्र गर्भाधानविनाशावधिकृत्येदमुदाहरणम्—

किल केनचिद्गोचरप्रविष्टेन पिण्डलिप्सुना साधुना दानशीला काचिद्राजभार्या पृष्टा, यथा—भद्रे ! किं त्वमेवमधृतिमती दृश्यसे ? सा चावोचन्मे सपत्नी आपन्नसत्त्वा, तस्याश्च पुत्रः समादिष्टो दैवज्ञेनेति । एतदाकर्ण्य साधुराह—यद्येवं, मा विषादं

कुरु, तवापि गर्भं करिष्यामि। ततो दत्तं तथाविधमौषधं साधुना, आहूतश्च गर्भः। ततः पुनरपि सैवमवादीत्–यद्यपि भगवन्! त्वदीयौषधप्रभावान्मे सुतो भविष्यति, तथापि सपत्नीसुतात्कनिष्ठ एवेति "तद्दीर्घतैव पलाशानां"। ततः साधुना केनाप्युपायेन तत्सपत्न्या गर्भपरिशातनकार्यौषधं प्रदापितं, गलितस्तद्गर्भः, जातश्चेतरस्याः सुतः युवराजश्च संवृत्त इति।

विशाहं त्वङ्गीकृत्यायं दृष्टान्तः–किल कश्चित्साधुर्भिक्षार्थं क्वचित्कुले प्रविष्टः कामपि बृहत्कुमारीं दृष्ट्वा पिण्डलोभेन तज्जननीं प्रत्येवमाह, यथा–इयं तव दुहिता वयःप्राप्ता वर्त्तते, ततो वरायाप्रदीयमाना भवत्कुलं दूषयिष्यति, किञ्च–लौकिका अपि वदन्ति–"तावन्तो नरका घोरा, यावन्तो रुधिरबिन्दवः।" ततः शीघ्रं प्रदीयतामियं वरायेति।

कन्यकाभिन्नत्वदोषापहरणे एष दृष्टान्तः–किलैकः कश्चित्साधुर्भिक्षां परिभ्रमन् प्राप्तो दान[शील]श्राविकासत्कगृहं, दृष्टा च साऽधृतिं कुर्वाणा पृष्टा च किमधृतिं करोषि ?, तया चोक्तं–" जो य न दुक्खं पत्तो, जो य न दुक्खस्स निग्गहसमत्थो। जो य न दुहिए दुहिओ, कह तस्स कहिज्जए ? दुक्खं ॥ १ ॥" साधुनोक्तं–एवमेतत्, केवलं "अहयं दुक्खं पत्तो, अहयं दुक्खस्स निग्गहसमत्थो। अहयं दुहिए दुहिओ, ता मज्झ कहिज्जए दुक्खं ॥ १ ॥" ततस्तया भणितं–प्रत्यासन्नो मम दुहितुः पाणिग्रहणदिवसः, सा च भिन्नयोनिकेति। ततस्तेनौषधाचमनपानादिप्रदानेनाभिन्नयोनिः सा विहितेत्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

अथोक्तदोषनिगमनं उत्तरग्रन्थसम्बन्धं च चिकीर्षुराह—

दी०–मङ्गलमूलिकाभिः प्रतीताभिः 'स्नपनादि' सौभाग्यार्थं मज्जनरक्षाबन्धधूपनादि, तथा गर्भविवाहयोः करणस्तम्भन-

घातनादि च, भवनस्य मूलमिदं कर्म स्यात्, तच्च महापापं, षड्जीववध-मैथुनप्रवृत्त्यन्तरायादिदोषजनकत्वादिति गाथार्थः ॥७५॥

अथोक्तदोषनिगमनमुत्तरग्रन्थसम्बन्धं चाह—

इय वुत्ता सुत्ताउ, बत्तीस गेवसणेसणादोसा । गहणेसणदोसे दस, लेसेण भणामि ते य इमे ॥७६॥

व्याख्या-'इति' एवं-पूर्वोक्तप्रकारेण 'वुत्त'त्ति 'उक्ताः प्रतिपादिता, मयेति गम्यते । कुतः स्थानादुद्धृत्येत्याह-'सूत्रात्' पिण्डैषणाध्ययन तन्निर्युक्त्यागमाद् 'द्वात्रिंशद्' आधाकर्मादीनां षोडशानां धात्र्यादीनां च षोडशानां दोषाणामेवं मीलनाद्-द्वात्रिंशत्सङ्ख्याः । के ? इत्याह-'गवेषणा' ग्रहणनिमित्तं भक्तादेरवलोकना, तत्काले तद्विषया वा 'एषणा' उद्गमादिदोषनिरीक्षणा-विचारणेत्यर्थः, गवेषणैषणा, तदुपयोगिनो 'दोषा' दूषणानि-गवेषणैषणादोषाः । एषणा हि गवेषणा ग्रह-[णैषणा]-ग्रासैषणा भेदात्त्रिप्रकारा सूत्रेऽभिधीयते, तदियता ग्रन्थेनाद्या प्रतिपादितेति । अथ द्वितीयां प्रतिपादयन्नाह-'ग्रहणं' पिण्डोपादानं, तद्विषया वा 'एषणा' शङ्कितादिदोषनिरीक्षणा, तदुपयोगिनो 'दोषा' दूषणानि-ग्रहणैषणादोषास्तान् 'दशे'ति दशसङ्ख्यान् तत्काले 'लेशेन' सङ्क्षेपेण 'भणामि' वच्मि 'ते च' ते पुनरिमे-एते वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

अथ तानेव प्रस्तावितदोषान्नामतः सङ्ख्यातश्च दर्शयन्नाह—

दी०-इत्येवं 'वुत्ता' उक्ताः 'सूत्रात्' पिण्डेषणाध्ययनादेः, कियन्तस्ते ?, द्वात्रिंशत्, गवेषणा-भक्तादेर्ग्रहणार्थविलोकना, तत्कालं तद्विषयं वा 'एषणा' उद्गमादिदोषविचारणा, तस्य दोषाः । अत्र गवेषणा-ग्रहण-ग्रासभेदात्त्रिविधा एषणा, तत्राद्या उक्ता, द्वितीयामाह-ग्रहणं भक्तादेस्तत्काले या एषणा, तद्दोषान् दशसङ्ख्यान् 'लेशेन' सङ्क्षेपेण भणामि, ते च इमे वक्ष्यमाणा

ग्रहणैषणा-दोषनिगमनं ग्रासैषणादोष प्रस्तावनं च ।

इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ आदौ नामान्याह—

संकिय-मक्खिय-निक्खित्त-पिहिय-साहरिय-दायगु-म्मीसे ।
अपरिणय-लित्त-छड्डियं, एसणदोसा दस हवंति ॥ ७७ ॥

व्याख्या—'शङ्कितं' सम्भाविताधाकर्मादिदोषं भक्तादि, इह च प्रथमैकवचनान्तता सर्वत्र दृश्या, तथा दोषवतो निर्देशेऽपि दोषदोषवतोरभेदाच्छङ्का-शङ्कारूप एषणादोष उक्तोऽवसेयः, तस्यैव विवक्षितत्वात्, एवं सर्वत्र । 'म्रक्षितं' आरूषितं 'निक्षिप्तं' न्यस्तं 'पिहितं' स्थगितं 'संहृतं' अन्यत्र क्षिप्तं 'दायको' दाता 'उन्मिश्रं' मिश्रीकरणं 'अपरिणतं' अप्रासुकादि 'लिप्तं' खरण्टितं 'छर्दितं' परिशाटितं, इत्येवमेते 'एषणादोषाः' पिण्डग्रहणदूषणानि दश 'भवन्ति' स्युरिति गाथासमासार्थः ॥ ७७ ॥

अथाद्यं शङ्किताभिधानदोषं व्याख्यातुमाह—

दी०—इह दोषदोषवतोरभेदादेषणादोषः प्रथमैकवचनान्तो ज्ञेयः । तत्र शङ्कितं—सम्भाविताधाकर्मादिदोषं भक्तादि १, म्रक्षितं सचित्तादिभिः २, निक्षिप्तं तत्र न्यस्तम् ३, पिहितं तैः स्थगितम् ४, संहृतं तस्मादन्यत्र क्षिप्तम् ५, दायका बालादयः ६, उन्मिश्रं सचित्तादियुक्तम् ७, अपरिणतं द्रव्यं भावो वा ८, लिप्तं खरण्टितम् ९, छर्दितं परिशाटनावत् १०, एवं एषणा दोषा दश भवन्तीति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ अथाद्यं शङ्कितमाह—

संकियगहणे भोगे, चउभंगो तत्थ दुचरिमा सुद्धा । जं संकइ तं पावइ, दोसं सेसेसु कम्माई ॥ ७८ ॥

अन्नेहिं वि तारिसिया, वियडत्त§निसामणे तइओ ॥ १ ॥" त्ति ३। चतुर्थभङ्गकसम्भवस्त्वतिप्रतीत एवेति ४। 'तत्थ'त्ति 'तत्र' तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु मध्ये 'दुचरिम'त्ति 'द्विचरमौ' द्वितीयचतुर्थौ, किमित्याह-'शुद्धौ' निर्दोषौ, द्वयोरपि भोजनस्य निश्शङ्कितत्वेन शुद्धत्वात्। द्वितीयभङ्गभाविनश्च शङ्कितग्रहणदोषमात्रस्योत्तरशुभपरिणामेन शुद्धिसम्भवात्। तथा यं कञ्चन, दोषमिति योगः, 'शङ्कते' आरेकते-सम्भावयतीत्यर्थः, पिण्डग्राहकसाधुरिति गम्यते, तं 'प्राप्नोति' आपद्यते 'दोषं' दूषणं 'सेसेसु'त्ति 'शेषयोः' प्रथमतृतीयभङ्गयोः, उभयत्रापि भोजनस्य शङ्कितत्वेनाशुद्धत्वात्। किंविधं दोषं? इत्याह-'कम्माइ' त्ति 'कर्मादि' आधाकर्मौद्देशिकप्रभृत्युद्गमदोषषोडशकं म्रक्षितनिक्षिप्ताद्येषणादोषनवकं चेत्यर्थः। इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

अथ म्रक्षितदोषं व्याख्यानयन्नाह—

दी०-'शङ्कितस्य आधाकर्मवत्तया सन्दिग्धस्य 'ग्रहणे' स्वीकारे तथा 'भोगे' भोजने सति, जात्येकवचनाच्चतुर्भङ्गः+ स्यात्, यथा-शङ्कितग्रहणे लज्जादिवशादपृच्छायां तथैव सन्देहाच्छङ्कितपरिभोगः १, शङ्कितग्रहणे पश्चात्सन्देहापगमे सति भुञ्जानस्य निःशङ्कितभोगः २, निश्शङ्कितग्रहणं कुतोऽपि हेतोर्दोषाशङ्कायां शङ्कितभोगः ३, निश्शङ्कितग्रहणे निश्शङ्कितभोगः स्पष्टः ४, 'तत्र' तेषु द्वितीयचरमौ भङ्गौ शुद्धौ, निश्शङ्कितभोगादित्याह-यं कञ्चन दोषं शङ्कते साधुस्तं प्राप्नोति 'शेषयोः' प्रथम-तृतीयभङ्गयोः, शङ्कितभोगात्। किम्भूतं? 'कर्मादि' उद्गमदोषषोडशकं म्रक्षणाद्येषणादोषनवकं चेति भाव इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ अथ म्रक्षितमाह-

§ "वियडंत" प. ह. क.। + "°भंङ्गी" ह.।

सच्चित्ताचित्तमक्खियं, दुहा तत्थ भूदगवणेहिं । तिविहं पढमं बीयं, गरहिय-इयरेहिं दुविहं तु ॥७९॥

व्याख्या—'सचित्ताचित्तं'ति सचित्तेन म्रक्षितं यत्करादि, तदेव तद्योगात् 'सचित्तं' सचेतनं, तच्च, एवमचित्तं चाचेतनं सचित्ताचित्तं, द्वन्द्वैकवद्भावात्सचित्तम्रक्षित-मचित्तम्रक्षितं चेत्यर्थः, इत्येवं म्रक्षित-मारूषितं 'द्विधा' द्विप्रकारं, भवतीति शेषः, 'तत्थ'त्ति 'तत्र' तयोर्म्रक्षितभेदयोर्मध्ये प्रथमं त्रिधा, भवतीति योगः, कथमित्याह—'भू-दक-वनैः' सचित्तपृथिव्यम्बुवनस्पतिभिर्म्रक्षणभेदादिति गम्यते । 'त्रिविधं' त्रिप्रकारमेव, तेजोवायुत्रसैर्म्रक्षितत्वायोगात्, प्रथमं सचित्तम्रक्षितं भवति । 'बीयं'ति, वक्ष्यमाणपुनरर्थतुशब्दस्येह सम्बन्धाद्द्वितीयं पुनरचित्तम्रक्षितं, द्विविधमिति योगः, कथमित्याह—'गर्हितेतराभ्यां' लोकनिन्द्यानिन्द्यवस्तुभ्यां, म्रक्षणभेदादिति गम्यते, 'द्विविधं' द्विप्रकारं भवति, तुर्व्याख्यात एवेति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

एवं म्रक्षितस्वरूपमभिधायाऽथास्यैव विभागेनाऽकल्पनीयतां बिभणिषुराह—

दी०—सचित्ताचित्तयोर्देयवस्तुनोर्योगान् म्रक्षितं द्विधा स्यात्, तत्र 'भू-दक-वनैः' सचित्तपृथ्वीजलवनस्पतिभिस्त्रिभिर्म्रक्षणभेदात्त्रिविधं प्रथमं, द्वितीयं त्वचित्तम्रक्षितं 'गर्हितेतराभ्यां' लोके निन्द्यानिन्द्यवस्तुभ्यां म्रक्षणभेदाद्द्विविधमिति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ एतदेव विशेषयन्नाह—

संसत्तअचित्तेहिं, लोगागमगरहिएहि य जईणं । सुक्कोऽल्लसचित्तेहि य, करमत्तं मक्खियमकप्पं ॥८०॥

व्याख्या—संसक्तानि च—तान्येकेन्द्रियादिसत्त्वसम्भूतियुक्तानि, अचित्तानि च—दधिद्राक्षापानकादीनि संसक्ताचित्तानि,

तैस्तथा 'लोकश्च' पृथग्जन आगमश्चा—ऽर्हत्प्रवचनं लोकागमौ, तयोर्मध्ये 'गर्हितानि' निन्दितानि यानि मद्य-मांस-वशा शोणित-मूत्र पुरीषादीनि, तानि लोकागम(ग्रन्थाग्रं. २०००)गर्हितानि, तैः, चः समुच्चये, अनेन चाऽसंसक्तागर्हिताचित्तद्रव्यम्रक्षितस्य कल्पनीयता प्रतिपादिता भवति। 'यतीनां' साधूनां, तथा 'सुक्कोल्लसचित्तेहिं य'त्ति 'शुष्कार्द्रसचित्तै'र्नीरस-सरस-मचेतनैः, अक्रमात्पृथिव्य-म्बु-वनस्पतिलक्षणैर्वस्तुभिः, चः समुच्चये, म्रक्षितं अकल्प्यमिति सम्बन्धः। किं तदित्याह—'करमत्त'त्ति 'करश्च'दातृहस्तो 'मात्रं च' करोटिकादिलक्षणं भिक्षाभाजनं, द्वन्द्वैकवद्भावात् करमात्रं 'म्रक्षितं' खरण्टितं सदुभयमन्यतरद्वा, उपलक्षणत्वाद्देयद्रव्यं वा, किमित्याह—'अकल्प्यं' अकल्पनीयं, यतीनामिति पूर्वेण योगः, अयमर्थो—न पूर्वोक्तद्रव्यैर्म्रक्षिताभ्यां हस्तमात्राभ्यां दीयमाना शुद्धाऽपि भिक्षा यतीनां ग्रहीतुं कल्पते नाऽपि तैर्म्रक्षितं द्रव्यमादातुं युज्यते, सत्त्वोपघात-जनापवादादिदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ८० ॥ अथ निक्षिप्तदोषं विवरीतुमाह—

दी०—'संसक्तै'रेकेन्द्रियादिसत्त्वसम्भूतियुक्तैरचित्तैस्तथा 'लोकः' पृथग्जनः 'आगमो'ऽर्हत्प्रवचनं, तयोर्गर्हितैश्च—मद्य-मांस-वशा-शोणित मूत्र-पुरीषाद्यैस्तथा 'शुष्कार्द्रै'र्नीरस सरसैः सचित्तैः, प्रस्तावाद्भू दक-वनलक्षणैर्म्रक्षितं करमात्रं, करो—हस्तो 'मात्रं' करोटिकादिस्तदुपलक्षणादन्यदपि यतीनामकल्प्यं, सत्त्वोपघात-जनापवादादिदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥८०॥

अथ निक्षिप्ताख्यमाह—

पुढविदगअगणिपवणे, परित्तऽणंते वणे तसेसुं च। निक्खित्तमचित्तं पि हु, अणंतरपरंपरमगेज्झं ॥८१॥

व्याख्या—'पृथिवी' च मृत्तिका 'उदकं च' जलं 'अग्निश्च' तेजस्कायः 'पवनश्च' वायुः, द्वन्द्वैकवद्भावात् पृथिव्युदकाग्नि-

पवनं, तस्मिन् सचित्ते मिश्रे चेति गम्यं, एवमुत्तरत्राऽपि, तथा 'परीत्तं च'-प्रत्येकं 'अनन्तं च' साधारणं परीत्तानन्तं, तस्मिन्, एकवचनान्तता च प्राग्वत्, क ? इत्याह-'वने' वनस्पतिकाये तथा 'त्रसेषु च' द्वीन्द्रियादिषु, चः समुच्चये, 'निक्षिप्तं' न्यस्तं-स्थापितमित्यर्थः। 'अचित्तमपि' प्रासुकमपि, देयद्रव्यमिति गम्यते, सचित्तं तावदग्राह्यमेवेत्यपिशब्दार्थः, हुरवधारणे, तस्य चाग्राह्यमेवेत्यनेन योगः, कथं न्यस्तमित्याह-'अनन्तरं च' अव्यवहितं 'परम्परं च' वस्त्वन्तरव्यवहितं अनन्तर-परम्पर-न्यस्तं, क्रियाविशेषणं चैतत्, तत्र पृथिव्यामनन्तरनिक्षेपसम्भवो मण्डकादेरुदके नवनीतस्त्यानघृतादेरङ्गारावस्थाग्नौ मण्डकादेः पवने तेनैव ह्रियमाणस्य शालि+पर्पटादेर्वनस्पतौ त्रसेषु च पूपकादेः, परम्परनिक्षेपसम्भवस्तु पृथिव्यादिषु मण्डकादेरेव वस्त्वन्तरव्यवहितन्यस्तस्य भावनीयः, पवने तु वातपूरित×वस्त्यादिस्थितस्य वस्तुन इति, एतत्किमित्याह—'अगेज्झं' ति 'अग्राह्यमेव' साधूनां ग्रहीतुमयोग्यमेवेति, अत्रोत्तरत्र च चतुर्भङ्गादिचर्चा ग्रन्थान्तरादवसेयो वैषम्यभयाच्च नेहाऽवतारित इति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ अथ पिहितदोषमभिधातुमाह—

दी०—द्वन्द्वैकवद्भावात्पृथिव्यु-दका-ग्नि-पवने, सचित्ते मिश्रे वेति गम्यं, तथा 'परीत्तानन्ते' प्रत्येकसाधारणे 'वने' वनस्पतिकाये, तथा 'त्रसेषु' द्वीन्द्रियादिषु निक्षिप्तमचित्तमपि देयद्रव्यं 'हु'रिति निश्चये, अनन्तरं-अव्यवहितं 'परम्परं' वस्त्वन्तरव्यवहितं सद् अग्राह्यमिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ अथ पिहिताख्यमाह—

सचित्ताचित्तपिहिए, चउभंगो तत्थ दुहमाइतिगं। गुरुलहुचउभंगिल्ले, चरिमे वि दुचारिमगा सुद्धा ॥८२॥

ग्रहणैषणायां शङ्कितग्रहणाश्रनयोश्चतुर्भङ्गी।

+ सालेवढ। × वस्त्यादि " अ.। [दीवडी—मशक]।

व्याख्या—'सचित्तं च' चैतन्ययुक्तमचित्तं च-चेतनाविकलं सचित्ताचित्ते वस्तुनी, ताभ्यां 'पिहितं' स्थगितं, तत्र वस्तुनीति गम्यते, किमित्याह-'चउभंगो'त्ति चतूरूपो भङ्गश्चतुर्भङ्गो, जातिनिर्देशाच्चत्वारो भङ्गका भवन्तीत्यर्थः, तद्यथा-सचित्तेन सचित्तं पिहितं १ एवमचित्तेन सचित्तं २ सचित्तेनाऽचित्तं ३ अचित्तेनाचित्तमिति ४ । तत्र तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु मध्ये, किमित्याह-'दुट्ठं' दोषव-जीवपीडावहत्वात् । किं तदित्याह-'आदित्रिकं' प्रथमभङ्गत्रयं, चतुर्थ×स्य का वार्तेत्याह-'गुरुलहु' इत्यादि, 'गुरु च' प्रचुरभारान्वितं वस्तु 'लघु च' स्तोकभारं गुरुलघुनी, ताभ्यां चतुर्भङ्गो विद्यते यत्र स गुरुलघुचतुर्भङ्गवान्, तस्मिन्, इह च 'आल-इल्ल-मण' प्रभृतिप्राकृतप्रत्ययानां मत्वर्थीयार्थत्वात् 'चउभंगिल्ले' त्ति निर्देशेऽपि चतुर्भङ्गवतीति व्याख्यातं, चतुर्भङ्गश्चैवं 'गुरु' महद्देयद्रव्यभाजनं 'गुरुणा' प्रभूतभारेण स्थाल्यादिना पिहितं १ एवं गुरु 'लघुना' स्तोकभारेण पिधानस्थाल्यादिना २ एवं लघुगुरुणा ३ लघुलघुना ४ । पूर्वोक्तचतुर्भङ्गकेभ्यश्च क्रमान्तरचतुर्भङ्गकोऽयं, मध्यमभङ्गयोः क्रमविपर्ययात्+, केत्याह-'चरमेऽपि' चतुर्थभङ्गकेऽपीत्यर्थः । 'द्विचरमकौ' द्वितीयचतुर्थावित्र, किमित्याह 'शुद्धौ' निर्दोषौ, पिधायकद्रव्यस्य लघुत्वेन निरपायत्वात्तयोः, न तु प्रथमतृतीयौ, पिधायकद्रव्यस्य गुरुत्वेन तत्र पतनाद्यनेकदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ साम्प्रतं संहृतदोषमभिधातुमाह—

दी०-सचित्ताचित्ताभ्यां पिहिते देयद्रव्ये 'चतुर्भङ्गो×, [जातिनिर्देशाच्चत्वारो भङ्गाः], यथा—सचित्तेन सचित्तं १,

× " चतुर्थकस्य " य. । + द्वितीयस्थाने तृतीयः प्राप्नोति, तृतीयस्थाने द्वितीयः प्राप्नोतीत्येवं क्रमविपर्ययः (टि० अ.)

×" भङ्गी " ह. ।

×सचित्तेनाचित्तं २, अचित्तेन सचित्तं ३, अचित्तेनाचित्तमिति ४। 'तत्र' तेषु 'दुष्टं' सदोषं 'आदित्रिकं' प्रथमभङ्गत्रयं, चतुर्भङ्गिल्ले' चतुर्भेदवति चरमे
चतुर्थः कथं ? इत्याह–'गुरुलघुभ्यां' बहुभारस्तोकभाराभ्यां पिधानाभ्यां सचित्ताचित्तव'
भङ्गे द्वितीयचरमौ शुद्धौ, निरपायत्वादिति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ अथ संहृताख्यमाह–

खिविय्ऽन्नत्थमजोग्गं, मत्ताओ तेण देइ साहरियं। तत्थ सचित्ताचित्ते, चउभंगो कप्पइ उ चरिमे ॥८३॥

व्याख्या—यत् 'क्षिप्त्वा' प्रक्षिप्याऽन्यत्र पृथिवीकायादौ, किं तदित्याह 'अयोग्यं' दानानुचितं मृत्तिका-जल-तुषारादि दातुमनभिप्रेतं वा, कस्मादित्याह–'मात्रात्' करोटिकादेः स्वभाजनात् 'तेण' त्ति सावधारणत्वात् 'तेनैव' रिक्तीकृतमात्रकेणैव 'ददाति' देयं वस्तु साधुभ्यः प्रयच्छति, गृहस्थ इति गम्यते, तत्संहृतमित्युच्यत इति शेषः। 'तत्र' तस्मिन् संहृते 'सचित्ताचित्ते' सचेतनाचेतने वस्तुनि, मिश्रस्य सचेतन एवाऽन्तर्भावात्, किमित्याह–'चतुर्भङ्ग'श्चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थस्तद्यथा–सचित्ते-पृथिव्यादौ सचित्तं-पृथिव्याद्येव संहरति १, एवमचित्ते-भस्मादौ सचित्तं २, सचित्तेऽचित्तं ३, अचित्तेऽचित्तं ४। एवं भङ्गकानभिधाय तन्मध्ये यत्र कल्पते तमाह 'कप्पइ उ चरिमे' त्ति 'कल्पते तु' भक्तादि ग्रहीतुं युज्यते पुनः साधूनां 'चरमे' चतुर्थभङ्गके, नाऽऽद्यत्रिक इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ अथ चतुर्थभङ्गकस्यैव विशेषं प्रतिपादयन्नाह—

दी०—क्षिप्त्वा अन्यत्र पृथ्वीकायादौ 'अयोग्यं' दानानुचितं मृत्तिका-जल-तुषादि दातुमनिष्टं वा 'मात्रात्' करोटिकादेर्भाजनात् 'तेन' रिक्तीकृतमात्रकेणैव ददाति तत्संहृतं स्यात्। तत्र सचित्ताचित्ते वस्तुनि चतुर्भङ्गो यथा–सचित्ते सचित्तं १,

× "अचित्तेन सचित्तं २ सचित्तेनाचित्तं ३" प. म.।

विद्यापिण्डादिदोषचतुष्कनिरूपणं सोदाहरणम्।

सचित्तेऽचित्तं २, अचित्ते सचित्तं ३, अचित्तेऽचित्तं ४, संहरतीति, एषु कल्पते 'तु' पुनश्चरमे भङ्गे इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

अत्रापि विशेषमाह—

तत्थ वि य थोवबहुपय-चउभंगो पढमतइयगाइण्णा। जइ तं थोवाहारं, मत्तगमुक्खिविय वियरेज्जा ।८४।

व्याख्या—'तत्रापि च' चतुर्भङ्गकेऽपि, किं स्यादित्याह 'थोव-बहुपय-चउभंगो'त्ति स्तोकबहुलक्षणे ये 'पदे' अभिधाने, ताभ्यां चतुर्भङ्गः स्तोकबहुपदचतुर्भङ्गः, स्यादिति शेषः, तद्यथा-'स्तोके' अल्पे तक्रादिके 'स्तोकं' स्वल्पं तक्रादिकमेव संहरति १, एवं +स्तोके बहुकं २, बहुके स्तोकं ३, बहुके बहुकं ४। एतेषु च 'प्रथमतृतीयकौ' आद्योपान्त्यमङ्गकौ, किमित्याह-'आचीर्णौ' भिक्षाग्रहणे साधुभिर्व्यवहृतौ। अत्रापि किमपि विशेषमाह-'जइ त'मित्यादि, यदीत्यभ्युपगमे 'तं'ति तद्देयसंहृतसत्कं 'थोवाहारं' ति स्तोकः करग्रहणमात्ररूप 'आधारः' साहाय्यं यस्य, स्तोकं वा वस्तु आ-समन्ताद्धारयति, स्तोकस्य वा वस्तुन 'आधारः' स्थानं यत्तत्स्तोकाधारं-अल्पभारमित्यर्थः, बह्वाधारे हि भाजने उत्क्षिप्यमाणे दातृपीडादयो दोषाः स्युरिति स्तोकाधारविशेषणं, किं तदित्याह-'मात्रकं' स्थाल्यादिभाजनं 'उत्क्षिप्य' उत्पाट्य, भूमौ स्थितेन हि भाजनेनाऽवनम्य तन्मध्याXवस्थिते वस्तुनि दात्र्या दीयमाने अधो-भूमिभाजनयोरन्तरे कीटिकाद्युपमर्दः सम्भवतीति। किं कुर्यादित्याह-'वितरेत्' दात्री दद्यान्मात्रकमध्यगतं संहृतसंज्ञं वस्त्विति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

अथ दोषदोषवतोरभेदाद्दायकानभिधातुमाह—

+ अत्रापि भेदविपर्ययोऽस्ति (टि० अ.)। X " व्यस्थिते " प. ट. क.।

"पंडए १ वाइए २ कीवे ३, कुंभे ४ ईसालुए ५ तहा। सउणी ६ तक्कम्मसेवी य ७, पक्खियापक्खिए वि य ८॥१॥"

"सोगंधिए य ९ आसित्ते १०, वद्धिए ११ चप्पिए १२ तहा।

मंतो१३सहिओवहयए १४, इसिसत्ते १५ देवसत्ते य १६ ॥ २ ॥ "

तथा नारीस्वरानुकारिस्वरो महन्मेहनान्वितः सशब्दफेनमूत्रप्रकृतिः पृष्टा[पृष्ठा]वलोकनकलितमन्दगतिः शीतलमृदुगात्रः स्त्रीवत्प्रलम्बपरिधानरुचिरभीक्ष्णं कटिहस्तदानशीलो वामकरतलन्यस्तदक्षिणहस्ततलपर्यस्तमुखवृत्तिश्च, सविलासलोचनः सविभ्रमभ्रूक्षेपकारी स्वात्मनि स्त्रीमण्डनकेशबन्धविधायी प्रच्छन्नस्नानमूत्रोच्चारकारकः प्रमदाकर्मकरणरतिर्लज्जालुः पुरुषवर्गे प्रगल्भश्च स्त्रीसमाज इत्यादिलक्षणलक्ष्य+श्च, एतेन च दीयमाना भिक्षा न ग्राह्या, अनेकदोपसम्भवात्, ×यदाह–"आयपरोभयदोसा, अभिक्खगहणम्मि" भिक्षाया इति शेषः, "खोभण नपुंसे। लोगदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेते‡वि ॥१॥"

अपवादस्तु वर्द्धितचिप्पितमन्त्रौषध्युपहत§मुनिदेवशप्तादिषु केषुचिदप्रतिसेविनपुंसकेषु* ददत्सु भिक्षा ग्राह्येति ३। तथा 'वेविर' त्ति 'वेपिता' †कम्पमानशरीरः, प्राकृते च "तृन इर" इति वचनात् 'वेविर' इति स्यात्, स हि वेपमानतनुत्वाद्भिक्षां प्रयच्छन् परिशातन-भाजनभङ्गादीन् दोषान् करोतीति तद्वर्जनं, अपवादतोऽस्मिन्नपि दृढभाजनभिक्षाग्रहे गृह्णत

+ " °लक्षितश्च " मां, । × " यत आह " प. ह. क. य. । ‡ " °णमेएवि " य., " °णएमेवि " प. ह, क. "°णमेषवि" अ ।
§ मुनिना, कोऽर्थः ? ऋषिणा देवेन वा शप्ताः सन्तः, कोऽर्थः ? आक्रोशिताः सन्तो ये नपुंसका भवन्ति, तेष्वित्यर्थः । (टि० अ.)
* नपुंसककार्यरहितेष्वित्यर्थः (टि० अ.) । † "वेपितः" मां. ।

इति ४ । तथा 'ज्वरितो' ज्वररोगवान्, तद्भिक्षाग्रहणे हि ज्वरसङ्क्रमण-जनापवादादयो दोषाः स्युरतो न ग्राह्या, शिवज्वरे‡ तु यतनया ग्राह्याऽपीति ५। तथा 'अन्धो' विगलितलोचनः, तस्य हि भिक्षां ददतः कायवध-स्खलन-पतन-भाजनबहिर्भक्तक्षेपण-जनवचनीयतादयो दोषाः स्युरिति न ग्राह्या, यदि पुनः सोऽप्यन्येन पुत्रादिना विधृतो भिक्षां वाऽन्येनैव धृतां ददाति, तदा पूर्वोक्तदोपाभावाद्ग्राह्याऽपीति ६ । तथा 'अव्यक्तो' बालो, जन्मतो वर्षाष्टकाभ्यन्तरवर्ती, स चाऽनभिज्ञत्वात्साधुभिक्षाप्रदाने नाऽधिक्रियते तज्जनन्यादेः प्रद्वेषसम्भवाच्च, श्रूयते चाऽत्रोदाहरणं—

इह मद्दिगा अगारी, आसेसा सा नियं सुयं भणिउं । समणाण दिज्ज भिक्खं-ति तो गया निययखित्तम्मि ॥ १ ॥ अह भिक्खट्ठा एगो, समागओ तीए मंदिरं समणो । तो धूयाए दिन्नं, कूरकरंबाइ से सव्वं ॥ २ ॥ अवरह्णकालसमए, समागया खंतिया भणइ धूयं । आणेहि पुत्ति ! कूरं, जेणं भुंजामि सा भणइ ॥ २ ॥ साहुस्स मए दिन्नो, ता माया भणइ सुट्ठु मे विहियं । संपइ जं अवसेसं, चिट्ठइ तं देहि ×मज्झं ति ॥ ३ ॥ तो धूयाए कहियं, दिन्नं सव्वं पि साहुणो अम्मो ! । तो रुट्ठाए तीए, भणियं सव्वं पि किं पावे ! ॥ ४ ॥ तुमए दिन्नं ? सा भण-इ साहुणो +जाइअम्मि पुणरुत्तं । इय सोउं सा रुट्ठा, सामागया सूरिपासंमि ॥ ५ ॥ जंपेइ मज्झ गेहं, मुसियं सव्वं पि साहुणा तुम्ह । तत्तो तीए समक्खं, उवगरणं सूरिणा हरिउं ॥ ६ ॥ निच्छूढो सो साहू, नियगच्छाओ निवारिओ तीए। पच्चागयभावाए, पवेसिओ तो पुणो गुरुणा ॥ ७॥ इति,

परं बालोऽपि यदि दक्षः स्यात्तदा तेन दीयमानं भिक्षामात्रं मात्रादिवचनतः प्रभूतं वा अविचारितमेव ग्राह्यं ७। तथा 'मत्तो'

‡ शान्तज्वरे (टि० अ.)। × "मज्झंमि" भां. अ. य. । + "जाइयम्हि" प. ह. क. य. ।

मदिरादिमदविह्वलः, स चाशुचित्वा-लिङ्गना-हनन-भाजनभङ्गकरणादिदोषदुष्टत्वात्साधुभिक्षादानायोग्यः, सोऽपि यदि मनाग् मत्तोऽसागारिकप्रदेशस्थः* शुचिहस्तः श्रावकश्च स्यात्तदा योग्यः ८। तथोन्मत्तो—दृप्तः ग्रहगृहीतादिरस्याऽपि मत्तोक्तदोषदुष्टत्वाद्ददतोऽपि भिक्षा न ग्राह्या, नवरं यदि सोऽपि शुचिर्भद्रकश्च स्यात्तदा ग्राह्याऽपीति ९। तथा 'छिन्नकरः' कर्त्तितहस्तस्तथा 'छिन्नचरणो' लूनपादः, एताभ्यां च सकाशाद्भिक्षा न ग्राह्या, दानासमर्थत्वाल्लोकापवादादिदोषसम्भवाच्च, केवलं यद्येतावसागारिकस्थानस्थौ भवतश्छिन्नचरण उपविष्टश्च स्यात्तदा ग्राह्याऽपीति १०-११। तथा 'प्रगलितो' गलत्कुष्ठस्तद्भिक्षाग्रहणे हि साधोरपि कुष्ठरोगसङ्क्रान्तिः स्यात्, तदीयोच्छ्वास-त्वक्संस्पर्श स्वेद-मल मूत्रो-च्चार-आहार-लालादिभिः शरीरान्तरे तत्सङ्क्रमणस्याऽभिहितत्वात्, ततो न ग्राह्या, दद्रु-प्रसुप्तिकुष्ठिनि× चोक्तदोषाभावाद्ग्राह्याऽपीति १२। तथा 'नियल'त्ति सूचकत्वान्निगडितः—अयोमयपादबन्धनान्वित इत्यर्थः, तथा 'अंदुय'त्ति अत्राऽपि सूचकत्वादन्दुकबद्धः—दारुमयकरबन्धननियन्त्रित, एताभ्यां सकाशात्परितापना+ऽयतनादिदोषसम्भवाद्भिक्षा न ग्राह्या, यदि च निगडबद्धः सविक्रमोऽविक्रमश्चोपविष्टोऽसागारिकप्रदेशस्थो ददाति तदा ग्राह्या, अन्दुकबद्धे च दानशक्तेरेवाऽभावान्नाऽस्त्यपवादः १३-१४। तथा 'पादुकारूढः' काष्ठादिमयोपानत्समारूढः, स हि भिक्षां प्रयच्छन् दुर्व्यवस्थितत्वात्कदाचि※त्पतति कीटिकादिसत्त्वविराधनां च करोतीत्यतः परिह्रियते, यदि चाचल एवासौ किमपि ददाति तदा गृह्यत एवेति गाथार्थः १५ ॥ ८५ ॥ तथा—

दी०—'स्थविरो' वृद्धः सप्ततिवर्षोपरिवर्त्ती १, अप्रभु-र्देयस्यास्वामी २, पण्डो—नपुंसकः ३, वेपिरः—कम्पमानाङ्गः ४,

* एकान्तप्रदेशस्थः। × श्वेतकोढ (प० अ.)। + "तापनपतनादि°" प. ह. क. "°तापनादि°" अ. य.। ※ "°च्चित्प्रपतति" भां.।

ज्वरितो-ज्वरार्त्तः ५, अन्धो-दृष्टिरहितः ६, अव्यक्तो-बालो वर्षाष्टकान्तर्वर्त्ती ७, मत्तो-मदिरामदविह्वलः ८, उन्मत्तो-ग्रहादिगृहीतः ९, एषु द्वन्द्वैकत्वादेकवचनं, इत्थम्भूते दायके सति भिक्षा न ग्राह्येति योगः। तथा 'छिन्न'शब्दस्य पूर्वनिपाताच्छिन्नकरश्छिन्नचरणश्च स्पष्टौ ११, प्रगलितो-गलत्कुष्ठः १२, सूचकत्वान्निगडितो लोहमयपादबन्धनान्वितः १३, एवं अन्दुकितो-दारुमयकरबन्धनान्वितः १४, पादुकारूढः-काष्ठादिमयोपानच्चटितः १५, इति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ इदमेवाह—

खंडइ[16] पीसइ[17] भुंजइ[18], कत्तइ[19] लोढेइ[20] विक्खिणइ[21] पिंजे[22]। दलइ[23] विरोलइ[24] जेमइ[25], जा गुव्विणि[26] बालवच्छा[27] य ॥

व्याख्या—अत्र वक्ष्यमाणो 'या' शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्च या काचिन्महिला 'खण्डयति' उदूखलक्षिप्तानि शाल्यादिबीजानि मुशलघातैः श्लक्ष्णीकरोतीत्यर्थस्तया दीयमाना भिक्षा न ग्राह्या, बीजसङ्घट्टनाद्यारम्भसम्भवात्, साऽपि यदि साधुमागतमवलोक्य स्वयोगेनोत्क्षिप्तमलग्नबीजं च मुशलं निरपायप्रदेशे विनिवेश्य ददाति तदा गृह्यते १६। तथा 'पिनष्टि' शिलायां तिलामलककुस्तुम्बुरुलवणजीरकादि मृद्नातीत्यर्थः, अनयाऽपि दीयमाना न कल्पते, तिलादिसङ्घट्टनसद्भावाद्भिक्षाखरण्टितकरप्रक्षालनसम्भवाच्च, यदि तु पेषणसमाप्तौ प्रासुकं वा पिंषती ददाति तदा कल्पते १७। 'भृज्जति' चनकयवगोधूमादीनग्निप्रतप्तकडिल्लकादौ स्फोटयतीत्यर्थः, तया दीयमानं न कल्पते, कडिल्लकादिप्रक्षिप्तस्य चनकादेर्दाहसम्भवात्, यदि चाऽग्रेतनं चनकादि भृष्टोत्तारितमन्यच्च करे न गृहीतं स्यात्तदा कल्पते १८। तथा 'कर्त्तयति' रूतं सचक्रेण सूत्रं करोतीत्यर्थः १९। तथा 'लोठयति' कर्पासं लोठिन्यां कणकेन निरस्थिकं करोतीत्यर्थः २०। तथा 'विक्खिणइ' त्ति 'विकीर्णयति' रूतं कराभ्यां पौनःपुन्येन श्लक्ष्णयति २१। तथा 'पिञ्जयति' रूतं पिञ्जनेन मृदूकरोति २२। एताभिश्च-

तस्रूभिरपि दीयमानं न कल्पते, कार्पासास्थिकसङ्घट्टन-देयवस्तुखरण्टितहस्तधावनादिदोषसम्भवात्, यदि च कर्त्तयन्त्यपि सूत्रं तन्तुश्वेततविधायिना शङ्खचूर्णेन हस्तौ न धवलयति, धवलितौ वा शौचानाग्रहशीलतया भिक्षां दत्त्वा न प्रक्षालयति, लोठयन्ती विकीर्णयन्ती पिञ्जयन्ती च कार्पासं तदस्थिकांश्च न सङ्घट्टयति, देयद्रव्यखरण्टितकरधावने जलं च न विराधयति तदा कल्पत इति २२। तथा '+दलति' सचित्तगोधूमादिधान्यं घरट्टेन पिनष्टि, इयं हि भिक्षादानायोत्तिष्ठन्ती बीजानि सङ्घट्टयति दत्वा च करौ प्रक्षालयतीति न गृह्यते, यदि च स्वयोगेन मुक्तदलनव्यापाराऽचेतनं वा किञ्चिद्दलन्ती ददाति दत्वा च हस्तप्रक्षालनं न करोति तदा गृह्यत इति २३। तथा '×विलोलयति' करमन्थनादिना दध्यादि मथ्नाति, सा हि संसक्तदध्यादिलिप्तकरा भिक्षां ददती सत्त्ववधं विदध्यादिति न गृह्यते, यदि चासंसक्तदध्यादिकं मथ्नन्ती दद्यात्तदा गृह्यत इति २४। तथा 'जेमइ' त्ति 'जेमति' भुङ्क्ते-ऽभ्यवहरतीत्यर्थः, भुञ्जाना ह्याचमनं विधाय यदि साधुभ्यो दद्यात्तदाऽप्कायविराधना, अथैतद्दोषभयात्तदकृत्वैव वितरेत्तदोच्छिष्टमप्येते न त्यजन्तीत्यादिजनापवादः स्यात्तत्र च महान्दोषो, यदाह—"छक्कायदयावंतो, वि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं। आहारे निहारे, दुगुंछिए पिंडगहणे वा ॥ १ ॥" इत्यतो न कल्पते, यदि च कवलं मुखेऽक्षिपन्ती तदा चोपनतसाधुभ्य उत्थाय दद्यात्तदा कल्पत इति २५। तथा या काचिन्महिला गुर्विण्यापन्नसत्त्वा स्यात्तत्सकाशाद्गच्छनिर्गता जिनकल्पिकादयः प्रथमदिनादारभ्य भिक्षां न गृह्णन्त्येव, स्थविरकल्पिकास्त्वष्टौ मासान् यावद्गृह्णन्ति, नवममासे तु निषीदनोत्थानाभ्यां दीयमानं न गृह्णन्ति, गर्भपीडासम्भवात्, स्वमात्रस्थितया

+ "दलयति" य.। × "विरोलयति" ह. क.।

तु दीयमानं गृह्णन्त्यपीति २६ । तथा 'बालवत्सा' स्तन्योपजीविशिशुका, चः समुच्चये, तया दीनमानं न कल्पते, निक्षिप्तबालस्य मार्जारादिभ्यो विनाशसम्भवात्, निक्षिप्यमाणस्योत्क्षिप्यमाणस्य चातिसुकुमारत्वेन परितापनासम्भवाच्च । अत्र चायं वृद्धसम्प्रदायः—गच्छवासिनो यदि क्षीराहारं बालकं पिबन्तं निक्षिप्य जननी ददाति, तदा रोदितु वा मा वा, न गृह्णन्ति, अथाऽन्यदपि *पीहकाद्याहारमाहारयति पिबंश्च निक्षिप्तस्ततो यदि न रोदिति तदा गृह्णन्ति, अथ रोदिति ततो न गृह्णन्ति, अथ स्तन्यजीवी इतरोवाऽपिबन्नेव निक्षिप्तस्ततो यदि न रोदिति तदा न परिहरन्ति, अथ रोदिति ततः परिहरन्त्येवेति । गच्छनिर्गताः पुनर्जिनकल्पिकादयो यावत् स्तन्यजीवी बालकस्तावत् पिबन्नपिबन्नेव वा निक्षिप्यतां रोदितु वा मा वा, न गृह्णन्त्येव, यदा चाऽन्यदप्याहारयितुमारब्धो भवेत्तदा यदि पिबन्निक्षिप्यते, ततो रोदितु वा मा वा न गृह्णन्त्येवाऽथाऽपिबन्नेव निक्षिप्तस्ततो यदि रोदिति तदा परिहरन्त्येवाऽथ न रोदिति ततो न परिहरन्ति २७ । इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥

दी०—या स्त्री 'खण्डयति' उदूखलमूशलैः सचित्तं श्लक्ष्णयति १६, पिनष्टि—जीरकादि मृद्नाति १७, भृज्जति—चणकादीँस्तप्तकडिहल्लकादौ+ स्फोटयति १८, कर्त्तयति—पूणिकाः सूत्रीकरोति १९, लोढयति—लोढिन्यां कणकेन कर्पासं निर्वीजयति २०, विकीर्णयति—कराभ्यां पुनःपुनस्तूलकं सूक्ष्मयति २१, पिञ्जयति—रूतं पिञ्जनेन मृदूकरोति २२, दलति—घरट्टेन सचित्तं पिनष्टि २३, विरोलयति—दध्यादिमथ्नाति २४, जेमति—भुङ्क्ते २५, या काचिन्महिला गुर्विणी—अष्टमासिकगर्भा, जिनकल्पिकादयः प्रथममासगर्भामपि त्यजन्ति २६, बालवत्सा च—स्तन्योपजीविशिशुकेति २७ गाथार्थः ॥ ८६ ॥ अत्रैवाह—

* " अवलेही " इति पर्याय अ पुस्तके । + " °प्तकडिवल्लकादौ " क० ।

तथा—

तह छक्काए गिण्हई[28], घट्टेइ[29] आरभंइ[30] खिवेइ[31] दट्ठु जई। साहारण[32]-चोरियगं[33], देइ परक्कं[34] परट्ठं[35] वा ॥८७॥

व्याख्या—तथेति समुच्चये येति पदं सर्वत्रेहाऽपि सम्बध्यते, ततश्च या काचिदगारिणी 'षट्कायान्' लवणो·दका·ग्नि-पवनपूरितदृति·फल-मत्स्यादिजीवसमूहान्, किमित्याह—'गृह्णाति' हस्ताभ्यामादत्ते, तया दीयमानं, न कल्पत इति सर्वत्रा-योजनीयं २८। तथा 'घट्टयति' षट्कायानेव शेषशरीरावयवैः सङ्घट्टयति, अयमर्थः—कर्णारोपितबदरकरीरजपाकुसुमदाडिम-पुष्पादीनि मस्तकस्थितसिद्धार्थराजिकाशतपत्रिकाकुसुमादीनि गलावलम्बिताम्लानमालतीमालादीनि परिधानाद्यन्तरस्थापित-सरसवृन्तताम्बूलपत्रादीनि च शरीरेण चलयतीति २९। तथा 'आरभते' षट्कायानेव विनाशयति, तत्र खननमर्दनादिना पृथिवीकायं मज्जनवस्त्रधावनादिनाऽप्कायं उल्मुकघट्टनादिनाऽग्निमुष्णभक्तादेः फुत्करणादिना मारुतं फलादेः कर्त्तनादिना वनस्पतिं स्फुरन्मत्स्यादिच्छेदनादिना त्रसकायं विराधयतीति भावना ३०। तथा 'क्षिपति' प्रकृतषट्कायानेव भूम्यादौ मुञ्चति, किं कृत्वेत्याह—'दृष्ट्वा' अवलोक्य, कानित्याह—'यतीन्' साधून्, यतिभिक्षादानबुद्ध्येति तात्पर्यम् ३१। तथा 'साधारणं' बह्वायत्तं, तद्ददातीति योगः, तत्र च साधारणानिसृष्टवद्दोषा वाच्याः ३२। 'चौरितकं' चौरिकया गृहीतं 'ददाति' भक्त्यादिना साधुभ्यः प्रयच्छति, तत्र च दोषाः प्रतीता एव ३३। तथा 'पराक्यं' परसत्कमथवा 'परार्थं' परनिमित्तं, कार्पटिकादिदानाय कल्पितमित्यर्थः। 'वा' विकल्पे, ददाति। अत्र च परसत्के तत्स्वामिनाऽननुज्ञातेऽपरभिक्षा-चरदानाय कल्पिते च दीयमानेऽदत्तादानान्तरायादयो दोषाः स्युः ३४–३५। इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ तथा—

दी०—तथा या स्त्री षड्जीवनिकायान् गृह्णाति हस्ताभ्यां २८, घट्टयति—तानेव शरीरस्पर्शादिना २९, आरभते—षट्कायं पाकाद्यर्थं विनाशयति ३०, क्षिपति—दृष्ट्वा यतीन् भिक्षादानोद्यता षट्कायं भूमौ मुञ्चति ३१, साधारणं—बह्वायत्तं ३२, चौरितकं—चौरिकया गृहीतं ३३, ददाति, तथा 'पराक्यं' परकीयं ३४, अथवा 'परार्थं' कार्पटिकादीनां कल्पितं ३५, इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ अस्मिन्नेवाह—

ठवइ[३६] बलिं ×उवत्तइ[३७], पिढराइ तिहा सपच्चवाया[३८] जा। दितेसु एवमाइसु, ओहेण मुणी न गिण्हंति ॥८८॥

व्याख्या—इहाऽपि येति पदं प्रतिपदं सम्बन्धनीयं, ततश्च या काचिन्नारी 'स्थापयति' साधुदानायोद्यता सती मूलस्थालीतः समाकृष्य स्थगनिकादौ न्यस्यति, किमित्याह—'बलिं' उपहार-मग्रकूरमित्यर्थः, तया दीयमाना भिक्षा न कल्पते, प्रवर्त्तनादिदोषसम्भवात् ३६। तथा 'उद्वर्त्तयति' साधुदानबुद्ध्या परावर्त्तयति—नमयतीत्यर्थः। किं तदित्याह—'पिठरादि' स्थाल्यादि, अत्र च कीटिकादिसत्त्वघातः स्यात् ३७। तथा 'त्रिधा' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणैस्त्रिभिः प्रकारैः 'सप्रत्यपाया' काष्ठकण्टकगवादिभ्यः सकाशात्सम्भाव्यमानाभिघाताद्यनर्था या काचिद्वनिता स्यात्तया दीयमानं न कल्पत इति ३८। इह च कण्डनादिव्यापारस्य तदुचितत्वाद्दानप्रवृत्तौ च प्रायस्तासां मुख्यत्वाच्च +कण्डयतीत्यादिना स्त्रीणां विशेषणानि विहितानि, न तु पुरुषादीनां व्यवच्छेदकानि, ततो लिङ्गव्यत्ययेन पुरुषाणामुचितनपुंसकानां च यथासम्भवमेतान्यायोजनीयानि। अत्राऽऽह—ननु म्रक्षितसंहृतानिसृष्टादिष्वपि द्वारेषु षट्कायान् गृह्णातीत्यादिद्वाराणां केषाञ्चिदर्थो व्याख्यात

× भां. क. म.। " उयत्तइ " अ. य.। " ओयत्तइ " प. ह.। + " कण्डतीत्यादिना " अ. प. ह. क. य.।

तत्र प्रक्षितादिद्वारानुरोधेनेह तु दायकद्वारवशेनेत्यदोषः । 'न चैकस्याऽपि वस्तु-
एव, तर्कि पुनरिह तद्ग्रहणेन ? इत्युच्यंते–तत्र प्रक्षितादिद्वारानुरोधेनेह तु दायकद्वारवशेनेत्यदोषः लक्षणसाङ्कर्ये समाधानं वाच्यमिति । एवं
नोऽनेकदोषनिपातो नोपपद्यते' अस्य न्यायस्य तत्र तत्र प्रसिद्धत्वादेवमन्यत्राऽपि लक्षणसाङ्कर्ये 'दिंतेसु' इत्यादि 'ददत्सु' वितरत्स्वेव-
दायकानभिधायाऽथैतेषु ददत्सु साधुभिर्यद्विधेयं तत्साक्षाद् ग्रन्थकार एवाभिधातुमाह मानासंसक्तद्रव्यलिप्तकरमात्रेत्यादीनामागमोक्तदातृविशे-
मादिषु स्थविराप्रभुप्रभृतिष्वादिशब्दात् पट्कायान् पादाभ्यामवगाहमानासंसक्तद्रव्यलिप्तकरमात्रेत्यादीनामागमोक्तदातृविशे- प्राग्भावित एवेति न पुनः
पाणां ग्रहः, 'ओघेन' सामान्येनोत्सर्गेणेत्यर्थः, अपवादतस्तु यथासम्भवं गृह्णन्त्यपि । अयं चाऽर्थः प्राग्भावित एवेति न पुनः ॥ ८८ ॥
प्रतन्यते । 'मुनयः' साधवो 'न' नैव 'गृह्णन्ति' स्वीकुर्वन्ति, भक्तादीति गम्यत इति गाथार्थः ॥ ८८ ॥

अथोन्मिश्रद्वारं विवरीतुमाह—

दी०—या स्त्री साधुदानोद्यता स्थालितः स्थापयति, 'बलिं' अग्रकूरं ३६, उद्वर्त्तयति–नमयति 'पिठरादि'स्थाल्यादि ३७,
तथा 'त्रिधा' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणैस्त्रिभिः प्रकारैः 'सप्रत्यपाया' काष्ठकण्टकगवादिभ्यः सकाशात्सम्भाव्यमानाभिघाताद्यनर्था
या स्त्रीति ३८, इह ख(क)ण्डयतीत्यादिषु प्रायः स्त्रीणां मुख्यत्वात्तद्विशेषणानि कृतानि । तथा च प्रक्षितानिसृष्टादिदोषाणां
केषाञ्चिदर्थः पुनरुक्तोऽप्यत्र दायकाश्रितत्वान्न दुष्टः, तथा स्खलनासमाधानलोकापवाद+प्रवृत्तिरोगसङ्क्रमषट्कायविराधनादयो
दोषा यथार्हमेतेषु भावनीयाः । एवं ददत्सु 'एवमादिषु' स्थविरादिदायकेषु, आदिशब्दादन्येष्वपि तद्विधदोषदुष्टेषु 'ओघेन'
उत्सर्गेण मुनयो भक्तादि न गृह्णन्ति, अपवादतस्तु तद्विधदोषासम्भावनायां गृह्णन्तीति गाथार्थः ॥ ८८ ॥

+ "० पवादाप्रवृत्ति" क० । "० पवादाप्रभृति" प० । "पवादप्रभृति" अ० ।

अथोन्मिश्राख्यमाह—

जोग्गमजोग्गं च दुवे, वि मीसिउं देइ जं तमुम्मीसं। इह पुण सच्चित्तमीसं, न कप्पमियरम्मि उ विभासा।

व्याख्या—'योग्यं' साधुदानोचितमोदनादि, तथा'अयोग्यं' तद्विपरीतं सचेतनं तुषादि वा, चः समुच्चये 'द्वे अपि' द्विसङ्ख्ये अपि वस्तुनी 'मिश्रयित्वा' एकीकृत्य, इह च मिश्रणं मीलनमात्रमेवाऽवसेयं, न तु करम्बीकरणं, तस्य कृतौद्देशिकत्वेनाऽभिहितत्वात्। उन्मिश्रणं चाऽनाभोगेन, केवलं दीयमानं स्तोकं स्यादिति लज्जया, पृथग्दाने वेला लगतीत्यौत्सुक्येन, मीलितं मिष्टं स्यादिति भक्त्या, नियमभङ्गो भवत्वेतेषामिति प्रत्यनीकतया वा कुर्यादिति। किमित्याह—'ददाति' यतिभ्यो वितरति, गृहस्थ इति गम्यते, यत्तदुन्मिश्र–मुन्मिश्राभिधानमुच्यत इति शेषः, इह पुन–रत्रोन्मिश्रे पुनः सचित्तमिश्रं–बीज-कन्द-हरितादिमिश्रितं देयद्रव्यमपि दात्रा दीयमानं, किमित्याह 'न'नैव 'कल्प्यं' कल्पनीयमितरस्मिंस्तु—अचित्तमिश्रे पुनर्विभाषा–तत्किञ्चित्कल्पनीयं किञ्चिन्नेत्येवंलक्षणा विकल्पना, स्यादिति शेषः, एतदुक्तं भवति—अत्राऽपि सचित्तेन सचित्तं मिश्रितं १, एवमचित्तेन सचित्तं २, सचित्तेनाऽचित्तं ३, अचित्तेनाऽचित्तं ४, इत्येवं लक्षणाश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तेषु च मध्ये आद्यभङ्गत्रये न कल्पते, देयद्रव्यस्य सचित्तमिश्रत्वेनाकल्पनीयत्वात्, चरमभङ्गसत्कयोश्च स्तोकबहुपदसमुत्थयोः प्रथमतृतीयभङ्गकयोः संहृतदोषोक्तविधिना कल्पत इति गाथार्थः ॥ ८९ ॥

साम्प्रतमपरिणतदोषमभिधातुमाह—

दी०—'योग्यं' साधूनामुचितं देयं वस्तु 'अयोग्यं' तद्विपरीतं, द्वे अपि 'विमिश्र्य' एकीकृत्य अनाभोगात्स्तोकत्वा—

॥ ८० ॥

इतरस्मि- दौत्सुक्यात्प्रत्यनीकत्वाद्वा ददाति यद्देयं तदुन्मिश्राख्यं स्यात्, इहोन्मिश्रे पुनः सचित्तमिश्रं न कल्प्यं, अशुद्धत्वात्,

न्नचित्तमिश्रे 'विभाषा' किञ्चित्कल्पते किञ्चिन्नैवेति, कोऽर्थः ? सचित्ताचित्तयोर्मिश्रत्वे चतुर्भङ्ग्यां संहृतवत् स्तोकबहु-

पदभेदादचित्तमिश्रस्य चतुर्विधत्वे प्रथमतृतीयभङ्गभवं कल्पत इति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ अथापरिणताख्यमाह—

अपरिणयं दव्वं चिय, भावो वा दोण्ह दाणि एगस्स । जइणो वेगस्स मणे, सुद्धं नऽन्नस्स परिणमियं ॥९०॥

व्याख्या—'अपरिणतं' अपरिणताभिधानं, किमुच्यते ? इत्याह 'द्रव्यमेव' दातव्यं वस्त्वेवाऽप्रासुकमिति 'भावो वा'

अध्यवसायो वेत्यथवाऽऽपरिणतो—ऽनभिमुखो 'द्वयो'र्द्विसङ्ख्ययोः स्वामिनोर्मध्यादेकस्येति योगः, क विषये ? इत्याह—'दाने'

दानविषये 'एकस्या'ऽन्यतरस्य दातुः 'यतेर्वा' साधोर्वेत्यथवा 'एकस्य' भिक्षागतसाधुसङ्घाटकमध्यादन्यतरस्य 'मनसि' चेतसि

'शुद्ध'मेतल्लभ्यमानमशनादि निर्दोषं, परिणतमिति योगः । 'न' नैवा'ऽन्यस्य' द्वितीयस्य साधोः 'परिणमियं'ति 'परिणत'-

मवगतिमागतं । इह च दातृभावापरिणतस्याऽनिसृष्टस्य च दातृसमक्षासमक्षत्वकृतो विशेषोऽनसेय इति गाथार्थः ॥ ९० ॥

अथ लिप्तदोषविवरणाय सपादगाथामाह—

दी०—अपरिणतं स्याद्द्रव्यमेवाप्रासुकं अथवा 'भावो' अध्यवसायो 'द्वयो'र्देयस्वामिनोर्मध्या'दाने' दानविषये

'एकस्य' अपरिणतोऽनभिमुखः, यतेर्वा—साधुसङ्घाटकमध्यादेकस्य मनसि शुद्धं परिणतं नैवान्यस्य—तद्द्वितीयस्य, इह दातृ-

भावापरिणतस्यानिसृष्टस्य च दातृसमक्षासमक्षत्वकृतो विशेष इति गाथार्थः ॥ ९० ॥ अथ लिप्ताख्यमाह—

दहिमाइलेवजुत्तं, लित्तं तमगेज्झमोहओ इहइं । संसट्ठमत्तकरसा-वसेसदव्वेहिं अडभंगा ॥ ९१ ॥

एत्थ विसमेसु घिप्पइ,

व्याख्या—मकारस्याऽऽगमिकत्वा'द्ध्यादि' दधिक्षीरतक्रतीमनप्रभृति 'लेपयुक्तं' लेपवत्, किमित्याह—'लिप्तं' लिप्ताख्यमुच्यत इति शेषः। 'तं'ति, पुनरित्यस्याध्याहारात्तत्पुनर्लिप्तं, किमित्याह—'अग्राह्यं' अनादेयं, किं सर्वथा ?, नेत्याह—'ओघतः' सामान्यतः-कारणं विनेति यावत्, यदाह—"घेतव्वमलेवकडं, लेवकडे साहु पच्छकम्माई। अलेपवतो गुणमाह—"न य रसगेहिपसंगो, न य भुत्ते बंभपीला य ॥ १ ॥" अलेपकारि चेह शुष्कौदनमण्डकसक्तुकुल्माषवल्लचनकादिकं विज्ञेयं। आह-यद्येवमलेपकार्यपि न +ग्रहीतव्यं, तत्राऽपि कियतामपि दोषाणां सम्भवात्, ×को वा किमाह ? न केवलमलेपमपि न ग्राह्यं, भोजनमपि न कर्तव्यमेव, यदि संयमयोगानां हानिर्न स्यान्नवरं-तदन्तरेण शरीरस्थितेरेवासम्भवात्सैव दुर्निवारेत्यत उत्सर्गतोऽपि तदनुज्ञातं, यदाह-"जइ पच्छकम्म दोसा, हवंति मा चेव भुंजउ समणो।" आचार्याः-"तवनियमसंजमाणं, चोयग! हाणी खमंतस्स ॥ १ ॥"त्ति। 'इहई'ति, चशब्दाध्याहारादिह चा-ऽत्र च लिप्तेऽष्टौ भङ्गाः स्युरिति योगः, कैः कृत्वेत्याह-'मात्रं च' भाजनं 'करश्च' हस्तो मात्रकरौ, संसृष्टौ च तौ दध्यादिलेपवद्द्रव्यलिप्तौ मात्रकरौ च संसृष्टमात्रकरौ, तौ च 'सावशेषद्रव्यं च' दत्तोद्धरितवस्तु, तानि तथा, तैः संसृष्टमात्रकरसावशेषद्रव्यैः, किमित्याह 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्या 'भङ्गा' विकल्पाः स्युरिति शेषस्ते चामी—संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं १। संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं २। संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ३। संसृष्टो हस्तो-

+ भां. अ.। "गृहीतव्यं" प. ह. क. य.। × आचार्यः प्राह–इति पर्यायः अ. पुस्तके।

ऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ४। असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ५। असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ६। असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ७। असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यमिति ८। 'एत्थ'त्ति चशब्दाध्याहारादत्र चैतेषु चाष्टसु भङ्गकेषु मध्ये 'विषमेषु' प्रथमतृतीयादिषु भङ्गकेषु 'कल्पते' ग्रहीतुं युज्यते, स्वयोगेन असंसृष्टयोरपि करमात्रयोः सावशेषद्रव्यतायां लेपवद्द्रव्यभिक्षाया अपि ग्रहणे कथञ्चित्पश्चात्कर्मदोषस्य परिहर्तुं शक्यत्वात्, न तु समेषु, निरवशेषद्रव्यतया स्थाल्यादिधावनतः पश्चात्कर्मदोषस्य तत्र सम्भवादिति सपादगाथार्थः ॥ ९१ ॥

अथ छर्दितदोषाभिधानाय प्रथमपादोनगाथामाह—

दी०—दधिक्षीरतक्रतीमनप्रभृतिलेपयुक्तं लिप्ताख्यं स्यात्, तत्पुनरग्राह्यं 'ओघतः' कारणं विना, इह च लिप्ताख्येऽष्टौ भङ्गाः स्युरिति योगः। कैः कृत्वा ? इत्याह—'संसृष्टौ'दध्यादिलिप्तौ 'मात्रकरौ' भाजनहस्तौ 'सावशेषं द्रव्यं' दत्तोद्धरितं, तैः, यथा-संसृष्टौ मात्रकरौ. सावशेषं द्रव्यं १, तौ तथैव. निरवशेषं द्रव्यं २, हस्तः संसृष्टो न मात्रं. सावशेषं द्रव्यं ३, चतुर्थोऽप्येवं. निरवशेषं द्रव्यं ४, असंसृष्टो हस्तो न मात्रं. सावशेषं द्रव्यं ५, षष्ठोऽप्येवं. निरवशेषं द्रव्यं ६, असंसृष्टौ मात्रहस्तौ. सावशेषं द्रव्यं ७, तौ तथैव. निरवशेषं द्रव्यं ८, इति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ एषु शुद्धत्वं छर्दिते दोषत्वं चाह—

छड्डियमसणाइ होंत परिसाडिं। तत्थ पडंते काया, पडिए महुबिंदुदाहरणं ॥ ९२ ॥

व्याख्या—'छर्दितं' छर्दिताभिधानं, किमुच्यत ? इत्याह-'अशनादि' यद्भक्तपानप्रभृति 'भवत्परिशाटि' भूमौ परिपतद्वयवं सदात्र्या दीयते, तदिति। 'तत्थ'त्ति चस्य गम्यमानत्वा'त्तत्र च' तस्मिंश्च प्रकृतवस्तुनि दीयमाने 'पतति' दातृभाजनात्प-

रिभ्रश्यति सति, किमित्याह-'कायाः' पृथिव्यादिजीवसमूहाः, विराध्यन्त इति गम्यते । 'पडिए'त्ति चशब्दाध्याहारात्पतिते च-भूमिगते च, किमित्याह-'मधुबिन्दूदाहरणं' पुष्प[मधु-मिष्टान्न]रसलवदृष्टान्तोऽनेकदोषपरम्परावेदकं वाच्यं, तच्चेदम्—

चंपाए नयरीए, मित्तपहो नाम नरवई होत्था । तस्स य भज्जा सोह-ग्गमंदिरं धारिणी देवी ॥ १ ॥ तत्थेव सत्थवाहो, धणमित्तो धणसिरी य से भज्जा । ओवाइयप्पभावा, तीसे पुत्तो वरो जाओ ॥ २ ॥ तो लोगो भणइ इमं, एयंमि कुलंमि धणसमिद्धंमि । जो जाओ तस्स जए, सुजायमेयस्स पुत्तस्स ॥ ३ ॥ तत्तो अम्मापियरो, वोलीणे बारसंमि दिवसंमि । ठाविंसु तस्स नामं, गुणनिप्फन्नं सुजाओ त्ति ॥ ४ ॥ ललिएण य भणिएण य, देवकुमारोवमो गओ वुड्ढिं । अम्मापिईगुणेणं, संजाओ सावओ परमो ॥ ५ ॥ तत्थेव धम्मघोसो, निवसइ मंती पियंगुनामेण । तस्स य भज्जा गुणरूव-विम्हिया तो सुजायस्स ॥ ६ ॥ पभणइ दासिं जाहे, अणेण मग्गेण सो उ गच्छेज्जा । ताहे मम साहेज्जह, जेण अहं तं पलोएमि ॥ ७ ॥ अह मित्तविंदसहिओ, अन्नदिणे एइ तेण मग्गेण । तो दासीए कहिए, झत्ति पियंगू पलोएइ ॥ ८ ॥ अन्नाहि सवत्तीहि य, पलोइओ सायरं पियंगू वि । पभणइ धन्ना सच्चिय, नारी जीसे वरो एसो ॥ ९ ॥ अह अन्नया कयाई, सुजायवेसं करित्तु सा रमई । अन्नाण सवत्तीणं, मज्झे तव्वयणचेट्ठाहिं ॥ १० ॥ एत्थावसरे मंती, समागओ निज्झुणंति कलिऊणं । सणियं उवसप्पेउं, कवाडछिद्देण पिच्छेइ ॥ ११ ॥ अंतेउरं समग्गं, दट्ठुं सोउं च तस्स वावारं । चिंतेइ मणे नूणं, विणट्ठमेयं परं भिन्ने ॥ १२ ॥ रहसे होही सहरं, ता छन्नं चेव अच्छउ इमं ति । कुविएण सुजायम्मी, कूडे लेहे नरवइस्स ॥ १३ ॥ दंसित्तु कोवमप्पा-इऊण लोगाववायभीएण । लेहं समप्पिऊणं, विसज्जिओ सो अमच्चेणं ॥ १४ ॥ नयरीए अक्खुरीए, चंदज्झयराइणो

समीवंमि । पत्तो य तत्थ दिट्ठो, रन्ना तो चिंतियं एवं ॥ १५ ॥ अच्छउ ता वीसत्थो, मारेयव्वो इमो उवाएणं । एगत्थ रमंतेणं, नाऊणं तस्स आयारं ॥ १६ ॥ परिचिंतियमणेणं, किह रूवं एरिसं विणासेमि ? । उस्सारित्ता सव्वं, कहेइ लेहं च दरिसेइ ॥ १७ ॥ भणियं च सुजाएण वि, जं जाणसु तं तुमं करेह त्ति । न तुमं मारेमि अहं, पच्छन्ने नवरमच्छाहि ॥ १८ ॥ इय भणिऊणं रन्ना, चंदजसानामिया निया भगिणी । तयदोसदूसियतणू, दिन्ना अह भोगदोसेणं ॥ १९ ॥ वड्ढउं आरद्धो, तयदोसो सो सुजायदेहे वि । ईसीसि§ संकंतो, तो सा चिंतइ नियमणे एवं ॥ २० ॥ एसो मम धम्मगुरू, निरुवमसोहग्ग-संपयासहिओ । मज्झ कएण विणट्ठो, धिरत्थु !!! मे कामभोगाणं ॥ २१ ॥ संवेगसमावन्ना, पच्चक्खइ जावजीवमाहारं । मरिउं जाओ देवो, सम्मं निज्झामिया तेणं ॥ २२ ॥ ओहिं पउंजिऊणं, समागओ वंदिउं भणइ भणसु । किं ते करेमि ? सो वि हु, तिव्वं संवेगमावन्नो ॥ २३ ॥ चिंतइ अम्मापियरो, जइ पेच्छं पव्वयामि तो नूणं । तब्भावं नाऊणं, देवेण तओ सिला विउला ॥ २४ ॥ नयरप्पमाणमित्ता, विउविया नायरा तओ भीया । धूयकडुच्छय+हत्था, पायावडिया पजंपंति ॥ २५ ॥ भो भो ! खमेउ सो जस्स, किंचि अम्हेहिं चिट्ठियं ×दुट्ठुं । देवो भासेइ तओ, हा दासा !! कत्थ वच्चेह ? ॥ २६ ॥ पावेण अमच्चेणं, सुसावओ दूसिओ अकज्जेणं । चूरेमि अज्ज तुब्भे, नवरं जइ तं समाणेह ॥ २७ ॥ *खामेयह तो छुट्टह, पुट्ठो सो †कत्थत्ति पलोएणं । उज्जाणगओ चिट्ठइ, कहिओ देवेण तो झत्ति ॥ २८ ॥ नागरजणसहिएणं, रन्ना गंतूण खामिओ

§ "सी" भां. । "से" प्र० । + "॰कडुच्छुय" अ । "॰कडच्छुय" प. ह. क. य. । × "दुट्ठं" भां. अ. । "दुट्ठु" प्र० । * "खामेहह" प. ह. क. । † "कत्थ तं" अ । "कत्थ चं" प. ह. क. य. ।

तत्थ । सो वि हु अम्मापियरो, रायाणं तह य पुच्छेउं ॥ २९ ॥ पव्वइओ तो पच्छा, अम्मापियरो वि काउमणवज्जं । पव्वज्जं पत्ताइं, सिद्धिपयं विगयसव्वभयं ॥ ३० ॥ मंती वि धम्मघोसो, निव्विसओ कारिओ नरिंदेण । निव्वेयं आवन्नो, अहो !!! मए पावकम्मेणं ॥ ३१ ॥ अच्चंतदारुणेसुं, आसीविससंनिभेसु भोगेसु । लुद्धेण इमं विहियं, ति निग्गओ हिंडमाणो उ ॥ ३२ ॥ रायगिहे संपत्तो, थेराणं अंतिए य पव्वइओ । गीयत्थो वि य जाओ, विहरंतो तो गओ भगवं ॥ ३३ ॥ वारत्तपुरं नगरं, तत्थाऽभयसेणराइणो तणओ । वारत्तओ अमच्चो, तस्स गिहे भिक्खवेलाए ॥ ३४ ॥ संपत्तो जा चिट्ठइ, ता दाणनिउत्तऽमच्चमणुएणं । पायसथालं भरियं, उवणीयं महुघयसणाहं ॥ ३५ ॥ पडिओ य तओ बिंदू, छड्डियदोसो त्ति निग्गओ साहू । ओलोयणोवविट्ठो, दट्ठुं वारत्तओ एवं ॥ ३६ ॥ किं कारणं ? न गहिया, अणेण मुणिणा इमा पवरभिक्खा । इय जा चिंतइ ता तत्थ, मच्छियाओ निलीणाओ ॥ ३७ ॥ ताओ घरकोइलिया, पिच्छइ तं सरडु तं पि मज्जारो । तं पच्चंतियसुणओ, तं पि य वत्थवगो सुणओ ॥ ३८ ॥ ते कलहंते दट्ठुं, उवट्ठिया तेसि सामिणो तेसिं । जाया मारामारी, बाहिं च विणिग्गया तत्तो ॥ ३९ ॥ पाहुणगा वि हु सबलं, पिंडित्ता आगया पुणो तत्थ । तेसिं भंडंताणं, जाओ य महाऽऽहवो पच्छा ॥ ४० ॥ वारत्तगो विचिंतइ, एएणं कारणेण नो गहिया । भिक्खा मणोहरा वि हु, तओ य सुहभावजोगेणं ॥ ४१ ॥ जायं जाईसरणं, संबुद्धो देवयाए उवगरणं । उवणीयं सव्वं पि हु, जाओ वारत्तगो समणो ॥ ४२ ॥ विहरंतो य कमेणं, संपत्तो सुंसुमारनयरंमि । तहिं धुंधुमाररन्नो, अंगारवइत्ति नामेणं ॥ ४३ ॥ धूया समत्थि सा वि हु, सुसाविया वायनिज्जिया तीए । परिवाइया पओसं, आवन्ना चिंतए एवं ॥ ४४ ॥ पाडेमि सवत्तिजणे, एयं पंडिच्चगवियं तत्तो । चित्तफलए लिहित्ता,

छर्दिते-धर्मघोष-मन्त्रि-श्रमणोदाहरणम् ।

दट्ठुं पज्जोएणं, तीसे रूवं मणोहरं दूरं । पुट्ठाए तीए कहियं, दूयं पेसेइ सो ताहे ॥ ४६ ॥
पज्जोयनिवस्स उवणीया ॥ ४५ ॥
गंतूण तेण कहियं, वयणं पज्जोयराइणो तणयं । देहि नियं मे धूयं, भवाहि वा जुज्झसज्जो त्ति ॥ ४७॥ तो धुंधुमाररन्ना, इय
सोउं कोवपूरियमणेणं । सो निच्छूढो गंतुं, सविसेसं कहइ नियरन्नो ॥ ४८ ॥ तो आसुरुत्तचित्तो, सव्वेण बलेण आगओ तुरियं ।
वेढेइ सुंसुमारं, नयरं अह धुंधुमारो वि ॥ ४९ ॥ अप्पाणं अप्पबलं, इयरं च महाबलं कलेऊणं । भयभीओ मज्झगओ,
पुच्छइ नेमित्तियं किं पि ॥ ५० ॥ सो वि निमित्तनिमित्तं, चच्चरमज्झंमि गंतु मेसेइ । डिंभाणि ताणि तत्तो, भीयाणि पलायमा-
णाणि ॥ ५१ ॥ नागघरमज्झपरिसं-ठियस्स वारत्तगस्स पासंमि । पत्ताणि तओ सहसा, मा बीहह तेण भणियाणि ॥५२॥
नेमित्तिएण रन्नो, कहियं तुज्झं जओ न संदेहो । वीसत्थाणं उवरिं, पडिओ गंतूण मज्झण्हे ॥ ५३ ॥ गहिऊणं पज्जोओ,
नीओ नयरीए मज्झभागंमि । उत्तमपुरिसो एसो, अंगारवई तओ दिन्ना ॥५४॥ नयरं हिंडतेणं, अप्पबलं धुंधुमाररायाणं ।
दट्ठुं पज्जोएणं, अंगारवई तओ भणिया ॥ ५५ ॥ भद्दे ! तुह जणएणं, अप्पबलेणं कहं अहं गहिओ । सा साहइ मुणि-
वयणं, गओ य सो साहुमूलंमि ॥ ५६ ॥ भणमाणो नेमित्तिय-खमणं वंदामि सो य उवउत्तो । आपवज्जं पेच्छइ, चेडगसं
वइयरं नवरं ॥ ५७ ॥ ×इत्यलं प्रसंगेनेति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

इत्युक्ता उद्गमोत्पादनाग्रहणैषणादोषाः, साम्प्रतं तु त एव यत्प्रभवास्तद्दर्शनार्थं ग्रासैषणादोषसङ्ख्याप्रतिपादनार्थं चाऽऽह—

दी०—एषु च 'विषमेषु' प्रथमतृतीयादिभङ्गेषु भक्तादि गृह्यते, पश्चात्कर्मादिदोषरहितत्वात् । अथ छर्दितमुच्यते यद-

× " तओ सम्मं निरइयारं, अणुट्ठाणं काऊण काले सिद्धो त्ति " श्रीचन्द्रीयवृत्तौ ।

शनादि 'भवत्परिशाटि' भूमौ पतत्तदवयवं 'तदि'ति तस्मिंश्च–दातुः कराद्भूमौ पतति सति 'कायाः' पृथिव्यादिजीवसमूहा, विराध्यन्त इति गम्यते। 'पतिते च' भूमिगते मधुबिन्दूदाहरणं, यथा–कश्चिद्धर्मघोषाख्यो मन्त्री गृहीतव्रतो विहरन् वारित्तकपुरं जगाम, तत्र वारित्तकमन्त्रिगृहे भिक्षार्थं गतो, दीयमानमधुघृतान्वितपायसादधोमुखमधुबिन्दुपातदर्शनाद्दोषमन्वेष्य निर्गतः। तच्च गवाक्षस्थो वारित्तको (मन्त्री) विलोक्य कुतो भिक्षा न गृहीता ? इति यावच्चिन्तयति तावत्तत्र भूपतितमधुबिन्दुके मक्षिकायोगाद्गृहकोकिला तद्योगात्सरटस्ततो मार्जारस्तं प्रति प्राघूर्णकः श्वा धावितस्तदनु वास्तव्यः श्वा, तयोः कलहे तत्स्वामिनोर्विरोधादन्योऽन्यं सङ्ग्रामोऽभूत्, ततो वारित्तकेन चिन्तितं–अहो!! अनेनैव कारणेन मुनिना भिक्षा न जगृहे, धन्यः स इति शुभभावयोगाज्जातजातिस्मरणो देवताऽर्पितसाधूपकरणः स्वयम्बुद्धो जात इति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

इत्युक्तदोषनिगमनं ग्रासैषणादोषांश्च प्रस्तावयन्नाह—

इय सोलस सोलस दस, उग्गमउप्पायणेसणादोसा। गिहिसाहूभयपभवा, पंच उ+गासेसणाइ इमे ।९३।

व्याख्या—इत्येवं पूर्वोक्तस्वरूपाः षोडश षोडश दश च प्रतीतरूपाः, यथाक्रममुद्गमस्योक्तरूपस्यैवमुत्पादनाया ग्रहणैषणायाश्च ये 'दोषा' दूषणानि, ते यथासङ्ख्यं गृहिसाधूभयप्रभवा–दायकयतितद्द्वितयसमुत्था भवन्तीति शेषः। तत्र गृहिप्रभवा उद्गमदोषा, गृहिणा प्रायेण तेषां क्रियमाणत्वात्, साधुसमुत्था उत्पादनादोषाः, साधुनैव तेषां विधीयमानत्वात्, गृहिसाधुजन्या ग्रहणैषणादोषाः, शङ्कितदोषस्य साधुभावापरिणतदोषस्य च साधुजन्यत्वाच्छेषाणां च गृहिप्रभवत्वादिति,

+ "घासे०" अ. य.।

एवं विधिना गृहीतस्याऽप्याहारस्य विधिनैव ग्रासः कार्य इति ग्रासैषणादोषानाह–'पंच उ' पञ्च पुनर्दोषाः, स्युरिति गम्यते,

क्वेत्याह–ग्रसनं ग्रासो–भोजनं, तद्विषया 'एषणा' शुद्धाशुद्धपर्यालोचना, तस्यामिमे–एतेऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः॥९३॥

तानेवाऽऽह—

दी०—इत्येवं षोडश षोडश दश सङ्ख्या यथाक्रमं उद्गमोत्पादनैषणादोषाः गृहिसाधुतदुभयप्रभवाः स्पष्टा भवन्तीति

शेषः । एवं द्विचत्वारिंशद्दोषरहितस्याप्याहारस्य विधिनैव ग्रासः कार्य इत्याह–पञ्च 'तु' पुनर्ग्रासैषणायां दोषा 'इमे' वक्ष्य-

माणाः स्युरिति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ तानेवाह—

संजोयणा[1] पमाणे[2], इंगाले[3] धूमे[4]-ऽकारणे पढमा । वसहिबहिरंतरे वा, रसहेउं दव्वसंजोगा ॥ ९४ ॥

व्याख्या—संयोजनं संयोजना, रसगृद्ध्या गुणान्तरोत्पादनाय द्रव्यान्तरमीलनं, सा क्रियमाणा ग्रासैषणादोषः स्यात्तथा

'प्रमाणं' कवलादिभिर्भोजनपरिमाणं, तच्चाऽतिक्रम्यमाणं भोजनदोषो भवेत् । तथा चारित्रेन्धनस्याऽङ्गारस्येव करणमिति

विग्रहे +कारिते पुंसि संज्ञायां घे च कृते भवत्यङ्गार× इति । चारित्रेन्धनस्य धूमवत इव करणमिति विग्रहे कारिते घे

मतुब्लोपे च स्याद्धूम॰ इति, चारित्रेन्धनस्य धूमायमानतेत्यर्थः । अनयोश्च दोषत्वं प्रतीतमेव । तथा 'कारणं' भोजनहेतुः,

---

+ अङ्गारशब्दस्याग्रे कारितः । × अङ्गारं करोति तद्व[तच्च व]ति वदाचष्टे इन् कारि अङ्गारयतीति घे [कृते] स्यादङ्गार इत्यर्थः ।

॰ धूमो विद्यते यस्य स तथावन्तः, धूमवन्तं करोतीति "मन्तु-वन्तु-विनां लुक्चे ति वन्तलोपः" इति "लिङ्गस्ये"त्यादिनाऽन्त्यस्वर-

लोपः, धूमयतीति धुमः । घे धूमः सिद्ध्यति । इति टिप्पणानि अ. पुस्तके ।

एतस्य दोषत्वमनाश्रीयमाणत्वात् । अथ संयोजनादोषव्याख्यानायाऽऽह–प्रथमा–ऽऽद्या संयोजनेत्यर्थो वसते–रुपाश्रयाद्बहि–र्बहिस्ताद्भिक्षाटन इत्यर्थः, अन्तरे वा–वसतिमध्ये वेति अथवा रसहेतो–र्विशिष्टास्वादनिमित्तं द्रव्याणां–दुग्धदध्योदनादीनां 'संयोगो' मीलनं तस्मिन्सति संयोजना, भवतीति पूर्वेण योगः, तत्र बहिर्भक्तपानसंयोजना–भिक्षामटतो दुग्धदध्यादिलाभे गुडादिप्रक्षिपतोऽन्तर्भक्तपानसंयोजना पुनः–पात्रे मुखे च स्यात्तत्र पात्रे मण्डकगुडघृतादि संयोज्य भक्षयत, एतान्येव मुखप्रक्षेपेण संयोजयतो मुखसंयोजना, पिण्डप्रस्तावाच्चैवमुच्यते, अन्यथा उपकरणं गवेषयत एव साधोश्चोलपट्टकाद्यवाप्तौ विभूषाप्रत्ययमन्तरकल्पं याचित्वा परिभुञ्जानस्य बहिरुपकरणसंयोजना, वसतौ चाऽऽगत्य तथैव परिभुञ्जानस्याऽन्तरुपकरण-संयोजनेत्याद्यपि द्रष्टव्यमिति । इह च रसहेतोरिति विशेषणेन कारणतः संयोजनायामपि न दोष इत्यावेदयति, यदाह—

" रसहेउं संजोगो, पडिसिद्धो कप्पए गिलाणट्ठा । जस्स च अभत्तछंदो, सुहोचिओऽभाविओ जो य ॥१॥ "

सुगमा, नवर–यस्य चाऽऽहारेऽरुचिस्तथा यः शुभाहारोचितो राजपुत्रादिर्यश्च साधूचिताहारेणाऽभावितस्तस्य संयोगोऽनुज्ञात इति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ अथाऽऽहारप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

दी०—'संयोजना' रसगृद्ध्या गुणान्तरार्थं द्रव्यान्तरसंयोजनं १, अप्रमाणं मानमतिक्रम्य भोजनं २, 'अङ्गार' इति चारित्रेन्धनस्याङ्गारस्येव करणात् ३, 'धूम'त्ति चारित्रेन्धनस्य धूमवत इव करणं, वन्तुलोपाद्धूम ४, अकारणं–भोजनहेत्वनाश्रयणं ५, एतद्व्याख्यामाह–एषु पञ्चसु प्रथमा संयोजना स्याद् 'वसते'रुपाश्रया'द्बहि'र्भिक्षाटने रसहेतोर्विशिष्टास्वादनार्थं 'द्रव्यसंयोगाद्' दुग्धादौ गुडादिक्षेपात् 'वा' अथवा 'अन्तरे' वसतेर्मध्ये पात्रे मुखे च तथा करणात्, पिण्डप्रस्तावादिदमत्रोक्तं,

ग्रासैषणा-
दोषपञ्चको-
देस्तत्र च
संयोज-
नायाः
स्वरूपम् ।

परतस्तूपकरणादीनामपि ज्ञेयं, रमहेतोरिति भणनाद्ग्लानादिकारणतः संयोजनायामपि न दोष इति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

अथाहारप्रमाणाख्यमाह—

धिइबलसंजमजोगा, जेण ण हायंति संपइ पए वा । तं आहारपमाणं, जइस्स सेसं किलेसफलं ॥९५॥

व्याख्या—'धृतिश्च' चित्तस्वास्थ्यं-मनःसमाधानमित्यर्थः 'वलं च' शारीरः प्राणः 'संयमयोगाश्च' चरणकरणव्यापारा-धृतिबलसंयमयोगाः 'येन' यावन्मात्रेण द्वात्रिंशत्कवलादिनाऽऽहारेण, भुक्तेनेति गम्यते । 'न' नैव 'हीयन्ते' हानिमुपगच्छ-न्ति, कदेत्याह—'सम्प्रति' तदैव-तद्दिन एवेत्यर्थः 'प्रगे' वा प्रभाते-द्वितीयदिन इत्यर्थः, वेत्यथवा, तत्तावन्मात्र'माहारप्रमाणं' भोजनमानं, विज्ञेयमिति गम्यते, कस्येत्याह—'यतेः' साधोः, सूत्रे च कुक्कुट्यण्डकमात्रकवलापेक्षमेवमाहारमानमभिधीयते—

"**बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला ॥१॥**"

नपुंसकस्य चतुर्विंशतिः । उदरभागापेक्षं त्वेवं—

"**अद्धमसणस्स सव्वं-जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागा । वाउपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणगं कुज्जा ॥१॥**"

'सेसं'ति पुनः शब्दाध्याहाराच्छेषं पुनरायोपायकुशलतया सम्यगाकलितात् संयमव्यापारनिर्वाहहेतोः स्वदेहस्वभावा-नुगुणादाहारमानादन्यदतिबहुप्रभृतिकं, किमित्याह—'क्लेशफल'मैहिकामुष्मिकदुःखपरम्पराजनकमिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥

कुतः शेषं क्लेशफलमित्याह—

दी०—'धृति'र्मनःस्वास्थ्यं 'वलं' शारीरिकं 'संयमयोगा'श्चरणकरणव्यापारास्ते 'येन' यावन्मात्रेण भुक्तेन नैव हीयन्ते

तत्तावन्मात्रमाहारप्रमाणं यतः स्यात्, सूत्रे कुर्कुट्यण्डकप्रमाणाः पुरुषस्य
'सम्प्रति' तदेव अथवा 'प्रगे' द्वितीयदिना(न्तरा)रम्भे
द्वात्रिंशत्कवलाः स्त्रियोऽष्टाविंशतिर्नपुंसकस्य चतुर्विंशतिरुक्तास्तत्रापि—

"अद्धमसणस्स सव्वं-जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे। वायपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥१॥"

इतः 'शेषं' संयमनिर्वाहहेतुदेहानुगुणाहारमानादन्यदतिबहुप्रभृतिकं 'क्लेशफलं' ऐहिकामुष्मिकदुःखजनकमिति गाथार्थः ॥९५॥

कुतः शेषं क्लेशफलं ? इत्याह—

जेणऽइबहु अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं। हादिज्ज व वामिज्ज व, मारिज्ज व तं अजीरंतं ॥९६॥

व्याख्या—येन कारणेना'ऽतिबहु' पूर्वोक्तस्वप्रमाणाधिकं, आकण्ठमित्यर्थः, तथा'अतिबहुशो'ऽतिबहून्वारान्, वारत्रयमित्यर्थः, तथा'अतिप्रमाणेन' वारत्रयोल्लङ्घनलक्षणेन करणभूतेनाऽतृप्यता वा साधुना कर्त्रा भोजन-मशनादिकं भुक्त-मभ्यवहृतं, किं कुर्यादित्याह—'हादयेद्वा' पुरीषनिसर्गाधिक्यं कारयेद्वा 'वामये'च्छर्दिं कारये'न्मारयेद्वा' प्राणत्यागं कारयेद्वाशब्दा विकल्पार्थाः, किं तदित्याह—तदतिबहुकादिभोजनं कर्तृ, किंविशिष्टं सदित्याह—'अजीर्यत्' परिणाममगच्छत्, तस्मात्प्रमाणयुक्तमेव भोक्तव्यं, तस्यैव गुणावहत्वाद्यदाह—

"अप्पाहारस्स न इं-दियाइँ विसएसु संपयट्टंति। नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सुज्झए या वि ॥१॥"

तथाहि—"हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा। न ते विज्जा चिगिच्छंति, अप्पाणं ते चिगिच्छगा ॥२॥"

'हिताहाराः' देहस्वभावानुकूलभोजनाः 'मिताहाराः' प्रमाणोपेतभोजनाः 'अल्पाहाराः' प्रमाणप्राप्तादपि हीनतराहारा इति गाथार्थः।

अथाङ्गार-धूमलक्षणं दोषद्वयं व्याचिख्यासुराह—

दी०—येन कारणेन 'बहु' पूर्वोक्तस्वप्रमाणाधिकमाकण्ठमित्यर्थः, अतिबहुशो-बहून् वारान् 'अतिप्रमाणेन' वारत्रयोल्लङ्घ-
नादिना अतृप्यता वा साधुना भोजनं भुक्तं सत् किं कुर्याद् ? इत्याह-हादयेत् पुरीषाधिक्येन, वामयेच्छर्दिकाकरणेन, मार-
येत्प्राणत्यागेन, 'वा' शब्दा विकल्पार्थाः । तद्भुक्तं कथम्भूतं ? 'अजीर्यत्' परिणाममगच्छदिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

अथाङ्गारधूमाख्ये आह—

अंगारसधूमोवम-चरणिंधणकरणभावओ जमिह । रत्तो दुट्ठो भुंजइ, तं अंगारं च धूमं च ॥९७॥

व्याख्या—अङ्गारसधूमे प्रतीते, तदुपमस्य-तथाविधासारतासाधर्म्यात्तत्सदृशस्य 'चरणेन्धनस्य' चारित्रेन्धसः 'करण-
भावा'न्निर्वर्त्तनसद्भावाद्यं मनोज्ञामनोज्ञमाहारं भुङ्क्ते, साधुरिति योगः । 'इह' जैने प्रवचने, किंविशिष्टः सन्नित्याह-'रक्तः'
प्रेमवान् 'द्विष्टश्च' द्वेषवान्, इह चशब्दोऽध्याहार्यः । 'भुङ्क्ते'ऽभ्यवहरति, साधुरिति गम्यते, तमाहारं यथाक्रममङ्गारं
चा-ङ्गारमिति ब्रुवते 'धूमं च' धूममिति ब्रुवते । अयमर्थः-यमाहारं साधुः सुन्दरमिति कृत्वा रक्तः सन् भुङ्क्ते, तमिह प्रवचने-
ऽङ्गारोपमचरणेन्धनकरणभावादङ्गारमित्याचक्षते, यं चाऽसुन्दरमिति कृत्वा द्विष्टोऽभ्यवहरति, तं सधूमोपमचरणेन्धनकरण-
भावाद्धूममिति, आह च-"तं होइ सइंगालं, जं आहारेइ मुच्छिओ संतो । तं पुण होइ सधूमं, जं आहारेइ
निंदंतो ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ अथ कारणद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—अङ्गारसधूमे प्रतीते 'तदुपमस्य' तथाविधासारतया तत्तुल्यस्य 'चरणेन्धनस्य' चारित्रेन्धसः 'करणभावात्'

निर्वर्त्तनायोगाद्यमाहारमिह–जिनागमे साधुर्भुङ्क्ते 'रक्तो' मनोज्ञमिति प्रेमवान् 'द्विष्टो'ऽमनोज्ञमिति द्वेषवान्, तत् किं ? तद्यथाक्रममङ्गाराख्यं च धूमाख्यं च स्यादिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ अथ षोढा कारणाख्यमाह—

छुहवियणा[1]वेयाव–च्चे[2]संजम[3]सुज्झाण[4]पाण[5]रक्खट्ठा। इरियं च विसोहे[6]उं, भुंजे न उ रूवरसहेउं ॥९८॥

व्याख्या—इह च क्षुद्वेदनादिपदानां द्वन्द्वं कृत्वा रक्षार्थमिति पदेन प्रत्येकं सम्बन्धः कर्त्तव्यः, ततश्च क्षु-द्बुभुक्षा, तस्यास्तद्रूपा वा 'वेदना' पीडा क्षुद्वेदना 'तद्रक्षार्थं' तन्निवारणानिमित्तं, यदाह—"नत्थि छुहाए सरिसिया, वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठत्ति"। तथा वैयावृत्त्य–माचार्यादिप्रतिचरणं, तद्रक्षार्थं–तद्धानिवारणार्थं, आह च "छाओ वेयावच्चं, न तरइ काउं अओ भुंजे।" 'छाओ' त्ति 'प्सातो' बुभुक्षित इत्यर्थः, तथा 'संयमः' प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादिलक्षणः साधु-व्यापारस्तत्पालनार्थं, बुभुक्षित एनं कर्तुं न शक्नोतीति कृत्वा, तथा शोभनं ध्यानं सुध्यानं–सूत्रार्थानुचिन्तनादिलक्षणं शुभचित्तप्रणिधानं, एतदपि बुभुक्षितः कर्तुं न शक्नोतीति, तथा 'प्राणा' जीवितं, तेषां रक्षार्थं–परिपालनानिमित्तं, ईर्या वा–ईर्यासमितिं, वेत्यथवा 'विशोधयितुं' निर्मलीकर्त्तुं, बुभुक्षितो हि श्यामललोचनत्वादितस्तां तथा कर्त्तुं न शक्नोतीति, किं कुर्यादित्याह–'भुञ्जीत' भोजनं कुर्यात् 'न तु' न पुना 'रूपं च' शरीरलावण्यं 'रसश्च' भोजनास्वादो रूपरसौ, तद्धेतो-स्तन्निमित्तं, बलवर्णादिनिमित्तं रसगृद्ध्या च न भुञ्जीतेत्युक्तं भवतीति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

अथाऽन्यान्यप्यजेमनकारणानि प्रतिपादयन्नाह—

दी०—'क्षुद्वेदना' बुभुक्षापीडा १, वैयावृत्यं दशधा प्रतीतं २, संयमः प्रत्युपेक्षणप्रमार्जनादिलक्षणः ३, सुध्यानं–सूत्रा-

थानुचिन्तनादौ प्रणिधानं ४, प्राणा–जीवितं, एतेषां रक्षार्थं ५, ईर्यां च–गमनमार्गं विशोधयितुं ६, साधुर्भुञ्जीत–अश्नीयान्न रूपरसहेतोर्देहादिसौन्दर्यविशिष्टास्वादायेति गाथार्थः ॥ ९८ ॥   अजेमनकारणान्यपि षडेवाह—

अहव न जिमेज्ज रोगे[1], मोहुदए[2] सयणमाइउवसग्गे[3]। पाणिंदयातवहेउं[4], अंते तणुमोयणत्थं च ॥९९॥

व्याख्या–'अथवा' यद्वा 'न' नैव जेमे-दश्नीयात्साधुरिति गम्यते, केत्याह–'रोगे' ज्वराक्षिरोगाजीर्णाद्यातङ्के सञ्जाते सति, अभोजनस्य रोगनिवर्त्तनोपायत्वाद्, यदाह—सहसुप्पन्नं वाहिं, अट्ठमेणं निवारए" तथा "बलाविरोधिनिर्दिष्टं, ज्वरादौ लङ्घनं हितम्। ऋतेऽनिलश्रमक्रोध–शोककामक्षतज्वरान् ॥ १ ॥" तथा 'मोहस्य' पुरुषादिवेदलक्षणस्य 'उदये' विपाकप्राबल्ये, तपसो मोहोपशमहेतुत्वाद्, यदाह—"विषया विनिवर्त्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।" इति। तथा 'स्वजनादीनां' मातृपितृकलत्रनृपप्रभृतीनां 'उपसर्गे' प्रव्रज्यामोचनादिलक्षणे उपद्रवे, ते हि तपस्यन्तं साधुमवलोक्य तन्निश्चया-वगमान्मरणादिभीतेर्वोपसर्गकरणाद्विनिवर्त्तन्ते, तथा 'प्राणिदया च' सत्त्वरक्षणं, तपश्च चतुर्थादिलक्षणं प्राणिदयातपसी, तद्धेतो-स्तन्निमित्त,अयमर्थः–पानीये महिकायां वा निपतन्त्यां प्रभूतश्लक्ष्णमण्डूकिकादिसत्त्वसमाकुलायां वा भूमौ तत्तज्जीवसंरक्षणार्थं भिक्षाऽटनादि न कुर्यात्, एतच्चोपोषितस्यैव निर्वहति, तपोऽपि चाऽभुञ्जानस्यैव भवतीति। तथा'अन्ते' पर्यन्ते–मरणकाल इत्यर्थः। 'तनुमोचनार्थं' संयमपालनासमर्थदेहपरित्यागनिमित्तं, चशब्दो 'न जेमे'दिति क्रियाऽनुकर्षणार्थ इति गाथार्थः ॥९९॥

अथ ग्रन्थोपसंहारमत्रानुक्तार्थातिदेशं च कुर्वन्नाह—

दी०—'अथवा' यद्वा न जिमेत्, क? 'रोगे' ज्वराक्षिरोगाजीर्णाद्यातङ्के १, तथा मोहस्य–पुरुषादिवेदलक्षणस्योदये–

विपाकप्राबल्ये २, तथा स्वजनादीनां–मातृपितृपुत्रकलत्रप्रभृतीनां 'उपसर्गे' प्रव्रज्यामोचनाद्युपद्रवे ३, तथा प्राणिदया–वृष्ट्यां महिकापाते सूक्ष्ममण्डूकिकादिसत्त्वाकुलायां वा भूमौ जीवरक्षा ४, तपश्चतुर्थादि 'तद्धेतो'स्तयोर्निमित्तं ५, तथा 'अन्ते' मरणकाले 'तनुमोचनार्थं' संयमाक्षमदेहत्यागाय ६ चेति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ अथ ग्रन्थार्थमुपसंहरन्नाह—

इय तिविहेसणादोसा, लेसेण जहागमं मएऽभिहिया। एसु गुरुलहुविसेसं, सेसं च मुणेज्ज सुत्ताओ।१००।

व्याख्या—'इति' एवं पूर्वोक्तप्रकारेण त्रिविधा चाऽसौ गवेषण-ग्रहण-ग्रासभेदादेषणा च–शुद्धाशुद्धपिण्डविचारणा, तस्यां 'दोषा' आधाकर्म-धात्रीत्व-शङ्कित-संयोजनादिलक्षणानि दूषणान्यभिहिता इति योगः, कथमित्याह–'लेशेन' संक्षेपेण 'यथागमं' आगमस्यानतिक्रमेण–पिण्डनिर्युक्त्यादिग्रन्थानुसारेणेत्यर्थः,अनेन चाऽस्य प्रकरणस्य प्रामाण्यमाह। 'मया' कर्त्रा'अभिहिताः' प्रतिपादिताः। 'एसु'त्ति चकाराध्याहारादेषु च दोषेषु 'गुरुलघुविशेषं' कस्कोऽत्र दोषो गुरुः कस्कश्च लघुरित्येवंविधं प्रकारं 'शेषं च'अन्यच्च यदत्र नोक्तं पिण्डविचारसम्बद्धं नामादिन्यास-दृष्टान्त-भङ्गक-विस्तरविचारणादिकं शय्यातरराजपिण्डोपाश्रय-वस्त्रपात्रगतदोषादिकं च, तत्किमित्याह–'मुणेज्ज' त्ति जानीयास्त्वं हे श्रोतः! कस्मादित्याह–'सूत्रा'दागमात्तत्र सर्वगुरु मूलकर्म, तस्माच्चाऽऽधाकर्मिकं कर्मौद्देशिकचरमत्रिकं मिश्रान्त्यद्विकं बादरप्राभृतिका सप्रत्यपायाऽभ्याहृतं लोभपिण्डोऽनन्तकायाव्यव-हितनिक्षिप्तपिहितसंहृतमिश्रापरिणतछर्दितानि संयोजना साङ्गारं वर्त्तमानभविष्यन्निमित्तं चेति लघवो दोषाः, मूलप्रायश्चित्ताच्च-तुर्थतपो वत्। एतेभ्यः कर्मौद्देशिकाद्यभेदो मिश्रप्रथमभेदो धात्रीत्वं दूतीत्वमतीतनिमित्तमाजीवनापिण्डो वनीपकत्वं बादरचि-कित्साकरणं क्रोधमानपिण्डौ सम्बन्धिसंस्तवकरणं विद्यायोगचूर्णपिण्डाः प्रकाशकरणं द्विविधं द्रव्यक्रीतमात्मभावक्रीतं लौकि-

पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नमुत्कृष्टमालापहृतं सर्वमाच्छेद्यं सर्वमनिसृष्टं पुरःकर्म
क्प्रामित्यपरावर्त्तिते निष्प्रत्यपायपरग्रामाभ्याहृतं पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नमुत्कृष्टमालापहृतं सर्वमाच्छेद्यं सर्वमनिसृष्टं पुरःकर्म
पश्चात्कर्म गर्हितम्रक्षितं संसक्तम्रक्षितं प्रत्येकान्यवहितनिक्षिप्तपिहितसंहृतमिश्रापरिणतच्छर्दितानि प्रमाणोल्लङ्घनं सधूममकारण-
भोजनं चेति लघवश्चतुर्थादाचाम्लमिव । एतेभ्योऽप्यध्यवपूरकान्त्यभेदद्वयं कृतभेदचतुष्टयं भक्तपानपूतिकं मायापिण्डोऽनन्त-
कायव्यवहितनिक्षिप्तपिहितादीनि मिश्रानन्तान्यवहितनिक्षिप्तादीनि चेति लघवः, आचाम्लादेकभक्तमिव । एतेभ्योऽप्यौघो-
द्देशिकमुद्दिष्टभेदचतुष्टयमुपकरणपूतिकं चिरस्थापितं प्रकटकरणं लोकोत्तरं परावर्त्तितमपमित्यं च परभावक्रीतं स्वग्रामाभ्याहृतं
दर्दरोद्भिन्नं जघन्यमालापहृतं प्रथमाध्यवपूरकः सूक्ष्मचिकित्सा गुणसंस्तवकरणं मिश्रं कर्दमेन लवणसेटिकादिना च म्रक्षितं,
पिष्टादिम्रक्षितं किञ्चिद्दायकदुष्टं प्रत्येकपरम्परस्थापितादीनि च मिश्रानन्तरस्थापितादीनि चेति लघवः, एकभक्तात्पुरिमार्धमिव ।
एतेभ्योऽपि चेत्वरस्थापितं सूक्ष्मप्राभृतिका सस्निग्धसरजस्कम्रक्षितं प्रत्येकमिश्रपरम्परस्थापितादीनि चेति लघवः, पुरिमार्धा-
न्निर्विकृतिकमिव । इत्ययं सामान्यतो गुरुलघुविशेषो, विशेषतस्तु सूत्रादेवाऽवसेयः (इति गाथार्थः+) ॥ १००* ॥

अथ शय्यातरपिण्डविचारणा—

सागारिओ त्ति को पुण, काहे[3] वा कइविहो +य से पिंडो। असिज्जायरो व काहे, परिहरियव्वो य सो कस्स ।१।
दोसा वा के तस्स, कारणजाए व कप्पए कम्मि। जयणाए वा काए, एगमणेगेसु घेत्तव्वो ॥ २ ॥

अस्य गाथाद्वयस्य व्याख्या—'सागारिकः' शय्यातरस्तत्र सहाऽगारेण—साधुयोग्यगृहेण वर्त्तत इति सागारः, स एव

+ भ. प्रतावेवैतद्वाक्यं। * अ. भ. प्रत्योरेवात्राङ्कविन्यासः। + "°विहो वि सो पिंडो" मां०। "°विहो वि से पिंडो" अ।

तरतीति शय्यातरः १ । कः पुनरसौ ?, उच्यते–य
सागारिकस्तथा शय्यां तद्गतसाधून् वा संरक्ष्य तद्दानेन वा संसारसागरं तरतीति शय्यातरः १ । कः पुनरसौ ?, उच्यते–य
उपाश्रयस्य प्रभुस्तत्सन्दिष्टो वा, तेषु चाऽनेकेषूत्सर्गतः सर्वेऽपि वर्जनीयाः, अनिर्वाहे तु परिपाट्यैकैको वर्जनीयः, यदा
चोपाश्रयसङ्कीर्णत्वकारणेन भिन्नोपाश्रयेषु वसन्ति, तदाऽपि सर्वानपि वर्जयितुमशक्नुवन्त आचार्यशय्यातरं वर्जयन्त्येवेति २ ।
कदा वा ?–कुतः कालात्प्रभृति शय्यातरो भवतीत्यर्थस्तत्रोच्यते–प्रत्यूषावश्यके कृते स्वापे वा विहिते, यदाह—
"जइ जग्गंति सुविहिया, करेंति आवस्सगं च अन्नत्थ । सेज्जायरो न होई, सुत्ते व कए व सो होइ ॥१॥"३॥
कतिविधश्च तस्य पिण्डः स्यात्तत्रोच्यते–अशन-पान-खादिम-स्वादिम ४ वस्त्र-पात्र-कम्बल-रजोहरण ४ सूची-पिप्पलक-
नखरदन-कर्णशोधन ४ भेदाद्द्वादशविधः, यदाह—
"असणाईया चउरो, पाउँछणवत्थपत्तकंबलयं । सूइछुरकन्नसोहण–नहरणिया सागरियपिंडो ॥ १ ॥"
तृणादिस्तु न भवति, यदाह–
"तणडगलछारमल्लग–सेज्जासंथारपीढलेवाई । सेज्जायरपिंडो सो, न होइ सेहो य सोवहिओ ॥ २ ॥४"
अशय्यातरो वा कदा भवति ?, तत्रोच्यते–निर्गमनकालाद्दिनमेकं वर्जयन्ति, ततः परमशय्यातरो भवति, यदाह–"वुच्छे
वज्जंतऽहोरत्तं" । आदेशान्तरेण तु दिनद्वयादिति,
"सूरत्थमणे दिणनि–ग्गयाण सूरोदए असागरिओ । अत्थमियनिग्गयाणं, बारसजामा उ सागरिओ ॥१॥"त्ति ।
तथा परिहर्त्तव्यश्च स कस्येत्यत्रोच्यते—

" लिंगत्थस्स उ वज्जो, तं परिहरओव्व भुंजओ वा वि । जुत्तस्स अजुत्तस्स व, रसावणो तत्थ दिट्ठंतो ॥१॥"

अस्या मात्रार्थः-लिङ्गस्थस्य यः शय्यातरस्तस्य पिण्डो वर्ज्यः, तं-शय्यातरपिण्डं परिहरतो वा भुञ्जानस्य वाऽपि, तथा युक्तस्य श्रामण्यगुणैरयुक्तस्य [वा] तैरेव, अत्र 'रसापणो' मद्यविपणिस्तस्य+ दृष्टान्तो यथा—किल महाराष्ट्रविषये ×कल्पपालापणेपु मद्यं भवतु वा मा वा तथापि ध्वजो बध्यते, तं च दृष्ट्वा सर्वेऽपि भिक्षाचरादयः परिहरन्ति, अभोज्यमिति कृत्वा, एवमत्राऽपि यस्य धर्मध्वजो दृश्यते तस्य शय्यातरो वर्जनीय इति ६ । दोषा वा के ? तस्य पिण्डे गृह्यमाण इत्यत्र कथ्यते—तीर्थकरनिषिद्धत्वादयो बहवः, यदाह—

" तित्थयरपडिकुट्ठो, अन्नायं उग्गमो वि न य सुज्झे । अविमुत्ति अलाघवयां, दुलहसेज्जा य वोच्छेओ ॥१॥"

अस्यार्थः-तीर्थकरैराद्यान्तिममध्यमविदेहजिनैः 'प्रतिक्रुष्टः' स्वसाधूनां तदाश्रयस्थानामन्याश्रयस्थानां वा निषिद्धः शय्यातरपिण्डः, यदाह—

"पुरपच्छिमवज्जेहिं, अविकम्मं जिणवरेहिं लेसेणं । भुत्तं विदेहएहि य, न य सागरियस्स पिंडो उ ॥१॥ "

'लेशेने' ति यस्यैवैकस्य कृते कृतं तस्यैवैकस्य न कल्पते, शेषसाधूनां तु कल्पत एवेत्यंशेनेति १ । कस्मादेवमित्याह—'अज्ञातस्या'ऽविदितस्य *राजादिप्रव्रजितत्वेन यद्भैक्षं तदज्ञातमुच्यते, तदेव च प्रायः साधुना ग्राह्यं, "अन्नायउंछं चरई

+नास्त्ययं शब्दो भाण्डारकरीयातिरिक्तासु प्रतिकृतिषु । × सर्वास्वपि प्रतिकृतिषूपलभ्यते "कल्पपाल" इति, अभिधाचिन्तामणौ तु "कल्यपालः सुराजीवी" इत्यस्ति । * "प्रव्रजितो नृपादिर्भिक्षार्थं यस्य गृहे प्रविष्टो न प्रत्यभिज्ञायते, तस्य सम्बन्धि । इति टि. अ. ।

ज्ञातस्वरूपतया शय्यातरगृहे पिण्डं गृह्णतो यतेर्न शुद्ध्यतीति

विसुद्धं"इति वचनात्, तच्चाऽऽसन्ननिवासादतिपरिचयेन शय्यातरपिण्डग्रहणे सति, कथं?

योगः २। तथा 'उद्गमः' कल्पनीयभक्तादिभवनमपि, चेति समुच्चये 'न शुद्ध्यति' न शुद्धो भवति

"बाहुल्ला गच्छस्स उ, पढमालियपाणगाइकज्जेसु। सज्झायकरणआउ-ट्टियाइ करे उग्गमेगयरं ॥ १ ॥" ३।

तथा 'अविमुक्तिः' सलोभता, तद्वशाच्छय्यातरकुलस्याऽमोचनं, आह च—

" भावे उक्कोसपणी-यगेहिओ तं कुलं न छड्डेइ। ण्हाणाईकज्जेसु य, गओ वि दूरं पुणो एइ ॥ १ ॥" ४।

तथाऽविद्यमानं 'लाघवं' लघुता यस्य स तथा, तस्य भावोऽलाघवता, तत्र विशिष्टाहारलाभेनोपचितत्वाच्छरीरालाघवं, शय्यातरात् तत्परिचितजनाच्चोपधिलाभादुपधेरनल्पतया तदलाघवमिति, उदाहरणं चाऽत्र—एकस्य साधोः शय्यातरेण कम्ब-लकानि प्रदत्तानि, तत्प्रत्ययाच्च तत्पुत्रभ्रात्रादिभिश्च कम्बलकाद्युपकरणं तस्मै वितीर्णं, ततश्चाऽसौ प्रचुरोपकरणप्रतिबन्धाद्भारभ-याच्च न विहरति, इतश्च दैवयोगादुर्भिक्षे जाते शय्यातरेण चिन्तितं—यथाऽयं वयं चाऽत्र मरिष्यामस्ततः केनाऽप्युपायेनैनं विस-र्जयामि सुभिक्षदेशान्तर इति, ततो बहिर्भूमौ गते तस्मिन् सर्वमुपकरणं निष्कास्याऽन्यत्र सङ्गोप्य च प्रदीप्तस्तदुपाश्रयः, आगतस्य चार्पितानि भाजनानि शेषमुपकरणं दग्धमिति निवेद्य। ततोऽसौ प्रस्थितो देशान्तरं भणितश्च शय्यातरेण—सुभिक्षे पुनरिहाऽऽगन्तव्यमिति। आगतश्चाऽसौ सुभिक्षे जातेऽर्पितं च सर्वमुपकरणमित्येवं शय्यातरपिण्डग्रहणेऽलाघवं भवतीति। तथा दुर्लभा-ऽसुलभा शय्या च—वसतिः कृता भवति, येन किल शय्या देया तेनाऽऽहाराद्यपि देयमित्येवं गृहिणां भयोत्पादनात्, अत्राप्युदाहरणं—एकस्य गृहपतेर्गृहे पञ्चशतिकः साधुगच्छः स्थितवान्, तस्य च साधवः प्रतिदिनं भिक्षार्थं व्रजन्तः शय्यातर-

गृहे प्रथममेव (*कारणतो) भिक्षां गृह्णन्ति, कालेन च स निर्धनो जातस्ततश्च तैः साधुभिर्गतैरन्ये समागतास्तैरपि तत्पार्श्वे मैव वसतिर्याचिता, +स प्राह–अस्ति मे वसतिः, केवलं निर्धनोऽहमिदानीं, नाऽस्ति प्रथमभिक्षादानयोग्यं किमपीत्यतो न वसतिं दास्यामीति। साधुभिरुक्तं–शय्यातरभिक्षाऽस्माकं न कल्पतेऽतो देहि शय्यां, स (×च पूर्वसाधुवचनाभिसंस्कृतमतिः) प्राह–अस्मद्गृहाद्रिक्तभाजना निर्गच्छन्तो भवन्तोऽमङ्गलं स्युरतो न दास्यामीति, ततस्तं प्रज्ञाप्य कष्टेन गृहीतेति, एवं दुर्लभा शय्या भवतीति। तथा 'व्यवच्छेदो' विनाशो दानभयाच्छय्यायाः शय्यातरेण क्रियते, वसत्यभावाद्भक्तपान-शिष्यादेर्वा व्यवच्छेदः स्यादिति। अथैते दोषाः प्रायः पिण्डान्तरग्रहणेऽपि समानाः, अतः कोऽत्र भावार्थः? इत्यत्रोच्यते—

"पडिबंधनिराकरणं, केई अन्नेऽगिहीयगहणस्स। तस्साउंटणमाणं, एत्थऽवरे बेंति भावत्थं॥ १॥"

प्रतिबन्धनिराकरणं–साधुशय्यातरयोर्योऽत्यन्तोपकार्योपकारकभावेन स्नेहस्तन्निरासं, केचिदाचार्या, भावार्थं ब्रुवन्तीति योगः। अन्ये पुनराचार्या अगृहीतग्रहणस्य–साधुभिरस्वीकृतभक्तादिदातव्यद्रव्यस्य शय्यातरस्याऽऽकुण्टन–मावर्जनमहो! निःस्पृहा एतेऽतो वसत्यादिदानतः पूज्या इति भावोत्पादनात्। तथा 'आज्ञां' आप्तोपदेशं, अत्र–शय्यातरपिण्डपरिहारे 'अपरे' अन्ये 'ब्रुवन्ति' आहु'र्भावार्थं' तात्पर्यमिति सप्रसङ्गं दोषद्वारं ७। तथा तस्य पिण्डः कस्मिन् कारणजाते कल्पते? तत्रोच्यते—

"दुविहे गेलन्नंमी, निमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे। ओमोयरियपओसे, भएण गहणं अणुन्नायं॥ १॥"

द्विविधं ग्लानत्वं–अत्यागाढमनागाढं च, तत्राऽत्यागाढे क्षिप्रमेव प्रायोग्य‡द्रव्यग्रहणं कर्त्तव्यं, अनागाढे त्वन्यत्रालाभ

* शब्दोऽयं भां. अ. प्रतिकृत्योरेव। + "स तान्प्रत्याह–" य०। × केवलं भां० प्रतावेवायं पाठः। ‡ "प्रायोग्यग्रहणं" प० अ० ह० क०।

एवेति। निमन्त्रणेऽपि तदभिमुखं वक्तव्यं–कार्ये ग्रहीष्यामः, न पुन'र्न कल्पत' इति ब्रुवते, यदाह—"कज्जंमि छंदिया+ घे–त्थिमो त्ति न य बेंति उ अकप्पं"ति। निर्बन्धे च प्रसङ्गनिषेधयतनया गृह्णन्त्यपि। दुर्लभद्रव्ये च घृतादावन्यत्राऽलभ्यमाने ग्लानादिकारणे ग्रहणमनुज्ञातं, तथा "ओमऽसिवे पणगाइसु, जइऊणमसंथरे गहणं।" तथा प्रद्वेषो राजादेः, तत्र च "उवसमणट्ठपदुट्ठे, सत्थो वा जा न लब्भए ताव। अच्छंता पच्छन्नं, गिण्हंति भए वि एमेव ॥ १ ॥" चौरादिसम्बन्धिनि ८। यतनाद्वारमप्यत्रैव भावितं, यद्वा—"तिक्खुत्तो सक्खित्ते, चउदिसिं मग्गिऊण गीयत्थो। दव्वंमि दुल्लभंमी, सेज्जायरसंतिए गहणं ॥ १ ॥" इति यतनाद्वारव्याख्यानम् ९। एवमेकमाश्रित्योक्तं, यत्राऽप्यनेके पितृपुत्रादयः शय्यातरा भवन्ति तत्राऽपि यावन्तः स्वामिनस्तत्सन्दिष्टा वा, सर्वेऽप्यनुज्ञापनीयाः‡ यो वा तन्मध्येऽनतिक्रमणीयवचनो भवति, तस्यैव च पिण्डो वर्जनीयः, भद्रकप्रान्तादिदोषाच्छेषाणामपि १०।

इति लेशतः शय्यातरपिण्डविचारो, विस्तरतस्तु ग्रन्थान्तरादवसेयः। अथ राजपिण्डविचारोऽयं—

"मुइयाइगुणो राया, अट्ठविहो तस्स होइ पिंडो त्ति। पुरिमेयराणमेसो, वाघायाईहिं पडिकुट्ठो ॥ १ ॥"

मुदितादिगुण, आदिशब्दान्मूर्धाभिषिक्तादिपरिग्रहो, यदाह—

"मुदिओ मुद्धऽभिसित्तो,§मुइओ जो होइ जोणिसुद्धो×उ। अभिसित्तो इयरेहिं, सयं व भरहो जहा राया ॥१॥"

+"छिंदिया" प० ह० क० य०। "छंदिया–निमन्त्रिताः" इति पर्यायः अ०। ‡ "पृच्छनीयाः।" इति पर्यायः अ०

§ "मुइओ" ह० क० प० य० मां०। × "मातृपक्ष–पितृपक्षशुद्धः" इति पर्यायः अ०।

'राजा' नृपस्तत्र च मुदितो मूर्द्धाभिषिक्तश्चेत्यादि*चतुर्भङ्गी, तत्र प्रथमो दोषाभावेऽपि वर्जनीयोऽसावितरेषु तु दोषस-
म्भव एवेति । 'अष्टविधो'ऽष्टभेदस्तस्य–राज्ञो भवति 'पिण्डो' भैक्षं, तद्यथा—

"असणाईया चउरो, वत्थं पायं च कंबलं चेव । पाउंछणगं च तहा, अट्ठविहो रायपिंडो उ ॥ १ ॥"

'पूर्वेतराणा'मादिमान्तिमजिनसाधूनां'एष'राजपिण्डो व्याघातादिभिर्दोषैः 'प्रतिक्रुष्टो' निषिद्धो जिनैस्तथाहि—

"ईसरपभिईहिं तहिं, वाघाओ खद्धलोहुदाराणं । दंसणसंगो गरहा, इयरेसि न अप्पमायाओ ॥ १ ॥"

'ईश्वरप्रभृतिभि'र्युवराजादिभिरादिशब्दात्तलवरमाडम्बिकादिपरिग्रहः, तलवरश्च राज्ञ उत्थासनिको बद्धपट्टः, माडम्बिकस्तु संनिवेशविशेषनायकस्तैः प्रविशद्भिर्निर्गच्छद्भिश्च सपरिकरैस्तस्मिन्–राजकुले 'व्याघातः' स्खलना साधोस्तत्र प्रवेशस्य निर्गमस्य वा, अत एव भिक्षास्वाध्यायकार्याणामपि स्यात्, अमङ्गलबुद्ध्या हननं वा कोऽपि कुर्यात्सम्मर्दात्कायपात्राणां भङ्गो वा स्यात्, तथा 'खद्ध'त्ति प्रचुरेऽन्नादौ लभ्यमाने यो 'लोभो' लुब्धता स खद्धलोभः, स च तत्र स्यात्ततश्चैषणाप्रेरणं स्यात्, तथा 'उदाराणां'उदारदेहानां हस्त्यश्वस्त्रीपुरुषादीनां 'दर्शने'ऽवलोकने 'सङ्गो'ऽभिष्वङ्गो–दर्शनसङ्गः स्यात्, ततश्चाऽऽत्मविराधनादयः स्युः, तथा चारिक-चोरा-भिमर-कामुकादिसम्भावनया राजकोपात्कुलगणसङ्घाद्युपघातः स्यात्, तथा 'गर्हा' निन्दा, यथाऽहो राजप्रतिग्रहमेते गर्हणीयमपि स्वीकुर्वन्ति, गर्हणीयता च तस्य स्मार्तैरेवमुच्यते,—

"राजप्रतिग्रहदग्धानां, ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ! । स्विन्नानामिव बीजानां, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १ ॥"

* "मुदितो मूर्द्धाभिषिक्तश्च १, मुदितो न मूर्द्धाभिषिक्तः २, मूर्द्धाभिषिक्तो न मुदितः ३, न मुदितो न मूर्द्धाभिषिक्तः ४।" इति पर्यायः अ०।

अथवाऽनभिष्वङ्गा यतयो भवन्ति, एते त्वदृष्टकल्याणवत्कथं गजवाज्यादिषु सङ्गं कुर्वन्तीत्येवंरूपा । अथैते दोषा मध्यम-जिनसाधूनामपि सम्भवन्तीति कथं तेषां तस्य ग्राह्यताऽपीत्यत आह–'इतरेषां' मध्यमजिनसाधूनां 'न' नैवैते दोषा भवन्ति, कुत ? 'अप्रमादात्' प्रमादाभावाद्धेतोस्ते हि ऋजुप्राज्ञत्वाद्विशेषेणाप्रमादित्वेनोक्तदोषपरिहारसमर्था भवन्ति, इतरे तु ऋजुजड-वक्रजडत्वेन न तथेति राजपिण्डविचारः । तथा शय्याऽपि पिण्डवद्दोषरहितैव सेव्या, यदाह—

"मूलुत्तरगुणसुद्धं, थीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं । सेविज्ज सव्वकालं, विवज्जए होंति दोसा उ ॥ १ ॥"

तत्रेयं मूलगुणैरशुद्धा वसतिर्यथा—

" पट्टीवंसो दो धा-रणी उ चत्तारि मूलवेलीओ । मूलगुणे हुववेया, एसा उ अहागडा वसही ॥ १ ॥"

'पृष्ठिवंशो' मध्य×वलको 'द्वे धारण्यौ' द्वे बृहद्वेल्यौ यत्प्रतिष्ठो*ऽसावेव, चतस्रो मूलवेल्यो याश्चतुर्षु गृहस्य पार्श्वेषु क्रियन्ते, एते सप्ताऽपि मूलगुणास्तैश्च साधुमाधाय कृतैर्युक्ता मूलगुणैरुपेता†, एषा त्वियं पुनराधाय कृता वसतिराधार्मिकी-त्यर्थः । उत्तरगुणाश्च द्विविधा भवन्ति–मूलोत्तरगुणा उत्तरोत्तरगुणाश्च, तत्रैते मूलोत्तरगुणाः—

"वंसगकडणुक्कंवण–छायणलेवणदुवारभूमी य । सप्परिकम्मा वसही, एसा मूलुत्तरगुणेसुं ॥ १ ॥"

अत्र वृद्धव्याख्या—'वंसग'त्ति दण्डकाः 'कडणं'ति कटकादिभिः कुड्यकरणं 'उक्कंवण'त्ति दण्डगोवरि ओलवणं+ 'छायणं'ति दर्भादिनाऽऽच्छादनं 'लेवणं'ति चिक्खल्लेन कुड्डाण लिंपणं 'दुवार'त्ति गृहद्वारस्य बाहल्यकरणमन्यस्य वा

× "वलको" य. । "वल्यूको" भां. । * "यत्प्रविष्टो" य. । † "°रूपपेता" प. ह. क. । + " दण्डकोपर्युल्लपनं" भां० ।

विधानं 'भूमि'त्ति' भूमिकम्मं विसमाए समीकरणं ति वुत्तं होइ, एसा सपरिकम्मा वसही 'मूलुत्तरगुणेसु'त्ति मूलभूतो-
चरगुणेष्वित्यर्थः। एते च पृष्टिवंशादयश्चतुर्दशाऽप्यविशोधिकोटिः, इमे पुण उत्तरोत्तरगुणा विसोहिकोडि+विसया-
वसहीए उवघायकरा।

"दूमियधूवियवासियं-उज्जोवियं बलिकडा अवत्ता य। सित्ता सम्मट्ठा वि य, विसोहिकोडिं गया वसही॥१॥"

अत्राऽपि वृद्धव्याख्या-'दूमिय'त्ति उल्लाइया-सेटिकादिभिः संसृष्टेत्युक्तं भवतीति। 'धूविय'त्ति दुग्गंध त्ति काउं अगुरुमाईहिं सुगंधी कया। 'वासिय'त्ति पटवासकुसुमादिभिरपनीतदुर्गन्धभावा। 'उद्योतिता' रत्नप्रदीपादिभिः प्रकाशिता। 'बलिकड'त्ति कृतकूरादिबलिविधाना। 'अवत्त'त्ति छगणमृत्तिकाभ्यां जलेन चोपलिप्तभूमितला। 'सित्ता' केवलोद-केनाऽऽर्द्रीकृता। 'सम्मृष्टा' प्रमार्जिता, साध्वर्थायेति सर्वत्र प्रक्रमः। 'विसोहिकोडिं गया वसहि'त्ति अविशोधिकोटौ न भवतीत्युक्त भवति, एतदनुसारतस्तु चतुःशालादिष्वपि मूलोत्तरगुणविभागो विज्ञेयः, यदाह—

"चाउरसालाईए, विन्नेओ एवमेव उ विभागो। इह मूलाइगुणाणं, सक्खा पुण सुण न जं भणिओ॥१॥"

"विहरंताणं पायं, समत्तकज्जाण जेण गामेसु। वासो तेसु य वसही, पट्ठाइजुया तओ तासिं॥२॥"

ततस्तासां वसतीनां साक्षाद्भणनमकारीति, अन्ये चाऽमी सामान्यतो वसतिदोषाः—

"कालाइक्कंतुव-ट्ठाणा अभिकंता अणभिकंता य। वज्जा य महावज्जा, सावज्ज महऽप्पकिरिया य॥१॥"

+"॰कोडिट्ठियवस॰" पु॰ क॰। "॰कोडिट्ठिया वस॰" हु॰।

ऋतुबद्धे वर्षासु वा यत्र वसतौ स्थितास्तत्रैव मासे चातुर्मासिके वा पूर्णेऽपि तिष्ठतां कालातिक्रान्ता भवति, ऋतुबद्धे यत्र मासकल्पो विहितस्तत्रैव वसतौ मासद्वयं, वर्षासु च यत्र चतुरो मासान् स्थितास्तत्रैवाऽष्टौ मासानपरिहृत्य यदि समागच्छन्ति तदोपस्थाना स्यात्, यदाह—

"उउ-वासा समईया, कालाईया उ सा भवे सेज्जा। सच्चेव उवट्ठाणा, दुगुणादुगुणं अवज्जेत्ता ॥ १ ॥"

अन्ये प्रतिपादयन्ति—यत्र वर्षाकालं स्थितास्तत्र यदि वर्षाकालद्वयमन्यत्र कृत्वा समागच्छन्ति तत उपस्थानदोषवती शय्या न भवतीति कल्पचूर्णिः। तथा यावदर्थिकार्थं विहिता शय्या यावत्का, सा यद्यन्यैश्चरकादिपाषण्डिभिर्गृहस्थैर्वा सेव्यमा-

निषेविता भवति, तदनन्तरं च संयताः प्रविशन्ति, तदाऽभिक्रान्तेत्युच्यते, सैवाऽन्यैरपरिभुक्ता सती साधुभिः नाऽनभिक्रान्तेति। तथाऽऽत्मार्थं कृतां साधुभ्यो दत्त्वा स्वार्थमन्यां कुर्वतो गृहस्थस्य वर्ज्येति, यदाह—

" अत्तऽट्ठकडं दाउं, जईण अन्नं करेइ वज्जा उ। जम्हा तं पुव्वकडं, वज्जेइ तओ भवे वज्जा ॥ १ ॥"

तथा श्रमणब्राह्मणादीनां पाषण्डिनामर्थाय कृता महावर्ज्या, तथा पञ्चानां श्रमणानामर्थाय कृता सावद्या, तथा जैनसाधूनामर्थाय कृता महासावद्येति, आह च—

"पासंडकारणा खलु, आरंभो अहिणवो महावज्जा। समणट्ठा सावज्जा, महसावज्जा य साहूणं ॥ १ ॥"

तथा या पूर्वोक्तकालातिक्रान्तादिदोषाष्टकवर्जिता स्वार्थं जिनबिम्बप्रतिष्ठार्थं वा कारिता धवलधूपनाद्युत्तरगुणवर्जिता च, साऽल्पक्रिया—शुद्धेत्यर्थः। अल्पशब्दस्याऽभाववाचकत्वाद्यदाह—

पिण्ड-
विशुद्धि०
टीकाद्वयो-
पेतम्

ग्रन्थोप-
संहारे
कालाति-
क्रान्तादि-
शय्या-
नवकम्।

"जा खलु जहुत्तदोसे-हिँ वज्जिया कारिया सयट्ठाए। परिकम्मविप्पमुक्का, सा वसही अप्पकिरियो उ ॥१॥"

तथा रूयादिरहितैव शय्या सेवनीया, सा चेयं—

"थीवज्जियं वियाणह, इत्थीणं जत्थ ठाणरूवाणि। सद्दा य न सुव्वंती, ता वि य तेसिं न पेच्छंति ॥१॥"

तत्र स्थानस्वरूपमिदं—

"ठाणं चिट्ठंति जहिं, मिहो कहाईहिँ नवरमित्थीओ। ठाणे नियमा रूवं, सिय सद्दो जेण तो वज्जं ॥१॥"

स्यात्कदाचिच्छब्दो न भवत्यपि विप्रकृष्टे, येन एवं ततो वर्ज्यं स्थानं, अवर्जने त्वमी दोषाः—

"बंभवयस्स अगुत्ती, लज्जानासो य पीइवुड्ढी य। साहुतवो वणवासो !!, निवारणं तित्थहाणी य ॥१॥"

तत्र हि ब्रह्मव्रतस्याऽगुप्तिर्भवति, प्रतिपिद्धवमतिनिवासात्, लज्जानाशश्च भवत्यसकृद्दर्शनेन प्रीतिवृद्धिश्च भवति, जीव-स्वाभाव्यात्, साधुतपो वनवास !! इति लोके गर्हा, निवारणं तद्द्रव्यान्यद्रव्याणां, तीर्थहानिर्लोकाप्रवृत्त्येति। तथा स्थाने रूपे चाऽमी दोषाः साधूनां स्युर्यथा—

"चंकमियं ठियं मो-ट्टियं च विप्पेक्खियं च सविलासं। सिंगारे य बहुविहे, दट्ठुं भुत्तेयरे दोसा ॥ १ ॥"

'मोट्टियं' किलिकिञ्चितं-रमितमित्यर्थः 'भुत्तेयरे'त्ति भुक्ताभुक्तभोगयोर्दोषाः स्मृतिकुतूहलादयः। तथा साध्वालम्बनाः स्त्रीणामप्यमी दोषाः स्युर्यथा—

"जल्लमलपंकियाण वि, लावन्नसिरी उ जहेसि देहाणं। सामन्ने वि सुरूवा, सयगुणिया आसि गिहवासे ॥१॥"

जल्लमलपङ्किलानामपि-बहलमलदिग्धानामपीति भावः, लावण्यश्रीर्यथैषां साधूनां श्रामण्येऽपि सुरूपा तथैवमहं मन्ये-शतगुणा आसीद्गृहवास इति । तथा स्त्रीशब्दविषया यतीनामिमे दोषा भवेयुर्यथा—

"गीयाणि य पढियाणि य, हसियाणि य मंजुले य उल्लावे । भूसणसद्दे राह-स्सिए य सोऊण जे दोसा॥१॥"

साधुशब्दविषयास्तु स्त्रीणामप्यमी दोषा उत्पद्यन्ते, यथा—

"गंभीरमहुरफुडविसय-गाहगो सुस्सरो सरो जहेसिं। सज्झायस्स मणहरो, गीयस्स णु केरिसो होइ ! ॥१॥"

'गम्भीरो' महा'न्मधुरः' कोमलः 'स्फुटविशदो'ऽत्यन्तव्यक्ताक्षरः 'स्फुटविषयो'वा स्फुटार्थो 'ग्राहको'ऽक्लेशेनार्थबोधकः, एतेषां कर्मधारयः, तथा 'सुस्वरो' +मालवकोशिकादिप्रधानस्वरानुरञ्जितः 'स्वरो' ध्वनिर्यथा-अमीषां स्वाध्यायस्याऽपि मनोहरो, गीतस्य, नु इति वितर्के, कीदृशो भवतीति । "एवं परोप्परं मो-हणिज्जदुव्विजयकम्मदोसेणं । होइ दढं पडिबंधो, तम्हा तं वज्जए ठाणं ॥ १ ॥" तथा—

"पसुपंडगेसु वि इहं, मोहानलदीवियाण जं होइ । पायमसुहा पवित्ती, पुव्वभवऽब्भासओ तह य ॥ १ ॥"

"तम्हा जइुत्तदोसे-हिँ वज्जियं निम्ममो निरासंसो । वसहिं सेविज्ज जई, विवज्जए आणमाईणि ॥ २ ॥"

इति वसत्यधिकारः।

तथा वस्त्रमपि पिण्डवद्दोषदुष्टं वर्जनीयं, तद्दोषाश्च प्रायस्तद्वदेवाऽवबोद्धव्याः, विशेषस्तु कश्चिदुच्यते-इह तावद्वस्त्रमेकेन्द्रिय-

+"मालवकौशकादि" अ. । मालवदेशकादि" प.य. । "मालववेशिकादि" ह. । "मालावकैशिकादि" क. । मालावकोशिकादि" प्र० ।

विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियावयवनिष्पत्तिभेदात्त्रिविधं भवति। तत्रैकेन्द्रियावयवनिष्पन्नं कार्पासिकादि, विकलेन्द्रियावयवनिष्पन्नं कौशेयकादि, ऊर्णादिमयं तु तृतीयं, अत्र कारणग्राह्यं कौशेयकादि। एतदपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्प्रत्येकं त्रिविधं, तत्र जघन्यं—मुखपोतिकादि, मध्यमं चोलपट्ट-पटलकादि, उत्कृष्टं प्रच्छदादि, एतदपि पुनः प्रत्येकं यथाकृता-ल्प बहुपरिकर्मभेदात्त्रिधा भिद्यते, एतेषु च गृह्णद्भिः पूर्वं यथाकृतं ग्राह्यं, सर्वोपाधिविशुद्धत्वात्तस्य, तदलाभे चाल्पपरिकर्म ग्राह्यं, स्तोकदोषत्वात्तस्य, तस्याभावे बहुपरिकर्मापि ग्राह्यं, एतच्च सर्वमपि वस्त्रं गच्छगतैरेताभिश्चतसृभिः प्रतिमाभि–रेषणाभिरित्यर्थः, गवेषणीयम्।

"उद्दिट्ठ १ पेह २ अंतर ३ उज्झियधम्मा ४" इति। तत्रोद्दिष्टा—यद्गुरुसमक्षं स्वयं प्रतिज्ञातं जघन्यादिकमेकेन्द्रियावयवनिष्पन्नादिकं वा वस्त्रं, तदेव गृहिभ्यो याचमानस्य स्यादिति, १। प्रेक्षा नाम वस्त्रमवलोक्य ब्रवीति साधुर्यथा—भोः श्रावक! यादृशमिदं दृश्यते तादृशमिदं वा मे वस्त्रं देहि २। तृतीया तु परिधानवस्त्रं प्रावरणवस्त्रं वा शय्याया अधस्तनवस्त्रमुपरितनवस्त्रं वाऽन्यद्भोक्तुकाममग्रेतनं च मोक्तुमनसं दातारमत्राऽन्तरे याचमानस्येति ३। चतुर्थी पुनः स्वदेशं बहुवस्त्रदेशं वा गन्तुकामाः कार्पटिकादयो यदुज्झन्ति बहुवस्त्रदेशे वा यत्त्यक्तं लभ्यते, तद्याचितमयाचितं वा गृह्णतां स्यादिति ४। जिनकल्पिकास्त्वासां मध्यादुपरितनद्वयादन्यतरयैवाऽऽददते, न त्वाद्यद्वयेनेति। तत्पुनः केन विधिना गच्छवासिन उत्पादयन्ति? इति चेदुच्यते—यद्यस्य साधोर्वस्त्रं नास्ति स तत्प्रवर्त्तिसाधवे निवेदयति, सोऽपि च गुरुभ्यो, यथा—अमुकस्य साधोरमुकं वस्त्रं नाऽस्तीति। गच्छे चेयं सामाचारी, यदुताऽऽभिग्रहिकसाधवो भवन्ति यथाऽस्माभिर्वस्त्राणि पात्राणि वाऽन्येन वा येन केनचिद्वस्तुना साधूनां प्रयोजनं तदानेतव्यं, तत आचार्यस्तेभ्यो निवेदयति, यथा—हे आर्या! अमुकस्य

साधोरमुकं वस्त्रं नाऽस्तीति, अथ न सन्त्याभिग्रहीकास्ततः स एव भण्यते, यथा–त्वमेव स्वयोग्यं वस्त्रमुत्पादय, अथाऽसावशक्तस्ततो योऽन्यः समर्थस्तं गुरवो व्यापारयन्ति। अथ कस्मिन् काल उत्पादयन्तीति चेदुच्यते–सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा भिक्षार्थमेव हिण्डमाना उत्पादयन्ति। यदि च तदा न लभन्ते, ततो द्वितीयपौरुष्यामपि गवेषयन्ति, तथाप्यलाभे प्रथमायामपि मृगयन्ति। यद्येवमपि न लभन्ते, ततो भिक्षार्थं व्रजन्तः सर्वेऽपि सङ्घाटका व्यापार्यन्ते, ततस्तेऽपि याचन्ते, तथाऽप्यलाभे बहूनि वा वस्त्राण्युत्पादनीयानि, ततो 'वृन्दसाध्यानि कार्याणी'ति कृत्वा गीतार्था अगीतार्थसहिता वाऽऽचार्यं मुक्त्वा समुदायेनोत्तिष्ठन्ति, आचार्यस्तु यद्यपूर्वस्थानगृहचैत्यपरिपाटेरन्यत्र +वस्त्रार्थमेव गृहेषु हिण्डते ततः प्रायश्चित्तं प्राप्नोति। उपयोगं च युगपन्निषीदनोत्थानादिविधिना कुर्वन्ति, तत्र च चिन्तयन्ति–किं प्रमाणं वस्त्रं गृहीतव्यं ? किं जघन्यं मध्यम-मुत्कृष्टं वा ? अथवा किं यथाकृत-मल्पपरिकर्म बहुपरिकर्म वा ? यद्वा कः प्रथमं याचितोऽवश्यं दास्यतीति। कायोत्सर्गं च यो ज्येष्ठो गीतार्थो लब्धिमाँश्च स प्रथमं पारयति, तथा 'यस्य च योग' इति× वचनोच्चारवेलायां 'यथाऽऽदिष्ट'मिति भाषते, तस्याऽभावे लघुरपि तादृश एव पारयति, स एव च पुरतो हिण्डते। गच्छन्तश्च दण्डकं भूमौ न स्थापयन्ति यावत्प्रथमो लाभः, वसत्यागमनं वा यावदित्यन्ये। इत्यादिविधिना च गृहं गतैरभावितश्रावको न याचनीयः, विपरिणामक्रीतादिदोषसम्भवात्, किञ्च–श्रावकाणामाचार एवाऽयं यदेषणीयमुद्धरितं स्वत एव प्रयच्छन्ति, यदाह—

"सड्ढेणं सइ विभवे, साहूणं वत्थमाइ दायव्वं। गुणवंताण विसेसो, तत्थ वि जेसिं न तं अत्थि॥ १॥"

+ "चैत्यपरिपाटिनिमित्तं च गतस्य कश्चिद्वस्त्राणि ददाति तदा कल्पन्ते" इति टिप्पितं अ पुस्तके। × "इति योगवचनो°" अ० य०।

तस्माद्यान्यन्यानि भावितकुलानि, तेषु दानफल-दातृगुणवर्णनं वर्जयद्भिर्याञ्चा कर्तव्येति, गत्वा च वक्तव्यो यः प्रभु-र्यथा-'धर्मलाभो भोः श्रावक! एष साधुजनस्तव समीपमागत ईदृशैर्वस्त्रैः प्रयोजनमस्ती'ति। ततश्चाऽनुग्रहं मन्यमानेन तेन दर्शिते वस्त्रे भणितव्यं-'कस्य सम्बन्ध्येतद्वस्त्रं? किं वा आसीत्? किं वा भविष्यति? कुत्र वाऽऽसी'दिति याचनावस्त्रे प्रश्न-द्वयं विधेयं। तत्र कस्यैतत्प्रश्ने कथयत्येव प्राञ्जलभावो गृही, यथा-'भवदर्थं कृतं क्रीतं धौतं चेत्यादि, अमुकेन वा इहाऽऽनीय स्थापितं, येन तद्गृहे न गृह्णन्ति भवन्त' इत्यादि। ततश्च साधोरविशोधिकोटि-विशोधिकोटिपरिज्ञानं स्यात्तत्स्वरूपं चेदं-

"तणविणणसंजयट्ठा, मूलगुणा उत्तरा उ पज्जणया।" अस्य गाथादलस्य चूर्णिरियमर्थतः-वस्त्रनिष्पत्त्यर्थं यत्क्रियते, यथा-तानं परिकर्मणं वानं चैते मूलगुणा-अविशोधिकोटिरित्यर्थः, संयतार्थं करोति, ये निष्पन्नस्य क्रियन्ते, ते उत्तरगुणा-विशोधिकोटिरिति भावः, यथा-पज्जणं मोडणं +उप्पुंभणं धावनादयश्चैतान्वा संयतार्थं करोतीति। अत्र प्रेरकः-पज्जणं सज्जणं च उग्गमकोडिं इच्छइ तणणं विणणं च विसोहिकोडिं ति। अत्राऽऽचार्यो ब्रवीति-हे प्रेरक!

"अत्तट्ठयतंतूहिं, समणऽट्ठ×तओ अपाइय* वुओ य। किं सो न होइ कम्मं, फासूण वि पज्जिओ जो उ॥१॥"

'फासूण वि'त्ति, स्वार्थविहितेनाऽपीत्यर्थः।

"जइ पज्जणं तु कम्मं, इयरमकम्मं सकप्पकं होउ। अह धोओ वि न कप्पइ, तणणं विणणं च तो कम्मं॥२॥"

तथा पूर्वोपभुक्ते वस्त्रे दर्शिते प्रष्टव्यं-'किमेतदासीत्?'। ततो दाता ब्रवीति-'नित्यनिवसनं, यद्वा मज्जनवस्त्रं, यद्वा

+ "पुम्भः-निष्काशनमि"ति पर्यायः अ०। × श्रमणार्थं। * "अपाययित्वैव व्यूतः" इति पर्यायः अ०।

राजदौवारिकं, यद्वा उत्सववस्त्रमिदममुकस्ये'ति। अत्र यद्वस्त्रं दर्शितं, यदि तस्य सदृशं वहमानं चा×ऽन्यदप्यस्ति दातुस्ततो गृह्यते, अन्यथा ग्रहणे तु गृह्णन्यमुत्पादयति क्रीणाति वा, अन्यच्च +वसानो देहस्य चीवरस्य* वा धूपनं कुर्यात् स्नानं वा कुर्यादित्यादिदोषजालं स्यात्। अथाऽपरिभुज्यमानं दर्शितं तत्र प्रष्टव्यं–किमेतद्भविष्यति ? क्व वा स्थाने इदमासीदिति। अत्राऽपि दाता यत्कथयति तत्समानापरवस्त्रे वहमानेऽवहमाने वा विद्यमान एव ग्रहणं कर्त्तव्यं, तदभावे तु त एवोत्पादनादयो दोषाः स्युः। एवं पृच्छाशुद्धं यदा कल्पनीयमिति निर्द्धारितं भवति, तदा द्वयोरप्यन्तयोर्गृहीत्वा सर्वतो निरीक्षणीयं, मा तत्र गृहिणां मणिर्वा सुवर्णं वाऽन्यद्वा रूपकादि द्रव्यं निबद्धं स्यात्ततः सोऽपि गृहस्थो भण्यते 'निरीक्षस्वैतद्वस्त्रं सर्वतः'। एवं च यदि तेन मण्यादि दृष्टं, ततो लष्टं, अथ न दृष्टं, ततः साधुरेव दर्शयति–'एनमपनये'ति। आह–गृहिणः कथिते कथमधिकरणं न भवति ?, उच्यते–कथिते स्तोकतर एव दोषोऽकथिते तु उड्डाहादिर्महान् स स्यादिति। तथा–

दे	आ	दे
मा	रा	मा
दे	आ	दे

"नवभागकप्पणाए, पढमं वत्थं करित्तु जोएंति। नाऊण फलविसेसं, गिण्हंती अहव वज्जंति ॥ १ ॥"
"चत्तारि देवयाभागा, दुवे भागा य माणुसा। आसुरा य दुवे भागा, मज्झे वत्थस्स रक्खसो ॥ २ ॥"
"अंजणखंजणकद्दम–लित्ते मूसगभक्खिय अग्गिविदड्ढे।
तुन्नि य कुट्टिय पज्जव–लीढे होइ विवागु सुहो असुहो वा ॥ ३ ॥"

× "चेदन्यदप्यस्ति" अ.। + "अन्यवस्त्रपरिधानं कुर्वन्" इति पर्यायः अ०। * "चीरस्य" प० ह० क० य०।

ग्रन्थोपसंहारे निर्दोषवस्त्र-ग्रहण-विधिः।

॥ ९६ ॥

आसुरेसु य गेलन्नं, मज्झे मरणमाइसे ॥ ४ ॥"

"देवेसु उत्तमो लाभो, माणुसेसु य मज्झिमो । आसुरेसु य गेलन्नं, मज्झे मरणमाइसे ॥ ४ ॥" ततो गुरवोऽपि यद्यस्य साधोर्वस्त्रं नाऽस्ति

एतेन च विधिना लब्धेषु वस्त्रेषु आगताः सन्तो गुरूणां समर्पयन्ति साधवः, ततो यथाज्येष्ठं गृह्णन्तीति ।
तत्तस्मै प्रयच्छन्ति, अथवा यावतां साधूनां दातुमिष्टानि तानि तावत्सु भागेषु समेषु क्रियन्ते, ततो यथाज्येष्ठं गृह्णन्तीति ।
तथा परिभोगकालेऽतिप्रमाणं वस्त्रं छिन्दानैर्मूलभागा न छेत्तव्या, अमङ्गलत्वादिति याचनावस्त्रविधिः । निमन्त्रणावस्त्र-
विधिरप्ययमेव, नवरं-उपयोगे "जस्स य जोगो"त्ति वक्तव्यं । तथा सङ्घाटकेन विनिर्गतः कस्मिन्नपि कुले प्रविष्टः सन्केन-
चित्प्रमदादिना दातृविशेषेण महता सम्भ्रमेण भक्तपानाभ्यां प्रतिलम्भ्य वस्त्रेण निमन्त्रित एवं प्रश्नयति, यथा-'कस्येदं ? किं
वाऽऽसीद्भविष्यति वा ? कुत्र चाऽऽसीत् ? केन वा कारणेन मह्यं दीयते ? इति। यद्येवं न पृच्छति तदा पूर्वोक्तदोषा आज्ञाभङ्गादयश्च
स्युः, तथा निमित्तादिप्रश्नबुद्ध्या प्रदत्ते वस्त्रे गृहस्थस्य निमित्तादिप्रश्ने तत्कथनाकथनादयो ये दोषाः सम्भवन्ति, तेऽपि स्युः ।
ततश्चाऽयमत्र भावार्थः-यदि कोऽपि मम पिताऽयं मम पितृसदृशो वाऽयमित्यादिपूर्वसम्बन्धेन, मम भ्राता-भर्ता-भ्रातृ-भर्तृ-
सदृशो वाऽयमित्यादिपश्चात्सम्बन्धेन वा ददाति,अन्येन वा निमित्तादिप्रश्नपरिणामादिलक्षणेन कारणेन ददाति, तदा न ग्राह्यं,
यदा तु यूयं धर्मे कृतमतयस्ततश्च धर्मार्थं सर्वारम्भप्रवृत्तैर्गृहिभिर्दातव्यमेवेत्यादिकारणेन ददाति, तदा ग्राह्यमेवेति वस्त्रविधिः ।

तथा पात्रमप्येकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियावयवमयत्वभेदात्त्रिविधं भवति । तत्रैकेन्द्रियदेहनिष्पन्नं तुम्बकादि, विकले-
न्द्रियशरीरनिर्वृत्तं शङ्खशुक्त्यादि, पञ्चेन्द्रियदेहावयवमयं कुतुप-दन्त-शृङ्गपात्रादि । अत्रौघतः प्रथममेव ग्राह्यं, तदपि तुम्बक-
दारु-मृत्तिकापात्रभेदात्त्रिविधं, एतदपि प्रत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्त्रिविधमेव। तत्र जघन्यं उ(ओ)लङ्कादि मध्यमं

मात्रकमुत्कृष्टं पतद्ग्रहः । पुनरप्येकैकं त्रिविधं—यथाकृत-मल्पपरिकर्म-बहुपरिकर्म च । पूर्वपूर्वाभावे चेहोत्तरोत्तरं ग्राह्यं, एतदपि
चतसृभिः प्रतिमाभिर्गवेषणीयं, ताश्चेमाः—“ उद्दिट्ठ १ पेह २ संगय ३, उज्झियधम्मत्ति ४ । ” अत्र प्रतिमात्रयं
प्राग्वन्नवरं—इह पात्राभिलापो वक्तव्यः । तृतीया पुनरेवं—“ संगइयं वा वेजईयं वा ” कस्याऽपि गृहिणः पात्रद्वयं भवति,
स च तयोर्मध्यादेकैकस्मिन्दिन एकैकं वारकेण वाहयति। तत्र यद्वाहयति तत्साङ्गतिकं, यत्तिष्ठति तद्वेजयिकं, ईदृशं च कोऽपि
साधुरभिग्रहविशेषाद्याचते । शेषविधिस्तु पात्रेऽपि यथासम्भवं वस्त्रवद्द्रष्टव्यः । तथा गृह्णन्नमुं विधिं प्रयुङ्क्ते—
“दाहिणकरेण कोणे, घेत्तुत्ताणेण वाममणिबंधे । खोडेइ तिन्नि वारे, तिन्नि तले तिन्नि भूमीए ॥१॥” तथा—
“तस-बीयादि व दट्ठुं, न गिण्हई गिण्हई य अदिट्ठे । गहणंमि उ परिसुद्धे, कप्पइ दिट्ठेहि वि बहूहिं ॥ २ ॥”
उत्तरार्धस्याऽयं भावार्थः—ग्रहणे परिशुद्धे पश्चाद्यदि बीजादीनि बहून्यपि पश्यति तथापि गृह्णात्येव, न पुनः परिष्ठापयति
प्रत्यर्पयति वा पात्रं, किन्तु यतनया तान्येवा*ऽऽस्फेटयति—यत्र न विराध्यन्ते तत्र च क्षिपतीति । मूलोत्तरगुणविभागश्चाऽय-
मत्र—“मुहकरणं मूलगुणा, पाए× निक्कोरणं च इयरे उ” त्ति गाथादलं सुगममेव । किञ्च—
“उवगरणंपि धरेज्जा, जेण न रागस्स होइ उप्पत्ती । लोगंमि य परिवाओ, विहिणा य पमाणजुत्तं तु ॥१॥”
इति सप्रसङ्गगाथार्थः ॥ १०० ॥ आह—यद्येतद्दोषविप्रमुक्त एव यतिनाऽऽहारो ग्रहीतव्यस्तदा कदाचिदेवंविधस्य
तस्याऽप्राप्त्या बुभुक्षातो देहादेर्बाधा स्याद्यदाह—

* “०व स्फेटयति” प. ह. क. प. । × “तुम्बकपात्रे बीजनिष्कासनम्” इति प० अ. ।

"तं नत्थि जं न बाहइ, तिलतुसमित्तं छुहा सरीरस्स। सन्निज्झं सव्वदुहा-इं दिंति आहाररहियस्स ॥१॥" यतः-
"पंथसमा नत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि। मरणसमं नत्थि भयं, छुहासमा वेयणा नत्थि ॥२॥" तथा
"गलइ बलं उच्छाहो, अवेइ सिढिलेइ सयलवावारे। नासइ सत्तं अरई, विवड्ढए असणरहियस्स ॥ ३ ॥"
ततश्च स्वर्गापवर्गायन्ध्यनिबन्धनत्वेनाऽधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमानानामतिदुर्लभतरसच्चरणकरणव्यापाराणां कथं
हानिर्न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

दी०—इत्येवं त्रिविधैषणाया-गवेषण-ग्रहण-ग्रासभेदात्सप्तचत्वारिंशद्विधाया दोषा 'लेशेन' संक्षेपेण 'यथागमं' पिण्डनिर्यु-
क्त्यादिग्रन्थानुसारेण मया 'अभिहिता' उक्ताः। एषु च दोषेषु गुरुलघुविशेषं-को दोषो गुरुः? कश्च लघुरित्येवं स्वरूपं 'शेषं च'
यदत्र नोक्तं-नामादिन्यास-दृष्टान्त-भङ्गक-विस्तरविचारणादिकं, तत् ×'मुणे'ज्ञानीयात् सूत्रा-दागमादिति गाथार्थः ॥१०१॥

अथैतावद्दोषरहितपिण्डस्याभावे मुनिः किं कुर्यादित्याह—

सोहिंतो य इमे तह, जइज्ज सव्वत्थ पणगहाणीए। उस्सग्गऽववायविऊ, जह चरणगुणा न हायंति ।१०१।

व्याख्या—'शोधयन्' विशुद्धपिण्डग्रहणार्थमवलोकयन्, चः शब्दः प्राक्तनोपदेशापेक्षयोपदेशान्तरसमुच्चयार्थः, कानि-
त्याह-'इमान्' अनन्तरोक्तदोषां'स्तथा' तेन सर्वथा शुद्धाहाराप्राप्तौ +मनागशुद्धादितद्ग्रहणलक्षणेन-प्रकारेण 'यतेत' यतनां
कुर्यात्। क?, सर्वत्र क्षेत्रकालादौ। कया करणभूतयेत्याह-पञ्चकहान्या, इहाऽकृतवीप्सोऽपि पञ्चकशब्दस्तदर्थसम्भवाद्वीप्सार्थो

× "मुने-जानीयात्" ह. क.। 'मुणेज्ज' जानीयादिति सङ्गतमिति मे मतिः। + "मनाक्शुद्धाशुद्धादि" प. ह. क. अ. य.।

कृत्वा यका 'हानिः' स्वानुष्ठानव्ययो, व्येति चाऽशुद्धा-
व्याख्येयस्ततश्च पञ्चकेन पञ्चकेनाऽऽगमप्रसिद्धप्रायश्चित्तलक्षणेन कृत्वा यका 'हानिः' स्वानुष्ठानव्ययो, व्येति चाऽशुद्धा-
हारग्रहणादिनाऽपराधसम्भवे तच्छुद्ध्यर्थं विधीयमानमनुष्ठानं, नृपापराधे दीयमानदण्डद्रव्यवत्, सा पञ्चकपरिहाणिस्तया,
एतदुक्तं भवति–सर्वथा शुद्धाहारस्याऽप्राप्तौ लघुगुरुपञ्चकप्रायश्चित्तार्हदोषदुष्टमाहारं गृह्णीयात्, तस्याऽप्राप्तौ लघुगुरुदशक-
प्रायश्चित्तार्ह+दोषवन्तं, तस्याऽप्यभावे लघुगुरुपञ्चदशकप्रायश्चित्तार्हदोषदुष्टमित्यादि, न पुनः कारणोत्पत्तावपि गुरुगुरुत्तर-
प्रायश्चित्तशोध्यगुरुगुरुत्तरदोषदुष्टमशनादि प्रथमत एवासेवेतेति। कः? इत्याह–'उत्सर्गापवादौ' कारणाभावसद्भावौ 'वेत्ति'
अवगच्छति यः स उत्सर्गापवादविद्वान्–सम्यगधीतच्छेदादिश्रुत इत्यर्थः। साधुरिति गम्यते। 'यथा' येन देहोपष्टम्भकरण-
लक्षणेन प्रकारेण 'चरणगुणा' आवश्यकादयश्चारित्रधर्मा 'न' नैव 'हीयन्ते' हानिमुपगच्छन्तीति गाथार्थः॥ १०१॥

इत्थं चाऽशठस्य यतनया प्रवर्तमानस्य विराधनाऽपि निर्जराफलैवेति प्रतिपादयन्नाह—

दी०–'शोधयन्' विशुद्धपिण्डार्थमन्वेषयन्, च शब्द उपदेशान्तरसमुच्चये, कान्? इमान्–दोषान्। 'तथा' तेन–निर्दोषा-
हाराप्राप्तौ मनागशुद्धस्यापि ग्रहणेन 'यतेत' यतनां कुर्यात्, क? सर्वत्र क्षेत्रकालादौ, कया? पञ्चकहन्या, पञ्चकशब्दोऽत्र वीप्सया
व्याख्येयस्ततः पञ्चकपञ्चकेन सूत्रप्रसिद्धप्रायश्चित्तलक्षणेन या हानिः स्वानुष्ठानव्ययरूपा, कोऽर्थः? सदोषाहारग्रहणाद्य-
पराधशुद्धये विधीयमानानुष्ठानं, नृपापराधे दीयमानदण्डद्रव्यवत्, तया। को यतेत? 'उत्सर्गापवादवित्' कारणाभावसद्भाव-
विद्वान् यतिः, यथा, किं स्याद्? इत्याह–चरणगुणा न हीयन्त इति गाथार्थः॥१०१॥ इत्थं चाशठस्य यतनायोगे निर्जरामाह–

+ "दोषदुष्टमाहारं गृह्णीयात्तस्याभावे" अ.।

ग्रहणैषणा-दोषदशके यतना-युक्तस्य विराध-नाया अपि निर्जरा-फलत्वम्।

जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स॥१०२॥

व्याख्या—या काचिद्विराधनेति योगः 'यतमानस्य' कारणिकसेवायामपि यथाशक्त्या गुरुदोषपरिहारेण प्रवर्त्तमानस्य साधो 'भवे'त्स्या'द्विराधना'स्वानुष्ठानखण्डना, पुनः किंविशिष्टस्य साधोरित्याह—'सूत्रस्या'ऽऽगमस्य 'विधि'र्विधानमर्थ इत्यर्थः सूत्रविधिस्तेन 'समग्रो' युक्तस्तस्य गीतार्थस्येत्यर्थः, सा विराधना 'भवति'जायते 'निर्जराफला' कर्मविशोधिका। पुनरपि कथम्भूतस्य ?, 'अध्यात्मं' मनस्तस्य 'विशोधि'र्यथौचित्येन प्रवर्त्तनाद्रागद्वेषाभावरूपा निर्मलता, तया 'युक्तस्य' समन्वितस्येति गाथार्थः॥१०२॥

अथ ग्रन्थसमाप्तौ स्वनामाविष्करणगर्भे स्वप्रवृत्तेः स्वरूपं फलवत्त्वं च दर्शयन् ग्रन्थकारः कामपि बहुश्रुतप्रार्थनां कर्तुमिदमाह—

दी०—या काचिद् 'यतमानस्य' कारणिकसेवायामपि यथाशक्त्या गुरुदोषपरिहारिणो यतेर्भवेद् 'विराधना' स्वानुष्ठानखण्डना, कथम्भूतस्य ? 'सूत्रविधिसमग्रस्य' सिद्धान्तार्थसम्पूर्णस्य, सा विराधना भवति 'निर्जराफला' कर्मविशोधिका, कीदृशस्य सतः ? अध्यात्मं—मनस्तस्य विशोधि—र्यथौचित्याचरणाद्रागद्वेषाभावरूपा, तया युक्तस्येति गाथार्थः॥ १०२॥

अथ ग्रन्थसमाप्तौ ग्रन्थकारो निजनामग्रथनफलबहुश्रुतप्रार्थनागर्भितं शार्दूलवृत्तमाह—

इच्चेयं जिणवल्लहेण गणिणा जं पिंडनिज्जुत्तिओ, किंची पिंडविहाणजाणणकए भव्वाण सव्वाण वि।
वुत्तं सुत्तनिउत्तमुद्धमइणा भत्तीइ सत्तीइ तं, सव्वं भव्वममच्छरा सुयहरा बोहिंतु सोहिंतु य॥१०३॥

व्याख्या—इत्येतदनन्तराभिहितत्वेन प्रत्यक्षं यत्किञ्चिदुक्तं, तद्भव्यान् बहुश्रुता बोधयन्त्विवति योगः। केनोक्तमि-

त्याह–'जिनवल्लभेन' जिनवल्लभनाम्ना साधुविशेषेण. किंविशिष्टेनेत्याह–'गणिना' व्याख्याप्रज्ञप्त्युपधानोद्वहनाप्तगणि-लक्षणनामचिह्नेन. अथवा गुणगणः साधुगणो वा विद्यतेऽस्येति गणी, तेन. यतिपण्डनिर्युक्तिग्रन्थविशेषात् 'किञ्चित्' स्तोकमात्रं, किमर्थमुक्तमित्याह–'पिण्डविधानज्ञानकृते' आहारविधिपरिज्ञानहेतोः, केषामित्याह–'भव्यानां' योग्यानां 'सर्वेषामपि' साधुश्रावकव्यक्तिसङ्ग्रहणात्समस्तानामपि, श्रावकाणामपि पिण्डैषणाध्ययनार्थस्याधिकारित्वाद्यदाह आवश्यकचूर्णिकारः—"सावओ पुण सुत्तओ अत्थओ य जहन्नेण अट्ठपवयणमायाओ सिक्खइ, उक्कोसेणं सुत्तत्थेहिं जाव छज्जीवणियं, अत्थओ पिंडेसणज्झयणं, न पुण सुत्तओ वि"त्ति। 'वुत्त'ति 'उक्तं'–प्रस्तुतग्रन्थरूपतया विरचय्य भापितं। किंविशिष्टेन जिनवल्लभेनेत्याह-सूत्रनियुक्तमुग्धमतिना,सूत्रे नियुक्ता-ऽऽगमे व्यापारिता मुग्धा-ऽनिपुणा +मति-बुद्धिर्येन स तथा तेन, अनेन च किलाऽऽत्मौद्धत्यपरिहारमाह। कया हेतुभूतया तेनोक्तमित्याह–'भक्त्या' प्रवचनबहुमानेन 'सत्तीइ'त्ति च शब्दाध्याहाराच्छक्त्या च–स्वबुद्धिसामर्थ्येन, तदस्मदुक्तं 'सव्वं भव्वं'ति जातिनिर्देशात् 'सर्वान्' समस्तान् 'भव्यान्' योग्यान्, यद्वा सर्वमिति उक्तस्य विशेषणं भव्यमिति बोधयन्त्विति क्रियाया विशेषणं, भव्यानिति च प्रक्रमगम्यं, अमत्सरा–अद्वेषिणः, संज्वलनकषायोदये मत्सरस्याऽपि सम्भवात्, न श्रुतधराणां प्रस्तुतविशेषणव्यवच्छेद्याशसम्भव आशङ्कनीयः, दृश्यते चोत्तराध्ययनचूर्णौ निर्ग्रन्थविचारणायामयमर्थः "नाण-पडिसेवणाकुसीलो" ज्ञानविराधनां करोति कालविनयबहुमानादीनि न सम्यक्करोति, तथा ज्ञानस्य ज्ञानिनां च निन्दाप्रद्वेषमत्सरादीनि करोतीत्यादि, बकुशपरिसेवनाकुशीलाद्यन्यतराश्च साम्प्रतसाधव इति। के? इत्याह–'श्रुतधरा' आगमवेदिनो 'बोधयन्तु' ज्ञापयन्तु तथा शोधयन्तु चोत्सूत्रार्थापनयनेन निर्दोषं

स्वौद्धत्य-
परिहारपूर्वं
दूषणाप-
नयनाभ्य-
र्थना श्रुत-
धरान्प्रति।

शार्दूलच्छन्दोवृत्तार्थः ॥ १०३ ॥ समाप्ता चेयं पिण्डविशुद्धिप्रकरण-
कुर्वन्तु, च शब्दो बोधनक्रियापेक्षया समुच्चयार्थ इति
वृत्तिः । २८०० ग्रन्थाग्रं । प्रतिवर्णतो गणनया, न्यूनं सहस्रत्रयं शतद्वयेनेति ।

दी०—इत्येतत्पूर्वोक्तं जिनवल्लभाख्येन 'गणिना' उद्बहभगवत्यङ्गादियोगेन यत् पिण्डनिर्युक्तितो मूलग्रन्थात् 'किञ्चित्' स्वरूपमात्रं 'पिण्डविधानज्ञानकृते' आहारविधिपरिज्ञानहेतोः, केषां ? 'भव्यानां' योग्यानां सर्वेषामपि साधुश्राद्धादीनां 'उद्धृत्तं' प्रकरणरूपतया विरच्योक्तं, किंविशिष्टेन ? 'सूत्रनिर्युक्तमुग्ध(शुद्ध)मतिना' सिद्धान्तव्यापारित+निपुणबुद्धिना, औद्ध-त्यपरिहारार्थमिदं । कयोक्तं ? 'भक्त्या' प्रवचनबहुमानेन 'शक्त्या च' स्वबुद्ध्यनुसारेण । तत्सर्वं मदुक्तं भव्यं यथा भवत्येवं 'अमत्सरा' ? अद्वेषिणः 'श्रुतधरा' यथार्थागमवेदिनो 'बोधयन्तु' शिष्यान् ज्ञापयन्तु 'शोधयन्तु च' उत्सूत्रापनयनेन निर्दोषं कुर्वन्तु इति गाथार्थः ॥ १०३ ॥ **समाप्ता चेयं पिण्डविशुद्धिदीपिका ।**

[वृत्तिकृत्प्रशस्तिः]—

आसीचन्द्रकुलोद्भतिः शमनिधिः सौम्याकृतिः सन्मतिः, संलीनः प्रतिवासरं निलयगो वर्षासु सुध्यानधीः ।
हेमन्ते शिशिरे च शार्वरहिमं सोढुं कृतोर्ध्वस्थिति-र्भास्वच्चण्डकरे निदाघसमये चाऽऽतापनाकारकः ॥ १ ॥
आदेयता तपस्त्याग-व्याख्यातृत्वादिसद्गुणैः । लोकोत्तरैर्विशालश्च, श्रीमद्वीरगणिप्रभुः ॥ २ ॥ [युग्मम्] ।
श्रीचन्द्रसूरिनामा, शिष्योऽभूत्तस्य भारतीमधुरः । आनन्दितभव्यजनः, शंसितसंशुद्धसिद्धान्तः ॥ ३ ॥

\+ " मुग्धो मूढे रम्ये " इति हैमानेकार्थोक्तेः ।

संवन्नेत्रनिधानसिन्धुरधरासङ्ख्ये सिते मार्गके, चन्द्रे रुद्रतीथौ गणे खरतरे दुर्गे च मण्डोवरे ।
प्राप्तं पुण्यवशाद्गुरोश्च कृपया सूर्यास्पदं सत्तमं, ते श्रीजैनमहेन्द्रसूरिगुरवो जीयासुरुर्व्यां सदा ॥ १॥×



× यैर्विंशतितमायाः शताब्द्याः जैनशासनस्यासाधारणप्रभावकाः क्रियोद्धारविधायकाः श्रीमन्मोहनमुनीश्वराः संवन्नेत्रखनिधीन्दुवत्सरे [१९०२] वैक्रमे यतित्वेन दीक्षितास्तेषां श्रीपूज्यानां श्रीजिनमहेन्द्रसूरिवराणामाचार्यपदप्राप्तिसमयादिसूचकोऽयं पद्यो जैतारणग्रामस्थे श्रीसङ्घसत्के चित्कोपे एकस्मिन्नेव क्षुल्लके पत्रखण्डे लिखितः समुपलब्धः ।

शुद्धिपत्रकम्—

पत्रम्	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६	१	८	'द्रव्यन्नि॰	द्रव्यनि॰
१५	२	४	॰दुवउगे	॰दुवओगे
१९	२	१	आचरित्वा॰	आचरितत्वा॰
२३	१	१	हेतुत्वनु०	हेत्वनु
२७	२	२	मालवाकादे॰	मालवकादे॰
,,	,,	३	स्यादत्तत॰	स्यात्तत॰
२८	२	१०	॰खगतवो॰	॰खवगतवो॰
३१	२	६	कियतीरपि	कियती अपि
३९	,,	१३	पा न प्र॰	पानप्र॰
४१	,,	३	दट्ठण	दट्ठूण
४३	१	१०	ताड्यसि	ताडयसि
५४	२	११	सुट्ट	सुट्ठु
५८	२	१०	॰मने न	॰मनेन
६०	१	१	॰मुवविट्ठो	॰मुवविट्ठो
६४	२	६	भणा॰	भणना॰
८१	२	४	घेतव	घेत्तव'
९२	२	९	॰राधार्मिकी॰	॰राधाकार्मिकी॰
९४	१	११	बहविहे	बहुविहे
९६	१	१	॰यांद्रियख्रिा	॰यद्रियच्छिना

आसन्खरतरे गच्छे, सुविशुद्धक्रियान्विते । नाम्ना मोहनलालेति, क्रियोद्धारस्य कारकाः ॥ १ ॥

इति पिण्डविशुद्धिप्रकरणं समाप्तम् ।

तच्छिष्यशिष्यपंन्यास–गणिकेशरसन्मुनेः । शिष्यं हि गणिबुद्ध्यब्धिं, ते प्रयच्छन्तु शं सदा ॥ २ ॥

आसन्खरतरे गच्छे, सुविशुद्धक्रियान्विते । नाम्ना मोहनलालेति, क्रियोद्धारस्य कारकाः ॥ १ ॥

इति पिण्डविशुद्धिप्रकरणं समाप्तम् ।

तच्छिष्यशिष्यपंन्यास-गणिकेशरसन्मुनेः । शिष्यं हि गणिबुद्ध्यब्धिं, ते प्रयच्छन्तु शं सदा ॥ २ ॥

आचार्यश्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी–जैनग्रन्थमाला–ग्रन्थाङ्क (११)

श्रीमज्जिनवल्लभगणिप्रणीता श्रीमच्चन्द्रसूरिविवृता

श्रीपिण्डविशुद्धिः

सकलागमरहस्यवेदी पूज्यपादाचार्य श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरपट्टप्रभावक सिद्धान्तमहोदध्याचार्य श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरविनेयावतंस व्याख्यानवाचस्पति प्रखरवक्ता आचार्य श्रीमद्विजयरामचन्द्रसूरीश्वर शिष्यरत्न मुनिश्रीतिलकविजयोपदिष्ट भाणवडवास्तव्य श्राद्धवर्य्य शापरीया धरमसीभाइ तनुज भाणजीभाइ तत्पत्नी च श्रीमती पुरीबाइप्रदत्त द्रव्यसाहाय्येन

प्रकाशिका–आचार्यश्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी–जैन ग्रन्थमाला, सुरत

वीर संवत् २४६५ विक्रम संवत् १९९५ काइस्टस्य १९३९

मूल्यम् पादोनरूप्यकद्वयम्

प्राप्तिस्थानं-
आचार्यश्रीमद् विजयदान-
सूरीश्वरजी जैन ग्रन्थमाला
गोपीपुरा-सुरत



मुद्रक-
भगवानदास हरखचंद पण्डित
"श्री शारदा मुद्रणालय"
खाड़न गेट भद्र-अमदावाद.

प्रकाशकीय निवेदन

आचार्यश्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी–जैनग्रन्थमाला तरफथी अत्यार सुधीमां १० ग्रन्थो बहार पडी चूक्या छे अने ११मा ग्रन्थाक तरीके 'श्री पिण्डविशुद्धि' नामनो टीका सहित आ ग्रन्थ बहार पाडवामा आवे छे.

सदरहु ग्रंथना मूलकार आचार्य श्रीजिनवल्लभसूरीश्वरजी महाराजा छे. ते कया गच्छना हता, क्यारे थया, क्यारे क्यां अने कोनी पासे दीक्षा लीधी अने केटला वर्ष सुधी संयमनी आराधना करी, क्यारे आचार्यपद प्राप्त कर्युं तथा कइ सालमा प्रस्तुत ग्रन्थनी रचना करी ते सामग्रीना अभावे कही शकाय तेम नथी. परंतु खरतरगच्छवाला के जेओ तेओने जिनाज्ञाविरुद्ध छ कल्याणकनु प्रतिपादन करनार श्रीजिनवल्लगणि तरीके ओळखावे छे ते वात सत्य नथी परतु बीजा गच्छना छे. ते सवंधमां सदरहु ग्रन्थनी प्रस्तावनामां स्पष्ट रीतिए खुलासो करेल छे जे प्रस्तावना वांचवाथी जणाशे.

सदरहु मूल ग्रन्थ उपर घणा आचार्योए वृत्ति, अवचूरि, दीपिका अने बालावबोध करेल छे, परंतु आ मूल ग्रन्थनी विस्तृत अने तलस्पर्शि टीका श्रीशत्रुंजयमहात्म्यनी वृत्तिना कर्ता आचार्य श्रीमद्धनेश्वरसूरीश्वरजीमहाराजाना शिष्य आचार्यश्रीमच्चंद्रसूरीश्वरजीमहाराजाए ४४०० श्लोक प्रमाण वि. स. ११७८नी सालमां करी छे. एटले आ टीकानी कृति आठसो वर्ष पूर्वेनी छे अने ते हजी सुधी कोई पण संस्था तरफथी छपाईने बहार पडेल नथी.

आ ग्रन्थमां चारित्रनो मूल आधारभूत जे देह तेना पोषणमां अत्यंत उपयोगी एवा पिंडादिना गुणदोषने सारी रीते बताववामां आवेला छे

तेथी आ ग्रन्थनुं प्रकाशन निरतिचारचारित्र पाळवानी इच्छावाळाओने अत्यंत उपयोगी थइ पडशे एम जाणी अत्यार सुधी अमुद्रित रहेल आ ग्रन्थ सदरहु सस्था तरफथी बहार पाडवामा आवे छे के जेनुं पठनपाठन करवा द्वारा, चारित्रनी आराधना करनार संयमी आत्माओ तेमा बतावेल दोषोनुं निवारण करवामा पोतानी शक्तिनो उपयोग करी संयम मार्गने उत्तम रीतिए आराधी इष्ट सिद्धि जे मोक्ष तेने प्राप्त करशे एम अमो आशा राखीए छीए.

भाणवडवास्तव्य सुश्रावक शापरीया **भाणजीभाई धरमसी** तथा तेमनी पत्नी **पुरीबाईए** व्याख्यानवाचस्पति आचार्यश्रीमद्विजयरामचन्द्र-सूरीश्वरजी महाराजना शिष्यरत्न मुनिराजश्री **तिलकविजयजी** महाराजना सदुपदेशथी पोताना कल्याणार्थे पोताना उपार्जन करेल द्रव्यमाथी सन्मार्गे व्यय करी ज्ञानभक्तिद्वारा लाभ लेवा माटे अमुक रकम काढेली छे जेमांथी आ ग्रन्थ बहार पाडवामा आवे छे. तेओनी ईच्छा सदरहु रकममांथी परंपराए ग्रन्थो बहार पड्या करे एवी होवाथी आ ग्रन्थनी पडतर किंमत राखवामां आवी छे. आवी रीते ग्रन्थोना प्रकाशनमा सहाय करवा माटे उपदेश आपनार महात्मानो तथा सहाय करनारनो अत्यत आभार मानवामां आवे छे अने अमो इच्छीये छीए के हजी पण तेओ ग्रन्थ प्रकाशनमा लक्ष्मीनो वधु फाळो आपी पुण्यना योगे मळेली लक्ष्मीनो लाभ उठावे.

आ ग्रन्थना सशोधनमां सिद्धान्तमहोदधि आचार्य **श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराजना प्रशिष्य मुनिराज **श्रीमानविजयजीए** अत्यंत परिश्रम लीधो छे ते माटे पण आ संस्था तेमनी अत्यत ऋणी छे.

वि. सं. १९९५
प्र. श्रावण सुद ३ सुरत

लि. संपादक
मास्तर हीरालाल रणछोडभाइ.

प्रस्तावना

सुप्रसिद्धमेतद्विपश्चितां यदस्मिन्ननाद्यनिधनापारससारपारावारे सर्वेऽपि सुखार्थिन प्राणिनस्तदर्थमनवरत प्रयासं कुर्वाणा अपि तथाविधसुखप्राप्त्युपायमद्बोधाभावान्न परमानन्दरूप सुखमासादयन्ति परं यत्किञ्चित् सासारिकसुखं प्राप्नुवन्ति तदपि दु.खप्रागभावमात्रतया न तु दु:खात्यन्तिकोच्छेदतया सुखाभासत्वात्तत्त्वतो दु खमेव। तथाविधससारस्थितिं निरीक्ष्य पूर्वतृतीयभवे 'सर्वेऽपि प्राणिन सुखिनो भवन्तु' इत्येतद्भावनाबलेन निकाचिततीर्थंकरनामकर्मोदयात्तीर्थंकराः केवलज्ञानप्राप्त्यनन्तरं तत्प्राप्त्युपाय धर्मतीर्थस्थापनाद्वारेण दर्शयन्ति। स च द्विविधः, एको देशविरतिर्वक्रो दुराराध्यश्च ससारबन्धनभावाच्चिरकालेनेष्टार्थप्रापक., इतरस्तु सर्वविरतिः ऋजुः सुखाराध्यश्च ससारत्यागादचिरेण च निर्वाणपददायकः। अत एव ये केऽपि ऐकान्तिकशाश्वतिकसुखं प्रति अत्यंतस्पृहालव' ते. द्वितीयः स्वीकार्यः अविलम्बेन साध्यसाधकत्वात्। न केवलं वेषपरावर्त्तनरूपेण लिङ्गग्रहणेन कार्यसिद्धि. संसारे बम्भ्रम्यमाणै' सप्राणैरनेकश. तस्य प्राप्तत्वेऽपि निस्ताराजनकत्वात्, परं तदनुरूपानुष्ठानकरणेनैव। तदनुष्ठानाधारभूतं च शरीरं, यत उक्तम् 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'। तच्च तदा संयमोपकाराय भवति यदा तदागमविहितशुद्धपिण्डेन पुष्यते, यत' 'यादृगाहारेण देहोपष्टम्भः तादृगध्यवसायवान् जीवोऽपि भवती'ति लोकोक्ति', तत' निरतिचारसंयमपालनद्वारेण अक्षयस्थानैषिभिः प्रथमं पिण्डगवेषणादिविधिर्विलोकनीया, सा च चिरन्तनाचार्यै. तत्रभवद्भिः श्रीशय्यंभवसूरिश्रीभद्रबाहुस्वाम्यादिभिः श्रीदशवैकालिकश्रीपिण्डनिर्युक्त्यादिग्रन्थेषु संदृब्धा। तत्र गाथाप्रमाणाधिक्यान्मन्दमेधाविना सुखेन मुखपाठकरणायात्यन्तोपयोगि श्रीपिण्डविशुद्धिसंज्ञकमिदं प्रकरणं त्र्युत्तरशतगाथात्मकं श्रीमज्जिनवल्लभसूरिभी

किगच्छीयाः ? के अमीषां गुरवः ? स्वजनुषा कां भुवमलंचक्रुः ? कदा कुत्र च पवि-
रचितं। प्रकरणस्यास्य कारका एते आचार्या कदाऽभूवन् ? किगच्छीयाः ? के अमीषां गुरवः ? इति यदु-
त्रस्थले कृतमिदम् ? इत्येतन्निश्चेतु न शक्यम् सामग्र्युपलम्भाभावात्, परमेतत् सिद्धमेव यत्खरतरैः 'एते श्रीजिनवल्लभसूरयः स्वगच्छीयाः' इति यदु-
द्घुष्यते तत्तेषा स्वसम्प्रदायोत्कर्षख्यापनार्थं मिथ्याप्रलापमात्रमेव, यतः तेषा स्वोक्तिसंवादिकां जेसलमेरदुर्गे श्रीसम्भवजिनालये उत्कीर्णा प्रशस्ति
विना न किञ्चिदन्यत् प्रबलं प्रमाणमस्ति, परं साऽपि न प्रमाणत्वेन स्वीकर्तु योग्या, तदनुयायिभिः स्वगच्छस्य कृत्रिमोत्तमत्वोद्भावनार्थं निम्ननि-
र्दिष्टानेकविधासत्यैरुद्भावितत्वात्, तानि चैवम्—

१ प्रशस्तौ खरतरविरुदं श्रीजिनेश्वरसूरिभिः प्राप्तमिति यल्लिखितं तच्छशशृगमिव प्रतिभाति, यतः तैर्यो बिरुदप्राप्तिसमयः स्वकीयग्रन्थेषु प्रति-
पादित. तस्मिन् समये बिरुददातृश्रीदुर्लभसेनश्रीजिनेश्वरसूरीणा योग एवासम्भव तेषां सत्तासमयस्य भिन्नत्वात्।

२ सप्तनवत्यधिकचतुर्दशशतसंवत्सरे प्रशस्ति लिखिता अर्थात् श्रीजिनवल्लभस्य कालगमनसमयपश्चात् त्रिशतवर्षानन्तरं। एतत्त्रिशतीकालमध्ये
खरतराचार्यैः अनेके ग्रंथा. संदृब्धाः किन्तु नैकस्मिन् ग्रन्थे कुत्रचित् श्रीजिनवल्लभस्य श्रीपिण्डविशुद्धिकारकत्वविशेषण उक्तः, तत एताव-
त्कालानन्तरं नाममात्रसाम्यबलेन स्वमतमुख्यपुरुषख्यातिख्यापनार्थं पाश्चात्यैः स्वमतावलम्बिभिरिद प्रशस्तिपट्टकं स्वोत्प्रेक्षोल्लिखितं सम्भाव्यते
अतः न प्रमाणक्षमम्।

३ प्रशस्तौ पट्टावल्या यच्छ्रीमज्जिनेश्वरसूरय नवाङ्गीवृत्तिकारश्रीअभयदेवसूरयश्चापि खरतरत्वेन दर्शिता तदपि स्वसम्प्रदायालीकप्रामाणिक-
त्वोद्भावनार्थमेव यतः न कुत्रापि स्वकीयग्रन्थेषु तैः महात्मभिः खरतरगच्छमान्यस्य जिनागमविरुद्धस्य षट्कल्याणकस्य प्ररुपणा कृता प्रत्युत
प्रमाणनिष्टङ्कितपञ्चकल्याणकप्ररुपणैव कृता, किंच न कुत्रापि आत्मना खरतरगच्छीयत्वं स्थापितं।

श्रीपिण्डविशुद्धिप्रकरणकर्तृत्वं दूरेऽपास्तम् ।

एवमुक्तप्रकारेण प्रशस्ते कपोलकल्पनामात्रमूलकत्वात् श्रीजिनवल्लभगणिखरतरस्य श्रीपिण्डविशुद्धिप्रकरणकर्तृत्वं दूरेऽपास्तम् ।

किञ्च श्रीपिण्डविशुद्धिप्रकरणस्यास्य रचयितार श्रीजिनवल्लभगणिखरतराद् भिन्ना इत्येतत्साधकानि अन्यप्रमाणान्यपि सन्ति तानि चैवम्–

1 श्रीसेनप्रश्न पत्र ४/१ प्रश्न २३ तमे भट्टारकश्रीमद्विजयसेनसूरिभिरेव प्रतिपादित यथा 'पिण्डविशुद्धिविधाता श्रीजिनवल्लभगणिः खरतरो-ऽन्यो वा ' इति प्रश्नोऽत्रोत्तर–जिनवल्लभगणे खरतरगच्छसम्बन्धित्व न सम्भाव्यते यतस्तत्कृते पौषधविधिप्रकरणे श्राद्धाना जेमनाक्षरदर्शनात् कल्याणकस्तोत्रे च श्रीवीरस्य पचकल्याणकप्रतिपादनाच्च तस्य सामाचारी भिन्ना खरतराणा च भिन्नेति ॥२३॥

2 अस्य प्रकरणस्योपर्यनेके पृथक् पृथक् टीकावचूरिदीपिकाबालावबोधा कृता. परं न केनापि तत्कर्तृणा खरतरगच्छसम्बन्धिता प्रतिपादिता ।

3 प्रस्तुतटीकाग्रथकारा श्रीमच्चन्द्रसूरय. श्रीजिनवल्लभखरतरसमकालीना' सन्तोऽपि प्रकरणकारस्य खरतरगच्छीयत्वं न सूचितवन्तः, यदि त-त्स्यात्तर्हि तदवश्यमेव सूचितं स्यात् उत्सूत्रभापि श्रीजिनवल्लभखरतरस्य तत्पातकभीरुभिरवश्य तादृशव्यपदेशयोग्यत्वात् ।

4 श्रीजिनवल्लभखरतरस्य कालगमनसमय वि. सं. ११६७, यदि तेनैवेदं प्रकरणं कृतं स्यात् तर्ह्येकादशवर्षात्मकातिस्तोककालानन्तरं वि. स. ११७८तमे वर्षे इद वृत्तिकरण न सम्भवेद्यत श्रीजिनवल्लभगणिः पट्कल्याणकाद्युत्सूत्रभापित्वात् श्रीसंघाद् बहिष्कृत' तच्च खरतरैरेव स्वरचपट्टके भूषणत्वेन प्रतिपादित न तु दूषणत्वेन। एव च शासनद्रोहकारिनवीनमतोत्पादकस्य ग्रन्थ प्रमाणीकुर्वन्तः परमसूत्रानुसारि-श्रीमच्चन्द्रसूरिमहाभागास्तस्योपरि वृत्तिं कुर्युरेतदपि सुबुद्धिपथ नावतरति ।

5 ग्रन्थे न किञ्चिदुत्सूत्र निबद्धमतएव वृत्तिकरण न दोषाय, अपि च पाश्चात्यानामुपकाराय भविष्यतीत्येतदभिप्रायेण वृत्तिकारैः प्रयासः कृतः इति यदि सम्भाव्यते तर्हि कथ प्रान्तगाथावृत्तौ प्रकरणकर्तु' परिचयदर्शने, तस्य निश्चितस्वसमानकालवर्त्तित्वेपि, सघबहिष्कृतत्वेपि पट्कल्या-

णकादिप्रतिपादनेनोत्सूत्रभाषित्वेऽपि न किमपि विशेषणत्वेन प्रतिपादितम् प्रत्युत बहुमानं दर्शितमेतदपि सूचयति यदस्य रचयितारः श्रीजिन-
वल्लभसूरयोऽन्य एव.
एवं प्रदर्शितप्रमाणैरिद फलितं भवति यदिदं प्रकरण न श्रीजिनवल्लभखरतरकृतिः किन्तु अन्येषामेव.
न केवलं खरतरैः स्वमतोत्कर्षार्थं जेसलमेरदुर्गे एव श्रीसम्भवजिनालयप्रशस्ताविदमसम्भावितं लिखितम् परमनेकग्रन्थेषु एवं निबद्धं, तत्प्रति-
कारस्तु महोपाध्याय श्रीधर्मसागरगणिविरचिताया प्रवचनपरीक्षायां विस्तरतः कृतो विलोक्यते अतः तज्जिज्ञासुभिस्तत्रावलोकनीयम्, अपि च
मुनिश्रीदर्शनविजयेन श्रीजैनसत्यप्रकाशसज्ञकमासिके ४ वर्ष१०–११ अंके 'फलवर्द्धितीर्थविषयिकनिबन्धे' यत् 'नाहटा'इति उपाधिधारकेण स्वोप-
लब्धगुर्वावल्यानुसारेण 'स. १२३४ फलवर्द्धिकायां विधिचैत्ये पार्श्वनाथ. स्थापितः' इत्यक्षरबलेन 'अब यह निस्सन्देह प्रमाणित हो जाता है कि
पार्श्वनाथभगवान की प्रतिष्ठा स. १२३४ में खरतरगच्छाचार्य श्रीजिनपतिसूरिजी ने की थी'इति यल्लिखितं तन्न प्रामाण्यं बिभर्त्ति इति तद्बाधका-
नेकप्रमाणैर्दर्शितम् प्रत्युत तत्प्रतिष्ठा श्रीवादिदेवसूरीश्वरैः स्वशिष्यद्वारा कारापिता इत्यपि प्रतिपादितम्। एतावता एतत् सिद्ध भवति यद् खरतरैः
स्वगच्छोत्तमत्वस्थापनार्थं अनेकस्थले असम्बद्धप्रलापा उद्भाविताः, परं यथा चौर आत्मानं स्वाङ्गुल्याऽऽच्छादयितुम् न शक्नोति तथैव तेऽपि
कूटलेखैः स्वेप्सितार्थं साधयितुं न शक्नुवन्तः ॥
एतादृक्प्रयासकरणे कि प्रयोजन ? न च श्रीजिनवल्लभसूरीणां खरतरगच्छसम्बन्धित्वनिरासकरणेनापि युष्मदभिमतगच्छसम्बन्धित्वं न साधितं,
तथा च निष्फल एव श्रीमदीयः प्रयास इति वाच्य यतः मया प्रथममेव उक्तम् यद् प्रकरणकर्त्तारः किंगच्छीया इत्येतन्निश्चेतुं न शक्यम्, मम
प्रयासस्तु खरतरा यद् वदन्ति 'पिण्डविशुद्धिप्रकरणकारकाः अस्मद्गच्छीयाः' तदसत्यं इत्येतद्ज्ञापनायैव आसीत्स च सिद्धस्ततः सफल एव।

॥४॥

पिण्डदोषज्ञाने अस्य प्रकरणस्यात्यन्तोपयोगित्वं ज्ञात्वा मन्दमेधाविनामुपकाराय श्रीमच्चन्द्रसूरिश्रीयशोदेवप्रमुखैस्तदुपरि वृत्तिदीपिकावचूरि-बालावबोधाः कृता, परमद्ययावत् न केनापि तत्प्रकाशने परिश्रमः कृतः। गतवर्षे मोहमय्या पूज्यपादसिद्धान्तमहोदध्याचार्यश्रीमद्विजयप्रेमसूरी-श्वरे, पिण्डविशुद्धेर्दीपिकामवचूरिं च विज्ञाय, पिण्डशुद्धिज्ञाने च तस्य उपयोगित्वमवधार्य, तत्प्रकरणस्य वृत्तिदीपिकाद्यन्यसामग्रीप्राप्तये मम प्रेरणा कृता। मयाऽपि यथालभ्यदीपिकावचूरिवृत्तीनाम् प्रतयः प्राप्ताः। तासाम् मध्ये अस्याः श्रीचन्द्रसूरेः वृत्तेः सुकृतित्वं ज्ञात्वा तत्प्रकाशने मम मनोरथो जातः।

मुद्रणावसरे सवृत्तिकस्यास्य ग्रन्थस्य संशोधनार्थं तिस्रो हस्तलिखितप्रतयो मयोपलब्धाः, एका पत्तनसंघहस्तकलींबडीपाडाभण्डारसत्का पत्र १३१ वि. सं. १५५१ वर्षे लिखिता, द्वे प्रती राजनगरडहेलाउपाश्रयभण्डारसत्के, एका पत्र १०९ वि. सं. १६७३ वर्षे लिखिता, द्वितीया पत्र १२९ वि. स. १५७५ वर्षे लिखिता। तिस्रः प्रतयः शुद्ध्यशुद्धिविषये प्रायः समाना एव, अत एव एकस्याः कस्या अपि प्रतेः प्रतिकृतयः सम्भाव्यन्ते, केवलं पत्तनसत्कायाः प्रान्ते प्रशस्तिः लिखिता साऽपि त्रुटिता एव। तिस्रः प्रतयः न शुद्धाः, तासु क्वचित् कुत्रचित् स्थले अशुद्धित्रुटितपाठाधिकपाठादीनि दृश्यन्ते ततः यत्र यत्र स्थले अशुद्धिः त्रुटितपाठश्च सम्भावितस्तत्र तत्रासावेतत् चिन्हेन ( ) यत्र अधिकपाठः तत्र स एतत्संज्ञया [ ] यत्र न अर्थस्य वैलक्षण्य तत्र प्रश्नार्थचिन्हं दर्शितम्। यत्र च लेखकेन पाठो न लिखितः तत्र मयाऽपि तादृगेव रक्षितः।

एतत्पुस्तकदातृणाम् उक्तभण्डारकार्यवाहकानां विशालौदार्यता धन्यवादास्पदीभूता एव।

एतद्वृत्तिकारैः स्वसत्तासमयः स्वगुरूणां नाम, गच्छनिर्देशः, वृत्तिरचनासमयः स्थलं च प्रशस्तौ दर्शितं, परं ततोऽधिकं स्वजन्मभूम्यादि तादृशसामग्र्यभावान्न शक्यते ज्ञातुम्। तैरेवमहोदयैः श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तिः, पंचोपांगवृत्तिः, निशीथविंशोद्देशकवृत्तिः जीतकल्पचूर्णिविषमपदव्याख्या

इत्यादि पाण्डित्यपूर्णग्रन्था अन्येऽपि संदृब्धाः, निर्णीयते अतस्तेषां वृत्तिरचनाया कौशल्यातिशयः । चेतश्चमत्कारकरी इयं वृत्तिः पुनः द्वादश-
मशताब्दिकालीनत्वात्सुप्राचीना अत एव प्रकाशितासौ विदुषां सत्कारयोग्या भवितेति नात्र कश्चित्संदेहः ।

साम्प्रतं संयमसाधनप्रधानभूतदेहोपष्टम्भाय अनन्तज्ञानिनोपदिष्टविधिप्रचारः लुप्तप्राय एव दृश्यते । वस्तुस्थित्या तु यावत् पिण्डेषणाध्ययनादि
न पठ्यते तावत् गोचरचर्यायामपि मुनिरधिकारी न भवति । वर्तमानसाधुसंस्थायां अस्य पिण्डविशुद्धिज्ञानस्य प्रसरो न तादृक्संतुष्टिजनकः,
पिण्डगवेषणे तु का वार्ता। श्रीदशवैकालिक श्रीपिण्डनिर्युक्त्यादिग्रन्थाना पठनपाठनेन भाविता अपि यदा पिण्डप्रस्तावे अयतमाना उपेक्षाभावं भजन्तो
दृश्यन्ते, तदा तु एतन्महाश्चर्यं यत उपलभ्यापि सुदुर्लभं भगवतोपदिष्टसंयममार्गं, अवाप्य च तथाविधं ज्ञानावरणक्षयोपशमेन सम्यग्ज्ञानं, श्रीतीर्थं-
करा‌ज्ञा सम्यग्जानन्तोऽपि स्वल्पकष्टसाध्यपिण्डविशुद्धिगवेषणायतनायां न स्वादरवन्तः प्रत्युत दोषान् प्रति उपेक्षां कुर्वाणा अवलोक्यन्ते । अनेनैतन्न
निश्चेतव्यं यन्न कोपि पिण्डविशुद्धौ यतमानः दृश्यते परं यतनावन्त अल्पा एव । अत एव उद्गमादिदोषगवेषणायां या शिथिलता उपेक्षा च दरी-
दृश्यते तद्दूरीकरणार्थं स्वस्वगच्छनायकैः पिण्डनिर्युक्त्यादिग्रन्थपठनपाठनद्वारेण स्वाचरणद्वारेण तत्पालनप्रेरणाकरणेन च प्रयासः कार्यः । अयं च
सवृत्तिकग्रन्थः श्रीदशवैकालिकश्रीपिण्डनिर्युक्त्यादिशास्त्रानुसारेण रचितत्वात् पिण्डदोषज्ञानेऽत्यन्तोपयोगी। संयमाराधनायां मूलभूतदेहधारणाय आहा-
रग्रहणं, न तु बलवीर्यादिवर्धनाय यत उक्तं 'अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ति साहूण देसिया । मोक्खमग्गस्स हेउस्स, साहुदेहस्स धारणा' ॥१॥
श्रीमद्हरिभद्रसूरिभिरपि भिक्षाष्टकप्रकरणे दोषवती भिक्षा संयमबलहारिणीत्वेनोक्ता, तीर्थकरैः द्विचत्वारिंशदुद्गमादिदोषदुष्टाहारस्य निषिद्धत्वात् ।
तद्दोषज्ञानदर्शको अय ग्रन्थो अवश्यं पठनीयः, तत्करणेन च पिण्डग्रहणे उत्सर्गापवादं विदन् शुद्धाहारेण सयमाधारभूतशरीरपोषणद्वारेण निरतिचारं
चारित्रं समाचरनुत्तरोत्तरं कर्मक्षयं कृत्वा निस्सीमानन्दास्पदं प्राप्नुयादिति ममेहा न शशश्रृङ्गायमाणा भूयात् ।

उपरोक्तपुस्तकत्रयानुसारेण सावधानीभूय यथाशक्ति संशोधितेऽप्यस्मिन् ग्रन्थे छद्मस्थभावानुसारिप्रमादवशात् , दृष्टिदोषवशात् सीसकयोजकदोषवशाद्वा यत्र कुत्रचित्स्थले या काप्यशुद्धिर्वाचकानां दृष्टिपथमवतरेत् सा संशोध्य वाचनीया कोविदैरिति प्रार्थ्यते ।

एतस्मिन् ग्रन्थसंशोधने संशयस्थानापनोदार्थं ममात्यंतसाहाय्यीभूताना परमगुरुदेव परमोपकारि द्रव्यानुयोगनिष्णात सिद्धान्तमहोदध्याचार्य श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराणां अनुमहोत्कटं हृद्विमर्शमर्यादामुल्लङ्घ्यमानमपि लेखिनीगोचरीकर्तुं किमिति न पार्यते मयका ।

एतद्ग्रन्थस्य प्रान्ते वाचकानां सुखेन मुखपाठोपयोगि मूलप्रकरणनिबन्धनमपि पृथग्योजितम् ।

वीर संवत् २४६५ }
पुण्यपत्तने प्र. श्रावणशुक्ल ३ }

व्याख्यानवाचस्पति आचार्यश्रीविजयरामचन्द्रसूरीश्वरपादारविन्द-
भृङ्गायमानो मुनिमानविजयः

शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठ·	पुंठी	पंक्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
२	२	७	त्तत्वतो	त्तत्त्वतो
२	२	१०	पेहा	पेहो
३	१	३	प्रतिकुष्टो	प्रतिकृष्टो
३	१	११	हष्टव्यमिति	द्रष्टव्यमिति
३	१	११	'तत्राहाकम्मत्ति'	तत्र 'आहाकम्म'त्ति
३	१	१३	'उद्देसियत्ति'	'उद्देसिय' त्ति
३	१	१३	उद्देशे	उद्देशो
३	२	१	निवृत्तं	निर्वृत्तं
३	२	६	प्रथमत	प्रथमतः
३	२	७	'पाउयरयत्ति'	'पाउयर' त्ति
४	२	२	तेन	[तेन]
४	२	६	यतेर्ज्जीवं	यतेर्जीवं
४	२	८	स त्ति	'से' त्ति
४	२	११	दोप	दोष
५	१	६	लोल्य	लौल्य
५	१	८	अहे त्ति	'अहे' त्ति
५	२	४	वुच्चइ	वुच्चइ
५	२	१२	स्थिति	स्थितिः
६	१	४	परपर	पर
६	२	२	पुनः शव्दश्च	पुनःशव्दश्च
६	२	३	प्रतिषेधनादि	प्रनिपेवणादि
६	२	४	स्यात्ताम्	स्यात्तान्
६	२	६	दोपा	दोपा
६	२	९	च्छलना	छलना
८	१	१३	फासुकयं	फासुकडं
९	१	२	भूतत्वेन प्राप्त	भूतत्वेनाप्राप्त

पृष्ठः	पुंठी	पंक्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
९	१	६	कृतेत्यर्थः	कृत्येत्यर्थः
९	१	१२	निश्चितमित्यस्य	निश्चितमित्यर्थः
९	१	१३	मात्मनि निमित्त	मात्मनिमित्तं
११	१	४	भद्र्ययोर्भजनया	भद्रयोर्भजनया
११	२	१०	यतिप्रसङ्ग	अतिप्रसङ्ग
११	२	११	प्रतिपेधादीन	प्रतिपेवादीन्
१२	१	६	प्रतिश्रवणादि	प्रतिपेवणादि
१२	२	४	न्यथा भाव	न्यथाभाव
१२	२	५	इति शब्दाच्च	इतिशब्दाच्च
१३	१	१२	प्रतिपेधादय	प्रतिपेवादय
१३	२	१	प्रतिश्रवणा	प्रतिपेवणा
१३	२	१३	राजाकथक	राजकथक
१४	२	१०	प्रतिपेधादयश्च	प्रतिपेवादयश्च
१४	२	१२	प्रतिपेधादीं	प्रतिपेवादीं
१५	१	११	तत्वं	तत्त्वं
१६	१	२	अतीचार	अतिचार

पृष्ठः	पुंठी	पंक्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
१६	१	५	कर्मिकपरिहारे	कर्मिकापरिहारे
१७	१	४	आहारणा	आराहणा
२०	२	१२	कथाचित्	कदाचित्
२२	२	८	मा कयाइ	कयाइ
२३	१	३	पयत्तेयत्तो	पयत्तो
२३	१	५	भुंजउ	भुञ्जिउ
२३	१	११	साध्वाद्यर्थम	साध्वाद्यर्थं
२३	२	७	गृहतोऽशु	गृह्णशु
२४	१	५	चैव	चैवं
२५	१	५	समापसा	समापस
२६	२	९	(दिष्टो)	(द्दिष्टो)
२७	२	१	भोजनद्रव्य	भोजनद्रव्य
२९	१	१४	स्थितस्तस्याः	स्थितं तस्य
२९	२	४	तदुलीयक	तंदुलीयक
२९	२	४	हिंगुलणवाद्ये	हिङ्गुलवणाद्ये-
२९	२	७	लवणस्य	लवणस्य

पृष्ठः	पुंठी	पंक्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
२९	२	८	वसण	वेसण
२९	२	९	वसनेन	वेसनेन
३०	१	३	भक्तापान	भक्तपान
३०	१	७	शनादीनां	शनाद्विना
३०	१	१३	पायधरं	पायघरं
३०	२	११	पूतिभूतं	पूतीभूतं
३१	२	२	सत्वान्	सत्त्वान्
३१	२	३	दानसत्वा	दानसत्त्वा
३२	१	२	नन्तरं स्वरूपं	नन्तरस्वरूपं
३२	१	८	स्थास्थापना	स्थानस्थापना
३६	२	९	रूवहि	रूवेहि
३७	२	२	(हिणा)	(हिणः)
३८	१	१४	तदर्पमित्य	तदापमित्य
३८	२	१०	वुट्ठोप	वुड्ढीप
३८	१	११	अपमित्यकं	आपमित्यकं
३९	२	११	परिवर्त्तिनी यदृद्र	परिवर्त्तनीयद्र

पृष्ठः	पुंठी	पंक्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
३९	२	११	द्रव्य-	द्रव्यं
४०	२	५	दृष्टव्य	द्रष्टव्य
४०	२	८	घृष्टो	धृष्टो
४०	२	१३	जईणठा	जईणट्ठा
४१	१	५	द्यभिहतं	द्यभिहृतं
४१	१	५	द्यभिहत	द्यभिहृतं
४२	२	२	पयस्स	पगस्स
४२	२	७	तेहिं	तेहिं
४२	२	८	केवला	कवला
४३	१	४	सम्भव !	सम्भवः ?
४३	१	११	चलयन्ती	चालयन्ती
४३	२	११	कोष्टिका	कोष्ठिका
४३	२	१२	कोष्टिका	कोष्ठिका
४३	२	१४	कोष्टिका	कोष्ठिका
४४	१	१	मपरिवहन्	मपरिवहत्
४४	१	५	कोष्टिकादौ	कोष्ठिकादौ

पृष्ठः	पुंठी	पंक्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
४४	१	७	कोष्ठिकादि	कोष्ठिकादि
४४	२	१०	गृहमध्यवर्त्तिनः	गृहमध्यवर्त्तिभ्यः
४५	१	१०	ग्रहुयचनस्य	यहुचचनस्य
४६	२	५	भिक्खां	भिक्खा
४६	२	८	अमुगंम्मि	अमुगम्मि
४६	२	१४	कोष्ठिका	कोष्ठिका
४७	२	१	पहुत्तेणा	पहुतेणा
४८	१	५	विपयाच्छेद्ये	विपयाच्छेद्ये
४८	१	७	यद्धा	यथा
४८	१	१२	अज्जत्थेवं	अज्ज थेवं
४८	२	८	निषेध्य	निषेध्यं
४९	१	१	निसठंति	निसट्ठंति
४९	१	१२	ल्हियपइट्ठिय	लिइपइट्ठिय
४९	१	१३	रयक्खणठा	रक्खणट्ठा
५०	१	१	च्छिन्नः	श्च्छिन्नः
५०	१	१	श्च्छिन्नः	च्छिन्नः

पृष्ठः	पुंठी	पंक्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
५०	१	९	कौडुम्बिकस्य	कौटुम्बिकस्य
५०	२	१३	मनो	मानो
५१	१	४	योगाद्यदि	योगाद्यदिति
५१	१	१२	त्तल्यत्वा	तुल्यत्वा
५२	१	१	पिहु	पि हु
५३	१	१०	गृहच्छेलया	गृहच्छेलया
५३	१	११	मनोज्ञेऽत्वदि	मनोज्ञे त्वऽछि
५४	१	७	कायः	कार्यः
५४	२	२	दोषा	दोसा
५५	१	१	तानैव	तानेव
५५	१	७	श्रवणादि	श्रमणादि
५५	१	१२	दानात्	दानात् (पश्चाद् वा संस्तवः ११, विद्या)
५६	२	४	निस्थामां	निस्थामः
५७	१	१	स्नापय-	स्नापयै-
५७	२	८	च	च(व)

पृष्ठः	पुंठी	पङ्क्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
५८	१	४	सोऽनर्थ	सौ अनर्थ
५८	१	८	मवलभक	मवलम्भक
५८	१	४	विशेपस्त	विशेषतस्त
५८	१	१४	स धु	साधु
५८	२	६	भिक्खट्ठ	भिक्खट्ठ
६०	१	४	(णीय)	(जईण)
६१	१	३	वितथाकरणाद्	वितथकरणाद्
६१	१	३	सुशिक्षितः	सुशिक्षितो-
६१	२	१०	तब्भतं	तब्भत्त
६२	१	१	तदुर्म्मनस	तत्र दुर्मनस
६४	२	१२	व्रम	व्रूम
६६	१	१४	दुद्दारे	दुवारे
६६	२	८	विविहरुवं	विविहरूवं
६७	१	९	घेतव्वो त्ति	घेत्तव्वो त्ति
६७	२	१०	वाहत्तरी	वावत्तरी
६८	२	१	किस्स	विस्स
६८	२	४	पचहि	पंचहि
६८	२	७	बारवरिसिओ	बारहवरिसिओ
६८	२	१४	गयदिक्खो	ग(हि)यदिक्खो
६९	१	५	नागरएहिं	नागरिएहिं
७०	२	१२	तावादी	तावादि
७२	१	११	वसहीमाणीए	वसहीमाणीए (मागयाए)
७२	२	६	पयमि	पयम्मि
७३	२	६	ए तेसिं	एतेसिं
७४	१	४	निव्वाइया	निव्वेइया
८०	१	९	वुत्त	वुत्तं
८०	२	४	भत्रादिना	भर्त्रादिना
८०	२	७	गवेसणेसणादोसे	गवेसणेसणादोसा
८०	२	१२	गहणैषणा	ग्रहणैषणा
८२	२	७	कर मात्रं	करं मात्रं
८२	२	१४	गरिहिएहि	गरहिएहि
८३	१	९	सदैतै	सदेतै

पृष्ठः	पुटी	पंक्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
८७	१	५	मुक्तिगवि य	मुक्तिखविय
८७	२	५	तत्संहृत	तत्संहृतं
८७	२	७	चोतपाटया	चोतपाट्या
८८	१	१४	सोचा	चासो
९०	२	१३	गृह्मते	गृह्यते
९१	१	८	दकाम्रि	दकाग्नि
९२	१	४	साधारणस्य निसृष्ट	साधारणस्यानिसृष्ट
९५	१	११	द्रव्ये	द्रव्यं
९७	१	८	संयेजना	संयोजना
९७	२	९	न्नुत्सर्पणकारि	नुत्सर्पणकारिणि

पृष्ठः	पुटी	पंक्तिः	अशुद्धः	शुद्धः
९८	१	१४	पड	पड्
१०२	२	४	स कृतं	सकृतं
१०३	१	१	कुर्याद्	कुर्यात्
१०३	२	९	श्रतखुभिरे	श्रतखुभिरे-
१०४	१	५	वैक्तय्यो	वैक्तव्यो
१०४	१	९	त्तदासीदिति	तत्तदासीदिति
१०६	१	९	विराधना प्रत्ययं	विराधनाप्रत्ययं
१०६	१	१०	विशोधिर्यथौ	विशोधिर्यथो
१०६	२	१४	भवन्त्येते	भवन्त्वेवं
१०८	२	८	विधाइत्ति	विघाइत्ति



आचार्यश्री विजयदानसूरीश्वरजी जैनग्रन्थमाला

ग्रन्थाङ्क	नाम	कि.
१	मौनएकादशी कथा पद्य	०—१—०
२	यवराजर्षि कथा पद्य	०—१—३
३	श्रीश्रीपालचरित्र पद्य	भेट
४	उपधानविधि	भेट
५	सामायिकसूत्र विधिसहित	भेट
×६	श्रीनिशीथचर्णि सभाष्य साइक्लोस्टाइल्ड कोपी भा. १	भेट
×७	” भा. २	भेट
×८	” भा. ३	भेट

ग्रन्थाङ्क	नाम	किं.
९	श्रीप्रतिक्रमणसूत्रपदविवृत्तिः	०—६—०
१०	श्रीयोगशास्त्रमूलम् (आन्तरश्लोकैरुपयोगि-श्लोकैश्च समन्वितम्)	भेट
११	श्रीपिण्डविशुद्धिः (सटीक)	१-१२-०
१२	श्रीजिनगुणगान—अमीधारा स्तवनावली	भेट
१३	विविध प्रश्नोत्तर भा. २ जो (प्रेसमा छे)	
१४	श्रीआवश्यकनिर्युक्तदीपिका (आ. श्रीमाणिक्यशेखर-सूरिकृत) भा. १ लो (प्रेसमा छे)	

प्राप्तिस्थान—मास्तर हीरालाल रणछोडभाई

ठे. आचार्यश्री विजयदानसूरीश्वरजी जैनग्रन्थमाला

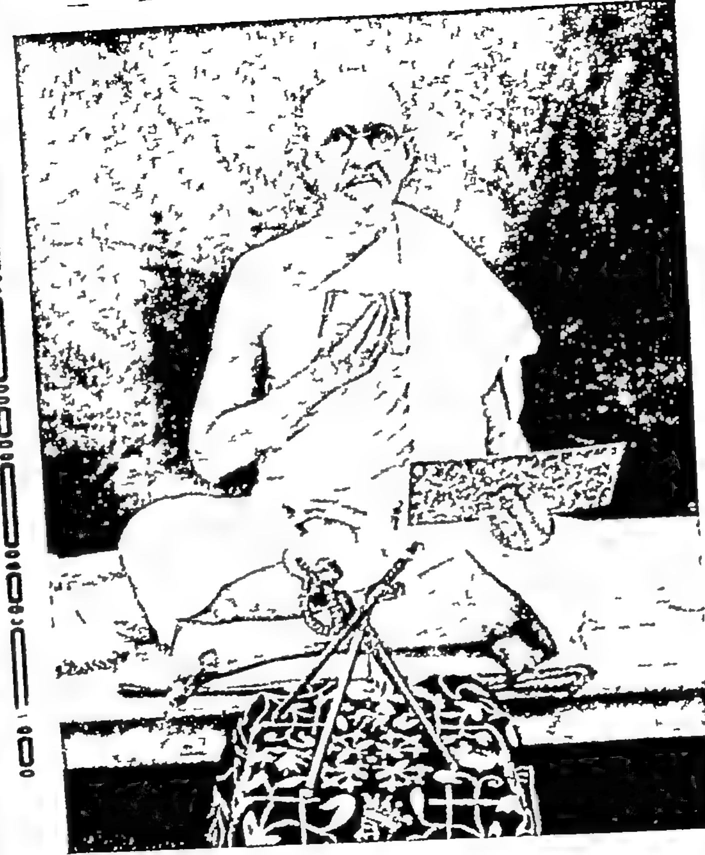
गोपीपुरा कायच मोहल्लो—सुरत.

× आ निशानीवाळा पुस्तको स्टोकमां नथी. ता क—प्रत्येक पुस्तकनुं पोस्टेज अलग समजवुं.

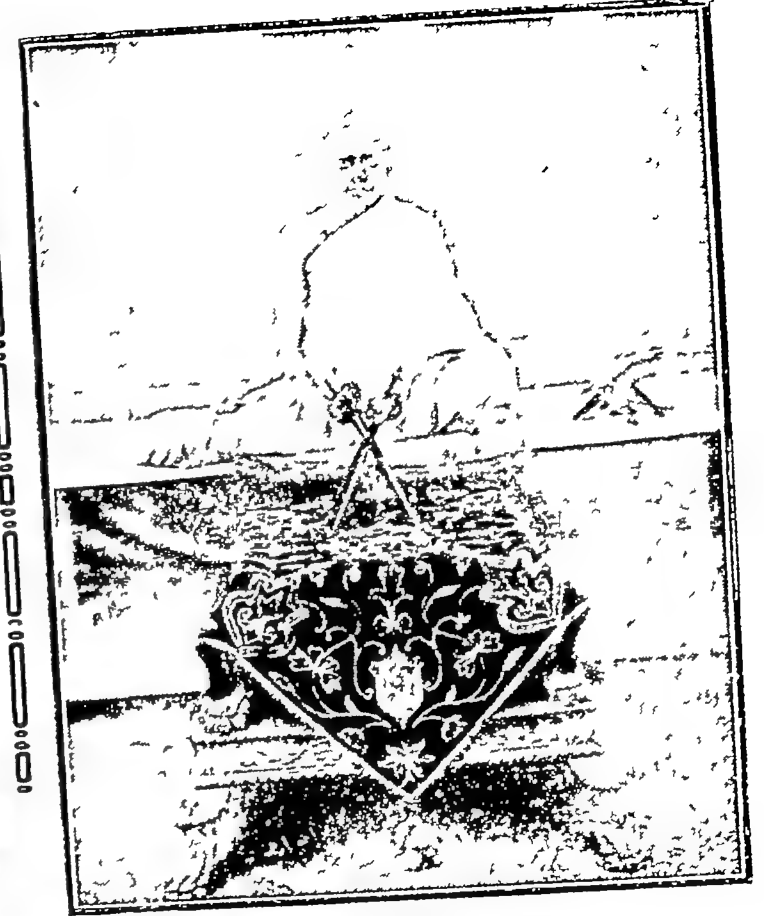
॥९॥



आ० श्री० विजयप्रेमसूरीश्वरजी



आ० श्री० विजयदानसूरीश्वरजी



आ० श्री० विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी

आचार्यश्रीमद्विजयदानसूरीश्वरपादपद्मेभ्यो नमः

श्रीमज्जिनवल्लभगणिप्रणीता श्रीमच्चंद्रसूरिविवृता

श्रीपिंडविशुद्धिः

॥ ॐ नमो वीतरागाय ॥

नम्रानेकसुरासुराधिपशिरोमालार्चितांह्रिद्वयं। लोकालोकविलोकिकेवलवशाज्जातार्थसन्निर्ने(र्ण)यम्।
सच्चारित्रनिदेशकं, जितरिपुं स्वर्गापवर्गप्रदं। दुष्टारिष्टविघातकं जिनपतिं वीरं प्रणम्यादरात् ॥१॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रं च, विघ्नव्रातविघातिनम्। निःशेषकुमतध्वान्त-विध्वंसनदिवाकरम् ॥२॥
शेषानपि नमस्कृत्य, जिनान् विगतकल्मषान्। श्रीगौतमादिसूरींश्च, भारतीं स्वगुरूंस्तथा ॥३॥
शास्त्रान्तरदर्शनतो, वक्ष्येऽहं पिण्डशुद्धिशास्त्रस्य। स्वपरकृते स्पष्टार्थां, वृत्तिं जिनवल्लभकृतस्य ॥४॥

इह हि सर्वेणापि संसारिणा सत्त्वेनातिदुर्लभजिनधर्मान्वितं मनुष्यादिसामग्रीसद्भावमवाप्य तीर्थकरानुचीर्णपरोपकारे यतितव्यम्, यस्माद्भगवान् भवाम्भोधिपारगाम्यपि परोपकारे यतते। स च न जन्तुहितोपदेशदानादपरः कश्चिच्छ्रेष्ठतरः समस्ति। स च

सकलकर्म्मनिर्म्मूलनप्रवणपरमपदप्रापकसच्चारित्रपरिपालनगोचरः श्रेयान्। तच्च पिण्डविशुद्ध्यादियतनया प्रवर्त्तमानानामुपजायते
विशुद्धाहारोपष्टम्भितदेहस्य चारित्रसाधकत्वात्। सा च न शास्त्रादृते सम्यग् विज्ञायते मुमुक्षुभिः। यद्यपि च पूर्व्वमुनिप्रणीतचिर-
न्तनशास्त्रेषु सानेकधा स्थाने स्थाने निरूपिता, तथापि नासावैदंयुगीनानां दुःषमकालबलेन परिक्षीयमाणमेधायुर्बलानां मानवानामत्य-
न्तोपकारायालमिति विभाव्य श्रीमज्जिनवल्लभाभिधसूरिरैदंयुगीनप्रज्ञाविकलमानवोपकाराय महार्णवकल्पात् पिण्डनिर्युक्तिशास्त्रात् वामु-
द्धृत्य पिण्डविषयविशुद्धिलक्षणप्रतिनियतार्थाभिधायकत्वाद्यथार्थनामकमल्पग्रन्थमहार्थं पिण्डविशुद्धिसंनिहितं शास्त्रं कर्त्तुमारेभे। तत्र
च शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमाना विघ्नविनायकोपशमनाय विघ्नाभावेऽपि शिष्टसमाचारपरिपालनाय चेष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरं
प्रवर्त्तन्ते। ततोऽयमपि तन्मार्गमनुसरन्निष्टदेवतानमस्कारं प्रेक्षावच्छ्रोतृजनप्रवृत्तयेऽभिधेयादि च वक्तुकामश्चादौ मङ्गलाद्यभिधायिकां
गाथामाह।

देविन्दविन्दवन्दिय-पयारविन्देऽभिवन्दिय जिणिन्दे। वोच्छामि सुविहियहियं पिण्डविसोहिं समासेण॥१॥

व्याख्या—जिनेन्द्रानभिवन्द्य पिण्डविशोधिं वक्ष्यामीति क्रिया। तत्र नानाजन्मादिदुःसहदुःखनिबन्धनरागादीनां जेतारो जिनाः
सामान्यकेवलिनस्तेषामिन्द्राश्चतुस्त्रिंशदतिशयादिपरमैश्वर्ययुक्तत्वान्नायकास्तीर्थंकरास्तान्। कीदृशान् इत्याह देवेन्द्रवृन्दवन्दितपदारवि-
न्दान्। तत्र पूर्वभवोपात्तशुभकर्म्मवशाद्यथेष्टक्रीडाविचरिष्णवो देवा भवनपत्यादयोऽमरास्तेषामिन्द्राः शक्रास्तेषां वृन्दानि सङ्घातास्तै-
र्वन्दितानि नमस्कृतानि, पादाश्चरणाः पदशब्दस्यांह्रिवाचकत्वात्त एवारविन्दानि पद्मानि येषां ते देवेन्द्रवृन्दवन्दितपदारविन्दास्ता-
नभिवन्द्य प्रशस्तमनोवाक्कायैर्नमस्कृत्य वक्ष्याम्यभिधास्येऽहमितिगम्यं। सुविहिताः शोभनानुष्ठानविधातारो यतयस्तेषां हितोपकारि-

त्वाद्योग्या तां, कामित्याह पिण्डविशोधिमिति। तत्र पिण्डनं पिण्डो मीलनमात्रम्। तच्च येपामस्ति तैः सहितस्यैवोपचाराद्वस्तूनि अपि पिण्डः। यद्वा पिण्ड्यत इति पिण्डः, पिण्डनीयं वस्तु, स च नामादिभेदैरागमे यद्यप्यनेकधोक्तं, तथापीह संयमादिरूपभाव-पिण्डोपकारकस्य द्रव्यपिण्डस्याहारादेर्ग्रहणम्। तस्य विशोधिरुद्गमादिदोषरहिततया निर्म्मलता। तत उद्गमादिदोषस्वरूपपरिज्ञापनेन पिण्डनिर्मलताकारिणी शास्त्रपद्धतिरपि पिण्डविशोधिरित्युच्यते। यद्वा विशोधिहेतुरुद्गमादिदोषपरिज्ञापनमप्युपचाराद्विशोधिस्ततः पिण्डस्य विशोधिर्यस्यां शास्त्रपद्धतौ सा तथेति विग्रहस्ताम्। अथ पूर्वाचार्यैरेव तस्या अभिहितत्वात् किं भवतो भणनेनेत्याह। समासेन संक्षेपेण। पूर्व्वाचार्यैर्विस्तरेण सोक्ता मया तु वक्ष्यते स्तोकसूत्रेणेति भावः। अत्र पूर्व्वार्द्धेन जिनेन्द्रनमस्करणात् मङ्गलमुक्तम्। पिण्डविशोधिं वक्ष्यामीत्यभिधेयमेतस्या एवात्र शास्त्रेऽभिधास्यमानत्वात्। सम्बन्धस्तूपायोपेयलक्षणस्तत्र प्रकरणमिदमुपाय उपेयं तु पिण्डशुद्धिपरिज्ञानमिति। प्रयोजनं तु संक्षेपभणनरूपं शास्त्रकृतैवोपात्तम्। यद्वा कर्त्तुः श्रोतुः प्रत्येकमनन्तरपरम्परभेदभिन्नं साक्षादनुक्तमप्येतल्लभ्यते। तत्रानन्तरं कर्त्तुः प्रयोजनं सत्त्वानुग्रहः, श्रोतुश्च प्रकरणार्थपरिज्ञानम्। परम्परं तु द्वयोरपि परमपदावाप्तिरिति। एतेन सर्व्वशास्त्रकाराणां प्रवृत्तिरनुश्रिता भवति, उक्तं च–'सम्बन्धभिधेयपयोयणाइं तह मङ्गलं च सत्थंमि। सीसपवित्तिनिमित्तं निविग्घत्थं च चिन्तेज्जा' ॥ इति गाथार्थः ॥१॥

पिण्डविशोधिं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातम्। तत्र मुमुक्षुभिः पिण्डस्य विशुद्धिरेव किमर्थं विधीयते येन तत् परिज्ञानाय तदभिधायकं शास्त्रं कर्त्तुमारभ्यत इति पराभिप्रायं चेतसि निधाय शास्त्रकरणप्रयाससाफल्यप्रकाशनगर्भं यद्दोषविकलस्य पिण्डस्य शुद्धिर्भवति तान् वक्तुकाम इमां तत्प्रस्तावनामाह।

सो पिण्डेण सदोसो सो पडिकुट्ठो इमे ते य ॥२॥
जीवा सुहेसिणो तं सिवम्मि तं संजमेण सो देहे । विशिष्टसुखमोक्षप्राप्तिस्तच्छुद्धिश्च न ज्ञायते शास्त्रं विनेत्यस्य करणप्रयाससाफल्य-
व्याख्या—पिण्डविशुद्धेरेव सच्चारित्रं तस्माच्च यश्चैनं मधुसर्पिषा(सिञ्चति), यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां(योजयति), तत्सर्वस्य
मिति गर्भार्थः । अत्र च 'यश्च निम्बं परशुना(छिनत्ति), प्राणिनः सुखैषिणः शर्मार्थिनः सुखलिप्सव इति यावद्वर्त्तन्ते ।
कटुरेव स' इत्यादाविव सर्व्वत्रानुरूपक्रियाध्याहर्त्तव्या । ततश्च जीवाः सव्वेवि जीवियपिया सव्वे मरणाउ बीहन्ति' ॥ तत्पुनः सुखमवि-
तदुक्तम्—'सव्वेवि सोक्खकङ्खी सव्वेवि हु दुक्खभीरुया जीवा । मोक्षस्तत्रैव सञ्जायते । यदुक्तम्—'नवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं
कलं परमानन्दरूपम्, कर्म्माभावेन सर्व्वोपद्रवरहितत्वाच्छिवो सांसारिकसुखं च दुःखप्रतीकारमात्रतया सुखाभिमानरूपत्वात्तत्वतो
नवि य सव्वदेवाणं । जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं' ॥ पञ्चाश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः, कषायजयो, दण्डत्रयविरति-
दुःखमेवेति । ते पुनः शिवं जीवाः प्राप्नुवन्ति केनेत्याह संयमेन । चारित्रेण । यद्वा पृथिव्याद्युपमर्दादिसंरक्षणात्मकेन सप्तदशभेदे-
श्चेति संयमः सप्तदशभेद इति शास्त्रान्तरप्रसिद्धेन सप्तदशभेदात्मकेन पुढवि दग अगणि मारुय वणस्सइ बिति चउ पणिन्दि ९ अ-
नैव प्रकारान्तराभिहितेन क्रियानुष्ठानविशेषरूपेण संयमेन । स चायं—'पुढवि दग अगणि मारुय वणस्सइ बिति चउ पणिन्दि ९ अ-
जीवे १० । पेहा ११ पेह १२ पमज्जण १३ परिट्ठवण १४ मणो १५ वई १६ काए १७ ॥' इत्यस्य श्लोकैः किञ्चित् स्वरूपमुच्यते ।
'इलाजलानलानिलशाखिनां दुःखरक्षणं । त्रिधा द्वित्रिचतुःपञ्चाक्षाणां हिंसाविवर्जनं ॥१॥ निर्जीवमपि यद्वस्तु हिंसाकरणसुन्दरं । तृण-
मद्यहिरण्यादि तस्यादाननिषेधनम् ॥२॥ प्रेक्षणं स्थण्डिलादीनामुपेक्षासंयमो द्विधा । तत्रैकः संयमोद्वेगे सीदतां प्रेरणं च यत् ॥३॥
अन्यः सावद्यव्यापारे गृहिणां चाप्रेरणं यत् । स्थानादिकरणे सम्यक् तद्भूमीनां प्रमार्जनम् ॥४॥ आहारोपधिशय्यानामशुद्धाधिक

भावतः। परिष्ठापनमन्तश्च मनोवाक्काययन्त्रणम् ॥५॥' अलं प्रसङ्गेन, प्रकृतमुच्यते। सो देहेत्ति स संयमः, देहेत्ति विभक्तिव्यत्ययाद्देहेन शरीरेण सम्पद्यते देहसाध्यत्वात्तस्य, यदुक्तम्—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनमिति', स देहः पिण्डेनाहारेणोपष्टभ्यः, संयमोपकाराय जायते। सदोषो वक्ष्यमाणोद्गमादिदोषवृन्दान्वितः स पिण्डः प्रतिक्रुष्टो निषिद्धो जिनादिभिरिति दृश्यम्। अथ क एते दोषा यैर्दुष्टोऽसौ ग्रहीतुं निषिद्ध इत्याह। 'इमे ते य'त्ति, ते पुनर्दोषा आहाराशुद्धिरूपाणि दूषणानि इमे वक्ष्यमाणाः सम्भवन्तीति गाथार्थः ॥२॥

साम्प्रतं प्रस्तावितपिण्डदोषावसरः। ते च द्विचत्वारिंशत्। यत उक्तम् 'सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाए दोसा उ। दस एसणाए दोसा बायालीसं इय हवन्ति'त्ति। तत्र तावदाहारोद्गमविषयषोडशदोषान् यथानामग्राहं द्वारगाथाद्वयेन वक्तुमाह—

आहाकम्मु१द्देसिय२ पूईकम्मे य३ मीसजाए य४। ठवणा५ पाहुडियाए६ पाउयर७ कीय८ पामिच्चे९ ॥३॥

परिअट्टिए १० अभिहडु ११ भिन्ने१२मालोहडे अ १३ अच्छिज्जे १४।

अणिसिट्ठ १५ ज्झोयरए १६ सोलसपिण्डुग्गमे दोसा ॥४॥

व्याख्या—आधाकर्मादयोऽध्यवपूरकान्ताः षोडश पिण्डोद्गमविषया दोषाः स्युरिति गाथाद्वयस्य सम्बन्धः। इह च विभक्तिलोपविभक्तिव्यत्ययानुस्वारलोपादिकं यत्र दृश्यते, तत्र सर्व्वत्र प्राकृतत्वात्तद्द्रष्टव्यमिति न न्यूनाधिकत्वदोषो वक्तव्यः। 'तत्राहाकम्मत्ति,' आधानमाधा, प्रस्तावात्साधुप्राणिनां यथाऽमुकस्मै साधवे इदं भक्तादि देयमित्यादिक्रियेति तच्चम्, यद्वा आधाय सङ्कल्प्य कर्म्म क्रियेति विगृह्य निरुक्तवशेन यकारलोपादाधाकर्म्मिकेत्युद्गमदोषस्तद्योगाद्भक्ताद्यपि १। तथा 'उद्देसियत्ति' अनुस्वारलोपादुद्देशो

यावदर्थिकादिप्रणिधानमित्युद्गमदोषस्तेन निवृत्तं तत्प्रयोजनं वेत्यौद्देशिकं भक्तादि । इह दोषभणनप्रक्रमे यद्दोषवतो भक्तादेरभिधानं तद्दोषदोषवतोरभेदविवक्षणा ज्ञेया, एवमन्यत्रापि २ । 'पूईकम्मे यत्ति' उद्गमादिदोषरहिततया पवित्रस्य सतो भक्तादेरविशुद्धिकोटिक-तयाऽपवित्रेण भक्तादिनैव सह मीलनात् पूतेरपवित्रस्य कर्म्म करणमिति पूतिकर्म्म तद्योगाद्भक्ताद्यपि, चः समुच्चये३ । 'मीसजाए यत्ति' मिश्रेण गृहिसाध्वादिप्रणिधानलक्षणभावेन जातं पाकादिभावमुपगतं मिश्रजातं, भक्ताद्येव, चः पूर्ववत् ४ । 'ठवणत्ति' स्थाप्यते साधु-दानाय किञ्चित् कालं यावन्निधीयत इति स्थापना भक्ताद्येव ५ । 'पाहुडियाए'त्ति एकारः प्रथमैकवचनार्थः, प्र इति विवक्षितकालात् प्रथमत, आ इति साध्वागमनलक्षणमर्यादया, भृता धारिता, यका भिक्षा, सा स्वार्थिककप्रत्ययात् प्राभृतिका यद्वा प्राभृतं कौशलिकं तदिवोपचारसाधर्म्याद्यका भिक्षा सा प्राभृतिका ६ । 'पाउयरयत्ति' विसर्गलोपात् प्रादुः प्राकाश्यं तस्य करणं साध्वर्थविधानं प्रादु-ष्कारस्तद्विशेषितं भक्ताद्यपि ७ । तथा 'कीयत्ति' अनुस्वारलोपात् क्रीयतेस्म साध्वर्थायार्थदानादिना गृह्यतेस्मेति क्रीतं भक्ताद्येव ८ । 'पामिच्चेत्ति' अपमित्यं प्रामित्यं वा पुनर्दास्याम्येतत्तवेत्यभिधाय साध्वर्थाय गृहीतमुच्छिन्नमिति तच्च भक्ताद्येव ९ । 'परियट्टिएत्ति' परिवर्त्तितं साध्वर्थाय कृतपरावर्त्तं भक्ताद्येव १० । 'अभिहडत्ति' अभि इति साध्वभिमुखं हृतं स्थानान्तरादानीतमभिहृतमभ्याहृतमित्यर्थो भक्ताद्येव ११ । 'उब्भिन्नेत्ति' उद्भेदनमुद्भिन्नं साध्वर्थाय कुतुपघटादेरुद्घाटनं तद्योगाद् भक्ताद्यपि १२ । 'मालोहडे अत्ति' माला-त्सिक्कादेरपहृतं साध्वर्थमानीतं मालापहृतं भक्ताद्येव, चः समुच्चये १३ । 'अच्छिज्जेत्ति' अनिच्छतोऽपि पुत्रादेः सकाशात् साधुदानाय गृह्यते यत्तदाच्छेद्यं भक्ताद्येव १४ । 'अणिसिट्ठत्ति' न निसृष्टं सर्व्वस्वामिभिः साधुदानाय नानुज्ञातमनिसृष्टं भक्ताद्येव १५ । 'अज्झो-यरएत्ति' अधीत्याधिक्येनावपूरणं स्वार्थदत्ताद्रहणादेर्भरणमध्यवपूरः स एवाध्यवपूरकस्तद्योगाद् भक्ताद्यपि १६ । इतेरत्र गम्यमान-

त्वादित्येवं स्वरूपाः षोडशसंख्याः पिण्डोद्गमे पिण्डोत्पत्तौ दोषा भवन्तीति शेषः । एते पिण्डोद्गमदोषाः षोडशेति तत्त्वमिति द्वार-गाथाद्वयार्थः ॥४॥

इदानीमाद्यद्वारव्याख्यावसरस्तत्राद्यद्वारोपात्तदोषस्याधाकर्म्माख्यस्य सान्वयं नामत्रयं भवति, यथाधाकर्म्म अधःकर्म्म आत्मघ्नमिति । तत्र क्रमेण त्रीण्यपि व्युत्पादयन्नादौ तावदाधाकर्म्मशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह—

आहाए वियप्पेणं जईण कम्ममसणाइकरणं जं । छक्कायारम्भेणं तं आहाकम्ममाहंसु ॥५॥

व्याख्या—'आहाएत्ति' आधायाः पर्यायमाह—विकल्पेन साधुभ्यो दास्यामि इति कृतेन सङ्कल्पेनेत्यर्थः, दायकेन यतीनां साधूनामर्थायेति गम्यते । यत्कर्म अशनादिकरणमशनादेः पाकादिक्रिया क्रियत इत्यर्थः । कथं यत्कर्म्मेत्याह—षट्कायारम्भेण पृथव्यादिषड्जीवनिकायोपमर्द्देन, तत्पृथिव्याद्युपमर्दोद्भूतपचनादि, तद्योगात्तदशनादिकर्म्माधाकर्म्मोक्तवन्तस्तीर्थकरादयः । यद्वा आधयेति विकल्पेन, केषां सम्बन्धिन्येत्याह—यतीनामिति यतिदानसङ्कल्पेनेति तत्त्वम् । 'कम्मं'ति कर्म्म, किं तदित्याह—'असणाइ करणं जं'ति, अशनादीनां भोजनप्रभृतीनां करणं निष्पादनं यत् षट्कायोपमर्द्देन गृहिणा क्रियत इति शेषः । तदिति साधुदानसङ्कल्पषट्कायारम्भनिष्पन्नमशनादिकमाधाकर्म्म ब्रुवते । इह च यद्यपि षट्कायारम्भेण यत् क्रियते गृहे वस्त्रादि तदप्याधाकर्म्म स्यात् तथापीह तन्न ग्राह्यम्, पिण्डस्यैवाधिकृतत्वादिति गाथार्थः ॥५॥

अधुनाऽधःकर्म्मात्मघ्नशब्दयोर्व्युत्पत्तिमाह ।

अहवा जं तग्गाहिं कुणइ अहे संजमाउ नरए वा । हणइ व चरणायं से अहकम्म तमायहम्मं वा ॥६॥

व्याख्या—अथवाशब्दः पूर्व्वनामापेक्षया नामान्तरप्रकारद्योतको, यत् किमप्यशनादिद्रव्यं साध्वाद्यर्थं कृतं सत्कर्तृभूतं तद्ग्राहिणं साध्वर्थसङ्कल्पिताशनाद्यादायकं साधुं करोति विधत्ते अधोऽधस्तात् कस्मादत्रधेरधःकरणं तेन साधोरित्याह । संयमात् पृथिव्याद्युपमर्द्दजपापादात्मनः संयमनं निरोधनं यस्मात् क्रियानुष्ठानविशेषात् स संयमश्चारित्रं तस्मात्, कोऽर्थः उत्कृष्टनिरतिचारचारित्राद्युपलक्षणत्वाच्छुभलेश्यादिभ्यश्च भ्रंशयति, जघन्ये तत्र व्यवस्थापयतीति यावत्तदधःकर्म्मेत्युत्तरेण योगः, इत्ययं संयमादिभावमङ्गीकृत्योक्तमधःकर्म्म । अथ जीवमाश्रित्य तद्वक्तुमाह—नरए वत्ति, वा विकल्पान्तरापेक्षया समुच्चये । ततो अध इत्यधोगतौ नरके साध्वर्थकृताशनादिभोजिनो यतेर्जीवं करोति नयति यत्तत्पूर्वोक्तमशनाद्यधःकर्म्मेति योगः । इहाधःकर्म्मदोषस्ततो यद्भुञ्जानस्य साधोः स स्यात्तदपि तथोच्यते । तथा हन्ति विनाशयति, यदित्यनुवर्त्तते ततो यत्साध्वाद्यर्थं कृतमशनादि । वा स्थाप्यः, कमित्याह—चरणात्मानं चारित्ररूपं जीवं, कस्य सम्बन्धिनमित्याह—स त्ति तस्य साध्वर्थनिष्पन्नाशनादिग्राहिणः साधोः तत्पूर्वोक्तमशनाद्यात्मघ्नमित्युत्तरेण योगः । तथाहि—प्राणभूतघातं पाकादि कुर्व्वन् दाता करोति, ततस्तन्निष्पन्नमाहारं यदा साधुर्गृह्णाति तदा स पुनः पुनस्तत्करोतीति परमार्थतः साधुरेवानुमोदनादिना तानि हन्ति, तद्दाता तु संयमरूपमात्मानं साधोस्तदेव हन्तीत्यात्मघ्नमुच्यते । इहात्महननलक्षणो दोषस्तद्योगादशनाद्यपि तथेति । स्थापितवाशब्दश्चानुक्तार्थसंसूचको यथा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपमात्मत्रयं साधूनामस्ति, तच्छेपद्वयं व्युच्छेद्य किमिति चरणात्मानं तस्य हन्तीत्युक्तमिति परारेकायां निश्चयनयमतमाश्रित्य चरणविघाते अवश्यं सिद्ध एव चरणफलत्वात् तयोरिति न तयोर्विघातः पृथगुक्तः । व्यवहारमतं प्रतीत्य चरणघाते इतरयोर्विनाशः स्याद्वा न च(वा) । यदाह—मिथ्यात्वं याति तदा न ते, तदभावे तु ते स्यातामिति चरणघातेऽपि तयोः सद्भावान्न तयोरुपादानमिति । 'अहकम्म तमायहम्मं वत्ति' व्याख्यातमेव

नवरं वाशब्दोऽयमभिधानसमुच्चयार्थः। इति गाथार्थः ॥६॥

अथ जीवमाश्रित्योक्तस्याधःकर्म्मणो यैः करणभूतैर्जीवस्य तत्स्यात्तेषामाधाकर्म्मभोजिनां प्रतिनिवर्त्तनस्वरूपमाह। यद्वाधाकर्म्मण एवात्मकर्म्मेत्ति शास्त्रान्तरे नामान्तरं चतुर्थमस्ति, तद्व्याख्यातुमाह—

अट्ठवि कम्माइं अहे बंधइ पकरेइ चिणइ उवचिणइ। कम्मियभोई अ साहू जं भणियं भगवईए फुडं ॥७॥

व्याख्या—इह किल जन्तुरायुर्बन्धाभावेन चिरं सप्तविधबन्धक एव प्राप्यते। भवमध्ये च स्वायुषः त्रिभागाद्यवशेषे यदायुर्बध्नाति वारमेकं तदाऽष्टविधबन्धकः प्राप्यते। ततश्च कार्मिकभोजीत्युपलक्षणत्वादाधाकर्म्मिकभोजी, लौल्यनिःशूकत्वाभ्यां साध्वर्थकृताहाराभ्यवहरणशीलः 'तच्छीलार्थइन्प्रत्ययः' चकारेणानाभोगतस्तु तमभ्यवहरन्नपि न तथा बद्धवान् इत्याचष्टे। साधुर्यतिरष्टावप्यष्टसङ्ख्यान्यपि न केवलं सप्तेत्यपेरर्थः। कर्म्माणि ज्ञानावरणादीनि। अहेति अधोगतिविषयाणि नरकादिगतिगमनयोग्यानि बध्नाति प्रकृत्यादिरूपतया निधत्तं यातीति कृत्वाधःकर्म्मोक्तं, आत्मनः कर्म्मबन्धनादात्मकर्म्मेति वा। अत्र च यत् किल भाविभवायुर्भवमध्ये वारमेकं बध्यते तदाप्यधोनरकादिगतिविषयमसौ बध्नाति। तद्बन्धे तु शेषाण्यपि सप्ताधोगतिविषयाण्येव तान्यसौ बध्नातीत्यष्टावपीति सामस्त्येनोक्तम्। एतेन अष्टानामपि कर्म्मणां बध्यमानानामसावुक्तः। अथ तेषामेव पूर्व्वबद्धानामवस्थामाह—'पकरेइ चिणइ उवचिणइ'त्ति आधाकर्मिकभोजी यतिः कर्म्माणि पूर्व्वबद्धानि प्रकरोति स्थितिरूपतया निर्व्वर्त्तयति दीर्घस्थितीन् कर्त्तुमारभते इति यावत्, तथा चिनोति अनुभागरूपतया तान्यभिवर्द्धयति, उपचिनोति, प्रदेशतया तान्युपचितानि करोतीत्यर्थः। अथेदं भुञ्जानोऽधः कर्म्माणि बध्नातीति किमन्यत्रापि कुत्रचिदुक्तमित्याह—यद्भणितं यदुक्तम्, भगवत्यां पञ्चमाङ्गे, स्फुटं प्रगटं, तथा च तत्सूत्रं "आहा

कम्मं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ किं पकरेइ किं चिणाइ किं उवचिणाइ ? गोयमा ! आहाकम्मं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठिईयाओ दीहकालठिईयाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गाओ बहुपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय नो बंधइ, असायावेयणिज्जं च कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणेइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ। से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ आहाकम्मं भुंजमाणे जाव अणुपरिअट्टइ ? गोयमा ! आहाकम्मं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइक्कमइ आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकायं नावकंखइ ५ जाव तसकायं नावकंखइ। जेसिंपि य णं जीवाणं सरीराइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे नावकंखइ, से एणट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ, आहाकम्मं भुंजमाणे जाव अणुपरिअट्टइ" त्ति। इदं च सुगमं नवरं 'आउयवज्जाउ त्ति' यस्मादेकत्र भवग्रहणे सकृदेवान्तर्मुहूर्त्तमात्रकाल एवायुषो बन्धस्तत उक्तमायुर्वर्ज्जा इति। 'सिढिलबंधणबद्धाउ' त्ति। श्लथबन्धनं स्पृष्टता तेन बद्धा आत्मप्रदेशेषु सम्बन्धिताः पूर्व्वावस्थायामशुभतरपरिणामस्य कथञ्चिदभावात् शिथिलबन्धनबद्धा एताश्चाशुभा एव द्रष्टव्याः। आधाकर्म्मिभोजिनिर्ग्रन्थस्य निन्दाप्रस्तावात् ताः किमित्याह 'धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ त्ति' गाढतरबन्धनबद्धाः प्रकरोति प्रशब्दस्यादिकर्म्मार्थत्वात् सकृदाधाकर्म्मभोजनेऽपि कर्त्तुमारभ्यते आधाकर्म्मभोजित्वस्याशुभयोगरूपत्वेन गाढतरप्रकृतिबन्धहेतुत्वात्। आह च–'जोगा पयडिपएसं' ति पौनःपुन्यसम्भवे तु तस्य ताः करोत्येवेति, तथा ह्रस्वकालस्थितिकाः दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति। तत्र स्थिति उपात्तकर्म्मणोऽवस्थानं, तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः। आधाकर्म्मभोजित्वस्य लौल्यनिमित्तत्वात् तस्य च कषायरूपतया स्थितिबन्धहेतुत्वात्। आह च–'ठिइअणुभागं कसायउ कुणइ' त्ति तथा मन्देत्यादि, इहानुभावो विपाको रस इत्यनर्थान्तरं ततश्च मन्दानुभावाः परिपेल-

वरसाः स तीव्रानुभावा गाढतररसाः प्रकरोति आधाकर्म्मभोजित्वस्य कषायहेतुत्वात्। अनुभागबन्धस्य च कषायप्रत्ययत्वादिति। तथा अप्पपएसेत्यादीति अल्पं स्तोकं प्रदेशाग्रं कर्म्मदलिकपरिमाणं यासां तास्तथा ता बहुप्रदेशाः प्रकरोति। प्रदेशबन्धस्यापि योगप्रत्ययत्वादाधाकर्म्मभोजित्वस्य च योगरूपत्वादिति। तथा आउयं चेत्यादि आयुः पुनः कर्म्म, स्यात् कदाचिद्बध्नाति स्यान्नबध्नाति। यस्मात्त्रिभागाद्यवशेषायुषः परपरभवायुः प्रकुर्व्वन्ति तेन यदा त्रिभागादिस्तदा बध्नाति अन्यदा न बध्नातीति। असायेत्यादि तथा असातावेदनीयं च दुःखवेदनीयं कर्म्म भूयो भूयो पुनः पुनः उपचिनोति उपचितं करोति। ननु कर्म्मसप्तकान्तवर्त्तित्वादसातावेदनीयस्य पूर्व्वोक्तविशेषणेभ्य एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किं तद्ग्रहणेनेत्यत्रोच्यते, आधाकर्म्मभोजी अत्यन्तं दुःखितो भवतीति प्रतिपादनेन भयजननादाधाकर्म्मभोजित्वनिरासार्थमिदमित्यदुष्टमिति। 'अणाइयं' ति अविद्यमानादिकं अनवदग्रं अनन्तमित्यर्थः। अत एव दीर्घाद्धं प्रभूतकालं 'चाउरंतंति' चतुरन्तं देवादिगतिभेदाच्चतुर्विभागं तदेव स्वार्थेऽण्प्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तं संसारकान्तारं भवारण्यं 'अणुपरिअट्टइत्ति' पुनर्भ्रमति। 'आयाए' त्ति आत्मना धर्म्मं चारित्रधर्म्मं श्रुतधर्म्मं वा। पुढविकायं नावकंखइ त्ति पृथ्वीकायं नापेक्षते नानुकम्पत इत्यर्थः। इति गाथार्थः ॥७॥

एवं तावदाद्यद्वारोक्तदोषस्य नामान्यभिधाय अधुना तत् स्वरूपं सप्रपञ्चं व्यावर्णयितुकामः तत् प्रतिबद्धद्वाराणि निरूपयन्नाह—

तं पुण १ जं जस्स २ जहा ३ जारिस ४ मसणे य तस्स जे दोसा ५।
दाणे य ६ जहापुच्छा ७ छलणा ८ सुद्धी य ९ तह वोच्छं ॥८॥

व्याख्या —तत्पुनर्यदिति, तद्राधाकर्म्मशब्दवाच्यं यत्स्वरूपं वस्त्राशनादिकं स्यात्तथा वक्ष्ये इत्युत्तरेण योगः। एवं शेषद्वारेष्वपि पर्यन्ते तथा वक्ष्ये इति योजनीयम्। पुनः शब्दश्च तस्यैवाधाकर्म्मण उत्पत्तिलक्षणस्य सम्भवस्य सूचनार्थं इत्येकं द्वारम्। तथा यस्य नृविशेषस्यार्थाय कृतमाधाकर्म्म भवतीति द्वितीयम्। तथा 'जहत्ति' यथा यैः प्रकारैः प्रतिषेधनादिभिराधाकर्म्मपरिभोगजन्यः कर्म्मबन्धः स्यात्ताम् वक्ष्य इति तृतीयं द्वारम्। 'जारिसंति' यादृशं यैर्वस्तुभिः सदृशं लक्षणं ग्रहणं वाश्रित्य तत्स्यात् साधूनामिति चतुर्थम्। तथा 'असणे य तस्स जे दोसत्ति' अशने भक्षणे तस्याधाकर्म्मिकस्याशनादेर्ये केचनाज्ञाभङ्गादयश्चकारात्तद्ग्रहणमाश्रित्य संयमप्रतिघातकत्वाद्येऽतिक्रमादयश्च दोषा दूषणानि भवन्तीति गृह्यते, इति पञ्चमं द्वारम्। 'दाणे य' त्ति चकारस्तस्य दोषा इत्यस्यानुकर्षणार्थस्तत आधाकर्म्मणो दाने गृहिणा वितरणे क्रियमाणे तस्य गृहिणो ये दोषा यतिसत्कचरणघातादयो भवन्तीति षष्ठं द्वारम्। 'जहापुच्छत्ति,' यथा येन प्रकारेण अशनादिविषया देशद्रव्यकुलभावानुचिताशनादिलाभे आधाकर्म्मादिशङ्कायां पृच्छा प्रश्नः साधुना गृहस्थं प्रति क्रियते इति सप्तमं द्वारम्। 'छलण'त्ति इत्थं प्रश्निताहारग्रहणादिना यतमानेऽपि साधौ यथेत्यनुवर्त्तनाद्यथा छललना अशुद्धस्य ग्रहणं स्यादिति अष्टमं द्वारम्। 'सुद्धी य'त्ति श्रुतोपयुक्तेनाऽशठभाववता यतिना छलनासद्भावादाधाकर्म्मणो ग्रहणे कृतेऽपि यथा तस्य शुद्धिः कर्म्मबन्धाभावेन निर्दोषतेति नवमं द्वारम्। चकारादाधाकर्म्मग्रहणं प्रति निर्दोषसदोषस्वरूपपरप्रश्नाचार्योत्तररूपं दशमं द्वारं गृह्यते। तथा तेन स्वरूपनिरूपणप्रकारेण वक्ष्ये अभिधास्य इति द्वारगाथासमासार्थः ॥८॥

अधुना यद्वस्त्वाधाकर्म्म भवतीत्याद्यद्वारं व्याख्यातुमाह।

असणाइ चउब्भेयं आहाकम्ममिह बिन्ति आहारं। पढमं चिय जइ जोग्गं कीरंतं निट्ठियं च तहिं ॥९॥

व्याख्या—अशनमादिः प्रभृतिर्येषां पानादिभेदानां अशनादयस्तत्राशनं सूपशाल्यादितंदुलविशेषप्रभृतिकं, पानमवटवाप्यादिस्थं जलम्, खादिमं चिंचिणिकापुष्पनालिकेरादिकम्, स्वादिमं सुण्ठिहरीतक्यादिकम्। ततः अशनादयश्चत्वारः चतुःसङ्ख्याभेदा विशेषा यस्य स तथा तं, कमित्याह—'आहारं'ति, तत्राह्रियते तृप्तिजननायासावित्याहारः समयभाषया पूर्व्वोक्त एवाशनादिस्तं आधाकर्म्मेत्याधाकर्म्मशब्दवाच्यं इहेति प्रवचने, यद्वा पिण्डशुद्धिप्रक्रमे, इतरथा साध्वर्थं यद्गृहादिकं चीयते वस्त्रादिकं वाऽऽप्यते तुम्बकादेश्च मुखादिकं यस्य क्रियते तदप्याधाकर्म्म भवतीति केवलं तन्न ग्राह्यमप्रस्तुतत्वात्, ब्रुवतेऽभिदधति जिनादयः। कीदृशं सन्तमित्याह—प्रथममेवादित एव वपनकृत्यत्वमारभ्येति यावत्, चियशब्दस्यैवकारार्थत्वात्, यतियोग्यं साधुजनोचितं यतिनिमित्तमिति यावत्, क्रियमाणं निर्वर्त्यमानं गृहिणानिष्ठितं चेति, निष्ठाऽवसानं सा सञ्जाताऽस्येति निष्ठितो निश्चेतनीभूतस्तं, चः समुच्चये क विषये निष्ठित इत्याह—'तर्हि'ति, प्रस्तावात्तस्मिन् यतिविषये साधोरालम्बनेन सर्व्वथा प्रासुकीभूतमिति तत्त्वम्, इत्थम्भूतमाहारमाधकर्म्म ब्रुवते इति गर्भार्थः। अत्र द्वारपादोपात्तपुनःशब्दसूचितमशनादिरूपस्याधाकर्म्मणः सम्भवं पढमं चियेत्यनेन पदेनाभिहितवान्, तथाहि—कथमादित एवाधाकर्मिकमशनादिकं सम्भवति? इति, उच्यते—कश्चिद् गृही अतिभक्तिभरनिर्भराङ्गः साधूनामकल्प्यमेतदिति जानानोऽजानानो वा स्वक्षेत्रे कुतोऽपि कारणतः साधूनामनवस्थानमवलोक्य पृच्छयादिना ज्ञात्वा च साधूनामवस्थानहेतोरशनादेश्चतुर्विधस्याप्याहारस्य वपनादिनोत्पादनं करोति तत्राशनोत्पादनमाश्रित्याख्यानकं पूर्वाचार्योक्तम् यथा—

"अणेगकुलसयसंकुलो संकुलो नाम गामो आसी, तम्मि जिणदत्तो नाम सावओ, तस्सय जिणमती नाम भज्जा। तत्थ कोद्दवरालगा उप्पज्जन्ति त्ति तेसिं संतिउ कूरो भिक्खाए पउरो लब्भइ, वसही अ रमणिज्जा लब्भइ, सज्झाओ य निव्वहइ, परं आयरियाइपाउग्गो

सालिकूरो नत्थि त्ति न केइ आयरिया तत्थ चिट्ठन्ति। अन्नया य गुणनिहिणो पडिलेहणत्थं पेसिया। तेसिं जिणदत्तेण रमणिज्जा वसही समप्पिया। तेहिं तस्स वुत्तन्तं कहियं, खेत्तं पडिलेहियं। जिणदत्तेण पुट्ठा, भयवं! तुम्हाणं खेत्तं रुइयं? सूरिणो एत्थागमिस्सन्ति? ×××× परं कारणं न जानामि त्ति कारणजाणणत्थं तेसिं मज्झाउ एगो उज्जू साहू पुच्छिओ, तेण कहियं जहा गणस्स जोग्गं एयं किन्तु आयरियाणं पाउग्गो सालिकूरो नत्थि। तओ तेण अन्नगामाउ सालिबीयं आणावेऊण वाविअं, जाव अणेगे सालिकूडया जाया। अन्नया केणइ पओयणेणं ते वा अन्ने वा साहूणो तथागए नाऊण सावएणं चिन्तियं, जहा मएसिं सालिकूरो दायव्वो जेण आयरियाणं पि पाउग्गं एयं खेत्तं चिन्तिऊण एए साहूणो आयरिए एत्थ आणिन्ति, तं च जइ नियघरे चेव दाहिस्सामि अन्नेसु कोद्दवरालगं लभिस्सन्ति तो मा एएसिं आहाकम्मस्स संका भविस्सइ त्ति विरिंचिऊण सयणाईण गेहेसु य पट्ठविओ साली, भणाविया य जहा–सयं खाएज्जह साहूणं पि देज्जह कूरं काऊण इमो साली, तेहिं तहेव कुरो रद्धो। सो वइयरो बालेहिं णाओ। साहुणो भिक्खमडन्ता एसणासमिया बालाईणं जंपियं सुणेंति। एगो बालो भणइ ए एते साहुणो जेसिं अट्ठाए सालीकूरो घरे रद्धो। अन्नो भणइ मम जणणीए साहूण दिन्नो सालिकूरो। अण्णो भणइ सयं साहूणं सालिकूरं दाहामि। अन्नो जणणीं भणइ–साहूणं देहि साहूणं देहि सालिकूरं। अन्नो भणइ थक्कावडियं संपन्नं जेण अभत्ताए सालिभत्तयं जायं। एत्थ लोइओ दिट्ठन्तो णेओ जहा–एगंमि गामे एगा आभीरी तीए भत्ता मओ तीए लहु देवरो अत्थि, तस्स य तम्मि पत्थावे भज्जा मया। तेसिं तु एसा नीती, जं भत्तुणो मयस्स इत्थी लहुदेवरस्स भज्जा होइ त्ति। तओ आभीरीए देवरो भणिओ जहा–हंत मे भत्ता नत्थि ते पुण भज्जा नत्थि, ताहं ते भारिया भवामि, तेण य तहत्ति पडिवन्नं। तीए चिन्तियं, जहा अवसरे अवसरावडियं, जेण जंमि पत्थावे मे भत्तुणो मरणं जायं,

तंमि चेव देवरस्स भज्जा मया, तओहं तेण अभज्जेण भज्जा पडिवन्ना अन्नहा न पडिवज्जन्ते। तहा अन्नेण जणणी भणिया, जहा सालिचाउलोदयं पि साहूणं देहि। अन्नेण वि जणणी भणिया सालिआयामं, सालिकंजियं च साहूणं देहि। इचाइबालाइजणजंपियं सोउं आहाकम्मं एयन्ति नाउं ते ताणि घराणि परिहरिऊण तत्थेव अडन्ति। अनिव्वाहे पच्चासन्ने गामे गंतूण भिक्खं अडन्ति"। एवमशनोत्पादनसम्भववत् पानोत्पादनसम्भवोऽपि ज्ञेयस्तमपि कश्चित् कुरुते, कथम्? उच्यते—यथा क्वापि ग्रामे क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः साधव आगतास्तन्निवासिना श्रावकेण साध्रियमाणा अपि न स्थिताः। तेन च तन्मध्यादेक ऋजुकः साधुरनवस्थानकारणं पृष्टस्तेनोक्तमत्र क्षारं जलं तद्गुरूणां न प्रायोग्यमिति श्रुत्वा यावदसौ मिष्टजलमवटं खनित्वा लोकप्रवृत्तिजनितपापभयात् पुलकादिना स्थगितमुखेन तेन तावत् स्थितो यावत् साधवस्तत्रायातास्ततोऽसौ तंदुलधावनादितया कृत्वा तत्तेभ्यो दापयति वक्ति च गुर्वाद्यभिमुखमेतद् भवद्भिः स्वयं पातव्यं साधूनां च दातव्यमित्यादि यावदन्यत्र तेऽपि व्रजन्तीति। एतदनुसारतः खादिमस्वादिमयोरप्याधाकर्म्मसम्भवो भावनीयः। तत्र खादिमे यथा कश्चित् साधूनां शालनकाद्यर्थं चिर्भिटाम्रफलबीजपूरकपित्थद्राक्षादाडिमा(मादी)नां वपनं करोति। स्वादिमे तु कश्चित् साधूनामौपधाद्यर्थं शुण्ठिमरिचहरीतक्यादीनां रोपणं करोतीति गाथार्थः ॥९॥

तदित्थमाधाकर्मणो विषयसम्भवावुक्तावथात्रैव 'कीरन्तं निट्ठियं चे'ति पदोपात्ताभ्यां कृतनिष्ठितशब्दाभ्यामुत्पन्नं कल्पाकल्पविभागकारिभङ्गचतुष्टयं प्रत्येकमशनादिविषयं वक्तुमाह—

तस्स कड तस्स निट्ठिय चउभङ्गो तत्थ दुचरिमा कप्पा। फासुकयं रद्धं वा निट्ठियमियरं कडं सव्वं ॥१०॥

व्याख्या—अत्रानुस्वारलोपात्तस्स कृतं तस्य निष्ठितमित्यस्मिन् वाक्ये चतूरूपो भङ्गश्चतुर्भङ्गो भङ्गचतुष्टयं ज्ञेयम्। यद्वा प्राकृतत्वात्

'चउभङ्गो'त्ति चत्वारो भङ्गा विकल्पा वाच्या इति द्रष्टव्यम्। यथा तस्य कृतं तस्य निष्ठितं, तस्य कृतं अन्यस्य निष्ठितं, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति। यद्वा तस्य कृतं तस्य निष्ठितं अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं, तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति भङ्गन्यासस्तत्र तस्येति प्रस्तावात् साधोर्निमित्तं कृतमित्यतीतवर्त्तमानकालयोरैक्यात् प्रासुकीकर्तुं प्रारब्धं, तस्येति पूर्ववत् निष्ठितमिति साध्वालम्बनेन सर्वथा निश्चेतनीभूतमिति प्रथमः। तथा तस्य कृतमिति पूर्ववत्। ततो दातुः साधुविषयदानपरिणामापगमादन्यस्येति गृहस्थस्य निमित्तं निष्ठितमचेतनीभूतमिति द्वितीयः। तथाऽन्यस्य (कृतं तस्य) निष्ठितमिति पूर्ववदिति तृतीयः। तथान्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति पूर्ववदिति चतुर्थो भङ्गः। एतेषु कल्पाकल्पविधिमाह। 'तत्थ' त्ति, तत्र तेषु चतुर्षु मध्ये दुचरिमत्ति प्रथमां भङ्गरचनामाश्रित्य द्वितीयश्चचरमश्चेति विग्रहे तीयलोपात् द्विचरमौ द्वितीयचतुर्थावित्यर्थः। द्वितीयां त्वाश्रित्य द्वौ च तौ चरमौ च द्विचरमौ तृतीयचतुर्थावित्यर्थः। कप्पत्ति, कल्पौ ग्राह्यौ शुद्धत्वात् साधोरासेवायोग्यौ स्याताम् इति शेषः। आधाकर्म्मणि हि साधुनिमित्तं पाकादिनिष्ठा प्रधाना। सा चानयोर्गृहस्थार्थं जाता। अत्र च या पारिशेष्यादर्थापत्त्या वा प्रथमचतुर्भङ्गीभङ्गकन्यासं प्रतीत्य प्रथमतृतीयावशुद्धत्वादग्राह्यौ, द्वितीयन्यासं त्वाश्रित्य प्रथमद्वितीयावकल्पौ यत्यर्थत्वादारम्भस्येति। अत्र च सूत्रकृता साक्षादेव प्राचीनगाथोत्तरार्द्धेन प्रथमभङ्गस्याकल्प्यतोक्तैव। अव्ययानामनेकार्थत्वात् तृतीयभङ्गोऽपि चकारेणाकल्पनीयतया सूचित एव तत्र द्रष्टव्यः। अधुना कृतनिष्ठितशब्दयोरर्थमाह फासुकडमित्यादिसूचनाद् व्रीहिकर्कट्यादिकं सचित्तं यत्प्रासुकं कृतं साधोर्गृहिणो वा निमित्तमचित्तं विहितं त्रिःकण्डिततण्डुलादि। तथाराद्धमचेतनैर्वा तण्डुलादिभिर्यतेर्गृहस्थस्य वाऽर्थाय निष्पादितं गृहिणा कूरादि। वा विकल्पे। तदित्थम्भूतं निष्ठितं निष्ठिताभिधानं भवति। इयरं

कृतनिष्ठित-
शब्दोत्पन्न-
कल्पाक-
ल्पविभाग-
कारिभङ्ग-
चतुष्टयम्।

ति पुनःशब्दलोपादितरत् पुनर्मुनेर्गृहिणो वा हेतोरतीतवर्त्तमानकालैक्यात् प्रासुकीकर्तुं प्रारब्धं । पुनरेकद्विष्कण्डिततण्डुलात्कृतं कृताभिधानं भवति अप्रासुकीभूतत्वेन प्राप्तनिष्ठितत्वमित्यर्थः । सव्वं समस्तमिति गाथार्थः ॥१०॥

एनमेवार्थं विशेषेणाह—

साहुनिमित्तं ववियाइ ता कडा जाव तंदुला दुच्छडा । तिच्छडा उ निट्ठिया पाणगाइ जहसम्भवं नेज्जा ॥

व्याख्या—'साधुनिमित्तं' यतेरर्थाय 'ववियाइ' त्ति । अत्र पञ्चम्येकवचनस्य लुप्तत्वादुप्तादेरिति दृश्यम् । तत्रोप्तं वपनं तदादिः प्रथमं यस्य केदारगाहनलवनपरिमलतोत्पवनाद्युत्तरक्रियाविशेषस्य स उप्तादिस्तस्मादुप्तादेरारभ्येति शेषो, वपनमादायावधीकृतेत्यर्थः । तावदिति कालावधिनिर्देशे । 'कड'त्ति कृताभिधाना भण्यन्ते शालयः ।'यावदि'ति कालावध्युद्देशे। द्विश्च्छटा द्विष्कण्डितास्तादृशाः सन्तो लोके किंव्यपदेश्यास्ते स्युरित्याह । 'तन्दुल' त्ति, ते शालयश्च्छटितास्सन्तः तन्दुला भण्यते । अयमर्थः, साधुनिमित्तं शाल्यादय उप्ता यावत्तथाभूतपरिणामेनैव दात्रा व्रीहिकरटितया एकां द्वे वा वारे कण्डित्वा तन्दुलीकृतास्तावत्ते कृता अभिधीयन्ते । त्रिच्छटास्तु तिस्रो वाराः कण्डिता एव तंदुलाः तथाभूतपरिणामेनैव, तु शब्दः शालीनामेकद्विष्कण्डनेनानिष्ठितत्वावधारणार्थः, ते किमित्याह, निष्ठिता निष्ठिताख्या भण्यन्ते । ते च राद्धा अराद्धाश्च न कल्पन्ते साधुनिमित्तं निष्ठितत्वेनाधाकर्म्मिकत्वात् , उपलक्षणमेतत् शुद्धतन्दुलादिभिः साध्वर्थं राद्धं कूरादिकमपि निष्ठितमित्यस्य । अत्र वृद्धसम्प्रदायो यथा–यदि प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनि निमित्तं वा करटिं छटित्वा तन्दुलाः कृतास्तृतीयां वारां त्वात्मनिमित्तं छटिता राद्धा वा ते साधूनां कल्पन्ते । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्त स्वनिमित्तं वा तृतीयां वारां तु साधुनिमित्तमेव कण्डिता राद्धास्त्वात्मनिमित्तं ते एकेषा-

मादेशेन एकेनान्यस्मै दत्तास्तेनाप्यन्यस्मायित्यादिरूपेण यावत् सहस्रसङ्ख्ये स्थाने गतास्तावन्न कल्पन्ते, ततः परं कल्पन्ते, अन्येषां तु न कदाचिदपि। यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा तृतीयां तु वारामात्मनिमित्तमेव कण्डिता राद्धाः पुनः साधुनिमित्तं ते न कल्पन्ते। यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा तृतीयवारां तु साधुनिमित्तमेव कण्डितास्तैस्तन्दुलैः साध्वर्थं राद्धः कूर साधूनामकल्प्य एव निष्ठिततन्दुलतत्पाकजनितद्विगुणाधाकर्म्मदोषदुष्टत्वात्। तदेवमशनमाश्रित्य तस्य कृतं तस्य निष्ठितमित्यादयश्चत्वारो भेदा दर्शिताः। अधुना पानादिशेषाहारत्रयेऽपि तानतिदिशन्नाह। 'पाणगाइ' त्ति विभक्तिलोपात् पानकादौ, पानखादिमस्वादिमाख्ये आहारत्रये, यथासम्भवं कृतनिष्ठितसम्भवानतिक्रमेण नयेद्भावयेदेतानिति। तत्र पाने कूपादिकं साधुनिमित्तं खातं, जलमानीतं यावत्तथाभूतपरिणामेनैव कर्त्रा प्रासुकीक्रियमाणं नाद्यापि सर्वथा प्रासुकीभवति तावत्तस्य कृतत्वं, ततस्तथाभूतपरिणामस्य कर्त्तुश्चरमे क्षणे सर्व्वथा प्रासुकीभूतमिति तस्य निष्ठितत्वमिति प्रथमेत्यादि, खादिमे तु कर्कटिकादिकाः फलविशेषाः साधुनिमित्तमुप्ता यावत्तथाभूतपरिणामेनैव दात्रा ते खण्डितास्तानि खण्डानि क्षणे क्षणे प्रासुकीभवन्ति सन्ति यावत्तथाभूतपरिणामस्यैव दातुर्नाद्यापि सर्व्वथा प्रासुकीभवन्ति तावत्तेषां कृतत्वम्। ततस्साधुनिमित्तमेव चरमे क्षणे सर्व्वथा प्रासुकीभूतानि तानीति तेषां निष्ठितत्वमिति प्रथमेत्यादि। स्वादिमे वल्लकादिकं खादिमवत् ज्ञेयमित्यत्रापि द्वितीयचतुर्थभङ्गौ शुद्धौ प्रथमतृतीयावशुद्धाविति। प्रस्तावादपरमपि सोपयोगित्वात् किञ्चिदभिधीयते। साधूनां छायार्थमारोपितवृक्षस्य गृहद्वारादिविहितमण्डपादेश्च निवासार्थं कृतमठादेश्च छायानिषेवनमाधाकर्मिकत्वाभावाददोषाय। परं प्रवृत्तिदोषादिना तत्परिहार्यम्। तथाहि तस्य कृतमन्यस्यनिष्ठितमिति द्वितीयभङ्गे साध्वर्थमुप्तवृक्षफलं वृक्षनिबन्धनमपि कल्पते वृक्षावृक्षनिबन्धना तु छाया सुतरां परिभोक्तुं

कृतनिष्ठित-
शब्दोत्पन्न-
कल्पाक-
ल्पविभाग-
कारिभङ्ग-
चतुष्टयम्।

कल्पते, यतः सूर्यहेतुकापि छाया भवति न च सा वृक्षारोपककर्त्रा सूर्येण वा साधून् मनस्याधाय निर्वर्त्तिता येनाधाकर्म्मलक्षणयोगात् सा तथा सत्ययोग्या स्यादित्यलमगीतार्थाधाकर्म्मिकयतिजनकथयेति गाथार्थः ॥११॥

द्वारमिति प्रभूतार्थसूचकं पदमित्यर्थः । उक्तमाद्यद्वारमिदानीं यस्येति द्वितीयद्वारं व्याचिख्यासुराह ।

साहम्मियस्स पवयणलिंगेहि कए कयं हवइ कम्मं । पत्तेयबुद्ध निण्हयतित्थयरट्ठाए पुण कप्पे ॥१२॥

व्याख्या—साधर्मिकस्य समानस्वरूपस्य, समानधर्म्मा च दर्शनज्ञानादिनापि स्यादिति केनात्र समानधर्मते ? त्याह—पवयणलिंगेहि त्ति प्रवचनं सङ्घः, साध्वादिचतुष्करूपस्तथा लिङ्ग्यते चिह्न्यते साधुरनेनेति लिङ्गं यतिचिह्नं रजोहरणमुखवस्त्रिकागोच्छकादि । अनयोर्द्वन्द्वे अल्पस्वरस्यापि लिङ्गशब्दस्य पूर्वनिपाताभावो गाथाबन्धानुलोम्यात् क्वचिल्लक्षणाद् व्यभिचारात् प्राकृतत्वाच्च ताभ्याम् । अत्र च न केवलेन प्रवचनेन साधर्म्मिकता नापि केवलं लिङ्गेन किन्तु युगपद् द्वितीयमीलकेन ग्राह्या ततो रजोहरणादियतिलिङ्गोपेतश्चतुर्विधसङ्घमध्यात् सङ्घैकतरश्च गृह्यमाणः साधुसाध्वीवर्ग एव साधर्मिकः सामर्थ्याल्लभ्यते । तस्य प्रवचनलिङ्गाभ्यां समानधर्म्मिणः साधुसाध्वीवर्गस्य किमित्याह—कृते निमित्तमर्थायेति यावत् कृतं राद्धं भवति जायते । कम्मं ति सूचनादाधाकर्म सामान्यकेवलिस्वयंबुद्धसामान्यशेषयतिरूपाणां साधूनामितिशेषः । अत्र च प्रवचनलिङ्गपदद्वयेन चतुर्भङ्गी सूचिता, यथा प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गतः १ लिङ्गतः साधर्म्मिका न प्रवचनतः २ प्रवचनतः साधर्म्मिका लिङ्गतश्च ३ न प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गतश्चेति ४ । तत्राद्यभङ्गे दर्शनप्रतिमाया आरभ्य अन्त्यप्रतिमावर्जिताः प्रतिमादशकस्थाः श्रावकाः प्रवचनतः साधर्मिकाः, साधुभिः सह सदैव तेषां तैः सहैकप्रवचनत्वात् लिङ्गस्याभावेन वैसदृश्याच्च । इह चान्त्यप्रतिमास्था अपगतकेशत्वरजोहरणादिसाधुलिङ्गोपेतत्वाल्लिङ्गतोऽपि साध-

सर्वेऽपि लिङ्गेन साधर्मिकास्तेषामेव लिङ्गत्वात् प्रवचनस्या- मिंकाः किल भवन्तीति तद्वर्जनमिति प्रथमोभङ्गः। द्वितीयभङ्गे निह्नवाः सर्वेऽपि लिङ्गेन साधर्मिकास्तेषामेव लिङ्गत्वात् प्रवचनस्या-
मिंकाः किल भवन्तीति तद्वर्जनमिति प्रथमोभङ्गः। द्वितीयभङ्गे निह्नवाः इतरे तु साधूनां मध्ये व्यवहारतः प्रवचनान्तर्व-
भावो वैसदृश्याच्च। ते हि लोके निह्नवत्वेन ज्ञाता अज्ञाताश्च स्युरिह तु ज्ञाता ग्राह्या, इतरे तु साधूनां मध्ये व्यवहारतः प्रवचनान्तर्व-
र्त्तित्वात्तेषामिति द्वितीयः। नवरं निह्नवास्तीर्थकृद्वचनं स्वाग्रहवशान्निराकुर्वन्तीति,निह्नवा जमालिप्रभृतयो ज्ञेयाः। तृतीयभङ्गे साधूनां
साधर्म्मिकाः, साध्वेकादशप्रतिमास्थश्रावकाः। चतुर्थे तु तीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः। इह च साधूनां प्रायः साधर्म्मिकद्वारेण कल्पाकल्पवि-
धिर्गवेषणीयस्ते च तीर्थकरप्रत्येकबुद्धस्वयंबुद्धादयः सर्वेऽपि साधवो लभ्यन्ते। केवलं सर्वेषां साधुशब्दवाच्यत्वेऽपि येषां प्रवचनलिङ्ग-
योरन्यतरत् द्वयं वाऽस्ति ते सङ्घातवर्त्तिन एव प्रायः प्रक्रान्ताः साधवो ज्ञेयास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धास्तु साधुत्वेऽपि प्रवचनलिङ्गातीतत्वेन
सङ्घोत्तीर्णा इति तान् विवर्ज्य शेषाः स्वयम्बुद्धादयः सर्वेऽपि साधवः प्रक्रान्ता ज्ञेया यैः सह साधर्म्मिकत्वं गवेषणीयम्। अथ प्रवचन-
लिङ्गातीतत्वं शास्तुरस्तु प्रत्येकबुद्धानां च शेषयतितुल्यानां तत्कथमिति चेदुच्यते। तेऽपि सङ्घसमक्षमाचार्यादिसन्निधौ न लिङ्गप्रति-
पत्तिं व्रतग्रहणं वा विदधति, नापि द्विविधां शिक्षां शेषां वा सामाचारीमपरपार्श्वे शिक्षंते किन्तु पूर्व्वाधीतश्रुतबलेन सर्व्वं स्वयं ज्ञात्वा
कुर्व्वन्त्यनुष्ठानं लिङ्गं च देवता प्रयच्छति, अतः सम्पद्येत तेषां लिङ्गस्य प्रदानसङ्घातवर्त्तित्वाभावात् प्रवचनलिङ्गातीतत्वं तेषामेता-
वतोच्यते तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति। तत्र तीर्थकरः शास्ता स्वयंबुद्धप्रत्येकबुद्धयोश्च बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतो विशेषस्तथाहि स्वयंबुद्धा
बाह्यवृषभादिप्रत्ययमन्तरेणैव बुद्ध्यन्ते, प्रत्येकबुद्धास्तु न तद्विरहेण। उपधिस्तु स्वयंबुद्धानां द्वादशविधस्तत्र पात्रादीनि सप्त, कल्प-
त्रयम्, रजोहरणम् मुखवस्त्रिका च। प्रत्येकबुद्धानां नवविधोऽयमेव कल्पत्रयवर्ज्जः। श्रुते तु पूर्व्वभवाधीते स्वयंबुद्धानामनियमः,
प्रत्येकबुद्धानां तु नियमः तच्चोभयोरपि जघन्यत एकादशाङ्गानि, उत्कृष्टस्तु भिन्नदशपूर्व्वाणीति, लिङ्गग्रहणं स्वयंबुद्धानामाचार्यसन्नि-

घात्रपि । प्रत्येकबुद्धानां तु देवता समर्पयति । इदानीं प्रवचनलिङ्गचतुर्भङ्ग्या भङ्गकेषु कल्पाकल्पविधिरुच्यते । तत्र तृतीयभङ्गवर्त्ति-
यत्यर्थं यत्कृतं तदकल्पम् प्रक्रान्तसाधूनां सर्व्वयतीनां तृतीयभङ्गत्वात् । चतुर्थभङ्गवर्त्तिसाध्वर्थं च कृतं कल्पमेव । अत एव सूत्रकारोऽपि
तृतीयभङ्गेऽकल्पतां प्रदर्श्य एतद्वर्जशेषभङ्गत्रये कल्पाकल्पविभागं दर्शयितुमाह । 'पत्तेयबुद्ध'त्ति,प्रत्येकबुद्धनिह्नवतीर्थकराणामर्थाय प्रत्ये-
कबुद्धादिनिमित्तं कृतमशनादि । पुनः शब्दः प्रथमद्वितीयभङ्गयोर्भजनया कल्पाकल्पनिभागसूचनार्थः । अत एव द्वितीयभङ्गे भजनां
प्रतीत्य सूत्रकृता निह्नवार्थाय कृतं कल्पमुक्तम् । 'कप्पे'त्ति कल्पते ग्राह्यं स्यादित्यर्थः । तथा च तीर्थकरार्थाय यत्कृतं देवैः समवसरणं
देशनाश्रवणार्थमुपवेशनादिना यथा यतीनां परिभोगोचितं स्यादेवं तदर्थं कृतमशनाद्यपि कल्पते प्रक्रान्तसर्व्वयतीनामिति एतेन प्रत्ये-
कबुद्धतीर्थकरार्थं कृतस्य कल्पताभणनाच्चतुर्थभङ्गे कल्पता दर्शिता । ननु यदि तीर्थकरार्थं कृतमाधाकर्म्म न स्यात्तदा यद्भक्त्या तदर्थं
निष्पादितमनिश्राकृतं भवनं तत्र किमिति न निवासादि क्रियते ? उच्यते महाशातनादोषभावात् । उक्तं च 'जइ वि, न आहाकम्मं,
भत्तिकयं तह विवज्जयंते हि । भत्ती खलु होइ कया, इहरा आसायणा परमा' ॥१॥ शेषयतीनामर्थाय च कृतं तीर्थकरादीनां कल्पते
प्रवचनलिंगोत्तीर्णत्वात्तेषामिति । तीर्थकराद्यर्थं च कृतं तीर्थकरादीनामकल्पमेवेत्यनुक्तमपि द्रष्टव्यम् । तथा च व्याख्याप्रज्ञप्त्यां श्रूयते ।
गोशालकमुक्ततेजोलेश्याव्यथाजातातीसारस्य भगवतस्तद्व्यथोपशमनाय रेवतीश्राविकया वैद्यवचनेन स्वार्थं भगवदर्थाय च निष्पादिते
औषधद्वये भगवद्व्यथावलोकनेनाधृतिं कुर्व्वाणस्य सिंहानगारस्य गृहार्थनिष्पन्नौषधानयनाय प्रेषितस्य तन्मुखेन स्वार्थनिष्पन्नस्य तस्य
भगवते न क्रियमाणस्यानयननिषेधः । यदि च तत्तस्य कल्पं स्यात्तदा किमिति निषेधमकार्षीदसाविति एवं प्रत्येकबुद्धार्थं कृतं तेषामेव-
तदकल्पं । यद्येवं तीर्थकरार्थं देवैः समवसरणादि कृतं कथमसावुपभुङ्क्ते ? उच्यते, तीर्थकरनामकर्म्मविपाकस्येत्थं तेन वेद्यमानत्वाद-

दोषः । नन्वत्रैकादशप्रतिमास्थश्रावकाणामपि तृतीयभङ्गावतारितत्वात्तदर्थं कृतमशनादि साधूनां कल्पमकल्पं वा ? उच्यते, गृहस्थत्वादयावज्जीविकलिङ्गत्वाच्च तेषां तदर्थं कृतमशनादि साधूनां कल्पत एवेति वृद्धाः । केचित्साधुकल्पत्वादेतेषामपि ग्रहणं न कुर्वन्ति । तन्मतेनैते सर्वसाधुग्रहणग्राह्याः । प्रथमद्वितीयभङ्गभजना त्वेवं ज्ञेया । यथैकादशप्रतिमास्थवर्जश्रावकार्थं कृतमशनादिकं प्रक्रान्तसाधूनां कल्पं गृहस्थत्वाल्लिङ्गरहितत्वाच्च तेषां । चौरादिमुषितलिंगसाध्वर्थं कृतं त्वकल्पं भावतो लिङ्गयुतसाधुत्वात्तेषामिति प्रथमभङ्गे भजना । द्वितीये त्वेवं, यथा लोके निह्नवा निह्नवत्वेन यदि ज्ञाता स्युस्तदा तदर्थं कृतं कल्पं सङ्घबाह्यत्वात् तेषां, यदि त्वज्ञातास्तदा अकल्पम्, तेषां व्यवहारेण सङ्घान्तर्वर्त्तित्वात् । अथ यथा कश्चित् स्नेहान्निजपित्रादेः साधोर्जीवतो मृतस्य वा काष्ठमयीं पाषाणादिमयीं प्रतिमां वा कारयति, तस्याश्चाग्रतो ढौकनाय बल्यादिकं निष्पादयति, तदा तस्याः अन्येषां तत्समानधर्म्मणां जीवतां स्थापनासाधर्मिकत्वात् तत्पुरतो ढौकितमढौकितं वा तद्बल्यादिकं साधूनां कल्पमकल्पं वा ? अत्रोच्यते, रजोहरणादियुक्ताकारेण पितृतुल्यस्यैवेदं दातव्यमिति कर्तुः सङ्कल्पनेन कृतत्वात् तु तत्साधूनामकल्पम् पितृतुल्यसाधवे दास्यामीति साधुसङ्कल्पेन कृतत्वात् । भक्तिमात्रकृतं तु साधुसङ्कल्परहितं कल्प्यं (परं) यतिप्रसङ्गदोषात् (कल्प्यं)न स्यात् । एवं तत्कालं मृतस्य साधो निर्जीवशरीरस्य तत्पुत्रादिना पुरतो ढौकनाय कृतमशनादि ढौकितमढौकितं वा साधुसङ्कल्परहितमपि तदकल्प्यं अहो निःशूकाः सितपटा ये मृतकभक्तमपि न त्यजन्तीत्यादिजुगुप्सासद्भावादित्यलं विस्तरेण इति गाथार्थः ॥१२॥

उक्तं यस्येतिद्वारमथ यथेति द्वारं व्याचिख्यासुः यैः प्रकारैस्तत् स्यात्तान् प्रकारान् प्रतिषेधादीन् सदृष्टान्तानभिधातुमाह—

पडिसेवण १पडिसुणणा २संवास ३णुमोयणेहिं ४तं होइ । इह तेण १रायसुय २पल्लि ३रायदुट्ठेहिं दिट्ठंता ॥

व्याख्या—प्रतिषेवणं प्रतिषेवणा प्रतिषेवेत्येकोऽर्थः, आसेवेति तत्त्वं। प्रतिश्रवणं प्रतिश्रवणा अभ्युपगमाः। संवसनं संवासः एकत्रावस्थानम्। अनुमोदनमनुमोदना अनुमतिः। प्रतिषेवणा च प्रतिश्रवणा चेत्यादि द्वन्द्वस्ताभिः प्रतिषेवणादिभिरासेवाप्रभृतिभिश्चतुर्भिः प्रकारैस्तदित्याधाकर्म्म तद्भोगादिजन्यः कर्म्मबन्ध इति तत्त्वं, भवति जायते। एतासां स्वरूपं सूत्रकार एव वक्ष्यति। अधुनैतद्विषयान् दृष्टान्तानाह। इहेति आस्वेतासु प्रतिषेवणादिषु यथाक्रमं स्तेनराजसुतपल्लीराजदुष्टैर्दृष्टान्ता उदाहरणानि वाच्यानि। तत्र प्रतिषेवणायां, स्तेनाश्चौरा दृष्टान्त इति सर्वत्र योज्यम्। प्रतिश्रवणायां, राजसुतो नृपपुत्रः। संवासे पल्ली, भिल्लसन्निवेशः। अनुमोदनायां राजदुष्टो नृपावरोधापराधकारीति। एतांश्च प्रतिश्रवणादिस्वरूपाभिधायकं गाथाद्वयं व्याख्याय ग्रन्थविस्तरलाघवार्थं विनेयासंमोहार्थं च पश्चाद् वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥१३॥

अधुना प्रतिषेवणादिस्वरूपाभिधानायाह—

सयमन्नेण च दिन्नं, कम्मियमसणाइ खाइ पडिसेवा। दक्खिन्ना दुवओगे, भणिओ लाभो त्ति पडिसुणणा॥
संवासो सहवासो, कम्मियभोइहिं तप्पसंसाउ। अणुमोयणत्ति तो ते, तं च चए तिविहातिविहेण॥१५॥

व्याख्या—स्वयमात्मना गृहादानीयान्येन वा अपरसाधुना, वा विकल्पे, दत्तं गृहादानीयान्यस्य साधोः समर्पितमाधाकर्म्मिकं पूर्वोक्तमशनादि भक्तादिकं खादत्यश्नाति यः साधुस्तस्य प्रतिषेवा भवति। अयमभिप्रायः-इहाकृत्यमाधाकर्म्मासेवनमेतदिति केनापि निवार्यमाणोऽपि रसगृद्ध्या तद्वचोऽवगणय्य कूटोपमां च तदग्रतोऽभिधाय यथा परहस्तेनाङ्गारानाकर्षयन् यथासौ न दह्यते किन्तु पर-

पिण्ड-
विशुद्धेः
श्रीचंद्रसूरीया
वृत्तिः

॥१२॥

प्रतिषेवणा-
दिस्वरू-
पम् ।

॥१२॥

हस्त एव दह्यते, यथा वा मृगादेर्ग्रहणाय यो व्याधः कूटं रचयति तस्यैवापराधो न तु तत्र पततोऽपि मृगादेरित्येवमत्राप्याधाकर्म्मि-
काहारं ददत एव साधोर्गृहस्थस्य वा कर्म्मबन्धो नतु मम तद्भुंजानस्येत्येवमभिप्रायवतो लाम्पट्यान्निःशूकत्वाच्च तद्भक्षयतः साधोः
प्रतिषेवा स्यात् । तथा दाक्षिण्यं प्रतीतं आदिग्रहणाद्भयस्नेहसम्बन्धादिग्रहः । ततो दाक्षिण्यमादिर्यस्य तत्तथा विभक्तिलोपात्तेन दाक्षि-
ण्यादिना, मनसोऽन्यथा भावपरिहारायाधाकर्म्मादायकस्य शिष्यस्य संमुखमुपयोगे भक्तादिग्रहणमुत्कलनादिकारकेऽनुष्ठानविशेषे लाभ
इति लाभं यो गुरुर्भणति इति शब्दाच्च श्राविकया करोटिकयेदं दत्तमित्याकारेण प्रक्रान्ते आधाकर्म्माहारे निवेदिते सति शोभनं
जातं यत्त्वयेदं लब्धमिति वा, यो भणतीति गृह्यते । तदित्थं तस्य गुरोर्भणतो जल्पतः प्रतिश्रवणा भवतीति गाथार्थः ॥१४॥

'संवासो'त्ति आधाकर्मिकभोजिभिराधाकर्म्मिकभोक्तृभिः साधुभिः सह यः सहवास एकत्रस्थानं स संवासोऽभिधीयते । अनुमोदना
पूर्वोक्तार्था भवति । केत्याह तप्पसंसाउ त्ति तत्प्रशंसा आधाकर्म्मभोक्तृप्रशंसा यथा सुखपारणकसुखदैवसिकं भवताम् । यद्वा शो-
भना एते ये मिष्टाहारेण जीवन्तीति । यद्वा तस्याधाकर्म्मिकभक्तादेर्गुणानाश्रित्य प्रशंसतः प्रशंसा अनुमोदना भवति । यथा कश्चित्
साधुराधाकर्मिकं भुञ्जानं साधुं दृष्ट्वा वक्ति यथा मिष्टमिदं त्वया लब्धं, परिपूर्णं भक्त्या बुभुक्षाप्रस्तावे वसन्तादिकर्तुयोग्यं सघृता-
दीत्येवं तद्गुणविकत्थनं कुर्वतस्तस्याभुञ्जानस्यानुमोदना भवति । तु शब्दश्चैतासामेव गुरुलघुत्वादिविशेषसूचनार्थः । तद्यथा प्रतिषेवा
आधाकर्म्मदोषासेवनाद् गुर्व्वी । ततः प्रतिश्रवणा लघ्वी प्रतिषेवायाः कारणत्वात् । ततोऽपि लघुतरः संवासः त्रिविधाया अनुमोद-
नाया एव प्रायः कारकत्वात् । ततोऽपि लघुतमा अनुमोदना वाचनिकानुमतेरेव विषयत्वात् । इतिशब्दश्चतसृणामपि स्वरूपपरिसमा-
प्त्यर्थः । चतुर्थपादं तु दृष्टान्तभणनादुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः । इदानीं त एव कथ्यन्ते । तांश्च वस्तुविचारग्रन्थत्वात् संक्षेपेण भणि-

प्याम:। एव शेषाख्यानकान्यपि। तत्र प्रतिषेवायां चौरदृष्टांतो यथा—एगंमि गामे अणेगे चोरा वसन्ति ते य अन्नया कुओवि संनिवेसाउ गावीउ हरिऊण नियगामाभिमुहं चलिया। तत्थ केवि पहिया मिलिया, जाहे सदेसे पविट्ठा, तउ नियमंडलो त्ति काउं निब्भया भोयणवेलाए, तेसिं गोणीणं मज्झाउ कत्तियाउ विणासिऊण भोयणत्थं पएउं लग्गा तंमि पत्थावे के वि पहिआ अन्नेवि मिलिया, भोयणकरणत्थं सव्वेवि चोरेहिं भोत्तुकामेहिं निमंतिया ततो केइ भुंजिउं पयट्टा, केहिं वि गोमंसभक्खणं बहु पावं ति काउं सयं भक्खणं न कयं किंतु परिवेसणाइ पारद्धं। एत्थन्तरे कूविया आगया, तेहिं सव्वे ते गहिया तत्थ जे पहिआ आसि ते पहिया अम्हे त्ति भणन्ता वि गोमंसभक्खणपरिवेसणादिदोसेण ते वि इयरे वि तेहिं वहियत्ति। एवमिहापि ये आधाकर्म्मानीय स्वयं भुञ्जते भुङ्ग्ध्वं यूयमिति निमन्त्रिता वा ये भुञ्जते ये च तत्परिवेषयन्ति ये च तद्ग्रहणाय पात्राणि धरन्ति ते एवं कुर्व्वन्तस्सर्व्वेऽपीह जन्मनि तीव्रं कर्म्म बद्ध्वा दुर्गतौ पर्यटन्तीति। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोजनात्वेवम्, यथा चौरस्थानीया आधाकर्म्मनिमन्त्रकाः साधवः, गोमांसभक्षकपथिकस्थानीया निमन्त्रिताधाकर्म्मभोजिसाधवो, गोमांसपरिवेषकपथिकादिस्थानीया आधाकर्म्मपरिवेषकादिसाधवो, गोमांसाभ्यवहारस्थानीयमाधाकर्म्माभ्यवहरणम्। पथस्थानीयं मनुष्यजन्म, कूजिकस्थानीयानि कर्म्माणि, मरणादिस्थानीयो नरकादिपातः। इह दृष्टान्ते चौरैर्गोभक्षकपथिकैश्च दार्ष्टान्तिके त्वाधाकर्म्मभोक्तृसाधुभिस्तन्निमन्त्रिताधाकर्म्मभोक्तृसाधुभिश्च प्रकृतं तत्र दृष्टान्ते गोभक्षकपथिकानां दार्ष्टान्तिके त्वाधाकर्म्मानीय स्वयं भोक्तृसाधूनां च निमन्त्रितभोक्तृसाधूनां च प्रतिषेधादयश्चत्वारोऽपि वाच्यास्तत्र पथिकानां गोमांसभक्षणं प्रतिषेवणा। तेषामेव भोजनार्थं चौरैर्निमन्त्रितानां गोमांसभक्षणपरिषेवणादिक्रियाप्रवृत्त्या निषेवणेन तत्परिभोगं प्रतिप्रवर्त्तकत्वात् प्रतिश्रवणा। चौरैः सार्द्धमेकत्र निवसनेन संवासः। तेष्वेव बहुमानादनुमोदना स्यात्। यतिजनेष्वाधा-

कर्म्मानीय भक्षणेन प्रायः परिभोगकरणपरिणतत्वेन च द्रव्यतो भावतश्च प्रतिश्रवणा, आधाकर्म्मणैवान्येषां परिभोगं प्रति प्रयोजकतया प्रतिश्रवणा, यस्मै तदानीय ददाति तेन सार्द्धमेकत्र संवसनेन संवासस्तत्रैव बहुमानादनुमोदनेति,अकल्पमेतदिति न ग्रहीष्ये इत्यानायकं निवारयतां प्रतिषेवणा न भवतीति। प्रतिश्रवणायां राजसुतो दृष्टान्तः, तद्यथा–एगंमि नयरे थेरो राया रज्जधुरं परिपालेइ इउ य तस्सेगो (गंथाग्रं ५००) कुमारो रज्जगहणुस्सुओ चिन्तेइ जहा एसो मम पिया थेरो वि न मरइ त्ति नियभडे सहाए काऊण एयं मारेऊण रज्जं गिण्हामि। तओ नियभडेहिं सह एयं मंतियं। तत्थ केहिं वि वुत्तं अम्हे तुह सहाया भविस्सामो, केहिं वि वुत्तं एवं करेहि, केहिं वि तुसिणीकया, केहिं वि तं सव्वं रन्नो निवेइयं। तत्थ पढमा तिन्नि वि कुमारो य रन्ना वावाइया, चउत्थो बूइयत्ति। एवमत्रापि त्रयः साधवः स्युस्तत्र केनापि साधुनाऽऽधाकर्म्मानीय कश्चित्साधुर्निमन्त्रितो यदुत भुंक्ष्व त्वमेनमाहारमहमपि भोक्ष्य इत्युक्ते प्रयच्छ मह्यं येन भुञ्जे इति यस्तदभ्युपगच्छति स एकः साधुः, अपरश्च निमन्त्रितो वक्ति न भोक्ष्येऽहं किन्तु त्वमेनं भुंक्ष्वेति यद्वा आधाकर्म्मभोजिचित्तरक्षणार्थमुपयोगे लाभशब्दं जल्पन् आलोचिते सुलब्धमिति वा भाषमाण इति द्वितीयः। अन्यश्च तूष्णीभावमादाय आस्त इति मौनभाक् तृतीय इत्येते त्रयः साधवः प्रतिश्रवणाविषयाः। अपरश्चाकल्प्यमेतदिति न ग्रहीष्ये इत्यानायकनिवारयिता चतुर्थो यतिः। स च निषेधकत्वात् शुद्धः। इह दृष्टान्ते पदातिवर्ग्गैर्दार्ष्टान्तिके तु साधुभिः प्रदर्शितरूपैस्त्रिभिः प्रकृतं। अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोजना यथा–कुमारस्थानीय आधाकर्म्मणा निमन्त्रयिता साधुः, पितृवधस्थानीय आधाकर्म्मानिषेधः। क्रमेण प्रस्थिताद्यपदातिराशित्रयस्थानीयमाद्यं साधुत्रयम्। राजाकथकपदातिस्थानीयश्चतुर्थः साधुः। तथा दृष्टान्ते कुमारस्य दार्ष्टान्तिकेत्वाधाकर्म्मानायकसाधोः प्रतिषेवणादयश्चत्वारोऽपि विषयविभागेन वाच्यास्तत्र पितृमारणाय प्रवृत्तत्वेन प्रतिषेवणा। वयं नृपमारणे सहाया भविष्याम इत्यादीनां वच-

नानिषेधकत्वादिना प्रवर्त्तकत्वेन प्रतिश्रवणा, शेषं प्रतिषेवणावदनुमोदना यावद्वाच्यमिति । संवासे पल्लीदृष्टान्तो यथा—वसंतउरं नयरं आसि । तत्थ य अरिमद्दणो नाम राया । इउ य तस्स राइणो देसस्स पच्चासन्ना विसगिरिसंनिविट्ठा अत्थि एगा भिल्लपल्ली । तत्थय बहवे चोरा वणियबंभणाइणो वसन्ति । ते य चोरा सयावि तस्स राइणो मंडले चोरियं काउं पल्लीए पविसन्ति । सा य न केणइ राइणो सामन्ताइणो जेत्तुं सक्किज्जइ । अन्नया अमरिस्साऊरियहिययेण महासमग्गियं काऊण सयमेव गंतूण राइणा पल्ली गहिया । तीए गिज्झमाणीए चोरा केवि हया, केवि नट्ठा । वणियबंभणाइएहिं चिन्तियं जहा अम्हं अचोराणं राया न किंचि करेहि त्ति ते न नट्ठा । राइणा ते वि गहाविया । तेहिं भणियं जहा देव ! अम्हे वणियबंभणाइणो न चोरा । राइणा वुत्तं तुब्भे चोरेहिंतो वि अवराहिणो,जे अम्हाणं अवराहकारीहिं चोरेहिं सह एगत्थ वसह । तउ निग्गहिय त्ति । एवमिहाप्याधाकर्म्मिकभोक्तृभिस्सह संयमवता साधुना न वस्तव्यम् । संयमभ्रंशादिदोषसद्भावात्, तथाहि ते आधाकर्म्मणो अवलोकनेन गंधेन गुणवर्णनेन चाधाकर्म्मवर्जकमभिष्वङ्गविकृत्यादिपरिभोगरहितमपि साधुमाधाकर्मपरिभोगवाञ्छाकारिणं कुर्वन्तीत्येतैः सह संवासो दूरतस्त्याज्यः । अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोजना यथा—नृपस्थानीयानि कर्म्माणि, पल्लीस्थानीया वसतिश्चौरस्थानीया आधाकर्म्मभोजिसाधवो, वणिगादिस्थानीया आधाकर्म्मभोक्तृभिस्सहवासिसाधवः उपालम्भमरणस्थानीया दुर्गतिः । इह वणिग्ब्राह्मणादिभिः सहवासदुष्टसाधुभिश्च प्रकृतं । तत्र चौराणामाधाकर्म्मभोक्तृसाधूनां च पूर्ववत् प्रतिषेवणादयश्चत्वारोऽपि भावनीयाः । अनुमोदनायां राजदुष्टदृष्टान्तो यथा । एगंमि नयरे एगो वणियकुमारो अतीव सुरूवो अत्थि सो य अतीव परमहिलाभिलासी । अन्नया अंतेउरसमीवं गच्छन्तो अंतेउरियाहिं दिट्ठो । तेण य ताउ दिट्ठाउ । परोप्परं अणुराओ जाओ । ततो दिन्नजोएणं कहवि संपत्ती । एसो पइदिणं ताउ आसेविउं पयट्टो । पच्छा रन्ना नाओ । तउ आहरिय विभूसिय अन्तेउरे

पविट्ठो समाणो, हरावेऊण मारावेऊण य नयरमज्झे पक्खिवाविओ। तत्थ य कप्पडियवेसेण हेरिया मुक्का, भणिया य जहा जे एयं पसंसंति निंदन्ति य ते दो वि तुब्भेहिं मम सगासे आणेयव्वा। सो य लोगेण वेढिओ, वुत्तंतं जाणिऊण एगेण भणियं 'जाएण जीवलोए सयलेण वि नरेण मरियव्वं' परं जाउ अंतेउरियाउ अम्हारिसेहिं अहन्नेहिं नयणेहिं वि न दीसन्ति ता भुञ्जमाणिऊण मओ ताए स धन्नो। अन्नेहिं भणियं अधन्नो एसो उभयलोगविरुद्धकारी, जो जणणीतुल्लाणं नियसामियंतेउरियाणं चुक्को। एयं सोउं हेरिएहिं पच्चक्खेहिं होऊण रन्नो समप्पिया। राइणा उ, जेहिं सो पसंसिओ ते वावाइया इयरे मुक्का पूइया य त्ति। एवमिहाप्येके साधव आधाकर्म्म भुञ्जते, अपरे च जल्पन्ति धन्या एते सुखं जीवन्ति, अन्ये तु ब्रुवते धिगेतान् ये आगमनिषिद्धमाहारं भुञ्जते। अत्रोपनयः अन्तःपुरस्थानीयमाधाकर्म्म, तत्सेवकवणिक्सुतस्थानीयास्तत्सेवकाः साधवः। धन्योऽयमिति जल्पकपुरुषस्थानीयास्तत्सेवकसाधुवर्णकाः साधवः। अधन्योऽयमिति जल्पकपुरुषस्थानीयास्तत्सेवकसाधुनिन्दकाः साधवः। नृपस्थानीयानि कर्म्माणि। मरणस्थानीयः संसारः इह दृष्टान्ते यैर्युवा धन्य उक्तो दार्ष्टान्तिके तु यैराधाकर्म्मभोजिनः श्लाघितास्तैः प्रक्रान्तं। तत्र दृष्टान्ते यूनो दार्ष्टान्तिके तु यैराधाकर्म्मभोजिनां प्रतिषेधादयश्चत्वारोऽपि पूर्ववद् भावनीयाः। उक्ताः प्रतिषेवणादयश्चत्वारोऽपि सप्रपञ्चं प्रकाराः। साम्प्रतमेतेषां प्रदर्शितन्यायेन बहुदोषदुष्टत्वादाधाकर्म्मिकहेतुत्वाच्च परिहार्यतां दर्शयन्नाह। तो ते तं च चए त्ति। यतः पूर्वोक्ता दुर्गतिपातादिदोषनिबन्धनाः प्रतिषेवणादयस्ततः कारणात्तान् प्रतिषेधादींश्चतुरः प्रकारान् आधाकर्मभोजिसाधुत्वात् तमिति साध्वाद्यर्थं कृतमशनाद्याहारं चः समुच्चये त्यजेत् परिहरेत् साधुः, कथमित्याह। 'तिविहतिविहेण' त्ति त्रयो विधा भेदा यस्य मनःप्रभृतिकस्य योगसमुदायस्य स त्रिविधः। तथा त्रयो विधा यस्य करणादिरूपसमुदायस्य स त्रिविधः। ततस्त्रिविधश्च त्रिविधश्चेति समाहारद्वन्द्वो नपुंस-

कत्वादेकवचनम् तेन, यद्वा त्रिविधस्य त्रिविध इति विग्रहस्तेन, अयमर्थः—मनोवाक्कायैः प्रत्येकं करणकारणानुमतिविशिष्टस्त्यजेदिति गाथार्थः ॥१५॥

उक्तं तृतीयं सप्रपञ्चं यथेतिद्वारमिदानीं यादृशमिति चतुर्थं द्वारं व्याचिख्यासुराह ।

वंतुच्चारसुरागोमंससममिमंति तेण तज्जुत्तं । पत्तं पि कयतिकप्पं कप्पइ पुव्वं करिसघट्ठं ॥१६॥

व्याख्या—वान्तं भुक्तोद्गिलितं, उच्चारः पुरीषं, सुरा मद्यम्, गोमांसं सुरभिपिशितं उपलक्षणत्वात् काकमांसगड्डरिकोष्ट्रीक्षीरलशुनादिग्रहः। वान्तं चोच्चारश्चेत्यादिद्वन्द्वस्तैः समं सदृशं तुल्यमिति यावत्। इदं प्रक्रान्तमाधाकर्म्मिकभक्तादि वर्त्तत इति शेषः। अत्रायं भावार्थः—यथा राजिकादिभिः कृतातिसौरभ्यादिकमपि वान्तमभक्ष्यम्,उच्चारो यथा अभोज्यः, सुरोष्ट्रीगड्डरिकाक्षीरादि यथा शिष्टानामपेयम्,गोमांसादि च यथा तेषामभक्ष्यम्, जघन्यजनैश्च सुरागोमांसादेर्यद्यपि पानं भक्षणं चाचर्यते तथापि तन्न प्रमाणं शिष्टानाम्, अन्यथा वान्तोच्चारादीनामपि सारमेयादिभिर्भोजने आचरितत्वात्तेषामपि भक्ष्यत्वे प्रसङ्गः। एवं जिनशासनभावितानां साधूनां सावद्यत्वेन निन्द्यत्वादाधाकर्मिकमपि वान्तादिकल्पमभक्ष्यमपेयमग्राह्यं चेति। तथा यत इदं वान्तादिसदृशमित्यतः कारणात्, तेनेति आधाकर्म्मणाऽशनादिना तच्छुद्धमशनादिकं युक्तं स्पृष्टं मिलितं सदित्यर्थः। तच्च तद्युक्तं च तद्युक्तं, पूतिकर्म्मीभूतमिति तत्वं, साधूनां भोक्तुं न कल्पते इति शेषः। यथाऽशुचिसम्बन्धिना लवेनापि स्पृष्टं भक्तादि शुचीभूतमप्यभोज्यं भवति, एवं निर्दोषतया भोज्योऽप्याहारः आधाकर्म्मिकाहारस्य लवेनापि स्पृष्टोऽभोज्यः स्यात् पूतिरूपत्वात् तथा पात्रमपि भाजनमपि यत्राधाकर्म्मिकं केवलं पतितं, शुद्धाशनादिमध्येऽशुद्धं वा, तद्द्वयोरप्युज्झितयोरधावितया, पूतिखरण्टितं सदित्यर्थः, न कल्पते परिभोक्तुं साधूनामिति शेषः। न केवलं

साक्षादाधाकर्म्म पूतिकर्म्म वा भोक्तुं न कल्पते इत्यपेरर्थः। तर्हि कीदृशं सत्तद्भाजनं कल्पते इत्याह—पूर्वं कल्पत्रयदानात् प्रथमं, करीषं शुष्कगोमयं तेन घृष्टं निमार्ज्जितमशुद्धवर्तितमिति यावत् करीषघृष्टम्। भूयोऽपि कीदृशमित्याह—कृता विहितास्त्रयस्त्रिसंख्याः कल्पा जलप्रक्षालनानि यस्य तत् त्रिकल्पम्। एवंभूतं सत् कल्पते शुद्धाशनादिग्रहणाय, यतिजनपरिभोग्यं स्याद्, इतरथा यथा क्वापि भाजनेऽशनादिकं क्षिप्तं तदुपर्यशुचिः पतिता द्वे अप्यपनीते ततोऽधाविते तस्मिन्नपरमशनादिकं क्षिप्तमभोज्यं स्याद्, एवं शुद्ध-मप्यशनाद्यधाविततया, पूतिखरण्टिते तस्मिन् गृहीतं साधोरकल्पमेवेति गाथार्थः ॥१६॥

इदानीमशने च तस्य ये दोषा इति पञ्चमद्वारं व्याख्यातुमाह।

कम्मग्गहणे अइक्कमवइक्कमा तह इयारणायारा। आणाभंगणवत्था मिच्छत्तविराहणा य भवे ॥१७॥

व्याख्या—सूचनात् कर्म्मग्रहणे आधाकर्म्मादानविषये उपलक्षणत्वादाधाकर्म्मादानं तद्भक्षणं चाश्रित्येत्यर्थः, अन्यथा ग्रहणमात्र एव वक्ष्यमाणदोषासम्भवः प्रस्तुतद्वारविरोधश्च स्यात्। तस्मिन् किमित्याह—अतिक्रमव्यतिक्रमौ तथाशब्दश्चातिक्रमादीनां सम्भव-सूचनार्थः। तथा अतिचारानाचारावित्येते चत्वारो दोषाः स्युः। स्वरूपं चैतेषां चतुर्णामपि सूत्रकार एवावेदयिष्यति। कथं पुनराधा-कर्म्मादानविषयेऽतिक्रमादीनां सम्भवः? उच्यते—यदा कश्चिदभिनवश्रावकः शालिघृतगुडगोरसाम्रतवल्लीकूष्माण्डखण्डादिष्वभिनवो-त्पन्नेषु नवं वस्तु यावत् साधूनां न दत्तं तावन्न भुज्यते इत्याशयवान् प्रायेण तस्याव्युत्पन्नबुद्धित्वाद्यथाकथञ्चिदपि नवं शालिकूरा-दिकमाधाकर्म्म कृत्वा वसतौ गत्वा गृह्यतामागत्य मदीये गृहेऽशनादिकमिति साधुमभ्यर्थयते। ततश्चासौ निमन्त्रितोऽनाभोगादुपेत्य-करणादिना वा आधाकर्म्मग्रहणाय यदि प्रवर्त्तते तदा तस्य साधोश्चत्वारोऽतिक्रमादयस्सम्भवन्ति। एतेषां च लघु-गुरु-गुरुतर-

स्तोकेनापि शुभाध्यवसायेन तं दोषं विशोध्य आत्मानं
गुरुतमदोषत्वं क्रमेण ज्ञेयम् । तथाहि—कश्चित् साधुरतिक्रमाख्यं दोषं प्राप्तः सन् गुरुतरेण शुभाध्यवसायेन विशोधयितुं
संयमे व्यवस्थापयति । व्यतिक्रमदोषं तु प्राप्तः सन् गुरुणा शुभाध्यवसायेन, अतीचारदोषं तु साधुर्न प्राप्नोतीति । इह च
शक्नोति । अनाचारदोषे तु यद्विषयोऽनाचारस्सेवितस्तं संयमगुणं गुरुतमेनापि शुभाध्यवसायेनाखण्डं तदैवाज्ञा-
क्रमशश्चतुर्ष्वप्यतिक्रमादिषु जातेषु प्राय आधाकर्म्माहाराभ्यवहाराः सम्भवन्ति । ततो यदा तद्ग्रहणायातिक्रमादिषु वर्त्तते, अनवस्थाऽऽधाकर्मिकपरिहारेऽन्ये-
भङ्गादिष्वपि चतुर्षु वर्त्तते इत्यधुना तानाह—'आणाभङ्गे'त्यादि, आज्ञाभङ्गः सर्वज्ञोपदेशखण्डना, च: समुच्चये, भवेयुर्जा-
षामनास्था, मिथ्यात्वं विपर्यस्ताध्यवसायरूपं, विराधना संयमादेर्विघातस्तत आज्ञाभङ्गश्चेत्यादिद्वन्द्वस्ताश्च,
येरन् । एतेषां च स्वरूपं सूत्रकृदुक्तातिक्रमादिस्वरूपादुपरिष्टाद्वयं वक्ष्यामः इति गाथार्थः ॥१७॥

इदानीं अतिक्रमादीनां स्वरूपं निरूपयितुमाह ।

पयभेयाइ वइक्कम गहिए तइएयरो गिलिए ॥१८॥
आहाकम्मामंतण पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ ।

गृहीष्यामीति
व्याख्या—विभक्तिलोपादाधाकर्म्मणि पूर्वोक्ते आमन्त्रणे गृहाणेदमिति गृहस्थाभ्यर्थने सति प्रतिशृण्वति चारित्रधर्म्मोल्लङ्घनं भवति ।
जल्पनिषेधेन मौनावलम्बिनि वा सति साधौ यावन्नाद्यापि तद्ग्रहणाय चलति तावदतिक्रमो मनाक् विभक्तिलोपात्तस्मिन्
ततः पदस्य चरणस्य भेदस्तद्ग्रहणार्थं गमनायोत्पाटनं पदभेदः, स आदिर्यस्य तद्ग्रहगमनादेस्तत् पदभेदादि सत्याधा-
निहिते सति यावत् तन्न गृह्णाति तावद् व्यतिक्रमः, पूर्व्वस्मादुगुरुश्चरणेऽपराधो भवति । ततो गृहीते पात्रकादौ स्वीकृते गुरुतम-
कर्म्मणि यावत् मुखे न प्रक्षिपति तावत् सत्यागमनादावपि कृते तृतीयोऽतिचारो गुरुतरश्चरणापराधः । तव इतरोऽनाचारो

श्चारित्रदोषो गिलिते गलादधः क्षिप्ते सति भवति । केचिद् ग्रहणं कवलोद्धरणं यावद्गिलनं तु मुखे प्रक्षेप इति व्याख्यान्तीति । इह च उत्तरगुणगोचराणामतिक्रमादीनां सूत्रे सर्वथा चरणाभावसम्पादकत्वानभिधानादाधाकर्मादिविषयाणामेतेषां चरणदोषकारित्वमेव व्याख्यातुं युक्तं न तु सर्वथा चरणाभावरूपतेति, न च 'पिंडं असोहयन्तो अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि,' इत्याद्यागमवचनात् सर्वथा चरणाभावकारित्वं व्याख्येयम् । यतो निश्चयनयाभिप्रायतया उत्सर्गदेशनाविषयतया अभीक्ष्णसेवागोचरतया वा इदं सूत्रं ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥१८॥

॥१९॥ अधुना प्रागतिदिष्टमाज्ञाभङ्गादिदोषस्वरूपमभिधीयते–यथा निष्कारणे लुब्धस्सन्नाधाकर्म्मादददान आज्ञाभङ्गं कुरुते तद्ग्रहणस्य सर्वज्ञैर्निषिद्धत्वादिति सर्वज्ञाज्ञालोप आज्ञाभङ्गः । एकेनापि साधुना आधाकर्म्मसेवादिकृतं दृष्ट्वा तत्साध्वालम्बनेनापरोऽपि साधुस्तत् सेवनं कुरुते, तं दृष्ट्वा अन्योऽपीत्येवं यावत् सर्व्वेऽप्यकार्ये प्रवर्त्तन्ते, सर्वप्राणिनां सुखाभिलाषित्वात् ,एवं च संयमस्य तेषां सर्वथा छेदः स्यादित्यनवस्था । तथा साधुना प्रव्रज्याग्रहणकाले सर्व्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामीत्युक्तम् । तदुक्तौ च प्राणिवधानुमतिजनकत्वादाधाकर्म्म न भोज्यं इति परमार्थत उक्तं स्यादतस्तद् भुञ्जानेन तेन यथावादो भग्नः स्यात्ततोऽयथावादित्वादहो एते अन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इत्यादि गृहस्थाशङ्कोत्पादकत्वाच्च मिथ्यात्वं । विराधना चात्मसंयमप्रवचनभेदेन, तत्त्रिविधा । तत्राधाकर्म्म, साधोः प्रायः प्राघूर्णकस्येव गौरवेण गृहिणा क्रियते इति स्वादु स्निग्धं च तत् स्यात्ततः स्वादुतया तस्मिन् प्रचूरे स्निग्धे च भक्षिते ज्वरविसूचिकादिव्याधयस्तस्य कदाचित् स्युः, ततश्च ज्ञानादीनां विराधकः स्यात् ,तथाहि–तस्य सूत्रार्थपौरुष्यकरणात् सूत्रार्थहानेर्ज्ञानस्य नाशः, शरीरविह्वलादितया चारित्रादिश्रद्धानत्रुटेर्दर्शनस्य, प्रत्युपेक्षणाद्यभावाच्च चारित्रस्य नाशः स्यादित्यात्मविराधना । वैद्येन च ॥१९॥

विचिकित्सायां क्रियमाणायां पृथिव्यादयः काया व्यापाद्यन्ते, प्रतिपालकसाधूनां च सूत्रार्थहानिः स्यादिति संयमविराधना। दीर्घरोगित्वे पीडां चानुभवत्याह बहुभक्षका एते, ये स्वोदरमपि न जानन्ति इत्यादि प्रवचनमालिन्यसद्भावरूपा प्रवचनविराधना इत्येवं यतो दोषा आधाकर्मणि आग्रहणे भवन्ति तस्मात्तन्न ग्राह्यम् । अधुनाधाकर्म्मपरिभोगेन आज्ञाभङ्गस्य विपाकं दर्शयन्नाह–

भुंजइ आहाकम्मं सम्मं जो न य पडिक्कमति लुद्धो। सव्वजिणाणाविमुहस्स तस्स आहारणा नत्थि ।।

व्याख्या—भुङ्क्तेऽभ्यवहरत्याधाकर्म्म–पूर्व्वोक्तं यः साधुरिति प्रक्रमः, कीदृशः सन्नित्याह–'लुद्धो' गृद्धोऽनेन ग्लानादिकारणेन यस्तद् गृह्णाति स आज्ञां न लङ्घयतीत्यावेदयति । भुक्त्वा च 'सम्मं'ति सम्यगपुनरावृत्त्या भावशुद्ध्या वा यो 'न', नैव, चः स्थाप्यः, प्रतिक्रामत्याधाकर्मिकपरिभोगात् प्रायश्चित्तग्रहणपूर्वकं व्यावर्त्तते। स्थापितचकाराद् गृहीत्वा तन्न करोति इति गृह्यते, स आज्ञाभङ्गदोषकारीति प्रक्रमः । तस्य फलमाह–सर्वजिनानां समस्ततीर्थकराणामाज्ञा उपदेशस्तस्या विमुखः पराङ्मुखो भ्रष्ट इति भावस्तस्य । तस्येति साधुसङ्कल्पिताहारभोजित्वादाज्ञाभङ्गकारिणो यतेराराधना सुगतिनिबन्धनसदनुष्ठाननिष्पादना, यद्वा आराधना मरणकाले भाविनि पर्यन्तक्रिया सा अशुद्धाहारभोक्तृत्वेन संयमादिविघातकारित्वात् तस्य नरकादिकुगतिगमनसम्भवान्नास्ति न विद्यते । अथवाऽखण्डितसंयमानुष्ठानपरिपालनस्यांते पण्डितमरणेनैव सुगतिप्राप्तिकारकं श्रेयस्करमुपवर्ण्यते तच्च तस्य न स्यात्, युज्यते चैतत् फलं परममहाराजतीर्थकराज्ञाभङ्गकारिणाम् । यत इह लोकेऽपि राजादेरप्याज्ञाभङ्गकारिणोऽनर्थपरम्परां प्राप्नुवन्तो दृश्यन्ते, किं पुनस्तीर्थकराज्ञाभङ्गकारिणांस्तामिति। अत्र राजाज्ञाभङ्गे आख्यानकम्–

एगाए नयरीए निज्जियासेससत्तुवग्गस्स एगस्स बहलपत्तलच्छाया सरससपक्कफलपब्भारोण्णमियदुमगणरमणिज्जाणि दोण्णि

उज्जाणाणि होत्था । चन्दोदयं सूरोदयं च । तत्थ नयरीए पच्छिमदिसाए चंदोदयं, बीयं तु पुव्वदिसाए सूरोदयं । तेसु तणकट्ठहारगा वि गच्छन्ति । अह चेत्तमासे अन्तेउरकीलाकोउयत्थिणा पत्थिवेण पडहगदायगा भणिया, जहा भो भो पभाते अहं सूरोदये उज्जाणे नियअंतेउरीहिं सद्धिं कीलं करिस्सामि त्ति, तणकट्ठहारयाइणो चन्दोदये गच्छन्तु । इय संझाए पडहगं वाएउ लोगं जाणेवेजह । तेहिं तहेव कयं । सूरोदये पभाए गच्छन्ताणं मज्झम्मे उण तओ वलंताणं आइच्चो संमुहो भविस्सइ, सो य दुहावहोत्ति चिंतिय सेज्जवालमज्झठियाहिं अंतेउरियाहिं सद्धिं पभाए राया चन्दोदयं गओ । इओ य पडहगसवणाणंतरं एत्थ अम्हे न को वि पेच्छिस्सइ अम्हे पुण अउव्वदंसणाउ रायंतेउरियाउ पेच्छिस्सामो त्ति कोऊहल्लिणो दुविता पच्छिमराइए सूरोदये उज्जाणे बहलपत्तवंताणं रुक्खाणं साहासु लग्गिउ ठिया । ते य उज्जाणरक्खएहिं लक्खिऊण रायाणाभङ्गकारगत्ति हत्थेहिं गहिया, डंडाईहिं हया, रज्जुयाईहिं बद्धा य । जे य तणकट्ठहारगाइणो पडहगसवणेण पभाए चन्दोदगं गया, तेहिं सहसा पविट्ठेहिं दिट्ठा उ ताउ वरनेवत्थविभूसियाउ पीणुण्णयघणथणवक्खोण्णामियाहेकाउ पुन्नचंदवयणाउ रायअंतेउरियाउ । इमेहिं दिट्ठाउत्ति उज्जाणपालएहिं ते वि बद्धा । तओ नयराभिमुहं वलियस्स निवस्स मज्झन्नवेलाए उज्जाणपालएहिं वुत्तंतकहणपूव्वं दोवि वग्गा दंसिया, राइणा आणाभंगकारिणोत्ति सूरोदयगामिणो अदिट्ठोवरोहावि दुविता वहाविया । इयरे आणाकारिणोत्ति दिट्ठोवरोहावि विसज्जियत्ति । एवं एत्थवि तित्थयराणाभंगकारिणो जम्मजरामरणरोगसोगाइदुक्खपउरं भवजलहिपरियडणमहाणत्थं पावेंतित्ति गाथार्थः ॥१९॥

उत्क्रमशनेन तस्य ये दोषा इति द्वारमधुना दाने च तस्य ये दोषा इति षष्ठं द्वारं व्याचिख्यासुराह ।

जइणो चरणविघाइत्ति दाणमेयस्स नत्थि ओहेण । बीयपए जइ कत्थवि पत्तविसेसे व होज्ज जओ ॥

आज्ञा भङ्गादि दोष स्वरूपं

व्याख्या—यतः संयमोद्योगवतः साधोः, किमित्याह चरणं विहन्तुं शीलमस्येति चरणविघाति चारित्रविनाशकृदाधाकर्मिकाशनादि वर्त्तते इत्यनेन कारणेन दानं वितरणमेतस्याशनादेराधाकर्म्मणो नास्ति न विद्यते गृहिण ओघेन सामान्येन कारणं विनेति यावत्। उपलक्षणत्वात्तद्दायकशुभाल्पायुर्बन्धनिबन्धनं चेदमिति दृश्यम्। तथा च प्रज्ञप्त्यां सुपात्रमाश्रित्याशुद्धदानस्य फलमभिहितम्। यथा—'कहं णं भंते! जीवा अप्पाउयत्ताए, कम्मं पकरेंति। गोयमा! पाणे अइवाइत्ता मुसं वइत्ता तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता। एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति'। अस्यार्थः, तत्र प्रश्नः सुगमः। उत्तरे तु 'पाणे अइवाइत्त'त्ति प्राणानतिपात्य आधाकर्मादिकरणतो विनाश्य, मृषोक्त्वा यथाहो! साधो! स्वार्थसिद्धमिदं भक्तादि, कल्पनीयं वो, न शङ्का कार्या इत्याद्यनृतमभिधायाऽप्रासुकानेषणीयेनाशनादिना चतुर्विधाहारेण। 'तहारूवंत्ति' तथाविधस्वभावं भक्तिदानोचितपात्रमित्यर्थः। श्रमणं तपःखिन्नदेहं, 'माहणं व'त्ति मा हनेत्येवं योऽन्यं प्रति वक्ति, स्वयं हनननिवृत्तः सन्नसौ माहनः, [पचाद्यचि] तं माहनं, यद्वा ब्रह्मचर्यं कुशलानुष्ठानं वा तदस्यास्तीति ब्राह्मणः अस्त्यर्थेऽण्, एवमादित्वात् तं ब्राह्मणं ब्रह्मचर्यादिगुणगणोपेतमित्यर्थः। वा शब्दपरस्परापेक्षया समुच्चये। प्रतिलभ्योपष्टभ्य लाभवन्तं कृत्वेत्यर्थः। यद्वा ये जीवा जिनसाधुगुणपक्षपातितया पूजाद्यर्थं पृथिव्याद्यारम्भेण वर्त्तमानाः प्राणानतिपात्य पूजाद्यर्थमेव न्यासापहारादिना च वर्त्तमाना, मृषोक्त्वा श्रमणस्य संस्तरणे सत्यपि निष्कारणतो भक्तिमात्रेणाप्रासुकानेषणीयाशनादिचतुर्विधाहारेण श्रमणं च प्रतिलभ्येति व्याख्या। ततः सरागसंयमनिरवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षयाऽल्पायुष्कतयाऽल्पजीवितव्यहेतुतया जीवा आयुःकर्म्म बध्नन्ति। तथा च जिनागमाभिसंस्कृतमतयो यतयः प्रथमवयःसंभोगिनं कंचन मृतं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति। नूनमनेन भवान्तरे किञ्चिदशुभं प्राणिघातादिकमासेवितमकल्प्यं वा

दानेन दानेन मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यल्पवयाः संवृत्त इति, न पुनः क्षुल्लकभवग्रहणादितयाऽल्पायुष्कतया ज्ञेयम्। दाननिरतस्य प्राणिनो दानेन भोगानाप्नोतीति वचनात्सांसारिकराज्यादिप्राप्तिनिबन्धनत्वेन तस्य क्षुल्लकभवग्रहणेषूत्पत्त्यसम्भवात्। तस्मादोघतः आधाकर्म्मिकस्य दानं नास्तीति। कदाचित्तर्हि तद्दानं भवेदुत सर्व्वथा न? इत्याह—'बीयपए' त्ति उत्सर्गप्रथमपदापेक्षया द्वितीयस्थानमपवादस्तत्र यदीति सम्भावने यदि परमित्यर्थः। कुत्रचित् कस्मिन् महति पुष्टे ग्लाननिर्वाहादौ कारणे, तथा पात्रविशेषे विशिष्टतपोज्ञानादिसमग्रगुणगणाधारो यतिः तद्विषये वा। वाशब्दोऽशुद्धदानसम्भवस्य द्वितीयप्रकारसमुच्चयार्थः। भवेत्स्याद्यदि परं तद्दानमिति प्रक्रमः। अथ किमिति द्वितीयपदमेवाश्रित्याशुद्धाशनादि गृही दद्यान्नोत्सर्गतोऽपीत्याह—'जउ'त्ति यतो यस्मात् कारणात्, तत्रार्थे इदमुक्तमागमे इति गाथार्थः ॥२०॥

यदुक्तं तदेवाह—

संथरणंमि असुद्धं दोण्हवि गेण्हत्तदेंतयाणऽहियं। आउरदिट्ठंतेणं तं चेव हियं असंथरणे ॥२१॥

व्याख्या—संस्तरणं प्रासुकैषणीयाहारादिप्राप्त्यैव साधूनां निर्व्वाहस्तस्मिन् सत्यशुद्धमनेषणीयादितया सदोषमशनादि द्वयोरपि गृह्णद्ददतोर्ग्राहकदायकयोर्यतिगृहस्थयोर्न केवलमेकस्य कस्यचिदित्यपेरर्थः। अहितमपथ्यं संयमविघातशुभाल्पायुर्बन्धहेतुत्वेनानिष्टफलकृदित्यर्थः। उत्सर्गतस्तावदेव, अपवादतस्तु तमप्यनेषणीयमशनाद्याहारं न केवलमेषणीयं हितमेवेत्यपेरर्थः चेवशब्दस्याप्यर्थत्वात्। हितं पथ्यमिष्टफलकृत् दातुर्गृहीतुश्च क्वेत्याह—असंस्तरणेऽनिर्व्वाहे दुर्भिक्षग्लानादौ प्रयोजने इत्यर्थः। केन हितमित्याह—आतुरो रोगी तस्य दृष्टान्तो निदर्शनमातुरदृष्टान्तस्तेन,स चायं यथा-सामवाताद्युद्भवज्वररोगाभिभूतः कश्चिद् रोगी घृतपूर्णमोदकादिकं

भोक्तुमभिलपति, वैद्यादिकं च याचते, तच्च तस्य गृह्णतोऽन्यस्य ददतश्च तत्प्रस्तावे यथा द्वयोरप्यनर्थकृत् तथा तदेव भस्मकवाता-द्युपहतस्य निरामयवाताद्युद्भवज्वरिणो गृह्णत इतरस्य ददतश्च गुणकृत् तदुक्तं वैद्यशास्त्रे—'उत्पद्येत हि सावस्था, देशकालामयान् प्रति। यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म्मकार्यं च वर्जयेत्' ॥१॥ अकार्यमकर्तव्यं यत्तदपि कार्यं कर्त्तव्यं स्यात्, कर्म्मकार्यं कर्त्तव्यक्रिया-मित्यर्थः। एवं अशुद्धाशनादिदानमपि सति निर्वाहे द्वयोरप्यनिष्टकार्यऽसति तस्मिंस्तदेनाभीष्टार्थलाभकारीति। तदयं परमार्थो—यद्य-प्याधाकर्माज्ञाभङ्गाद्यनेकदोषहेतुकं वर्णितम्, तथापि 'सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खेज्जे'त्यादि 'अप्पेण बहुमेसेज्जा। एयं पंडियलक्खणं सव्वासु पडिसेवासु एयमत्थपयं विऊ। तथा न वि किंचि अणुण्णायं पडिसिद्धं वावी'त्याद्यागमाभिज्ञैर्यथावसरं बहुतर-गुणलाभाकाङ्क्षया गृह्यमाणं दीयमानं च न दोषाय इति गाथार्थः ॥२१॥

अधुना यदुक्तं 'पत्तविसेसे व होज्ज'त्ति, तत्र सुपात्रमाश्रित्य गृहिणस्तद्दानसम्भवमावेदयन्नाह—

भणियं च पंचमङ्गे सुपत्तसुद्धन्नदाणचउभङ्गे। पढमो सुध्धो बीए भयणा सेसा अणिट्ठफला ॥२२॥

व्याख्या—भणितं च उक्तं च पञ्चमाङ्गे व्याख्याप्रज्ञप्त्यां कस्थाने इत्याह—सुपात्रशुद्धान्नदानचतुर्भङ्ग इति। तत्र सुपात्रं पूर्वोक्तं, शुद्धमेषणीयं यदन्नमशनमुपलक्षणत्वात् पानादिग्रहः। तस्य दानं गृहिणा वितरणं शुद्धान्नदानं ततः सुपात्रं च शुद्धा-न्नदानं चेति विग्रहः, ताभ्यां पदाभ्यां चतुर्भङ्गो भङ्गचतुष्टयम्। यथा सुपात्रं सुदानं १। सुपात्रमशुद्धदानं २। कुपात्रं शुद्धदानं ३। कुपात्रं कुदानं ४ इत्येवंरूपः सुपात्रशुद्धान्नदानचतुर्भङ्गस्तस्मिन्, यद्वा सुपात्रे सुपात्राय वा शुद्धान्नदानमेषणीयाहारवितरणं तद्विषय-श्चतुर्भङ्गस्तस्मिन्निति व्याख्येयम्। अधुना यदुक्तं पञ्चमाङ्गे तद्दर्शयितुमाह—प्रथम आद्यो भङ्गः शुद्धः, सुपात्रसद्भावात् साध्वर्थपाका-

दिक्रियाजनितकर्मबन्धलक्षणदोषरहितत्वेन सुदानत्वाच्च अशुभकर्मनिर्जराहेतुतया निर्दोषः, तदनुपुण्यानुबन्धिपुण्यकारणत्वात्, प्राग्जन्मनि वितीर्णसुपात्रशुद्धदानयोः कृतपुण्यकशालिभद्रयोरिवापेक्षयैवोक्तम्, तेनाभीष्टमोक्षादिफलप्राप्तिजनकत्वात् सर्व्वोत्तम इति। अन्यत्रापि चोक्तं विधिविशेषाद् द्रव्यविशेषाद्दातृविशेषात् पात्रविशेषाच्च फलविशेषः। तथा द्वितीयभङ्गके, शुद्धे भजना विकल्पना। तथाह्यत्र यावता सुपात्रदानं तावता प्रभूतकर्मनिर्जरासद्भावाच्छुद्धिर्यावता दानमशुद्धं तावता पापकर्मलेशसद्भावादशुद्धिरिति भजना। तथा शेषावुद्धरितौ तृतीयचतुर्थभङ्गकावनिष्टं फलमनभिमतं साध्यं दानप्रयुक्तेर्ययोस्तावनिष्टफलौ। इतेर्गम्यमानत्वादित्येतद् भणितमिति। इदं च मोक्षसाधकदानापेक्षयाऽन्त्यभङ्गद्वये कुपात्रविषयायाः शुद्धाशुद्धदानप्रयुक्तेः पापानुबन्धिपुण्योपार्जकत्वेन सांसारिकराज्यादिभोगमात्रकारणत्वादनिष्टफलत्वमुच्यते। तथा च तत्सूत्रं यथा 'समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! एगंत सो निज्जरा कज्जइ नत्थि से पावे कम्मे। 'समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! बहुयतरियासे निज्जरा, अप्पयरे से पावे कम्मे'। अनेन द्वितीयदण्डकेनात्र प्रकृतम्। अस्यार्थः श्रमणोपासकस्य श्रावकस्य श्रमणं यतिं ब्राह्मणं ब्रह्मचर्यादिगुणोपेतं वन्दित्वा नमंसित्वा सत्कारयित्वा सन्मानयित्वा वन्दनादिव्यतिरेकेण वा अप्रासुकेनानेषणीयेनाशनादिना चतुर्विधाहारेण प्रतिलम्भयतः लाभवन्तः कुर्व्वतः किं क्रियते, किं फलं भवति तस्य? उच्यते—चारित्रसाधककायोपष्टम्भात् प्रभूततरा निर्ज्जरा अशुभकर्म्मपुद्गलपरिशाटरूपा पापकर्मापेक्षया बह्वी सञ्जायते। निर्ज्जरापेक्षया जीवादिघातेन व्यवहारतस्तच्चारित्रबाधया च शुभाल्पायुःकर्मबन्धकत्वं च भवति। शुभमपि चायुरल्पमहिततया पापरूपमेवेह विवक्षितम्। अत्र च गुणवत्पात्र-

माश्रित्याकारणेऽपि भावप्रकर्षविशेषादप्रासुकानेषणीयादेरपीदं फलं न विरुध्यते, अचिंत्यत्वाच्चित्तपरिणतेरिति सम्भाव्यते, अत एतद् भगवतीवचनाद् ज्ञायते। सुपात्रमाश्रित्यानेषणीयदानमपि भक्तितरलितचित्तत्वेन ददतः कदाचिन्न तथाविधबहुदोषकारीति सुपात्रे तदपि कदाचिद् गृहिणः सम्भवतीत्यावेदितम्। तथा 'समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं असंजयअविरयअपडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा असण ४ पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? हंता गोयमा! एगंत सो पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से कावि णिज्जरा'। सुगमं चैतत्, नवरं असंयतः सप्तदशप्रकारसंयमाद् बहिर्भूतः। तथा विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतस्तन्निषेधादविरतः, तथा प्रतिहता निर्ग्रन्थभेदेन स्थितिह्रासात् प्रत्याख्यातानि हेत्वभावतः पुनर्वृद्धिनिरोधात् पापकर्म्माणि ज्ञानावरणादीनि येन स तथा तन्निषेधादप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्म्मा तम्। एवं चासंजयेत्यादिना निर्गुणः पात्रविशेष उक्तो। अनेन च तृतीयचतुर्थभङ्गावनेनैव दण्डकेन तुल्यफलत्वादुक्तौ। तृतीयभङ्गे सुदानस्यापि कुपात्राश्रितत्वादुभयाशुद्धभङ्गफलवद्यथोक्तफलत्वमेव। असंयमोपष्टम्भस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् पश्चात्प्रासुकादौ जीवघाताभावेन अप्रासुकादौ च जीवघातसद्भावेन विशेषः। सोऽत्र न विवक्षितः पापकर्म्मणो निर्जराया अभावस्यैव चेह विवक्षितत्वादित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥२२॥

इदानीं यथापृच्छेति सप्तमं द्वारं व्याचिख्यासुराह—

देसाणुचियं बहुदव्वमप्पकुलमायरो य तो पुच्छे। कस्स कए केण कयं लक्खिज्जइ बज्झलिंगेहिं ॥२३॥

व्याख्या—देशः सुराष्ट्रमालकप्रभृतिको मण्डलः। सोऽनुचितोऽयोग्यस्तस्मिन्, तस्याभावाद् यस्य देयवस्तुनस्तद्देशानुचितम् आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्निष्ठान्तस्य पूर्व्वनिपाताभावो, यद्वा देशस्यानुचितं तत्र तस्यासम्भवाद् अयोग्यं, देशानुचितमिति विग्रहः।

बहु प्रचुरं द्रव्यं शाल्योदनमण्डकसक्तुकुल्माषमुद्गादिकं, बहु च तद्द्रव्यं चेति विग्रहः । अल्पमेकद्विमानुषं कुलं गृहं ततोऽल्पं च
तत् कुलं चेति विग्रहः । आदरो दातुर्भक्तिकृतः सम्भ्रमः च समुच्चये । यदि स्यादिति शेषः । 'तो'त्ति ततस्तदनन्तरं तदा वा तस्मिन्
काले आधाकर्म्मशङ्कासम्भवात् पृच्छेत्, प्रश्नयेत् कथमित्याह–कस्य कृते कस्य पुरुषादेर्निमित्तम् । केन वा प्रयोजनेन कृतं विहि-
तमेतदितेर्गम्यमानत्वादित्येवंरूपतया किं निमित्तोऽयमारम्भ इत्यादि प्रश्नं कुर्यादिति यावत् । तत्र तु प्रचुरमपि द्रव्यं लभ्यते केवलं
तत्तत्र देशे प्रभूतमुत्पद्यते यथा–मालवके मण्डलादि अनादरवांश्च दाता तत् प्रयच्छति । तत्र स्वदेशोचिते प्रचुरेऽपि लभ्यमाने
द्रव्येऽनादरवति दातरि त्र्यादिमानुषे गृहे आधाकर्म्मशङ्काया अभावान्नापृच्छेदेवं वा, यत्र पदे शङ्का स्यात् तत्र प्रश्नं विधाय निःश-
ङ्कितं कृत्वा तद्ग्राह्यमित्यावेदितं भवति। कथं पुनः प्रश्नितेऽपि परेण कृतमाधाकर्म्म विज्ञायते परभावस्य दुर्ज्ञेयत्वादिति, आह–लक्ष्यते
विज्ञायते यदुत शुद्धमिदमिति । कैरित्याह बाह्यलिङ्गैरिति । तत्र बाह्यानि बहिर्भवानि सर्वजनप्रत्यक्षाणि लिङ्गानि चिह्नानि वचनवि-
न्यासपरस्परावलोकनसविलक्षहसनादीनि, तेषां निपुणान् प्रत्याऽऽन्तरपरभावप्रकाशकत्वे गमकत्वाल्लिङ्गत्वं ततो बाह्यानि च तानि
लिङ्गानि चेति विग्रहस्तैरित्ययमर्थः । ऋज्व्यो नार्यः कृताधाकर्मिकाः पृष्टाः सत्यः तव निमित्तमिदं विहितमिति वदन्ति । माया-
विन्यस्तु मुखेन गृहार्थं कृतमिदमिति जल्पन्ति, चेष्टया तु ज्ञातास्स्म इति सलज्जं परस्परं वीक्षन्ते किञ्चिद्वदन्ति च । तत आधाक-
र्मिकमेतदिति विज्ञाय न गृह्णन्ति साधवः । अथ कथाचित् प्रश्नानन्तरं गाढं दातारो रोषं कुर्यात् । यद्वा केयं मदीयाशनादिविषया
भवतां तप्तिरित्यवज्ञावचनं ब्रूयाः ततस्तद्भावमलीकसत्यकोपादिकं विज्ञायाशनादि ग्राह्यमिति । तदेवमनेन गाथाचतुर्थपादेन आधाक-
र्म्मिकपरिज्ञानोपाय उक्तः । एवमौद्देशिकादिष्वपि यत्र विशेषतः सूत्रकारो न भणति तत्र स्वयमसावभ्यूह्यो वयं च किञ्चिद्दर्शयि-

ष्यामः। किं च सर्वदोषविषयशुद्ध्यशुद्धिपरिज्ञानकारणमुपयुक्ततैव। ततः संयमविघातकारिषु शुभेष्वशुभेषु वा शब्दादिष्विन्द्रियपथं स्वंस्वमवतीर्णेषु रागद्वेषाकरणतः तेषु अदत्तमना भिक्षाचर्यायां प्रविष्टो मुनिः भिक्षाविषयैषणायामेव दत्तमना भवेत् मण्डितालंकृतवधूष्वदत्तावधानो नीरनीरणयोरेव कृतावधानो गोवत्सक इवेत्यत्राख्यानकं यथा।

'एगंमि नयरे एगो समिद्धो सेट्ठी आसि तेण पहाणमन्दिरं कारियम्। तस्स बहवे पुत्ता, बहुयाउ य बहुयाउ, कालेण सेट्ठिणीए पञ्चत्तमुवगयाए गिहतत्ति कारियाउ जायाउ, तेसिं तु एगा गावी पउरदुद्धा सवच्छा आसि। सा य दिवसे बाहिं चरणत्थं पट्ठविज्जइ। वच्छो उ गिहे धरिज्जइ। तस्स य सव्वा बहुयाउ नीरणं पाणियं च ढोइंति। अन्नया तग्गिहे नियपुत्तस्स विवाहो उवट्ठिओ तत्थ ताउ सविसेसं आहरियविभूसियाउ ताणं सपरेसि मण्डणवावडाणं वीसरिओ वच्छो न य तस्स एगाए नीरणं वा पाणियं वा ढोइयं। जाव मज्झन्ने सेट्ठी समागओ तं दट्ठुं वच्छओ रंजिउं लग्गो तेन नायं जहा अज्ज भुक्खिओ एस चिट्ठइ। बहुयाउ निब्भच्छियाउ ततो जेट्ठा बहू ससंभमंता नीरणपाणियं गहाय वच्छाभिमुहं चलिया। तओ वच्छो न तारिसं ताहिं समलंकियं भवणं (वयणं) जोएइ किंतु नीरणपाणियं एगाए दिट्ठीए झायमाणो अवलोयइ जाव लद्धंति'।

अत्रोपनयो यथासौ गोवत्सो निजाहारे मूर्च्छितो गृद्धश्च दत्तावधानो न पूर्वोक्तस्वरूपं गृहं नापि कृतशृङ्गारालङ्कारा वधूः पश्यति। किं तर्हि गोभक्तमेवावलोकयतीत्येवं साधुरपि चारित्रे मूर्च्छितो गृद्धश्चोपयुक्तो न विषयभिक्षादात्रीषु मूर्च्छां करोति। किं तर्हि चारित्रोपष्टम्भिकायां भिक्षायामेवोपयोगं ददातीत्येवं उपयुक्त आधाकर्मिकतां शेषैषणादोषांश्च श्रमणः श्रवणचक्षुःप्रभृतिकरणोपयोगवान् दात्र्याः साधवे भिक्षादानाय गमनागमनादिं कुर्वन्त्याः सत्कारश्रवणादिप्रकारेण जानातीत्येवं संशोध्य भिक्षा ग्राह्येति

गाथार्थः ॥२३॥

अधुना छलनाख्यमष्टमं द्वारं व्याचिख्यासुराह ।

थोवंति न पुट्ठं न कहियं व गूढेहिं नायरो व कओ। इय छलिओ न लग्गइ सुउवउत्तो असढभावो ॥२४॥

व्याख्या—स्तोकं स्वल्पं एतदशनादिकं दृश्यते दात्र्या दीयमानमित्येतत् सम्प्रधार्य उपलक्षणत्वाद् बह्वपि देशोचितमिति कारणाद्वा, न नैव पृष्टं कस्यार्थायेदमित्यादिपूर्वोक्तप्रकारेण प्रश्नितं दातुः पार्श्वादेवं वस्त्वति शेषः। तथा पृष्टैः किमर्थमिदं राद्धमित्यादिप्रश्नितैः सद्भिर्दातृभिर्न नैव कथितं वा प्रतिपादितं वा मायावित्वात्, यथा भवदर्थं कृतमिदमिति। तथा गूढैरलक्ष्याशुद्धाहारदानादिभावै र्दातृभिर्न नैव आदरोऽभ्युत्थानप्रसन्नवदनवन्दनादिप्रतिपत्तिरूपो, वा विकल्पे, कृतो विहितः। तत एवं यतमानस्यापि यतेः कदाचिदशुद्धाहारादेर्ग्रहणं स्यादिति। ननु तर्हि तद्ग्रहणे आधाकर्म्मजनितकर्म्मबन्धदोषवानसौ स्यादित्याह–'इय'त्ति किल पूर्वोक्तप्रकारेण सम्पृच्छ्य आहारग्रहणे छलनैव प्रायो न सम्भवति, परमित्येवं स्तोकाशनदानादिना प्रदर्शितप्रकारेण छलितोऽप्यशुद्धाशनादिग्रहणवानच्छलितोऽशुद्धाशनादिग्रहणजनितकर्म्मणा नाश्लिष्यत एवेत्यपि सूचयति। न नैव लगत्यशुद्धाशनादिग्रहणजनितकर्म्मणा आश्लिष्यते। हेतुद्वारेण विशेषणद्वयमाह–श्रुतोपयुक्तो, लुप्तसमुच्चयार्थचकारस्य दर्शनादशठभावश्चेति दृश्यं। तत्र श्रुते पिण्डैषणानिरूपक आगमे उपयुक्त आहारादिशुद्ध्यशुद्धिविषये दत्तावधानो यथा अमुकेन सूत्रेण शुद्धोऽयमाहारो लक्ष्यत इत्यादि स श्रुतोपयुक्तः। स हि श्रुतोक्तप्रकारेणाशुद्धमप्यशनादि शोधितं गृह्णन्नदोषवानेव श्रुतप्रमाण्यात्तथा अशुद्धमपि छद्मस्थपरीक्षया निःशङ्कीकृतं गृहीतं शुद्धमेव मत्वाऽऽनीय दत्तं, श्रुतं प्रमाणीकुर्व्वन् केवल्यप्युपभुङ्क्ते। 'अहो सुउवउत्तो सुयनाणी जइवि गिण्हइ असुद्धं तं

केवली वि भुंजइ अपमाणं सुयं भवे इयरा' ॥१॥ तथा आहारग्रहणं प्रति गार्द्ध्याभावादशठोऽमायावान् भावोऽध्यवसायविशेषो यस्य स अशठभावो मायारहितभावोपेतो, मायी ह्याहारादिगार्द्ध्यपरिणामसद्भावाद् बहिर्वृत्त्यैव गवेषयति न प्रयत्नेन अतोऽसावशुद्धमाददानः कर्मणा बध्यते। तदिह परिणामशुद्धिरेव प्रकर्मबन्धाभावे कर्मक्षये वा कारणं नापरं किञ्चिदिति गाथार्थः ॥२४॥

इदानीं लिङ्गिक्षपकज्ञातेन तस्याग्रहणेऽपि च परिणामविशेष एव शुद्ध्यशुद्धिकारणमित्यावेदयन् शुद्धिद्वारं नवमं व्याख्यातुमाह।

आहाकम्मपरिणओ वज्झइ लिंगिव्व सुद्धभोई वि। सुद्धं गवेसमाणो सुज्झइ खवगव्व कम्मे वि ॥२५॥

व्याख्या-आधाकर्म्मैतदित्येतस्मिन्नध्यवसाये परिणतः स्थितः साधुराधाकर्म्मपरिणतः, तत् किमित्याह-बध्यते आधाकर्म्मपरिभोगितया कर्म्मणाऽऽश्लिष्यते, क इवेत्याह-लिङ्गीव सङ्घभोज्यपरिकल्पिताशुद्धाहारभोजकसाधुरिवेति दृष्टान्तः शुद्धभोज्यप्युद्गमादिदोषरहिताहाराभ्यवहारकोऽप्युपलक्षणत्वात् प्रासुकभोजिग्रहे न केवलमेतद्, विपरीतभोजीत्यपेरर्थः। इह च प्रासुकैषणीययोर्द्वयोर्भोज्यत्वेऽपि क्वापि ग्लानादिप्रयोजने एषणीयाभावेऽनेषणीयमपि युज्यते न तु प्रासुकाभावेऽप्रासुकमपि। किं तर्हि, श्राविकादिना तदभावे स्वयं प्रासुकीकृतमेव भोक्तव्यमित्येवमागमव्यवस्था विज्ञेया। ततो युगपत् द्वयोरुपादानं दृश्यते। लिङ्गिदृष्टान्तोऽयं-

'यथा एगंमि नयरे एगो महाविभूतिकलिओ सावगो सेट्ठी होत्था, तेण य रहजत्तपइट्ठाइकम्मिमइपओयणे संघभोज्जं दवावियं। इओय पच्चासन्नगामवत्तिणा एगेण साहुणा सुयं, जहा तंमि नयरे अमुगो सावगो सेट्ठी संघभत्तं देइ। तओ सो तग्गहणत्थं सिग्घमागओ। तं सव्वमन्नेसिं दिन्नं। तेण सेट्ठी मग्गिओ। सेट्ठिणा भज्जा भणिया, तीए कहियं जहा सव्वं दिन्नं, सेट्ठिणा भणियं मम रसोईए मज्झाउ देहि तओ तीए सालिकूरपक्कान्नप्पभिइसव्वं दोससुद्धं पडिपुन्नं भोयणं दिन्नं। तेण य संघभत्तं ति काउं भुत्तं। सो

सुद्धं पि भुंजतो परिणामवसेणाहाकम्मदोसजणियकम्मणा बद्धोत्ति ।

तथा शुद्धमुद्गमादिदोषरहितमाहारं गवेषयन् मार्ग्गयन् साधुः शुद्ध्यत्याधाकर्म्मप्रतिषेधजनितकर्म्मबन्धापत्तिरूपदूषणरहितः स्यात् । क इवेति आह—क्षपक इव मासोपवासपारणकभोक्तृयतिरिवेति दृष्टान्तः । 'कम्मे वि' त्ति सूचनादाधाकर्म्मण्यपि पूर्वोक्ते भुक्ते इति शेषः । शुद्धोऽशनादौ शुद्ध एवेत्यर्थः । क्षपकदृष्टान्तो यथा—

'एगंमि नयरे गुणरयणनिहिणो सुसिस्सगणपरियरिया के वि सूरिणो विहरंता समागया, तेसिं मज्झे इहपरलोएनिप्पिवासो विन्नायसमयसब्भावो विगिट्ठतवोकम्मकारी सज्झायज्झाणनिरओ एगो खवगसाहू होत्था । अन्नया स खवगो मासपारणगस्स पज्जन्ते मा एत्थ कोइ पारणगं नाउं आहाकम्माइ करिस्सइ, ता पच्चासन्ने कंमि गामे गंतूण अनाओ चेव पारेमि त्ति चिन्तिऊण गओ पच्चासन्नगामं, तत्थय एगाए सावियाए खवगो खवणे उवविट्ठो पारणदिणं च सुयं । तओ तीए भत्तीए मा कयाइ खवगो इत्थ एहि त्ति चिंतिउं घयगुलसंजुत्ता खीरी निम्मविया आहाकम्मिय त्ति नाउं मा सो परिहरिस्सइ त्ति माइठाणं कयं । जहा पत्तलाउ सरावाणि य खीरीखरंटियाणि काउ ठाणाठाणेसु खित्ताणि । तहा डिंभाणि सिक्खवियाणि जहा जया एरिसो तारिसो साहू एत्था-गच्छइ तया तुब्भे भणिज्जह । अम्मो बहुया खीरी अम्हाणं परिवेसिया न रुच्चइ, अहं तुब्भे निब्भच्छिस्सामि, तुब्भे भणिज्जह किं दिणे दिणे खीरी रंधेज्जइ । एत्थंतरे सो खवओ हिंडंतो भवियव्वयावसेणं पढममेव तीसे गिहे संपत्तो, अंतो समुट्ठिय-महाभत्ती बाहिं अवन्नावंभी (दंसी) मोणेण ठिया ताणि य सिक्खावियडिंभाणि तहेव काउं पयट्टाणि । तीए व ताणि तहेव निब्भ-च्छिऊण थुडंकियमुहीए खवगो भणिओ । जहा एयाणि ताव मम डिंभाणि मत्ताणि, जइ तुज्झ रोयइ ता गिण्ह इमं खीरी त्ति

मणमाणीए खवगस्स जावणानिमित्तं घयगुलसंजुत्ताए खीरीए गरुयं भायणं भरेऊण आणियं। साहुणा य एसणोवउत्तेण सुद्धं ति कट्टु गहिया पजत्तं ति काउं नियत्तो गोयराओ। भोयणट्ठो रुक्खस्स कस्स वि हेट्ठा गओ तत्थ य आलोइय पडिक्कन्तो विहिय-तक्कालकरणिज्जसज्झायाइजोगो चिंतिउं पयत्तेयत्तो जहा एरिसं दव्वं उक्किट्ठं च सुद्धं मए लद्धं तो जइ कोइ साहू अद्धाणाइ पडिवन्नो होइ तो संविभागिय भुंजेमि, तेणाहं संसारसमुद्दाओ उत्तरेमि त्ति तस्स धम्मचिंता जाया न उण खीरस्सोवरि मुच्छा, जहा एयाए मम सरीरं लट्ठं मट्ठं बलिट्ठं भविस्सइ तओ पंचनमोक्कारपुव्वयं विहीए भुंजउ पयत्तो ताहे सुहज्झवसायस्स भुत्ते भोयणे केवलनाणं जायं। कालेण मोक्खगमणं ति।

इति परमार्थतोऽध्यवसायोऽत्र कारणं तेन गूढाचारादीनां सत्कमाधाकर्म्मापि शोधितं भुंजानः साधुरबन्धक एवेति गाथार्थः ॥

इदानीं द्वारगाथोपात्तचशब्दसूचितमाधाकर्म्मग्रहणं प्रतीत्याक्षेपपरिहारद्वारं व्याचिख्यासुराक्षेपं तावदाह—

नणु मुणिणा जं न कयं, न कारियं नाणुमोइयं तं से। गिहिणा कडमाययओ, तिगरणसुद्धस्स को दोसो ॥

व्याख्या—नन्वित्यक्षमायां मुनिना यतिना यदशनादि न कृतं न राद्धं स्वयं न नैव कारितं रंधितमन्येन न नैवानुमोदितं परेण क्रियमाणं कृतं वा श्लाघितं ततश्च तदशनादि से तस्य साधोर्गृहिणा गृहस्थेन कृतं साध्वाद्यर्थमविहितमाददानस्य गृह्णतः त्रीणि करणानि मनोवाक्कायलक्षणयोगत्रयरूपाणि शुद्धानि करणकारणानुमतिप्रवृत्त्यभावेन पाकादिक्रियाजनितकर्म्मबन्धलक्षणरहितत्वान्निर्मलानि यस्य स तथा। यद्वा त्रिभिः करणैर्मनःप्रभृतिभिः शुद्धो निर्दोषस्तस्येति। अत्र पाकादिक्रियायां यतिसत्कमनःप्रभृतीनामव्यापृतत्वात्तज्जनितकर्म्मबन्धाभावेनास्य शुद्धता ज्ञेया। कः कीदृशो दोषः पाकादिक्रियाजनितकर्म्मबन्धरूपो न कश्चिदित्यर्थः। अ-

यमत्र भावार्थो—यत्कर्म येन कृतं तत्तेनैव भोक्तव्यं, नान्येन कृतमन्येनेति वस्तुस्थितिरत आहारपाकादिजनितं पाचकादिसत्कं ज्ञानावरणादिकर्म्म पाचकस्यैव लगति नासौ तद्ग्राह्यपि परकर्मणा श्लिष्यते। अथान्यकृतेऽपि व्यापारे बन्धोऽन्यस्य स्यात् यथाहि—व्याधेनापि कूटे स्थापिते मृगस्यैव बन्धो न व्याधस्य इह व्याधकृता बन्धक्रिया मृगे संक्रान्ता, एवं गृहस्थेनापि यत्यर्थं कृते पाके पाकादिक्रियाजनितकर्म्मबन्धस्तद्ग्राहकादेः स्यान्न तस्य गृहस्थस्येति चेत्, तदसत् यतो नान्यकृते व्यापारेऽन्यो बध्यते किन्तु स्वयं कृतया चलनक्रियया, कूटे मृगस्यापि बन्धो जातः। तथाहि—असौ कूटपातविषयमनपहरन् कूटे रज्वादिना बध्यते तथा कथमपि कूट-पातविषयमागतोपि बन्धं पतन्तं दृष्ट्वा झटिति तद्विषयान्निःसर्तुमशक्नुवंश्चेति स्वव्यापारेणैव तस्य बन्ध इति। एवं यतिरप्यशुद्धा-हारदानरूपे पाचककृते यन्त्रविशेषे कर्म्मणा बध्यते। यद्वाधाकर्म्म गृह्णतोऽशुभाध्यवसायवांस्तद्गृह्णीयात्तदिहाशुभभाव एव परि-हर्तव्यो। यत्त्व गृहिणा कृतं तदकृतं न स्यात् ततश्च तद्ग्रहणेऽपि साधोर्न दोष इति पराशय इति गाथार्थः ॥२६॥

गुरुः परिहारमाह।

सच्चं तहवि मुणंतो गिण्हंतो वद्धए पसंगं से। निद्धंधसो य गिद्धो, न मुयइ सजियं पि सो पच्छा ॥२७॥

व्याख्या—सत्यमवितथमेवमेतत् स्वयमकृतादिस्वरूपं तत् तथापीति परेणाभ्युपगतार्थस्य दूषणद्योतकं, 'मुणंतो'त्ति साध्वर्थमि-दमिति जानन्, अजानतो ग्रहणेऽपि न तथाविधो दोष इत्यनेनाचष्टे, 'गिण्हंतो' त्ति गृह्णनाऽऽधाकर्म्मिकमाददानः वर्द्धयति प्रतिक्षणं वृद्धिं नयति, प्रसङ्गः प्रवृत्तिस्तं कारणग्रहणयोरिति प्रस्तावाद् दृश्यन्ते। कस्येत्याह स इति प्रक्रमात् स्वपरस्य गृहस्थस्य आत्मनश्च,स्वस्य तत्राधाकर्मकारणप्रसङ्गं, परस्य ग्रहणप्रसङ्गं च वर्द्धयति। तथाहि यदेकां वारां गृहस्थ्या दत्तं तत् स गृह्णाति ततः सा वान्या च तद-

यमत्र भावार्थो–यत्कर्म येन कृतं तत्तेनैव भोक्तव्यं, नान्येन कृतमन्येनेति वस्तुस्थितिरत आहारपाकादिजनितं पाचकादिसत्कं ज्ञानावरणादिकर्म्म पाचकस्यैव लगति नासौ तद्ग्राह्यपि परकर्मणा श्लिष्यते। अथान्यकृतेऽपि व्यापारे बन्धोऽन्यस्य स्यात् यथाहि– व्याधेनापि कूटे स्थापिते मृगस्यैव बन्धो न व्याधस्य इह व्याधकृता बन्धक्रिया मृगे संक्रान्ता, एवं गृहस्थेनापि यत्यर्थं कृते पाके पाकादिक्रियाजनितकर्म्मबन्धस्तद्ग्राहकादेः स्यान्न तस्य गृहस्थस्येति चेत्, तदसत् यतो नान्यकृते व्यापारेऽन्यो बध्यते किन्तु स्वयं कृतया चलनक्रियया, कूटे मृगस्यापि बन्धो जातः। तथाहि–असौ कूटपातविषयमनपहरन् कूटे रज्ज्वादिना बध्यते तथा कथमपि कूट-पातविषयमागतोपि बन्धं पतन्तं दृष्ट्वा झटिति तद्विषयान्निःसर्तुमशक्नुवंश्चेति स्वव्यापारेणैव तस्य बन्ध इति। एवं यतिरप्यशुद्धा-हारदानरूपे पाचककृते यन्त्रविशेषे कर्म्मणा बध्यते। यद्वाधाकर्म्म गृह्णतोऽशुभाध्यवसायवांस्तद्गृह्णीयात्तदिहाशुभभाव एव परि-हर्तव्यो। यच्च गृहिणा कृतं तदकृतं न स्यात् ततश्च तद्ग्रहणेऽपि साधोर्न दोष इति पराशय इति गाथार्थः ॥२६॥

गुरुः परिहारमाह।

सच्चं तहवि मुणंतो गिण्हंतो वड्ढए पसंगं से। निद्धंधसो य गिद्धो, न मुयइ सजियं पि सो पच्छा ॥२७॥

व्याख्या—सत्यमवितथमेवमेतत स्वयमकृतादिस्वरूपं तत् तथापीति परेणाभ्युपगतार्थस्य दूषणद्योतकं, 'मुणंतो'त्ति साध्वर्थमि-दमिति जानन्, अजानतो ग्रहणेऽपि न तथाविधो दोष इत्यनेनाचष्टे, 'गिण्हंतो' त्ति गृह्णनाऽऽधाकर्म्मिकमाददानः वर्द्धयति प्रतिक्षणं वृद्धिं नयति, प्रसङ्गः प्रवृत्तिस्तं कारणग्रहणयोरिति प्रस्तावाद् दृश्यन्ते। कस्येत्याह स इति प्रक्रमात् स्वपरस्य गृहस्थस्य आत्मनश्च,स्वस्य तत्राधाकर्मकारणप्रसङ्गं, परस्य ग्रहणप्रसङ्गं च वर्द्धयति। तथाहि यदैकां वारां गृहस्थ्या दत्तं तत् स गृह्णाति ततः सा धान्या च तद-

र्थमन्यसाध्वर्थं च पुनः पुनस्तत्करोति तथैकां वारां तद्ग्रहणप्रवृत्तस्सन् भिन्नदंष्ट्रत्वादिना सोऽपि तदाचरितं प्रमाणीकुर्व्वन्तोऽपरेऽपि साधवः पुनः पुनस्तद्गृह्णन्ति ततश्च निर्द्धंधसो निर्द्धर्म्मा चकाराद् भिन्नदंष्ट्राश्च ते दृश्याः । तत्र भिन्नाः तद्रसेन व्याप्ता दंष्ट्रा दन्तविशेषा यस्य स तथा लब्धतदास्वाद इति हृदयं । गृद्धः शोभनतयाधाकर्म्माभिलाषातिरेकवान् न मुञ्चति न त्यजति सजीवमपि सचेतनमपि बीजपूरादि न केवलमचेतनमित्यपेरर्थः स आधाकर्मिकग्राही यतिः, पश्चादात्मनस्तत् प्रसङ्गवृद्ध्यनन्तरमिति । यदा च तन्न गृह्णाति तदा स एव कारणग्रहणप्रसङ्गं निवारयति परं पूर्वोक्तैव व्यत्ययेन तत्प्रसङ्गनिषेधभावना कार्या निःशूकता चैव परिहृता भवतीति सामर्थ्यादुक्तं भवतीति गाथार्थः ॥२७॥

व्याख्याता 'तं पुण जं जस्स जहे'त्यादिद्वारगाथा, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्यातं सप्रपञ्चमाहाकम्मुदेसिएत्यादिगाथोपात्तमाधाकर्मिकद्वारम्, इदानीं तद्गाथोल्लिखितमेवौद्देशिकद्वारं व्याचिख्यासुस्तद्भेदनिरूपणं तन्मध्यादेकस्य स्वरूपं चाह ।

उद्देसियमोहविभागओ य, ओहे सए जमारंभे । भिक्खाउ कइवि कप्पइ, जो एही तस्स दाणट्ठा ॥२८॥

व्याख्या—औद्देशिकमुक्तशब्दार्थं द्विधा भवति इति शेषः । कथमित्याह–ओघविभागतस्तत्रौघ उद्देशादिभेदानामविवक्षया सामान्यं । तथा विभजनं विभागः, तेषामेव विवक्षया विशेषस्तत ओघश्च विभागश्चेति विग्रहे तौ तथा, ताभ्यां । ततः चः समुच्चये ओघौद्देशिकं विभागौद्देशिकं चेत्यर्थः । तत्रौघे ओघौद्देशिकं तत् स्यादिति शेषः । अयं किमित्याह–'सए जमारंभे'त्यादि स्वके आत्मविषये आत्मार्थमिति यावत् आरम्भे व्यापारे कृते सति यदशनादि निष्पन्नं तन्मध्यात् भिक्षा भक्तादिविभागात् कत्यपि कियतीरपि, अपिः परिपूर्णभोजनदानस्य सम्पूर्णभिक्षाणां च दानशक्त्यभावं सूचयति, कल्पयति सम्प्रधारयति कश्चिद् गृहीति गम्यते । किम-

र्थमित्याह—यः कश्चित् पाखण्डिकः शाक्यादिगृहस्था वा एष्यति गमिष्यति तस्य पाखण्डिकादेर्दानार्थं वितरणनिमित्तं गृहयोग्य-
राद्धमध्याद्दानार्थं भिक्षां व्यवस्थापयतीति तत्त्वमिति स्वरूपमस्येति। कथं पुनरस्य सम्भव इति चेदुच्यते। इहानुभूतदुर्भिक्षवुभुक्ष आसा-
दितसुभिक्षः कश्चिद् गृहस्थो गृहस्थी वा चिन्तयति यथा जीविता वयं कथमपि महाकष्टेन दुर्भिक्षे अतः किञ्चित् सञ्जातवृत्तिकस्य
प्रतिदिनमर्थिजनसम्पूर्णभोजनदानशक्त्यभावे मम भिक्षा अपि तावत् कियत्यो दातुं युक्ता यतो नादत्तमिह जन्मन्यपरत्र स्वर्गाद्यवा-
प्त्यादिसु भुज्यते दत्तस्यैव भोगात्। नाप्यकृतं पुण्यं स्वर्गगमनाद्यवाप्तये भवति कृतस्यैव फलदानसमर्थत्वादिति। पुण्योपार्जनाभिप्रा-
यवान् यदा गृही गृहयोग्यराद्धमध्यादेव तावतीर्भिक्षा अर्थिभ्यो दास्यामीति सामान्यसङ्कल्पेन कल्पयति तदा तत्तथाभूतं भक्तमोघौ-
द्देशिकं स्यादितीत्थमिदं भवतीति[1]। कथं पुनरिदमपरचेतोवृत्तिकल्पितं छद्मस्थेन ज्ञायते? उच्यते उपयुक्तो गृहस्थभाषितादिविचेष्टितेन
जानाति। तथाहि—क्वचिद् गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुः स्वामिना भार्याया भिक्षा दापितायाः सत्या अन्यभिक्षाचरेभ्यस्ताः प्रतिदिनदेय-
तया सङ्कल्पिता भिक्षा दत्ताः पञ्चापीति प्रत्युत्तरश्रवणतो जानाति, पञ्चभिक्षा दत्वा गृहिणा भोक्तव्यमिति लोकरूढ्या पञ्चेति सङ्ख्या-
नमुच्यते, भित्यादिषु दत्तभिक्षापरिगणना खटिकादिना रेखाकरणतो वा दत्तसंख्याविस्मृतिरक्षणार्थं, प्रथमेयं भिक्षेत्यादिना रेखा-
करणतो वा दत्तसंख्याविस्मृतिरक्षणार्थं प्रथमेयं भिक्षेत्यादिना मुखेन परिगणनश्रवणाद्वा। उद्दिष्टदत्तिसत्कपिटकादेर्मध्याद् भिक्षां
प्रयच्छ, मा उद्देशरहिताद् भाजनादेरित्येवं कस्यापि संमुखं भणनसंशब्दनाद्वा। एतस्याः स्थाल्या मध्यादर्थिभ्यो दानायैतावतीर्भिक्षाः

१ नादत्तमिह किमपि लभ्यते ततः कतिपया भिक्षा दद्म इति वुद्ध्या कतिपयाधिकृतण्डुलादिप्रक्षेपेण यन्निर्वृत्तमशनादि तदोघौ-
द्देशिकमिति पिण्डनिर्युक्तौ

पृथक्कुरु इति वचनाकर्णनाद्वा इत्येवं कायिकवाचिकचेष्टाविशेषैरौद्देशिकं जानाति ज्ञात्वा चैषणायामुपयुक्तो निःसन्देहोऽनापृच्छय सन्देशिकमेतदिति परिहरति। इदं तु सङ्कल्पितदत्तिपूद्धृतासु दत्तासु वा, शेषं कल्पते शुद्धत्वात्। पात्रकं तु तत्परित्यागेऽकृतत्रिकल्पमपि शेषग्रहणाय शुद्ध्यतीति गाथार्थः ॥२८॥

उक्तमोघौद्देशिकं, विभागौद्देशिकं विभणिषुस्तावत्तस्य भेदानाह।

बारसविहं विभागे चउहुद्दिठं १ कडं च २ कम्मं च ३। उद्देससमुद्देसा-देससमाएसा ४ भेएण ॥२९॥

व्याख्या—द्वादशविधं-द्वादशभेदं 'विभागे'त्ति विभागौद्देशिकं भवतीति शेषः। यथा चतुर्द्धा चतुष्प्रकारं ज्ञेयं। किं तदित्याह-'उद्दिट्ठं'ति तत्रोद्देशनमुद्दिष्टं, स्वार्थं निष्पन्नस्याशनादेर्द्रव्यभेदादिना भिक्षाचराणां दानाय कल्पनं [मत्वर्थीयेऽति] उद्दिष्टं भक्ताद्युच्यते। 'कडं चे' ति कूरादिकं सत् करंबकादिलक्षणपर्यायान्तरेण क्रिया तस्येति कृतं चः चतुर्द्धेत्यस्यात्राप्यनुकर्षणार्थः। 'कम्मं चे'ति स्वार्थनिष्पन्नं लड्डुकचूर्णादिकं सद्गुडपाकादिना क्रिया लड्डुकादिना क्रियते स्मेति कर्म्म चः पूर्व्ववत्। इह त्वौद्देशिकस्य साध्यत्वादुद्दिष्टौद्देशिकं, कृतौद्देशिकं, कर्म्मौद्देशिकं चेति ज्ञेयम्। कथं पुनरुद्दिष्टादीनां चतुर्द्धात्वमित्याह—'उद्देसे'त्यादि उद्देशं च समुद्देशं च आदेशं च समादेशं च तानि तथा। एतल्लक्षणो वक्ष्यमाणो भेदो विभागो भेदप्रभेदादिकथनमिति यावद् उद्देशादिभेदास्तानिति। इह विभागौद्देशिकमुद्दिष्टकृतकर्म्मस्वरूपमूलभेदात् त्रिविधं। पुनः प्रत्येकमुद्देशसमुद्देशादेशसमादेशलक्षणोत्तरभेदाच्चतुर्विधमित्येवं विभागौद्देशिके सर्व्वे द्वादशभेदा इति गाथार्थः ॥२९॥

उद्देशादिभेदचतुष्कस्य स्वरूपनिरूपणायाह—

उद्देशादि-भेदचतुष्कस्य स्वरूप-निरूपणम्

जावतियमुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं। समणाणं आएसं, निग्गंथाणं समाएसं ॥३०॥

व्याख्या—'जावतिय' त्ति सूचनाद्यावदर्थिकानां समस्तार्थिनामर्थाय कल्पितमशनादीति सर्वत्र प्रक्रमः उद्देशमुद्देशिकाख्यं। तथा पाखण्डिकानां चरकादीनां भवेत् स्यादिति सर्वत्र योगः समुद्देशं समुद्देशसंज्ञं एवं श्रमणानां निर्ग्रन्थानां आदेशमादेशिक-नामानम्। तथा निर्ग्रन्थानां श्वेताम्बराणां समादेशमिति गाथार्थः ॥३०॥ (१०००)

अधुनोद्दिष्टकृतकर्मसु त्रिष्वप्युद्देशशब्दस्य सामान्यस्य प्रवृत्तेरुद्दिष्टोद्देशकृतोद्देशकर्मोद्देशाख्यानां विभागौद्देशिकमूलभेदानां त्रयाणां संक्षेपतः स्वरूपनिरूपणायाह।

संखडि भुत्तुव्वरियं, चउण्हमुद्दिसइ जं तमुद्दिट्ठं। वंजणमीसाइ कडं, तमग्गितवियाइ पुण कम्मं ॥३१॥

व्याख्या—'संखडि' त्ति विभक्तिलोपात् सङ्खड्यां, विवाहादिप्रकरणे भुक्ते स्वजनादिभिरभ्यवहृते उद्धरितं शेषीभूतं भुक्तो-द्धरितं यदोदनतीमनदधिलड्डूकचूर्णादिकं भक्तं प्रचूरं दृष्ट्वा भर्तादिर्भार्यादेः संमुखमुद्दिशति–वक्ति यथा धर्माय देहीदं तद-वस्थमेव चतुर्णां यावदर्थिकपाखण्डिकश्रमणनिर्ग्रन्थानां मध्यादन्यतरस्मै इति तद्भक्तादि उद्दिष्टमिति उद्दिष्टोद्देशकं भण्यते। प्रायः सङ्खड्यामेव भुक्तोद्धरितं बहु स्यादिति संखडीग्रहणं। स्तोकमुद्धरितमपि प्रायो गृहेऽप्युपयोगं यातीति प्रचूरविशेषणं तदपि द्रष्टव्यं सामर्थ्यात्। एवं च वदता सूत्रकृता विभागौद्देशिकस्य सम्भवः प्रदर्शितो भवति। तथा 'वंजणमीसाइ कडं'ति इहापि 'संखडिभुत्तुव्वरियं चउण्हमुद्दिसइ जमि'त्यनुवर्त्तते। ततश्च व्यज्यते भ्रक्ष्यते कूरादिकमेभिरिति व्यञ्जनानि गोरसतक्रतीमनादीनि

॥२५॥

वैमिश्रितं करम्बितं यत्सङ्खडीभुक्तोद्धरितं कूरादि तद्व्यञ्जनमिश्रं करम्बीकृतमित्यर्थः। तदादिर्यस्य, निर्भञ्जनादिना पिण्डीकृत-तैर्मिश्रितं करम्बितं यत्सङ्खडीभुक्तोद्धरितं कूरादि तद्व्यञ्जनमिश्रं करम्बीकृतमित्यर्थः। करंबकादिलक्षणपर्यायान्तरापन्नं कृत्वा इत्यर्थः। यदोदनादि संख-लड्डुकचूर्ण्यादेः पर्यायान्तरस्य, तद्व्यञ्जनमिश्रादिकमित्यर्थः। करंबकादिलक्षणपर्यायान्तरापन्नं कृत्वा इत्यर्थः। 'कडं'ति उद्देशिकस्य प्रस्तुतत्वात् कृतं करं-डीभुक्तोद्धरितं चतुर्णामन्यतरस्मै दानायोद्दिशति गृही यथेदममुकेभ्यो दातव्यमिति। 'कडं'ति उद्देशिकस्य प्रस्तुतत्वात् कृतं करं-चकादिपर्यायान्तरेण विहितमुद्देशिकं कृतोद्देशिकं तदोदनादि भण्यते। इह व्यञ्जनकूरोऽन्यो वा कश्चिद्यथासम्भवं यावदर्थिका-दीनामन्यतरस्मै दानाय कल्पितो ज्ञेय इत्युद्देशिकता। तथा 'तमग्गितवियाइ पुण कम्मं' ति तत्सङ्खडीभुक्तोद्धरितं लड्डुकचूर्णिमु-द्रादिकं अग्निना–वह्निना तापितमुष्णीकृतमग्नितापितं गुडादीति गम्यते। तदादिर्यस्य तदग्नितापितादि आदिग्रहणात् सचित्तज-लहिंगुलवणराजिकासन्मिश्रदध्यादिग्रहो विभक्तिलोपात्तेनाग्नितापितादिना गुडादिद्रव्येण किमित्याह–'पुण'त्ति पुनः प्रथमस्वाभावि-ककरणापेक्षया भूयोऽपि लड्डुकादिपर्यायान्तरापादितं कृत्वा यदा चतुर्णामन्यतरस्मै दानायोद्दिशति तदा तन्मोदकचूर्ण्यादिकं तथा-विहितं 'कम्मं' ति कर्म्मोद्देशिकं भण्यते। यद्वेत्थं व्याख्यायते–अग्नितापितादिगुडादिद्रव्ययोगाद्भूयो मोदकादिपर्यायान्तरापादितं तत्संखडीभुक्तोद्धरितं मोदकचूर्ण्याद्यग्नितापिताद्युच्यते। तत् पुनः पुनः शब्दो व्यतिरेकार्थः तथाभूतं चतुर्णां दानायोद्दिष्टं, 'कम्मं' ति कर्म्मोद्देशिकं भण्यते। तथाहि–'अचित्तमेव पच्चइ आहाकम्मं तयं भणियमि'त्येतल्लक्षणेनाधाकर्म्मणा, देशतो युक्तं कर्म गुडपाकादि मोदकचूर्ण्यादिकं वा किञ्चिद्यथासम्भवं यावदर्थिकादीनां चतुर्णामन्यतरस्मै दानाय कल्पितमित्यौद्देशिकमिति। कथं पुनरनयोः कृतकर्म्मोद्देशिकयोः सम्भवः? उच्यते यथा कश्चिद् गृहस्थः सङ्खड्यां निवृत्तायां दध्यादिसत्कस्थाल्यादिभाजनस्य ग्रहणाय, मा वा केवलः कूरो विगन्धितां ग्रहीष्यति, द्वयोरपि वा दध्यादिकूरयोरेकेनैव गमनागमनादिना दानाय निष्पत्स्यमानत्वान्निष्कृष्टमेव दानं

कूरादिकमुद्वरितं स्वार्थनि- ष्पन्नं संमिश्रं कृत्वा निर्भञ्जनादिना सह लड्डूकचूर्ण्यादि वा पिण्डकतया बध्वा चतुर्णामन्यतरस्मै दानाय कल्पति तदा कृतोद्देशि- ष्पन्नं संमिश्रं कृत्वा निर्भञ्जनादिना सह लड्डूकचूर्ण्यादि वा पिण्डकतया वध्वा चतुर्णामन्यतरस्मै दानाय कल्पति तदा कृतोद्देशि-

स्यादेवं वा कृतमिष्टं स्यात्तेन च दत्तेन महापुण्यं भवतीत्येवं कारणैर्यदा स्थाल्यादिस्थगोरसतीमनतक्रादिभिः कूरादिकमुद्वरितं स्वार्थनि-
स्यादेवं वा कृतमिष्टं स्यात्तेन च दत्तेन महापुण्यं भवतीत्येवं कारणैर्यदा स्थाल्यादिस्थगोरसतीमनतक्रादिभिः

ष्पन्नं संमिश्रं कृत्वा निर्भञ्जनादिना सह लड्डूकचूर्ण्यादि वा पिण्डकतया वध्वा चतुर्णामन्यतरस्मै दानाय कल्पति तदा कृतोद्देशि-
कस्य सम्भवो यदा च गुडपाकादियुतभाजनरिक्तीकरणादिकारणैरेव सङ्ख्यां निवृत्तायां भूयोऽपि लड्डूकचूर्ण्यादिकमग्नितापितगु-
डादिना मोदकादिरूपपर्यायान्तरेण कृत्वा प्रकरणोपयुक्तावशेषान् मुद्गादीन् वा पुनः संस्कृत्य, सचित्तजललवणप्रभृतिद्रव्यसम्मि
श्रदध्यादिना कूरं करंबकतया वा कृत्वा चतुर्णामन्यतरस्मै दानाय सङ्कल्पयति, तदा कर्म्मौद्देशिकस्य सम्भवः । अत्र चोद्दिष्टोद्देशि-
कादित्रये कल्प्याकल्प्यविधिरुच्यते । तत्र यावदर्थिकादीनां दातव्यमित्येवं दातुरविशिष्टे निर्देशे यतीनामपि मध्ये ग्रहणादुद्दिष्टोद्दे-
शिकाख्यं प्रकरणोपयुक्तावशेषं यथास्थितमेव कूरादि दानायोद्दिष्टं गृहाद्बहिर्व्यवस्थाप्य दीयमानं यतीनामकल्प्यं स्वोचितारम्भाद्
विभिन्नीकृत्य देयस्य दातुमभिप्रेतत्वात्तत्र च यत्यर्थमपि कीटकादिसत्वव्याघातसम्भवात् न तु स्थापनादोषात्तस्य भिन्नदोषत्वात् ।
अन्ये त्वाहुरुद्देशो(द्दिष्टो)द्देशदोपनिवर्त्तनात् स्थापनैव तेषां मतेन साध्वयाच्ञायामपि सा स्यादितीष्यते । एवं चोद्देशो(द्दिष्टो)द्देशिकस्य
स्थापनायाश्चायं भेदो यथेदं साधुनाऽयाचिते, स्थापना तु याचिते स्यात् । तथा सर्व्वस्मिन्नत्र यावदर्थिकादीनां चतुर्णामप्यर्थाय स-
ङ्कल्पः स्यात् स्थापनायां तु निर्ग्रन्थार्थमेव सङ्कल्पयति । नवरमुद्देशो(द्दिष्टो)द्देशिकमिदं दातुर्दानभावे निवृत्ते कल्पते आत्मार्थत्वात् ।
यदा च गृहस्थानां चरकादीनां वा निर्ग्रन्थरहितानां दातव्यमिति विशिष्टनिर्देशं कुरुते तदा साधूनामसङ्कल्पितत्वात्तेषां कल्पत एव ।
तथा कृतकर्म्मौद्देशिकयोरकल्पता मूलत एव हस्तधावनाद्यारम्भादिदोषात्, नवरं चतुर्विधकृतौद्देशिकयावदर्थिकाख्यकर्म्मौद्देशिकाद्यभे-
दविषयमशनादि यद्वा(त्स्था)पितं यावदर्थिकादीनामन्यतरस्मै तदपीदं मा दास्यसि, तथा गृहादेरन्तर्बहिर्वा स्थितं मा दास्यसि, तथा

सति यदि गृही भार्यादेः सम्मुखं वक्ति तदा तत्करंबकादि कल्पते, दान-
यत् प्रहरद्वयान्तं कालं यावद्दातुमिष्यं तदर्वागपि मा दास्यसीति यदि गृही भार्यादेः सम्मुखं वक्ति तदा तत्करंबकादि कल्पते, दान-
परिणामापगमे स्वगृह एवैतदुपकरिष्यतीति दात्र्याऽऽत्मार्थित्वात्। कर्म्मौद्देशिकान्त्यभेदत्रयं दानपरिणामापगमादात्मार्थीकृतमप्यकल्प्यं
साधूनामविशुद्धिकोटिकृत्वात्। तथा भिक्षार्थं प्रविष्टं साधुं दृष्ट्वा यदा गृहस्थी भणति यथा अग्रेतनेषु विहृत्य व्यावर्त्तमानेन त्वया
मद्गेहे आगन्तव्यं येन भवदर्थं वक्कुलादे(वल्लकादे)रस्य संधूप(प)नं कृत्वेदं तुभ्यं प्रयच्छामीति, तदा यदि तद्यथाभणितं दात्र्या,
तथाकृत्या ददाति तदा तदकल्पं कर्मौद्देशिकत्वात्। यदि च तथाकृत्वा दातुमभिलषितं दात्र्या, तथैवाकृतमेव ददाति तदा कल्पं
साध्वर्थं क्रियाविशेषस्याकरणात् सङ्कल्पमात्रस्य च क्रियाशून्यस्यादुष्टत्वात्, यदुक्तं—'न खलु परिणाममेत्तं पयाणकाले असक्किया-
रहियम्। गिहिणयं(यंत) तु जयं दूसइ आणाए पडिबद्धम्' ॥१॥ इत्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥३१॥

उक्तमौद्देशिकद्वारं, साम्प्रतं पूतिकर्म्मद्वारं व्याचिख्यासुस्तस्याः स्वरूपं भेदप्ररूपणं च वक्तुमाह—

सुद्धं पि होइ पूई, तं सुहुमं बायरं ति दुहा ॥३२॥

उग्गमकोडिकणेण वि असुइलवेणं व जुत्तमसणाई।

विवक्षितदोषवृन्दस्य

व्याख्या—उद्गमः—उत्पत्तिः। 'कुट् कौटिल्ये' इत्यस्यानेकार्थत्वात् कुट्यते छिद्यते इति कोटिराहारादिविषयविवक्षितदोषवृन्दस्य
विवक्षितोंऽशः। सा च वक्ष्यमाणविशुद्धिकोट्यविशोधिकोटिभेदाद् द्विधा। तदत्राविशुद्धिकोटिर्ग्राह्येत्युद्गमविषया कोटिरविशुद्धिको-
टिलक्षणा वक्ष्यमाणोद्गमकोटिस्तस्या उद्गमकोटेरुपचारादुद्गमकोटिदोषयुक्ताहारस्य कणेनापि सूक्ष्मलेशेनापि आस्तां प्राचुर्येणेत्यपे-
र्थः। 'असुइलवेणं व' त्ति वा शब्दस्येवार्थत्वादशुचिलवेनेव विष्टालेशेन यथा। अशुचिश्च कुथितद्रव्यस्यान्यस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्या।
युक्तं मिश्रितं मिलितं, अशनादि अशनपानाद्याहारचतुष्टयविषयं द्रव्यम्। तत्किमित्याह—पूर्वावस्थायां शुद्धमप्युद्गमादिदोषरहितमपि

सत्, आस्तामशुद्धमित्यपेरर्थो, भवति जायते, पूत्यपवित्रम्। अयमर्थो यथा सौरभ्यादिगुणैर्विशिष्टमपि शाल्यादिभोजनद्रव्यं क्वचित्तद्घ्राण्यशुच्यादिद्रव्यलवेनापि युक्तमपवित्रं स्याच्छिष्टजनपरिहार्यं च तथा निरतिचारचारिणो यतेर्निरतिचारचारित्रस्य सातिचारतयाऽपवित्रत्वकरणेनोद्गमादिदोषलेशेनापि संयुक्तः शुद्धोप्याहार उपभुज्यमानो भावपूतेः कारणत्वात् सोऽपि पूतिरित्युच्यते। ततः पूतिकरणात् पूतिकर्मेत्यभिधीयते। अत्र च विशिष्टमपि भोजनमशुच्यादिकुथितद्रव्ययोगाद्यथापूतिभावमापन्नं शिष्टजनपरिहार्यं च जातं तथाऽऽख्यानकेनोच्यते।

'एगंमि नयरे पत्तपुप्फफलोववेयदुमनियररमणिज्जे बाहिरुज्जाणे सभाकलियदेउलियाए एगो जक्खो अहेसि। अन्नया तन्नयरनिवासिएहिं कइवयजणेहिं विप्फाडगरूवे असिवे उट्ठियए तस्स उवाइयं इच्छियम्। जहा इमाउ असिवाउ अम्ह सकुडुंबा वुडि(छुट्टि) ज्जामो(तहा) एगं वरिसं जाव अट्ठमिसु व चउद्दसिसु उज्जाणिआउ तुह भुवणे करिस्सामो। तहेव वुड्डा (छुट्टा) तहिं तहेव पुजाकारओ भाडगदाणेण भणिओ जहा एगं वरिसं जाव अट्ठमिचउद्दसिसु पभाए चेव तुमं जक्खसभं छगणेण सारवेज्जह जेणम्हे तीए अवोट्टाए आगन्तुं उज्जाणि(आउ) करेमो सो तहेव करेइ। जाव एगाए अट्ठमीए भोयणवेलाए उज्जाणिया भविस्सन्ति। सभाए उवलिप्पणत्थं अणुग्गए सूरे एगस्स वणियस्स गोवाडए छगणनिमित्तं पविट्ठो। इओ तस्स कम्मकरो पउरं तीए चेव राइए मंडगवल्लसुरं भोत्तुं बाहिं सुत्तो। अजिन्नं जायं। पच्छिमराईए तेण तंमि गोवाडए अजिन्नं दुग्गंधपुरीसं वोसिरियम्। तस्स उवरिं एगाए महिसीए पोहो मुक्को। तेण तं पुरीसं ढक्कियं, तेण पुरीसं न लक्खियम्। तं पोहं सपुरीसं गाहेऊण सभा सारविया। गोठिया (गोट्ठिला य) णाणाविहभोयणं आणिऊण भोयणत्थं या(जा)व तत्थ उवविट्ठा, ताव तेसिं अतीव दुग्गंधो आगओ धम्मिओ पुट्ठो। जहा कओ असुइगंधो

आगच्छइ तेण भणियं न याणामि। तओ तेहिं लिंपणमज्झे मंडगवल्लगखंडाणि दिट्ठाणि। सुरागंधो य अग्घाइओ य नायं, जहा लिंपणमज्झे असुइ चिट्ठइ। तओ तं सव्वं भोयणं असुइ त्ति काउं छडावियं, तं लिंपणं उक्खणावियं। अन्नेण छगणेण सभा सारविया अन्नरसोईए भुत्तं ति।

स्वरूपमभिधायाधुना एतदेव भेदत आह-'तं' ति तत्पूति, पूतिशब्दः संस्कृतेऽपि स्त्रीलिङ्गो नपुंसकलिङ्गश्च दृश्यते क्वचित्। सूक्ष्मं स्वल्पदोषवत्त्वेन श्लक्ष्णं, बादरमारंभतया बहुदोषवत्त्वेन स्थूलं, चः समुच्चयार्थो लुप्तो दृश्यः, इति स्वरूपप्रदर्शने, इत्येवं द्विधा द्विविधः स्यादिति शेष इति गाथार्थः॥

अधुना यथोद्देशं निर्देश इति न्यायमाश्रित्य सूक्ष्मस्वरूपं द्वितीयभेदप्ररूपणं चाह-

सुहुमं कम्मियगंधाग्गि, धूमवप्फेहिं तं पुण न दुट्ठं। दुविहं बायरमुवगरणभत्तपाणे तहिं पढमं॥२३॥

व्याख्या। सूक्ष्मं बादरविलक्षणं पूति भवति। कैरित्याह, कार्म्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पैस्तत्र 'कम्मिय'त्ति आधाकर्मिका इह चात्रोचरत्र च कार्म्मिकग्रहणेन सर्व्वेषामविशुद्धिकोटिदोषाणां ग्राहो द्रष्टव्यः। गन्ध आधाकर्मान्नस्य घ्राणिरग्निराधाकर्मणो राध्यमानस्य सत्कइंगाररूपो वैश्वानरो नत्वरमत्र तदवयवास्तापादिरूपा अंशा ग्राह्या, व्याख्यानात् धूमोऽपि तस्यैव राध्यमानस्याग्निकाष्टाद्युत्पन्नः प्रतीतो, बाष्पस्त्वाधाकर्म्मान्नस्यैवोष्मा, ततो गन्धश्चाग्निश्च धूमश्च बाष्पश्चेति द्वन्द्वे, कार्मिकाश्च ते गन्धाग्निधूमबाष्पाश्च कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पास्तैः। यद्वा 'कम्मिय'त्ति आधाकर्म्मिकसम्बन्धिनो गन्धाग्निधूमबाष्पा इति समसनीयं। अयमर्थ आधाकर्म्मिकभक्तादिगन्धबाष्पाग्निधूमैः सह मिलितं शुद्धमप्यशनादिकं सूक्ष्मं पूतिकर्म्म भवतीति। यद्येवं तर्ह्यपूति किञ्चिन्नास्त्येतैः सर्व्वस्यापि व्यापनादि-

त्याह—तत् पुनः सूक्ष्मं पूतिकर्म्म, पुनः शब्दो विशेषणे न नैव दुष्टं दोषकृत् स्यात् साधोश्चारित्रस्येति शेषः। पूतितया परिहार्यरूपं तन्न
भवतीति तत्त्वमशक्यपरिहारत्वेनाचीर्णत्वात्। तथाहि लोके द्विधा प्रयोजनं दृष्टं साध्यमसाध्यं च। तत्र यत् साध्यं तदेतत्साधयितुं
शक्यते, नासाध्यं, तद्धि साधयन् क्लेशमेवासादयति, तदत्र बादरपूतेः परिहारः साध्यं कार्यं सूक्ष्मपूतेस्त्वसाध्यं। यतोऽग्नेस्तापादि-
रूपा अंशा धूमश्च तथा आधाकर्म्मिकान्नगन्धवाष्पावित्येते चत्वारोऽप्याधाकर्मिका विशीर्यतश्चेतश्च गमनेन सर्व्वं जगद् व्याप्नुवन्ति
ततस्तत्स्थं शुद्धमशनादिकं सर्व्वं तैस्स्पृष्टं पूतिः स्याचद्ग्रहणे च चारित्रनैर्म्मल्याभावस्तस्मादेतैः स्पृष्टमपि शुद्धमशनादि न पूतिरिति। किं-
श्चिल्लोकेऽपि न सूक्ष्मावयवं वस्तु दोषकृद् दृष्टं यथा अशुच्यादिकुथितद्रव्यावयवानामशुचिगन्धिनामप्यल्पगन्धीभूतानां दूरदेशादा-
गत्य नासिकायां प्रविष्टो गन्धो न दुष्यति। यथा वा दूरादागत्य गन्धितया जठरांतःप्रविष्टा विषांशा अपि नष्टमौलसामर्थ्यत्वेनाल्प-
विषीभूता मरणं न जनयन्तीति। यद्येवं तर्हि किमर्थमियं प्ररूप्यते? उच्यते न परिहार्यतया अस्या उपन्यासः किन्तु भेदप्ररूपणत-
यैव। तदिह बादरपूतिमाश्रित्य प्रतिषेधो ज्ञेयः। प्रज्ञापनामात्रमाश्रित्य च सूक्ष्मपूतेरुपन्यास इति स्थितं। द्विविधं द्विधा बादरपूतिकर्म्म
पूर्वोक्तं स्यादिति शेषः। किं विषयं द्वैविध्यमित्याह। उपकरणभक्तपान इति उपकरणविषयं भक्तपानविषयं चेत्यर्थः। तत्र यद्द्रव्यं
चुल्लीस्थालीदर्वीचट्टुककहटुछकोदूखलिकाप्रभृतिकं राध्यतोऽशनादेर्दात्र्या साध्वादिभ्यो दीयमानस्य वा तस्यैवोपकाराय वर्त्तते
तदुपकरणं इदं च प्रक्रमादाधाकर्मिकमत्र ग्राह्यं। तस्मिंश्च रन्धनादिकरणतो गृहयोग्यशुद्धाशनादिकमप्यशुद्धोपकरणमिलितत्वात् पूत्यु-
पकरणपूति यद्वोपकरणमेव पूत्यविशुद्धिकोटिदोपयुक्तत्वादुपकरणपूति। यथा कियताऽऽधाकर्म्मिकेण कियता च शुद्धेन कर्दमेन मि-
श्रिता चुल्लीथिग्गलिकाद्यर्थमाधाकर्म्मिकर्दमस्तवकयुक्ता स्थाली चट्टुकस्याप्यधस्त्ये चट्टुके उपरितने गंडे वा एकतरस्मिन् कस्मिंश्चिदा-

धाकर्मिके एकतरस्मिंश्च शुद्धे सति द्वयोर्योजनकृते उपकरणपूतितेति । एवमन्यस्याप्युपकरणस्य पूतित्वं ज्ञेयं । तस्मिन् पूत्युपकरणे शुद्धं यदशनादि राद्धं तदपि पूत्युपकरणयोगादुपकरणपूति ज्ञेयम् । तथा अविशुद्धकोटिभिरशनादिभिर्द्रव्यैर्मिश्रं शुद्धमप्यशनादिकं यद्रन्धनादिक्रियाविषयीकृतं तैः स्पृष्टं वा तद्भक्तपानपूति ज्ञेयम् । 'तहिं'ति तयोर्बादरपूतिकर्मभेदयोरुपकरणभक्तपानविषययोर्मध्ये प्रथममाद्यमुपकरणपूतिलक्षणं भेदमाश्रित्य स्वरूपं कल्प्याकल्प्यविधिं च वक्ष्ये इति शेष इति गाथार्थः ॥३३॥

अधुना पूर्वार्धेन प्रस्तुतमेवार्थमुत्तरार्द्धेन तु भक्तपानपूतिद्वितीयभेदस्वरूपं किञ्चिदाह ।

कम्मियचुल्लियभायण–डोवठियं पूइ कप्पइ पुढो तं । बीयं कम्मियवग्घारहिंगुलोणाइ जत्थ छुहे ॥३४॥

व्याख्या—सूचनादाधाकर्म्मिका एव चुल्लीभाजनडोवाः–अधिश्रयणीस्थालीबृहच्चट्टुकास्तेषु स्थितं रन्धनेन स्थापनेन वा विहिताश्रयं कार्म्मिकचुल्लीभाजनडोवस्थितं । इह डोवग्रहणेन दर्व्या अपि लघुचट्टुकरूपाया ग्रहणं ज्ञेयम् । शुद्धमशनादीति सामर्थ्यगम्यम् । 'पूइ'त्ति उपकरणपूतिः स्यात् अत्र च चुल्ल्युखे आधाकर्म्मणी आश्रित्य चत्वारो भङ्गाः स्युः । यथा चुल्ल्याधाकर्म्मिक्युखा च, चुल्ल्याधाकर्मिका नोखा, उखाऽऽधाकर्म्मिकी न चुल्ली, न चुल्ल्याधाकर्म्मिकी नोखेति । तत्राद्ये भङ्गत्रये तावन्न कल्पते चतुर्थस्तु पूतिमाश्रित्य शून्यः । परं भङ्गत्रये चुल्ल्युखयोराधाकर्म्मिकयोः स्थितस्याशनादेरकल्प्यस्यापि विषयविभागेन कल्प्यतामाह । कल्पते ग्राह्यं स्यात् । 'पुढो'त्ति पृथक् कृतं स्वयोगेन चुल्ल्युखयोरपनीतं सत् तत् यत्तत्रैव राद्धमन्यत आनीय मुक्तं वा अशनादि । सामर्थ्याच्चुल्ल्यादिस्थितं न कल्पते उपकरणपूतिदोषादाशङ्कैवात्र प्रमाणमिति, न युक्तेरन्वेषणं कार्यं । एवं तावच्चुल्ल्युखयोराधाकर्मिकयोः पूतिस्वरूपयोर्वा स्थितस्तस्याः कल्प्यत्वं प्रोक्तं । तथा आधाकर्मणा पूतिस्वरूपेण वा डोवेन तथाभूतया दर्व्या वा यच्छुद्धमशनादिकं दात्री साधुभ्यो

उपकरण-
पूतिभक्त-
पानपूति-
स्वरूपम्

यदि च ताभ्यां यच्छुद्धमशनादिकं सञ्चाल्य राद्धं तदा ताभ्यां तन्मध्यस्थिता-
ददाति तदशनादि तत्रस्थमुपकरणपूतित्वादकल्प्यं । 'बीयं'त्ति द्वितीयं भक्तपानविषयं पूति भवति
भ्यां तदकल्प्यम् । स्थाल्या बहिर्निष्कासिताभ्यां च ताभ्यां स्थालीभक्तं शुद्ध्यति । आदिशब्दाद्राजिकाजीरक-
किं तदित्याह । 'कम्मिये'त्यादि कर्म्मिकमाधाकर्म्मिकं वाघारो हिंग्वादिदहनोत्थो धूमो हिङ्गुलवणे प्रतीते, कार्मिकवाघारहिंगुलणवाघे-
तदुलीयकप्रभृतिशाकादेराधाकर्म्मिकस्य वस्तुनो ग्रहः ततो वाघारश्च हिङ्गुलवणादि चेति विगृह्य कर्मधारये निदधाति तन्मुद्राद्यशनाद्याऽऽधा-
तद्यत्र शुद्धेऽपि मुद्राद्यशनादौ स्वनिमित्तविहितादहणे वा तक्रादिक्वथनरूपे क्षिपति संस्कारार्थं मध्ये निष्पन्नमुद्रादिभक्तसंस्कारार्थं सचि-
कार्मिकवाघारादियोगात् द्वितीयं बादरं भक्तपानपूति स्यान्नवरमाधाकर्मिकत्वं हिङ्गुद्रव्यस्य स्वार्थं भावनीयमिति गाथार्थः ॥३४॥ तथा—
त्तोदकेन साधुनिमित्तं द्रवीकृतस्य लवणस्य तु तदर्थित(दर्थ)मेव चूर्णितपरिणामितस्येत्यादि

कम्मियवसेणधूमियमहवकयं कम्मखरडिए भाणे । आहारपूइय तं कम्मलित्तहत्थाइछिक्कं च ॥३५॥

व्याख्या—आधाकर्मिकवसनेन तप्तघृतादिक्षिप्तस्फुटितकुस्तुम्बर्या उपलक्षणत्वादाधाकर्मिकराजिकादिभिश्च। 'धूमियं'ति संधूपितं
यच्छुद्धपेयातीमनादि तदपि भक्तपानपूतिः स्यात् यद्वा वेसनस्योपलक्षणत्वादेव कार्मिकवेसनादेः सत्को निर्धूमाग्निरूपाङ्गारोपरिन्य-
स्तवेसनजीरकहिंग्वादिदाहोत्थधूमो लोकप्रसिद्धः कार्मिकवेसनधूमः स सञ्जातो यत्र स्थाल्यादिभाजनेऽधोमुखीकृते धूमग्रहणाय भून्यस्त-
वदने तत्कार्मिकवेसनधूमितं कृतधूमं भाजनं तद्योगात्तत्र शुद्धं यत्तीमनतक्रपूरणादिकमशनादि क्षिप्तं तदपि तथोच्यते तदपि भक्त-
पानपूतिः स्यात् , नवरं वेसनादीन् प्रति कार्मिकविशेषणस्याप्युपलक्षणत्वादिहाङ्गारवेसनादिस्थालीनामेकं द्वे त्रीणि वाऽऽधाकर्मिकानि
ज्ञेयानि । अथवा शब्दः पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया विकल्पार्थः । कृतमात्मार्थं राद्धं स्थापितं वा यदशनादि । क्वेत्याह कर्म्मखरण्टिते भाजने

॥२९॥

इति । अयमर्थो यस्मिन् स्थाल्यादिभाजने आधाकर्मिकं राद्धं तदन्यस्मिन् प्रक्षिप्य तस्मिन्नेवं च क्षीणी(रिक्ती)भूते कर्मखरण्टिते आधाकर्मिकभक्ताद्यवयवोपलक्षिते भाजने स्थाल्यादावकृतकल्पत्रये यदशनाद्यात्मार्थं राद्धं, यद्वा पूर्वोक्त एवाकृतकल्पत्रये भाजने यच्छु-द्धमेवाशनाद्यन्यतो भाजनान्न्यस्तं व्यवस्थापितमिति यावत्तदशनाद्याहारपूति भक्तापानपूति स्यादिति शेषः । तथा कर्मलिप्तहस्तादि- स्पृष्टं चेति तत्र हस्तः करः स आदिर्यस्य वस्तुनस्तद् हस्तादि आदिशब्दाच्छुद्धडोवदर्व्वीकरोटिकादिपरिग्रहस्तत आधाकर्म्मणा विलिप्तं खरण्टितं यद्धस्तादिवस्तु तेन 'छिक्कं'ति छुप्तं स्पृष्टमिति । अयमर्थ आधाकर्म्मभक्तादिखरण्टितेन हस्तेन करोटिकादिना वा स्थाल्यादौ स्थितं शुद्धमशनादि यत्संस्पृष्टं तदप्याहारपूति स्यादिति । चः समुच्चये । इयं च सर्व्वाऽप्यकल्प्यैव यतीनामिति । अथाशु-द्धाशनादीनां शुद्धाशनादेः पूतित्वकरणे किं परिणतमिति चेदुच्यते राद्धमुद्गादिछविखरण्टितोखिकादेरारभ्य सिक्थकवलादिकं यावदि- ति । एवं यथाऽऽहारविषयमाधाकर्म दर्शितं स्वस्थाने पूतिश्च शुद्धाधाकर्मिकयोरशनादिकयोर्मिलितयोर्यथाऽत्र दर्शितो तथोपधिवसत्यो-रपि ते द्वे अपि स्यातामतः शिष्योपकाराय ते अपि दृश्येते । अत्र पिण्डेनैव प्रकृतं, तत्र यत्यर्थं यौ मुखवस्त्रिकाद्युपकरणोपाश्रयौ विहितौ गृहिणा तावाधाकर्मिकौ, स्वार्थयत्यर्थनिष्पन्नयोः शुद्धाधाकर्मिकयोरर्द्धफलयोः सीविता प्रच्छादपटिका तथाभूतयोः, कर्दमादिकयो-र्निष्पन्ना वसतिश्च पूतिरित्यादि, इयमपि साधूनामकल्प्यैव । एवं सर्वानविशुद्धिकोटिदोषानाश्रित्य पूतित्वं ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥३८॥

अधुना दातृगृहं दातृस्थाल्यादिभाजनं साधुपात्रकं पूतिपरिहारविषयं कल्प्याकल्प्यविधिमाह ।

पढमे दिणम्मि कम्मं तिन्निउ पूइ कयकम्मपायघरं । पूइ तिलेवं पिढरं कप्पइ पायं कयतिकप्पं ॥३६॥

व्याख्या—प्रथमे दिने आद्यवासरे यत्र दिने आधाकर्मणः पाकः कृतः । 'कम्मं'त्ति आधाकर्म्म पूर्वोक्तं । 'तिन्निउ'त्ति त्रीणि

शेषः किं तदित्याह, कृतो विहितः कर्म आधाकर्मणः
पुनस्त्रिसङ्ख्यानि दिनानि । 'पूइ'त्ति, पूतिदोषस्तदाधाकर्म्मस्य(णः)संभवाद्भवतीति
पाकः पचनक्रिया यत्र तच्च तद्गृहं तद्वेश्म, कृतकर्म्मपाकगृहमिति । एवं चाधाकर्मदिने पूतिदिनेषु च त्रिषु न किञ्चित्तत्र ग्रहीतुं
कल्पते इति प्रथमदिनेन सह चत्वारि दिनानि तद्गृहं परिहार्यमित्युक्तं भवति परं 'अतरंताइ जोग्गासईए गिण्हंति तत्थ पविसेउं ।
अन्नगहाणसुवखडजं वासान्नीमयं भुंजे' ॥१॥ यदा तु कश्चिद् गृही कतिचिद्दिनेषु सङ्खडी भविष्यति सङ्घभोज्यं वा दास्यामीत्यग्रत एव
लड्डूकादीनाधाकर्मिकान् कृत्वा धारयति तदा यावत्ते तिष्ठंति, तदपगमेऽपि तदूर्ध्वं दिनत्रयं यावत्तद्गृहस्थितं शेषं भक्तादि स्पर्श-
सम्भवात् पूतिः स्यादित्येवं बहून्यपि दिनानि पूतिसम्भवः । तथा 'पूइ' त्ति पूतिदोषवत् स्यादिति शेषः । किं तदित्याह त्रयस्त्रिसङ्ख्या
लेपाः शेषखरण्टयोर्यत्र तत्रिलेपं पिठरं स्थाल्यादिभाजनं । अयमर्थः स्थाल्यादिभाजने किल आधाकर्म राद्धमपनीतं च, शेषा
खरण्टिरित्येको लेपस्तस्यामेवाकृतकल्पत्रयायां शुद्धं राद्धं पूतिरेवं वारद्वयमन्यदपि, चतुर्थलेपे तु न पूतिः । तदिहाधाकर्म्मपाकान-
न्तरं स्वार्थं वारत्रयं भक्तरन्धनेन यत्स्थालिकायाः खरण्टनत्रयं सम्पद्यते तल्लेपत्रितयान्विता स्थालिका तदुपस्कृतभक्तं च पूति भव-
तीति भावार्थः । यदि चात्मयोगेन गृहस्थ्या निरवयवीकृत्य तस्य भाजनस्यैव तस्मिन्नेव दिने अपरापरेषु वा दिनेषु वारत्रयं जलेन
प्रक्षालनं कृत्वा तत्र शुद्धमशनादि राद्धं तदा तत्कल्प्यमेव, तथा कल्पतेऽपूति भूतं सच्छुद्धाशनादिग्रहणायोचितं स्यात् । पात्रं पतद्गृ-
हरूपं यतिभोजनोपकरणविशेषः । कीदृशं सदित्याह कृता निवर्तितास्त्रयः कल्पाः जलप्रक्षालनानि यस्य तत् कृतत्रिकल्पं । अङ्गु-
ल्यादिना सम्प्रोच्छ्य वारत्रयं जलेन प्रक्षालितं सदित्यर्थोऽयं च पात्रकाश्रितः पूतिन्यायो यथारूपं सर्वेष्वप्यविशोधिकोटिभेदेषु ज्ञेय-
स्तथा सर्वोऽप्यविशोधिकोटयाहारोऽकल्प्य एव विशोधिकोट्याहारस्त्वात्मार्थितः कल्पत इति च ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥३६॥

उक्तं पूतिद्वारमथ मिश्रजातद्वारमाह ।

जं पढमं जावंतिय पासंडजईण अप्पणो य कए । आरभइ तं तिमीसं ति मीसजायं भवे तिविहं ॥३७॥

व्याख्या—स्वगृहयोग्यजलकणादीनां मध्य अधिकतरजलकणादीन् मिश्रितान् कृत्वा 'जं'ति, यदशनादि प्रथममादावग्निज्वा-
लनाद्रहणकणदानादिप्रस्ताव एव आरभते तन्मिश्रजातं भवेदिति योगः । किमर्थमित्याह 'जावंतिय'त्ति सूचनाद्यावदर्थिकाः कार्पटिका-
दयः समस्तार्थिनः, पाखण्डं व्रतं तद्योगात् पाखण्डाः सामान्यदर्शनिनो, यतयो निर्ग्रन्था एतेषां द्वन्द्वस्तेषां कृते इति योगो द्वन्द्वोत्थपरं
पदं श्रूयमाणं (द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं) सर्व्वत्र सम्बध्यते तेन यावदर्थिककृते इत्यादि दृश्यं । तथाऽऽत्मनः स्वस्य, चः समुच्चये, कृते—
अर्थाय स्वगृहार्थमिति यावत् आरभते प्रारभयत्युपस्कर्तुमिति शेषो, यावन्तोऽर्थिन आगमिष्यन्ति पाखण्डा यतयो वा तेषां दास्यामि
गृहे च भविष्यन्तीति सङ्कल्पेन यद्राद्धुमारभत इत्यर्थः । तदशनादि तदा निष्पन्नं सत्त्रिभिर्यावदर्थिकपाखण्डयतिभिस्सह मिश्रं साधा-
रणं त्रिमिश्रमित्यनेन कारणेन मिश्रजातं पूर्वोक्तशब्दार्थं भवेत् त्रिविधं यावदर्थिकमिश्रजातं यतिमिश्रजातं पाखण्डमिश्रजातं चेत्यर्थः ।
यद्यपि तृतीयभेदस्य स्वगृहमिश्रजातमिति संज्ञान्तरं दृश्यते । तत्राप्ययमेवार्थ इति । श्रमणानां च पाखण्डिष्वन्तर्भावाच्छ्रमणमिश्रं
पृथग् नोक्तम् । इह च यावदर्थिकाद्यर्थमधिकतरतंदुलादिप्रक्षेपदोषेण सर्व्वोऽप्याहारोऽशुद्धः स्यात् ! [नथेति]प्रथममिति विशेषणेना-
ध्यवपूरकदोषादस्य विशेषमुक्तवान्, तथाहि—अत्र सूपतंदुलजलफलादिवस्तुनो गृहयोग्यस्य माणकादिस्वस्वपरिमाणेन नियतमध्ये
यावदर्थिकाद्यर्थमग्निप्रज्वालनादेरादावेवाधिकतरतंदुलजलादेर्मिश्रणं विधाय पाकः प्रारभ्यते, अध्यवपूरके च गृहिणा स्वार्थमग्निज्वा-
लनाद्याद्रहणदानान्ते आरम्भे कृते सति पश्चात् कार्प्पटिकाद्यर्थं स्वार्थकल्पिततंदुलादीनां मध्येऽपरं तंदुलादीनां माणकादिकं प्रक्षिप्य

राध्यत इत्येतावता भेदोऽस्योक्तः। कदा पुनरिदं सम्भवतीति चेत् (उच्यते), इह कश्चिद् गृही स्वयं बुभुक्षाकष्टानुभवनेन दुर्भिक्षमतिक्रान्तः किञ्चित् सञ्जातवृत्तिको धर्म्मश्रद्धालुः दुर्भिक्षेण बुभुक्षापीडितप्रभूतसत्वान् दृष्ट्वा नैतावन्मानेन राध्यमानेनैतेषां सरिष्यतीति दानसत्वालम्बनेन कान्तारादिनिर्गमप्रवेशयोः खिन्नभिक्षाचरालम्बनेन वा तीर्थबहुमानेनोज्जयन्तादिपर्वतयात्रायां श्रद्धावान् संवलितः प्रभूतार्थिनो दृष्ट्वौदार्यालम्बनेन मिश्रजातं करोतीत्येवमस्य सम्भवः। साधवः पुनः कथमिदं जानन्तीति चेदुच्यते, कदाचिद् भिक्षार्थं गृहे प्रविष्टान् साधून् दृष्ट्वा गृहस्थो भार्यादेः संमुखं वक्ति यथा यैः सह(येभ्यः)मिश्रमिदं राद्धं तैः क्वाप्यन्यत्र लब्धं भविष्यतीति नागतास्ते, अत इदं परिपूर्णं यतिभ्यो देहि। यद्वा साधून् प्रचुरान् भिक्षाचरांश्चागतान् दृष्ट्वा गृही यावदर्थिकेनाशनादिना नैतेषां परिपूर्णं स्यादित्यन्यदपि राध्नुहि येनैतेभ्यो दीयते इति गृहस्थमेवं ब्रुवाणं श्रुत्वा गृहं यावदर्थिकमिश्रमिदमिति जानन्तीति गाथार्थः ॥३७॥

उक्तमिश्रजातद्वारमथ स्थापनाद्वारं व्याचिख्यासुस्तस्या एव भेदानभिधातुमाह—

सट्ठाणपरट्ठाणे परंपराणंतरं चिरित्तरियं। दुविहतिविहा वि ठवणाऽसणाइ जं ठवइ साहुकए ॥३८॥

व्याख्या—स्वस्थानं च चुल्ल्युखादि, परस्थानं च सुस्थितछब्बकादि, स्वस्थानपरस्थानं तस्मिन्नाधारे 'असणाइ जं ठवइ साहुकए ठवण'त्ति योगः। तत्राशनाद्यशनपानप्रभृतिकं वस्तु यदित्यनिर्दिष्टस्वरूपं स्थापयति न्यस्यति धारयतीत्यर्थो दात्री(त्रीति)गम्यते साधुकृते यतेरर्थाय यत्तदोर्नित्ययोगात्तदशनादि स्थापनोच्यते। तत्र साधवे इदं दास्यामीत्येवं विचिन्त्य कञ्चित्कालं यावत् स्थापितत्वात् स्थाप्यत इति स्थापना स्थापनं वा न्यसनं, स्थापना तद्योगादशनाद्यपि, कीदृशं सदशनादीत्याह। 'परंपराणंतरं' ति अपरा-

परद्ध्यादिपर्यायसंतानः परंपरस्तत्संबन्धात् परंपरं क्षीराद्युच्यते। तथा न विद्यते अन्तरं पर्यायान्तरलक्षणो विशेषो यस्य तदनन्तरं घृताद्यभिधीयते अनयोः समाहारद्वन्द्वस्तत् परम्परस्वरूपमनन्तरं स्वरूपं चेत्यर्थः। भावार्थो वक्ष्यमाणः। पुनः किं विशिष्टं स्थापयतीत्याह 'चिरित्तरियं' ति, चिरं च दीर्घकालं इत्वरं चाचिरं स्तोककालमित्यर्थश्चिरेत्वरम्, ततश्चिरकालमचिरकालं च यावद्दानाय दात्री यत् स्थापयति तच्चिराचिरकालावस्थापितत्वयोगादशनाद्यपि चिरेत्वरमिति। भावार्थस्तु वक्ष्यमाणः। इत्येवं 'दुविहतिविहा वि ठवण'त्ति, त्रिधाप्याधारद्रव्यकालोपाधिभेदात् त्रिप्रकारापि, न केवलमेकधा द्विधा वेत्यपेरर्थः। किमित्याह द्विविधा प्रदर्शितस्वस्थानादिभेदेन द्विप्रकारा स्थापना भवति। 'असणाइ जं ठवइ साहुकए' त्ति, पुनरेकैका स्वस्थानपरस्थानपरम्परानन्तरचिरेत्वरभेदा(द्) द्विधा। तत्र 'सट्ठाण परट्ठाणे असणाइ जं ठवइ साहुकए' इत्यनेनाऽऽधारमात्रे सामान्याशनादेः स्थापितत्वमाश्रित्य स्वस्थापना परस्थानस्थापनेत्याधारोपाधिकं भेदद्वयमुक्तम्। तथा परम्परानन्तरमित्यनेन परम्परस्थापनाऽनन्तरस्थापनेति परम्परानन्तररूपद्रव्योपाधिकं तदुक्तम्। चिरेत्वरमित्यनेन च चिरस्थापना इत्वरस्थापना चेति कालोपाधिकमित्येवं प्रकारत्रयेण द्वैविध्यं सकलस्थापितभेदसंग्राहकं स्थापनाया भवति। नवरमित्वरस्थापना प्रज्ञापनामात्रमेव न तु परिहार्येति वक्ष्यति। चिरस्थापना तु परम्परानन्तरस्थापनाभेदान्तर्वर्त्तिनी पृथग्भवतीति तेन परम्परानन्तरस्थापनयोश्चिरस्थापनात्वमेव ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥३८॥

अथ स्वस्थानादिस्वरूपं व्याख्यातुमाह।

चुल्लुक्खाइ सट्ठाणं, खीराइ परंपरं घयाइयरं। दव्वट्ठिइं जाव चिरं, अचिरं तिघरंतरं कप्पं ॥३९॥

व्याख्या—चुल्लुखे अधिश्रयणीस्थालीरूपे आदिर्यस्य आधारभूतवस्तुनः तच्चुल्लुखादि चुल्ल्यादि उखादीति दृश्यं। तत्र

स्वस्थानं निजाश्रयो भण्यते। अयमत्र-
प्रथमादिशब्देनावल्हको ग्राह्यः द्वितीयेन चरुकपिठरादीनि तदिदं चुल्लुखादि, किमित्याह स्वस्थानं तिष्ठत्यस्मिन् स्थाली-
भावार्थोऽशनादेः स्वस्थानं द्विधा भवति। स्थानस्वस्थानं भाजनस्वस्थानं च तत्र चुल्लयवल्हकादिकम् भाजनस्वस्थानमिति। तथा
ति स्थानमाधारस्तद्रूपं स्वं निजमाहारपाकस्य स्थानं स्थानस्वस्थानमुच्यते। स्थाली चरुकपिठरादिकं च भाजनस्वस्थानमिति। तथा
स्वस्थानविलक्षणाश्रयश्च परस्थानमिति सामर्थ्यादनुक्तमपि दृश्यम्। तत्र स्वस्थानात्परमन्यद्विलक्षणं स्थानमाश्रयः परस्थानम्। तच्च
सुस्थितादिप्रदेशान्तराश्रयरूपं छप्पकपडलिकावारकादिरूपं च ज्ञेयमेतदप्याधारभाजनभेदाद् द्विविधमिति। स्थापनायोजना तु प्रागेव
दर्शिता। अधुना परम्परस्थापनाऽनन्तरस्थापनाख्यं भेदद्वयं व्याख्यातुकामः परम्परानन्तरशब्दवाच्यमाह 'खीराइ परंपरं घयाइ-
इयरं'ति, इह स्थापनाविषयाण्यशनादीनि द्रव्याणि द्विधा भवन्ति विकारीण्यविकारीणि च, विकारोऽपि केवलानां सतां स्यात् द्व्यादि-
द्रव्यसंयोगे सति वा। तत्र केवलविकारिद्रव्यं खीरं दधिनवनीतमस्तुतक्रादिविकारयोग्यन्वात्। तथेक्षुरसश्च विकारिद्रव्यं द्रवगुड-
पिण्डगुडखण्डशर्करादिविकारयोग्यत्वात्। द्व्यादिद्रव्यसंयोगविकारिद्रव्यं करम्बादिकं, करंबको हि प्रथमे दिने मधुरः सन् द्वितीया-
दिदिनेषु कोथाम्लादिकं विकारं भजते। तथा द्वित्र्यादिदिनसत्कानि नवनीतमस्तुतक्रादीन्यपि कोथाम्लादिरूपविकारभाजित्वाद्वि-
कारीणि। अविकारिद्रव्यं च घृतगुडादिकं प्रकृतेरन्यथाभावरूपस्य विकारस्याभावात्। तद्धि दुग्धेक्षुरसादिकं सत्कर्त्रा स्वयोगेन
दधिकक्कबादिविकारैस्तावद्विकारं चानीतं यावद्घृतगुडादि स्थित्वा स्थितं, परतोऽपि विकारो नास्तीत्यविकार्युच्यते। तदत्र परम्परश-
ब्दवाच्यं सर्व्वं विकारिद्रव्यं क्षीरादिकमनन्तरशब्दवाच्यं चाविकारिद्रव्यं घृतादिकं विज्ञेयम्। अत एवोक्तम् 'खीराइ परंपरं घयाइयरं'
ति। तत्र खीरं दुग्धं तदादिर्यस्यादिशब्दादिक्षुरसादिद्रव्यग्रहस्तत्क्षीरादि 'परम्पर'ति दधिम्रक्षणकक्कबादिघृतगुडान्तपर्यायरूपावस्था

॥३२॥

परम्परा परम्परः स च यस्यास्ति क्षीरादेस्तद्दध्यादिपर्यायपरम्परान्वितत्वात् परम्परं भण्यते । इह च स्थापनया प्रस्तुतं ततः क्षीरादिविकारिद्रव्येषु परम्परस्थापना स्यादित्यर्थः । इह अक्षणकक्कावस्थाद्रव्ययोः स्थापनाय घृतगुडत्वेन क्रियमाणयोस्तेजस्कायादिविराधनादाधाकर्मदोषोऽपि स्यात् परमत्र नासौ विवक्षितः । एवमुत्तरत्रापि । 'घयाइयरं'ति घृतं सर्प्पिस्तदादिर्यस्य गुडादेस्तद्घृतादि, किमित्याह 'इयरं' ति द्वयोरुपात्तयोरेकस्यापेक्षया द्वितीयं प्रतियोगिवस्त्वितरदुच्यते । ततः परम्परानन्तरमित्युपात्तत्वात् परम्परावस्त्वपेक्षया इतरदनन्तरमनन्तरशब्दवाच्यं भवतीत्यर्थः । तत्र न विद्यतेऽन्तरं विशेषो विशिष्टावस्थानं विकारापादनेन ततोऽपि परतो यस्य घृतगुडादेस्तदनन्तरम् । ततः स्थापनायाः प्रस्तुतत्वात् घृतगुडादिष्वविकारिद्रव्येष्वनन्तरस्थापनाऽपि स्यादित्यर्थः । इह च घृतगुडादेः सर्वस्य सामान्येनानन्तरशब्दवाच्यत्वेऽपि घृतगुडादिकमत्र यत् प्रथमादिदिनेषु प्रभूतेष्वप्येकस्वरूपमेव स्थापितं तदेव ग्राह्यम् । यत्तु दुग्धेक्षुरसादिस्थापनपरम्पराविकारेणागतं तद् घृतगुडाद्यपि तं ज्ञेयम् । ननु घृतगुडयोः सम्बन्धिनां पाश्चात्यपर्यायान्तराणां योग्यं यद् दुग्धेक्षुरसादि यस्मिन् दिने स्थापितं तस्मिन्नेव जातावस्थान्तरं साधुना गृहीतं तस्य का वार्त्तेत्युच्यते । परम्परस्थापितयोग्यत्वात्तदपि परम्परस्थापितमेव । तदेवं घृतगुडादेर्द्वेऽपि स्थापने दुग्धेक्षुरसादीनां तु परम्परस्थापनैव । कथं पुनः क्षीरादिद्रव्यपरम्परस्थापना सम्भवतीति चेदुच्यते । केनचित् साधुना कस्याश्चिद् गृहस्थ्याः पार्श्वे याचितं दुग्धं । तया च क्षणान्तरे दास्यामीति प्रतिज्ञातम् । साधुना त्वन्यत्र लब्धम् । ततो दुग्धसम्पत्तौ स तयोक्तो, यथा गृहाणेदं दुग्धं तेनोक्तं अन्यस्मिन् गृहे मयाऽन्यल्लब्धम् । किन्तु ग्लानादिकार्ये त्वदीयं दुग्धं ग्रहीष्ये एवमाकर्ण्य च सा ऋणभीतेव चिन्तयति यथा अद्य तावत् साधुर्न गृह्णाति दातव्यं चैतदस्मै अन्यथा साधुऋणं दुर्मोक्षमिह परत्र च भविष्यतीतश्च वित्तश्वरत्वादित्थमेव धर्त्तुं न शक्यते दुग्धं तत इदं दधि कृत्वा

श्वो दातास्मीत्येवं विचिन्त्य स्थापयति क्षीरम्। ततो द्वितीये दिने दधि दीयमानं साधुना नेष्टम्। ततो म्रक्षणतक्रादितया कृत्वा
स्थापयतीत्येवं परम्परस्थापनासम्भवः। एवमिक्षुरसादिष्वपि वाच्यम्। इदं चात्मार्थितं सत् सर्वपर्यायापन्नमपि शुद्ध्यतीत्याज्ञा।
नवरं म्रक्षणघृने क्रियमाणेऽग्निविराधनाकृत आधाकर्म्मदोषोऽपि स्यात्तेन चात्मार्थितमपि तन्न शुद्ध्यतीति। एतदनुसारेण घृताद्यन-
न्तरस्थापनासम्भवोऽपि वाच्यः। तथा 'दव्वट्ठिइं जाव चिरं'ति द्रव्यस्य घृतगुडादेः साधुदानबुद्ध्या स्थापितस्य स्थितिर्विवक्षितप-
र्ययेणावस्थानं स्वरूपाप्रच्युतिर्द्रव्यस्थितिस्तां यावन्मर्यादीकृत्य चिरस्थापितं स्यादेतच्चोत्कृष्टतो देशोनामपि पूर्वकोटिं यावत् सम्भव-
तीति। तथाहि किल पूर्वकोट्यायुषा अष्टवार्षिकेण साधुना पूर्वकोट्यायुष्का काचिद् गृहस्थी घृतं याचिता। तयोक्तं क्षणान्तरे दास्या
मीत्यादिपूर्वोक्तप्रकारेण यावत्साधोरायुस्तावत्तत्स्थापयित्वा घृतं मृते त्वन्यत्रोपयुक्तमिति गता स्थापना। तथा दधितक्रकरंबकादेश्च
विनश्वरस्यैकद्व्यादिदिनमाना स्थितिस्तावच्च चिरस्थापनात्वं तदूर्ध्वं कोथाद्यापत्तौ बहिरुज्झनादिना स्थापनाया एवाभाव इति।
अधुना अचिरस्थापनामाह 'अचिरं ति घरंतरं'ति, इह पङ्क्तिस्थानां भिक्षाग्रहणविषयाणां त्रयाणां मध्याद्यस्य गृहद्वारे भिक्षार्थं साधुस-
ङ्घाटक आस्ते तस्य भिक्षागृहद्वयस्य च द्वितीयसाधोर्दृष्टिगोचरस्य यदन्तरं व्यवधानं तत्रिगृहान्तरं, तत्र यदशनादि तदपि, तथा
ततस्त्रिगृहान्तरं यदशनादि,तत 'अचिरं'ति अचिरस्थापितं स्यादिति। अयमर्थो यावता कालेन गृहत्रयान्तराद्दायको हस्तव्यवस्थितभक्तो
ग्राहकसाधुमसीपमागच्छति तावन्तं कालं यदशनादि साधुदानाय दायककरव्यवस्थितं वर्त्तते तद्यदि तदा लब्धं तदा इति स्तोकका-
लविषयत्वादचिरस्थापनावत्तत्स्यादेतच्च प्रज्ञापनामात्रेणैवाचिरस्थापनोच्यते न तु परिहार्यतया अत एवाह 'कप्पं'ति कल्प्यं ग्राह्यं
स्यादाचरितत्वाद् गृहत्रयविषयाचीर्णाभ्याहृतवत्। अथास्येत्वरस्थापितस्य गृहत्रयविषयाभ्याहृतस्य च वक्ष्यमाणस्य तुल्यलक्षणत्वात्

कः प्रतिविशेषः ? उच्यते, इह कालविवक्षा तत्र तु गृहत्रयापान्तरालक्षणक्षेत्रविवक्षेति विशेषः अनेन च त्रिगृहान्तरस्याशनादेरचिरस्थापनात्वभणनेन गृहत्रयात् परतश्चतुर्थगृहादिषु यदुत्क्षिप्य दात्र्या हस्ते व्यवस्थापितं साधुदानायाशनादि तच्चिरकालं दायककरव्यवस्थितत्वाच्चिरस्थापना स्यादिति सामर्थ्यादुक्तं भवति । चतुर्थादिषु हि गृहेषु युगपदुपयोगो दातुं न शक्यते किं तर्हि क्रमेण, तेन चिरः कालो लगति इति चिरस्थापना भवतीति गाथार्थः ॥३९॥

उक्तं स्थापनाद्वारमथ प्राभृतिकाद्वारमाह—

वायरसुहुमुस्सक्कणमोसक्कणमिइ दुहेह पाहुडिया । परओकरणुस्सक्कणमोसक्कणमारओ करणं ॥४०॥

व्याख्या—बादरं बादरारम्भविषयतया स्थूलं तथा सूक्ष्मं सूक्ष्मारम्भविषयतया श्लक्ष्णं अनयोः समाहारद्वन्द्वे विभक्तिलोपाद् बादरसूक्ष्ममिति दृश्यं । किं तदित्याह उत्ष्वष्कणं वक्ष्यमाणशब्दार्थं तथा अवष्वष्कणं वक्ष्यमाणार्थमेव चः समुच्चयार्थो लुप्तो दृश्यः । बादरसूक्ष्ममित्यनुवृत्तिरितिरूपप्रदर्शने । इत्येवं बादरोत्ष्वष्कणावष्वष्कणयोगाद्बादरा । सूक्ष्मोत्ष्वष्कणावष्वष्कणयोगाच्च सूक्ष्मेति, द्विधा द्विभेदा, इह—प्रवचने । उद्गमादिषु मध्ये प्राभृतिका उक्तशब्दार्था भवतीति शेषः । अधुनोत्ष्वष्कणं व्याख्यातुमाह—'परओ' इत्यादि, तत्रोदिति परतोऽग्रतः स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेः, ष्वष्कणमित्यारम्भस्य करणं नयनमुत्ष्वष्कणमुच्यते उत्सर्पणमित्यर्थ । तथा अव इति आरतोऽर्वाक् स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेः ष्वष्कणमित्यारम्भस्य करणं नयनं साध्वर्थमवष्वष्कणमुच्यते अवसर्पणमित्यर्थः । तत्र गृही यथोत्ष्वष्कणरूपां बादरप्राभृतिकां करोति तथोच्यते । इह केनापि गृहिणा पुत्रपुत्रिकादेः परिणयनलग्नदिनं ज्योतिष्काद्व्यवस्थापितं तच्च यतिजने तद्दिनसमयेऽनायात एव भवति अथ च कियद्भिर्दिनैः साधवोऽप्याजिगमिषवः स्वविहारक्रमेण

मीति । अत्र च विवाहलग्नदिनस्यार्वाक्वर्त्तिनो यत् परतो नयनं तत्र यदशनादिप्राभृतिकाभिक्षा सोत्ष्वष्कणबादरप्राभृतिका । द्वितीय-बादरप्राभृतिका त्वेवं सम्भवति । यथा केनापि श्रावकेण स्वपुत्रादेर्विवाहदिनं निश्चितमतश्च तद्दारतोऽपि यतिजनास्तत्रायातास्ततोऽसौ मयाऽस्मै विपुलं विशिष्टं च भक्तपानं पुण्यार्थं कल्याणार्थं च दातव्यं तच्च प्रायो विवाहादावेव स्यात् । मत्पुत्रविवाहस्तु यतिजनेऽन्यत्र विहृते भविष्यतीति विचिन्त्य यतिजने तत्रस्थे एव विवाहं व्यवस्थापयति । अत्र विवाहलग्नदिनस्य भविष्यत्कालभाविनो यदर्वाक् तत्र स्थाने वर्त्तन्ते । स च गृही चिन्तयति विवाहदिनं यत्यागमादर्वाक्, निवृत्ते च विवाहे समागतानां किं मया करिष्यते । तदे-वाशनादिकं सफलं यत्सुपात्रेषु विनियोगं च यात्येवं च पुण्यमुपार्जितं च स्यात् कल्याणं च सम्पद्यते । इत्येवं विचिन्त्य लग्नदिनं परतो यत्यागमनप्रस्तावेऽपराज्ज्योतिषिकान्नियमयति ततः समागतैः सद्भिः सङ्खडीं कर्त्तुमारभते, येन भक्तपानादिकं प्रयच्छा-यतिजनावस्थाप्रस्ताव एवानयनं, तत्र या प्राभृतिका साऽवष्वष्कणबादरप्रभृतिकेति । एतां च द्विरूपामपि ऋजुरजानानः साधूनामपि विदितत्वेन प्रकटामेव करोति, स हि न जानाति यदित्थं कृतं ज्ञाते साधवो न गृहीष्यन्तीति । अनृजुस्त्विदं न कल्पते यतीनामिति जानाति परं मायया तथाकरोति पूर्वोक्तकारणाभ्यां यथा ते न जानन्ति । तत्र साधुभिरन्यतः कुतोऽपि ज्ञाते ऋजुना वा पृष्टेन यथा-वस्थिते कथितेऽनेषणीयमिति ज्ञात्वा परिहरणीयमिति । सूक्ष्मोत्ष्वष्कणरूपा प्राभृतिका, यथा किल काचिद्गृहस्थी सूत्रकर्त्तनादि-व्यापारवती जनन्यादिका बालकेन रुदता भोजनं याच्यते यथा हे मातर्मह्यं भोजनं प्रयच्छेति । तत्र च प्रस्तावे पर्यासन्नगृहेषु पर्यटन् यतिस्तया दृष्टः । सा च तं दृष्ट्वा सूत्रकर्त्तनादिलोभेन बालकं क्षुधन्तं प्रत्यवादीत् मा पुत्र प्रलप, मा रोदीश्च त्वमिह मद्गेहे गेहानुगेहक्रमेण विचरन् यतिराऽऽगमिष्यति तद्भिक्षादानायोत्थिता सती तवापि तत्समकालमेव भोजनं दास्यामीत्यतः प्रतीक्षस्व त्वं

कश्चित्कालं यावद्यतिरागच्छति । ततः सा साधावागते धर्म्माद्यर्थमुत्थाय बालकभोजनदानसमं यतेर्भिक्षादानं करोति । इह च यत्र क्षणे याचितं भोजनं तत्रैव तया कर्तुमुचितस्य पुत्रभोजनदानस्य तदुच्छङ्घ्य भविष्यत्कालभाविना साधुभिक्षाकालदानेन समं यत्करणं तदुत्ष्वष्कणम् । तत्र या प्राभृतिका सा सूक्ष्मोत्ष्वष्कणप्राभृतिका । तथा रूतप्रोणिकाकर्त्तनक्रियायां समाप्तायां जनन्या कर्तुमीहितस्य पुत्रभोजनदानस्य साधावागते यदसमाप्तायामपि तस्यामर्वाक् साधुभिक्षादानसममेव करणं तदवमर्ष्पणम् । तत्र या प्राभृतिका सा सूक्ष्मावष्वष्कणप्राभृतिकेति । इयमपि द्विविधाप्यकल्प्या आरम्भदोषात् । तथाहि साध्वर्थमुत्थिता सती बालकस्यापि भोजनं दास्यति । तत्र च हस्तधावनादिनाऽप्कायाद्युपमर्दः स्यात् कथं पुनरियं साधुना विज्ञायते, उच्यते, साधावागते तवापि दास्यामीति जननीं जल्पन्तीं शृणोति, साधावागते डिम्भो वा जननीं प्रति ब्रुवन् शृणोति किं नाद्याप्युत्तिष्ठस्यागतोऽसौ यतिर्यन्माहात्म्येनाहं भोजनं शीघ्रतरं लप्स्य इति । यद्वान्यः कश्चिद्बालकोऽस्मै साधवे भिक्षादानेन सह मह्यं जननी भोजनं दास्यतीति विचिन्त्य समीपे गत्वाऽङ्गुलिकायां गृहीत्वा स्वहस्तेन साधुं गृहाभिमुखमाकर्षति ततो यतिना किमिति मामाकर्षणादिना नयसीति पृष्टेऽसावज्ञतया कथयति भवद्भिक्षादानार्थमुत्थिता सती मह्यं जननी भोजनं दास्यतीति । एवं श्रुत्वा सूक्ष्मप्राभृतिकां विज्ञाय तद्गृहं यतिर्न व्रजतीति गाथार्थः ॥४०॥

उक्तं प्राभृतिकाद्वारमथ प्रादुष्करणद्वारं व्याख्यातुमाह—

पाउयरणं दुविहं पायडकरणं पयासकरणं च। सातिमिरघरे पयडणं समणट्ठा जमसणाईणं ॥४१॥

व्याख्या—प्रादुष्करणमुक्तशब्दार्थं द्विविधं द्विधा स्यादिति शेषः । यथा प्रकटकरणं वक्ष्यमाणं, इह 'पायडं'ति प्राकृतत्वात्

॥३५॥

प्रशब्दस्य दीर्घता, तथा प्रकाशकरणं वक्ष्यमाणम् । चः समुच्चये भेदतया निरूप्य अधुना विषयकथनपुरस्सरं प्रादुष्करणस्य द्विरूपस्यापि सामान्येन लक्षणमाह । 'सतिमिरघरे' इत्यादि सतिमिरगृहेऽन्धकारोपेते वेश्मनि वक्ष्यमाणन्यायेन द्वाभ्यामपि प्रादुष्करणप्रकाराभ्यां श्रमणार्थं यतिनिमित्तं । साधवो हि सान्धकारे गृहेऽचक्षुर्विषयत्वाद्भिक्षां न गृह्णन्तीत्यतस्तेषां भिक्षाग्रहणनिमित्तमित्यर्थो यदशनादीनां भक्तपानप्रभृतिकानां वस्तूनां प्रकटनं प्रकाशनं सप्रकाशतया विधानमिति यावत् गृहिणा क्रियते तत्प्रादुष्करणं भण्यते प्रादुःशब्दस्य प्रकाशार्थत्वादिति गाथार्थः ॥४१॥

अथ प्रकटकरणप्रकाशकरणे व्याख्यानयन्नाह ।

पायडकरणं बहियाकरणं, देयस्स अहव चुल्लीए । बीयं मणिदीवगवक्ख कुड्डच्छिड्डाइकरणेण ॥४२॥

व्याख्या—प्रच्छन्नस्य सतः प्रकटस्य सप्रकाशस्य करणं विधानं प्रकटकरणं तदभिधीयते । तत् किमित्याह । बहिस्तात्करणं पूर्वनिष्पन्नस्य मोचनेन अभिनवस्योत्पादनेन वा, गृहाभ्यन्तराद्बहिर्विधानमित्यर्थः । कस्येत्याह । देयस्य दातव्यस्य अशनादेर्वस्तुनः । अथवेति विकल्पे चुल्ल्या अधिश्रयण्याः । अयमत्र भावार्थः । इहान्धकारव्यवस्थितं भक्तादि यतयोऽचक्षुर्विषयत्वान्न गृहीष्यन्तीति विचिन्त्य यद्गृहमध्यवर्त्तिन्यां चुल्ल्यां स्वगृहार्थं राद्धं भक्तादि वर्तते तद्बहिर्वर्त्तिन्यां पूर्वमेव स्वार्थनिष्पन्नायां चुल्ल्यां चुल्लिव्यतिरिक्तान्यप्रदेशे वा सप्रकाशे आनीय मुञ्चति येन गृह्णन्ति । यद्वा तद्बहिस्थचुल्लिद्वयसद्भावे गृहान्तवर्त्तिनीं परित्यज्य गृहाद्बहिर्विचिन्त्यामेव शुद्धायां चुल्ल्यां साधूपकृतये आहारस्य प्रकटनाय प्रथमत एव स्वार्थं राध्नोति, इत्येवं देयस्य पूर्वनिष्पन्नमोचनेनाभिनवस्योत्पादनेन वा बहिस्तात्करणमिति । एवं चुल्ल्या अपि द्विधा बहिस्तात्करणसम्भवो वाच्यः, यथा धर्मश्रद्धान्विता दानप्रियत्वेन

काचिद् गृहस्थी चिन्तयति यदुत यद् यस्यां चुल्ल्यां राध्यते भक्तं प्रासु तस्या एव पार्श्वे मुच्यते तच्च गृहमध्यवर्त्तिन्यां चुल्ल्यां राद्धं तत्पार्श्व एव स्यात्। तस्मिंश्च साधुभ्यो दीयमानेऽन्तरालेऽन्धकारः स्यात्तत्र च व्यवस्थितं भक्ताद्येते न गृहीष्यन्तीति सा स्वार्थनिष्पन्नां चुल्लीं सञ्चारिणीं गृहान्तर्वर्त्तिनीं माध्वर्थमाहारस्य प्रकटनाय बहिरानीय मुञ्चति। नूतना वा स्वार्थं साध्वर्थं वा बहिः करोति। तत्रैव च प्रतिदिनं स्वार्थं रन्धयति। इह च बहिष्कृतचुल्लयः शुद्धा आधाकर्मिक्यश्च स्युः। तत्र यदि शुद्धास्तदा प्रकटकरणसंज्ञितप्रादुष्करणलक्षण एव दोषः स्यान्न पूतित्वं,यदा त्वभिनवाऽऽधाकर्मचुल्ल्यां राध्नोति तदोपकरणपूतिदोषः प्रकटनदोषश्चेति दोषद्वयं स्यात् नवरं चुल्ल्याः पृथक्कृते भक्ते पूतित्वमुत्तरति परं प्रकटनदोषेण न कल्पते। इह पूतित्वं प्रासङ्गिकमेवोक्तम्। प्रकटनदोषेणैवात्र प्रकृतमिति। अथ किमित्यसावाहारो न कल्पते, उच्यते स्वयोगेन प्रवृत्तोऽप्याऽऽहारपाकः साध्वर्थं बहिष्कृतस्तत्र च पृथिव्याद्युपमर्द्दारम्भदोष इति। कथं पुनरसौ दोषः साधुना ज्ञायते, उच्यते क्वचिद्धार्म्मिकगृहेऽन्धकारे एव राध्यमानं पूर्वं दृष्ट्वा पश्चात्तेनैव बहिस्तादिति किञ्चित्सञ्जाताशङ्केन किमर्थमयमाहारोऽद्य गृहस्य बहिस्ताद्राद्ध इत्यादि प्रश्ने कृते ऋजुतया भवदर्थमिति यथाकथनतः पूर्वमन्धकारेऽकल्प्यमासीदधुना सप्रकाशे राद्धं कल्प्यम्, गृह्यतामिति दात्रीवचनश्रवणतो वा विज्ञाय दोषं तदशनादि न गृह्णाति। यदा तु माध्वर्थमभ्यन्तराद्बहिश्चुल्लीं मुक्त्वा राद्धा चैवंविधोऽभिप्रायो दात्र्या विस्फुरति यथा गृहान्तर्मक्षिका घर्मो वाऽन्धकारो वा पाकस्थानाद्भोजनस्थानं वा दूरवर्त्ति, गृहस्य बहिस्ताच्च शीतलं सप्रकाशं पाकस्थानाद्भोजनस्थानं चासन्नमत इदं स्वयमत्रैव भोक्ष्यत इति। तदित्थमात्मार्थितं कल्पत इति। तथा 'दीयं' ति द्वितीयं प्रकाशकरणलक्षणं प्रादुष्करणं स्यादिति शेषः। केनेत्याह मणिर्माणिक्यं तेजस्विरत्नविशेषः, दीपोऽग्निकलिकारूपः प्रदीपः। गवाक्षो भित्त्यां जालिकारूपः प्रतीतः। तथा कुड्यस्य भित्तेः छिद्रं रन्ध्रं तदादि-

र्यस्य वस्तुनः, आदिशब्दाद् गृहाच्छादनापनयनापरद्वारकरणं पूर्वकृतद्वारबृहत्करणादेः परिग्रहस्ततः कुड्यछिद्रादि, ततो मणिश्च दीपश्च गवाक्षश्च कुड्यछिद्रादि च मणिदीपगवाक्षकुड्यछिद्रादि तेषां करणं केनापि रूपेण विधानं तेन। अयमर्थः कश्चिद्विवेकिदायको मन्द-प्रकाशगृहमध्यस्थस्थानस्थितस्यैव देयद्रव्यस्य प्रकटनाय, तमिस्रादेशे साधुभिक्षाशुद्ध्यर्थं मणिं भास्वरं व्यवस्थापयति, अग्निप्रदीपो वा प्रकाशाय कुरुते, गवाक्षं वा विधत्ते, कुड्यछिद्रादि वा विदधातीत्थं यत्प्रकाशकरणं करोति, तत्प्रकाशकरणलक्षणं प्रादुष्करणं भण्यते। तदित्थमपि लब्ध आहारो न कल्पते, प्रवृत्त्या दोषात्। अयमपि च स्थानस्थ आत्मार्थितस्सन् स्वयोगेन बहिर्निष्कासितो वा कल्पते। नवरं अग्निप्रदीपप्रकाशकरणदोषाशुद्धो न कल्पत एव तेजस्कायद्युतिस्पर्शसम्भवात्। परिज्ञानोपायादिकं चापि ऋजुगृहस्थकथनादिना जानातीत्यादिकं पूर्ववद्वाच्यमिति गाथार्थः ॥४२॥

उक्तं प्रादुष्करणद्वारमथ क्रीतद्वारं व्याचिख्यासुस्तत्स्वरूपं यथा तद्यावद्भेदं च स्यादित्येतदाह।

किणणं कीयं मुल्लेणं चउह तं सपरदव्वभावेहिं। चुन्नाइकहाइधणाइभत्तमंखाइरूवेहि ॥४३॥

व्याख्या—क्रीयते यत्तत्क्रयणं, कर्मणि युट्, क्रेयं वस्त्वित्यर्थस्तत् किमित्याह क्रीतमिति क्रीयतेऽशनादि साध्वर्थमिति क्रीतं क्रीताख्यं तदुच्यते इत्यर्थो यद्वा भावे युट् निष्ठा प्रत्ययः, ततः क्रयणमन्यजनपार्श्वादशनादेर्ग्रहणं क्रीतं। ततः क्रयणयोगादशनाद्यपि क्रीतं, क्रीतार्थमुच्यत इत्यर्थः। केन क्रीयत इत्याह मूल्येन क्रेतव्यवस्तुनो लाभकारकवस्तुना लोकप्रतीतेन, चतुर्द्धा चतुःप्रकारं, तत् क्रीतं स्यादिति शेषः यद्वा तदिति मूल्यं चतुर्द्धा चतुर्भिः प्रकारैर्वक्ष्यमाणैः स्यात्तद्योगात् भक्ताद्यपि चतुर्द्धेति व्याख्येयं। कथं पुनरिदं चतुर्द्धेत्याह 'सपरदव्वभावेहिं' ति तत्र स आत्मा यतिसत्को देहः परः साध्वपेक्षयाऽन्यो गृहस्थादिः ततः स्वश्च परश्च स्वपरौ

ततः स्वपरयोर्द्रव्यभावौ ताभ्यां स्वपरद्रव्यभावाभ्यामिति । एतेन द्वन्द्वात्परस्य पदस्य श्रूयमाणस्य प्रत्येकं व्याख्यानतः सम्बन्धात् स्वद्रव्यक्रीतं स्वभावक्रीतं परद्रव्यक्रीतं परभावक्रीतमिति क्रीतभेदचतुष्टयं वक्ष्यमाणार्थमुक्तं । किंस्वरूपाभ्यामित्याह, 'चुन्नाइ' इत्यादि, इह चूर्णशब्देन निर्माल्यमुज्जयन्तादिप्रतिमारोपितं चूर्णरूपं पुष्पादिकमभिप्रेतं चूर्ण आदिर्यस्य स्वकीयद्रव्यसमूहस्य स चूर्णादिः । आदिशब्दात् पुटपाकादिगन्धमुखप्रक्षिप्तमनुजरूपपरावर्त्तादिकारिगुटिकाकर्पूरादिमिश्रितचन्दनवालपोतकवस्त्रादिपरिग्रहः । 'कहाइ' त्ति कथा धर्मकथाकथनं धर्मदेशनाकरणमित्यर्थः । सा आदिर्यस्यात्मीयभावसमूहस्य स कथादिः । आदिशब्दात् पिण्डादिलोभेन प्रमाणोपन्यासकरणमासादिक्षपणविधानपरोपश्लोकनार्थकाव्यविरचनशीतोष्णाद्यातापनाऽऽदानादिपरिग्रहः । 'धणाइ' त्ति धनमिह घटिताघटितरूपसुवर्णद्रम्मरूपकर्द(पर्दि)कादिकमचेतनं ग्राह्यं, तदादिर्यस्य परद्रव्यसमुदायस्य स धनादिः । आदिशब्दात् सचित्तमिश्रद्रव्यग्रहः । 'मंखाइ' त्ति भक्तो भक्तिमान् मंखः केदारपट्टिकसुकृतदुष्कृतफलसूचकचित्रफलकोपजीवी भिक्षुविशेष इति यावत् । भक्तश्चासौ मंखश्च स आदिर्यस्य भक्तिमत्तथाविधजननिवहस्य स भक्तमंखादिः । इह परभावस्य प्रस्तुतत्वात्, साधर्म्यमाद्वाराद्युपमार्जनां(र्गणां) संवलितो मंखादिसत्कविज्ञानरूपो भावोऽपि भक्तमंखशब्देनात्रोपचारादुक्तः । ततश्चूर्णादिश्च कथादिश्च धनादिश्च भक्तमंखादिश्चेति ते तथा ते रूपं स्वरूपमात्मीयलक्षणं ययोः स्वपरसत्कयोर्द्रव्यभावयोस्तौ तथोक्तौ ताभ्यां चूर्णादिकथादिधनादिभक्तमंखादिरूपाभ्यां । केचित्तु बहुवचनांततया व्याचक्षते । यथा द्रव्ये च भावौ च द्रव्यभावाः स्वपरयोर्द्रव्यभावाः स्वपरद्रव्यभावास्तैः । किं स्वरूपैरित्याह । चूर्णादिकथादिधनादिभक्तमंखादयो रूपं येषां स्वपरद्रव्यभावानां ते तथा तैः, शेषं प्राग्वत् । (१५००) अनेन च गाथोत्तरार्द्धेन क्रीतभेदचतुष्टयसत्का मूल्यरूपा द्रव्यभावा विशेषणतया अभिहिताः । तत्रात्मद्रव्यं चूर्णादि, आत्मभावः

कथादि परद्रव्यं धनादिः परभावो भक्तमंखत्वादिरिति। तदयं प्रागुपात्तक्रीतभेदचतुष्टयस्यार्थो, यथा(दा) आहारादिलिप्सया स्वकीयेनात्मद्रव्येण चूर्णादिरूपेण गृहीणः(हिणा) प्रदत्तेन यदशनादि साधुना लभ्यते तदा द्रव्यक्रीतमात्मनोऽर्थायात्मद्रव्येण चूर्णादिना क्रीतं साधुनोपार्जितं भक्तादीति कृत्वा। अत्र चामी दोषा, यथा निर्म्माल्यादिग्रहणानन्तरं तस्य दैवयोगेन मांद्ये जाते साधुना अहं ग्लानीकृत इत्यादिग्लानजल्पनादिना शासनमालिन्यं स्यादथाग्रतो मन्दस्सन् निर्माल्यादि(ना)नीरोगः सम्पद्यते तथा चाटुकारित्वं कृतं स्यात्तथा मन्दस्यौषधादिदानेन प्रगुणस्य तु व्यापारादिप्रयोजकतया जीवाघातापत्तेः कर्म्मबन्धः स्यात्। तथाहाराद्यर्थमेव धर्मकथावादिक्षपकातापककविभिः स्वस्वधर्मकथादिलक्षणेनात्मभावेन विधायमानेन धर्म्मकथाद्याक्षिप्तचित्तेभ्यो लोकेभ्यो यदशनादिकं लभ्यते तदात्मभावक्रीतं आत्मनोऽर्थाय भावेन धर्म्मकथादिना क्रीतमिति कृत्वा। अत्र च दोषाः स्वानुष्ठानफल्गुताकरणप्रभृतयो वाच्याः। तथा गृही सचित्तादिभेदेन द्रव्येण साध्वर्थं यदशनादि क्रीणाति तत्परद्रव्यक्रीतं साध्वर्थं परेण गृहस्थादिना द्रव्येण धनादिसचित्तादित्रिप्रकारान्यतरेण क्रीतमिति कृत्वा। षट्कायविराधनादयो दोषाः प्रतीता एव। तथा परभावेन साधुभक्तमंखादिभिक्षुसक्तविज्ञानलक्षणेन पर्यायेण क्रीतं यद्भक्ताद्युपार्जितं साध्वर्थं तत्परभावक्रीतं। अत्र वृद्धदृष्टान्तो यथा—

एगंमि गामे एगो धम्मपिओ मंखो होत्था, अन्नया तस्स गिहेगदेसे साहुपरिवारसंयु(जु)या सुट्ठियायरिया तत्थ वासारत्ते ठिया। मंखो दाणरुई पइदिणं साहूणो भत्ताइच्छं(यं) देइ ते य सेज्जातरपिंडो त्ति काउं जेण तेण उवाएण पडिसेहंति। तेण चिंतियं जहा मम गेहे एए भत्ताइ न गेण्हंति अन्नेसिं पि गेहे जइ एत्थ दवाविस्सामि तओ लब्भिस्सन्ति, ता वासारत्ते वित्ते जत्थ गच्छिस्सन्ति तत्थ गन्तूण केणइ उवाएण दवावेमि त्ति। बहु वासारत्ते गए ते पुट्ठा। जहा भयवं वासारत्ते वित्ते कयरीए दिसाए तुब्भे

विहरिस्सह । तेहिं अविगप्पेहिं कहियं जहा अमुगाए । तेण य विच्चे चेव वासारत्ते तीए दिसाए एगंमि गोउले गन्तूण केदारपडि-
विन्नाणे लोगो आवज्जिओ । घयदुद्धाइयं दाउं पयट्टो, तेण भणिओ जहा जया याएमि तया देज्जसु त्ति । ते य साहुणो वासारत्ते
वित्ते विहरन्ता तत्थेवागया तेण अलक्खाविंतेण पुव्वपडिसेहियं घयाइयं जाइउं एगंमि गेहे मेलिऊण मुक्कं । ते साहुणो निमंतिऊण
सुद्धंति पच्चयं उप्पाइय पडिलाहिया । अत्र च परभावक्रीताख्योऽन्यतो गृहादानीतत्वाद-

इत्थमूर्झितमन्यदपि यदशनादि साधुना लभ्यते तत्परभावक्रीतमुच्यते ।
भ्याहृताख्यः, अवभाष्यावभाष्यैकत्रमुक्तत्वात् स्थापनाख्यश्च दोषः स्यादिति गाथार्थः ॥४३॥

उक्तं क्रीतद्वारमथापमित्यकद्वारमाह ।

समणठा उच्छिंदिय, जं देयं देइ तमिह पामिच्चं । तं दुट्टं जइभइणी, उद्धारियतेल्लनाएण ॥४४॥

व्याख्या—श्रमणार्थं साधुनिमित्तमुच्छिद्य पुनर्दास्याम्येतत्तवेत्यभिधाय कस्यापि पार्श्वादुद्धारे गृहीत्वा यद्देयं दातव्यं वस्तु, ददाति
एतेनाहारोपधिशय्यालक्षणं वस्तु सर्व्वं सूचितम् । नवरमत्राहारेणैव प्रकृतं, शेषं तु प्रसङ्गेनोपयोगित्वात् किञ्चिद्वक्ष्यते । प्रयच्छति
प्रयच्छति गृही श्रमणेभ्यस्तद्वस्त्वाहारादि । 'इह' प्रवचने, एषु वोद्गमादिदोषेषु मध्ये, 'पामिच्चं' ति अपमित्यकं प्रामित्यकं चोक्तशब्दार्थ
भण्यत इति शेषः । एतच्च लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विभेदं स्यात् । तत्र लौकिकं पृथग्जनभवमितरच्च जिनशासनोद्भवं । तदिह
लौकिकेन प्रकृतं । तत्रानालापराटिदासत्वप्रभृतिसर्व्वजनप्रत्यक्षदोषसम्भवात् । इतरदुपरिष्टादुपयोगित्वादेव वयं दर्शयिष्यामोऽतो लौकि-
कमाश्रित्य सूत्रकारो निषेधं दर्शयन्नाह । तदपमित्यकाशनादि दुष्टं दात्र्यादेर्दासत्वभवनादिदोषकृत् । दुष्टत्वाच्च यतीनामकल्प्यं ।

केन दुष्टत्वमस्य ज्ञातमित्याह यतः साधोर्भगिनी स्वसा, तया उद्धारितं मूल्याभावादुद्धारके गृहीतं यद्वणिक्तैलं तस्य ज्ञातं दृष्टान्तस्तेनेति । तच्चेदं—

एगंमि गामे एगो कुडुंबिओ होत्था, तस्स य बहवे पुत्ता । बहुयाओ धूयाओ भविंसु । अण्णया तत्थ समुद्दघोसो णाम सूरिणो समागया । तेसिं सगासे धम्मं सोउं एगो तस्स कोडुंबियस्स पुत्तो संजायतिव्वचरणपरिणामो पडिवन्नो दिक्खं । कालेण य विन्नाया-सेसकिरियाकलावो अहिज्जियसयलसुत्तत्थो विन्नायपरमत्थो गीयत्थो संजाओ । सो य अन्नया कोइ पव्वज्जं गिण्हिहित्ति गुरुणो आपुच्छिऊण सयणदंसणत्थं नियसन्नायगगामे गओ । तत्थ बाहिं कोइ पुट्ठो जहा अमुगस्स कोडुंबियस्स पुत्तो हं, ता कोइ एत्थ अत्थि मम सयणो, तेण भणियं एगा तुज्झ भगिणी विहवा जीवइ । सेसं सव्वं कालेण कवलियं, तउ तीसे गिहे पविट्ठो, सा य तं सहोयराणगारं निज्जियदुज्जयवइरिमारं विहिउग्गच्छट्ठट्ठमाइतवोदारं विसिट्ठणाणाइगुणगणागारं दट्ठूण अतीव हरिसिया । भत्तिबहुमाणपुव्वं वंदिऊण पज्जुवासिऊण य तन्निमित्तं किंचि आहारपागं काउं पयट्टा । साहुणा य वारिया जहा पागे कए अम्हाणं न कप्पइ । तीए चिन्तियं पागं विणा घयतेल्लाइयं होइ । तं च मम गेहे नत्थि त्ति मासे मासे दुगुणवुड्ढीए एगस्स सेट्ठिस्स सयासाउ उच्छिन्नो एगो करिसो तेल्लस्स गहेऊण साहुणो ढोइओ । तेण सुद्धो त्ति गहिउं जीमिओ । तीसे नियमाइयं दाउं विहारो कओ । तीसे तेल्लस्स असंपत्तीए अणेगे घडया रिणे जाया । सेट्ठिणा सा भणिया जहा मे तेल्लं देहि उदाहु गीहदासी भवसुत्ति, तेल्लस्स अभावाउ तस्स गिहे दासी जाया । कइवयवरिसेहिं पुणो वि सो साहू तत्थागओ गामपरिसाए कोइ पुट्ठो जहा अमुगस्स कोडुंबियस्स अमुगा तणया आसि सा किं चिट्ठइ नवा, तेण भणियं चिट्ठइ परं अमुगस्स सेट्ठिणो गिहदासी जाया रोवन्ती चिट्ठइ, सव्वो तिल्ल-

वइयरो कहिओ। तेण चिन्तियं हा दुट्ठु जायं मम दोसेण सा वराही(ई) दासत्तं पत्ता। इण्हिं मोयामिति। सो भणिओ जहा तीसे तं कहेज्जसु जह सो तव भाया साहू समागओ चिट्ठइ भणइ य मा रोवसु अचिरकालेण मेल्लावेस्सामि, तेण य तहेव तीए कहियं। साहू य एसो चेव तीए मेल्लावणोवाओ चिन्तिऊण पढमं चेव भिक्खायरियाए तस्सेव सेट्ठिस्स गिहे पविट्ठो। सेट्ठिणी भिक्खादाणट्ठा हत्थे जलेण धोइउं लग्गा। साहुणा भणियं एवं अम्हं भिक्खा न सुज्झइ। समीवठिएण सेट्ठिणा साहू पुट्ठो जहा को एत्थ दोसो, साहुणा य जलविराहणाइदोसा कहिया सो य आउट्टो भण्णइ, जहा कत्थ तुम्हाणं वसही जेणाहं आगन्तुं धम्मं सुणेमि। साहुणा भणियं नत्थि। तओ तेण नियगेहे दिन्ना, पइदिणं धम्मं सुणेति, सम्मत्तमणुव्वयाणि य सेट्ठिणा गहियाणि। तओ सो साहू अनुगेण एरिसो अभिग्गहो गहिओ जहा मए जावज्जीवं पव्वज्जं गिण्हन्तो नियपुत्तो वि न य धरियव्वो त्ति। एरिसयाइं कहाणयाइं सेट्ठिणो कहेइ। सेट्ठिणा य एसो अभिग्गहो गहिओ। एत्थंतरे सेट्ठिपुत्तो सा य साहुभगिणी पव्वज्जाए उवट्ठिया। सेट्ठिणा विसज्जियत्ति।

ननु तस्या निर्वाणसाधिकायाः प्रव्रज्यायाः कारणमेवजातमिति विशेषतः साधुना तद्ग्राह्यमित्यायातं, नैवं, स्तोका एवंविधविज्ञानवन्तो भविष्यन्ति, तस्मादेतन्न ग्राह्यम्। एवं तावद्घृततैलाद्याहारविषयापमित्यके दोषा दासत्वप्राप्त्यादयः स्युः। यदा तु वस्त्रपात्राद्युपकरणवसत्यादिविषयमापमित्यकं दाता कुर्यात्तदाऽऽहारापेक्षया वस्त्रादीनां बहुतममूल्यलभ्यत्वात् दातुर्निगडादिनियन्त्रणयुतदासत्वभवनादयो गाढतरा विशेषतस्ते स्युः अतस्तदपि वर्ज्यमिति। लोकोत्तरापमित्यकं चतुर्धा(द्विधा)। तत्रैकं कश्चित् साधुः कुतोऽपि साधोः सकाशात् कियद्दिनानि व्यापार्य पुनरिदमेव ते समर्प्पयिष्यामीत्युक्त्वा वस्त्रादि गृह्णाति। द्वितीयं तु कश्चिदिदं निर्जरयिष्यामि तच्चेतावद्दिनानामुपर्यंतत्सदृशमपरं समर्प्पयिष्यामीत्युक्त्वा तद्गृह्णाति तद् द्विरूपमपि पुरुषजल्पनेन राटिरूपणाक(णादि)दोषसम्भ-

चौरादिना यद्गृहीतं क्वचित् पातितं वा जीर्णप्रायं वा कृतं समर्प्पयति

वादकल्प्यम्। तथाह्याद्ये वस्त्राद्यापमित्यके यदा मलिनीकृतं पाटितं वा जीर्णप्रायं वा कृतं समर्प्पयति चौरादिना यद्गृहीतं क्वचित्
पतितं वा स्यात्तदा कलहादिसम्भवो द्वितीयवस्त्राद्यापमित्यके तु यदा स्वकीयवस्त्राद्यपेक्षयाऽन्यवस्त्रादि तद्ग्राहकसाधोः सकाशात्
साधुर्मार्गयति, तदा तेन साधुना गृहीतवस्त्रादेः (साधोः)सकाशात् सुन्दरेऽपि तस्य समर्प्यमाने दुष्कररुचित्वात्तेन सहासौ कलहाना-
लापादिकं कुर्यादिति। यदा तु दुष्प्रापं वस्त्रादिकं स्यादथ च कश्चित् साधुः सीदति तदा तस्यापरसाधुनाऽधिकतत्सद्भावे मुधिकया
सामान्येन तद्दानं कर्त्तव्यं न तु विवक्षया यदा तु खग्गूडो वा कुटिलयतिः स्यादलसो वा याच्ञाकष्टभयेन न प्रयच्छति मुधिकया
तदाऽऽपमित्यकं क्रियते। नवरं तदपि वस्त्राद्यापमित्यकं साधुना न स्वैरितया विधेयं किन्तु गुरोरग्रतस्तत् स्थाप्यते। ततोऽसौ गुरु-
स्तदर्थिनः साधोरर्पयतीति। एवं च कृते दायकग्राहकयोः कालान्तरेऽपि परस्परं कलहानालापादिकं न भवतीति गाथार्थः ॥४४॥

उक्तमाद्यद्वारगाथान्तवर्त्त्यापमित्यकद्वारं, अथ 'परियट्टिए अभिहडे'त्यादि द्वितीयद्वारगाथोपात्तं दशमं परिवर्त्तितद्वारमाह।

पल्लटियं जं दव्वं, तदन्नदव्वेहिं देइ साहूणं। तं परियट्टियमेत्थं, वणिदुगभइणीहि दिट्ठंतो ॥४५॥

व्याख्या—परिवर्त्य विनिमयं विधाय यद्द्रव्यं भक्तादिकं परकीयं, काभ्यां परिवर्त्येत्याह, 'तदण्णदव्वेहिं' ति तच्चान्यच्च तदन्ये,
ते च तद् द्रव्ये च तदन्यद्रव्ये, ताभ्यां तद्द्रव्येणान्यद्रव्येण चात्मीयेनेत्यर्थः। तत्र तत्परिवर्त्तिनी यद्द्रव्यापेक्षया तज्जातीयं द्रव्य-
वस्तु तद्द्रव्यं, तेन परिवर्त्तितम्। यथा साधुगौरवनिमित्तमात्मलाघवपरिहारार्थं वा कुथितघृतेन सुगन्धितघृतस्य ग्रहणमित्यादि।
अन्यद्रव्यं तद्विपरीतं तेन परिवर्त्तितं यथा तैलेन घृतस्य ग्रहणमित्यादि। पूर्वकालस्य चोत्तरक्रियासव्यपेक्षया तदुत्तरक्रियामाह,
ददाति प्रयच्छति, 'साहूणं' ति साधुभ्यस्तदशनादि। साध्वर्थाय कृतपरावर्त्तं परिवर्तितमुच्यत इति शेषः। इदमपि लौकिकलोकोत्त-

रिकभेदात् द्विधा भवति । तत्र पूर्व्ववत् लोकोत्तरं पश्चाद्वक्ष्यते लौकिकं च सद्यः प्रभूतापायहेतुत्वाद्विशेषतो मुमुक्षुणा परिहार्यमिति सूत्रकारस्तदाश्रित्य प्रत्यपायदर्शनार्थं दृष्टान्तमाह । 'एत्थं' ति अत्रैतस्मिन् परिवर्त्तिताशनादौ वणिग्द्विकस्य परस्परं ये भगिन्यौ स्वसारौ ताभ्यां दृष्टान्तो निदर्शनं भणनीय इति शेषः । स चायं—

वसंतपुरं नाम नयरं आसि । तत्थ एगस्स सेट्ठिस्स खेमंकरो देवदत्तो य दुवे पुत्ता लच्छी दुहिया य । तत्थेवं अन्नस्स सेट्ठिस्स धणदत्तो वंधुमती य दुवे डिंभाणि । सव्वाणि जोव्वणं पत्ताणि । तत्थ खेमंकरो समियायरियाण सगासे पव्वइओ । देवदत्तेण बन्धुमती, धणदत्तेण लच्छी परिणीया । इओ य धणदत्तो लच्छी य दरिद्दाणि जायाणि । तेसिं घरे कोद्दवकूरो, इयराणि ईसराणि, तेसिं तु सालिकूरो विज्जइ । अन्नया सो खेमंकरसाहू नियत्रिहारेण विहरंतो तत्थागओ । तेण चिंतियं य(ज)इ देवदत्तभाउणो गिहे पविसिस्सामि ता लच्छी भगिणी अहं दालिद्दिणि त्ति खेमंकरेणवि परिभूयत्ति अद्धिइं काहिति, अणुकंपाए तीए चेव गिहे पविट्ठो । भिक्खावेलाए लच्छीए चिंतियं एक्कं भाया तहा साहू ,अन्नं पाहुणओ सो, ममं घरे पुण कोद्दवकूरो रद्धो, ता कहं सो एयस्स दिज्जइ । सालिकूरो उण नत्थि ता नियभाउजाइयाए वंधुमतीए सयासाउ कोद्दवकूरेण पल्लट्टिय सालिकूरं आणिय देमि तहेव कयं । इओ य तंमि पत्थावे देवदत्तो भोयणत्थं गिहे आगओ वंधुमतीए पुट्ठो । जहा कोद्दवकूरं जेमिसि तेण य अविन्नायपरियट्टणवुत्तंतेण चिंतियं, जहा किवणत्तणेण अणाए कोद्दवकूरो रद्धो त्ति कुविएण सा पिट्टिया । तीए भणियं, किं मं पिट्टेसि ? तुह चेव भगिणी कोद्दवकूरपरियट्टणेण सालिकूरो नीउत्ति । धणदत्तो वि सगिहे भोयणत्थमुवविट्ठो, लच्छीए खेमंकरस्स दिज्जमाणो जो सालिकूरो उव्वरिओ सो गउरवेण तस्स दिन्नो तेण सा पुट्ठा । कुओ अज्ज एसो ? तीए खेमंकरआगमणाइसव्वो वुत्तंतो कहियो । तओ तेण

जं परघराउ आणयणेण मम लहुत्त उप्पाइयं ति भणमाणेण
कुविएण पावे ! अप्पणयं पक्कमाणयं कुरस्स रंधियं तु कीस न दिन्नं ?
सा वि पिट्टिया । साहुणा य सव्वं नायं । निसाए पडिबोहियाणि पत्थावे पव्वावियाणि त्ति ।

इह हि देवदत्तस्य भगिनी लक्ष्मीर्धनदत्तेन परिणीता दरिद्रा चासौ । धनदत्तस्य भगिनी बन्धुमती देवदत्तेन यतिभ्रात्रा परि-
णीता इति । परस्परं वणिग्द्वयस्य भगिन्यौ वर्त्तेते । दृष्टान्तेन सदोषत्वात् परिवर्त्तितं यतिभिर्न ग्राह्यं । य(त)था यच्छ्रमणः श्रमणेन सह
वस्त्रादिपरिवर्त्तनं करोति तल्लोकोत्तरपरिवर्त्तनं। तदपि तद्द्रव्यान्यद्रव्यविषयं दृष्टव्यमेतदपि दुष्टं कलहादिसम्भवात् । तथाहि लब्धिदं
त्वदीयं वस्त्रादि, मदीयं तु मानयुक्तमभूत्तथाऽतिप्रलम्बमिदं जीर्णप्रायं वा कर्कशस्पर्शं वा स्थूलसूत्रनिष्पन्नत्वेन भारिकं वा, निष्पु-
ष्फदन्तं (निपुष्पकं-छिन्नं) वा, मलिनं वा, शीतरक्षणाक्षमं वा एतन्मदीयं तु नैवमासीदिति स्वयं ज्ञात्वाऽन्येन वैतद्दोषजालं सत्यमसत्यं
वा ज्ञापितो घृष्टोऽहमिति विचिन्त्य कलहादि कुर्यात् । अपि च तद्वस्त्रादि यस्य सत्कं तत्र स्यात् तस्य प्रावरणादि कुर्वतो मान-
युक्तं स्यात् । द्वितीयसाधोश्च यत्सत्कं तत्तस्य न्यूनाधिकमानं, यद्वा यस्य दुर्बलमस्ति स बलिकं, यस्य तु बलिकमस्ति स दुर्बल-
मिच्छति तदा परिवर्त्तनं क्रियते, परं तदा तद्वस्त्रादि साधुभ्यां स्वं स्वं गुरोरग्रतो मोक्तव्यं, मुक्ते च स गुरुर्विनिमयेन द्वयोः साधोस्त-
त्समर्प्पयत्यन्यथा साधुभ्यामेव परिवर्त्तने कृते परस्परमनालापकलहादिकं स्यादिति गाथार्थः ॥५५॥

उक्तं परिवर्त्तितद्वारमथाभ्याहृतद्वारं व्याचिख्यासुराह ।

गिहिणा सपरग्गामाइ—आणियं अभिहडं जईणठा। तं बहुदोसं नेयं, पायडछन्नाइबहुभेयं ॥४६॥

व्याख्या—गृहिणा गृहस्थेन, स्वश्च परश्च स्वपरौ तौ च तौ तथा स्वग्रामः परग्रामश्चेत्यर्थः। तत्र साधोर्निवासः संनिवेशः

स्वग्रामः। एतद्विपरीतः परग्रामः तावादिर्यस्य स्वपरदेशकपाटकगृहादिस्थानविशेषरूपस्य तद्गतभेदसमूहस्य स तथा तस्मात्, प्राक्-
तत्वादत्र पञ्चम्येकवचनलोपात् स्वपरग्रामादेरिति दृश्यं। 'आदिशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते'(इति) व्याख्यानात् स्वग्रामादेः परग्रा-
मादेश्चेत्यर्थः। आदिशब्द उभयथापि स्वगतानेकभेदसूचको द्रष्टव्यः। ते च भेदाः प्रकटछन्नादयो गाथाचतुर्थपादेन सूत्रकृतैव
विशेषणतया सूचिता इति तत्रैवाभिधास्यन्ते। आनीतमिति किञ्चित्स्थानं प्रापितं यदशनादीति प्रक्रमः। यतीनामर्थाय साधूनां
प्रतिलम्भनानिमित्तं। यत्तदोर्नित्ययोगात्तदशनाद्यभिहृतं पूर्वोक्तशब्दार्थं भण्यत इति शेषः। तत् स्वपरग्रामाद्यभिहृतं अशनादि, बहवः
प्रचुरा दोषाः संयमात्मविराधनादयो दूषणानि वक्ष्यमाणा यत्र तद्बहुदोषं ज्ञातव्यं। तथा तत् प्रकटं तद्ग्राहकसाधुशेषजनाभ्यां
विदितस्वरूपं, तथा बहिरन्यथा जल्पितत्वेन तद्ग्राहकसाधुना लोकेन च यदलक्षिततदातृदानपरिणामं वस्तु तच्छन्नं। कोऽर्थो यथा-
ऽन्यो न कश्चिज्जानाति तथा यदाऽऽनीतं तच्छन्नमिति। ततः प्रकटं च छन्नं च प्रकटछन्ने, ते आदिर्येषां अनाचीर्णाचीर्णादिभेदानां
ते प्रकटछन्नादयस्ते बहवो भेदा विशेषा यस्याभ्याहृतस्य तत्तथा। अयमत्र भावार्थः। इहादावनाचीर्णाचीर्णभेदात् सामान्येन
द्विधाऽभ्याहृतं। तत्रानाचीर्णं, यस्य ग्रहणं गीतार्थैर्नाऽऽचरितं तदपि द्विधा स्वग्रामपरग्रामभेदात्। स्वग्रामाभ्याहृतमपि वाटकसाहि-
निवेशनगृहादिभ्यः पङ्क्तिस्थितगृहत्रयात् परतश्चतुर्थगृहादेर्वा आनीतं स्यात्। तत्र वाटको ग्रामादेर्व्यवच्छिन्नः संनिवेशः। साही
ग्रामगृहाणामेकपाटी। निवेशनमेकनिष्क्रमणप्रवेशानि द्व्यादीनि गृहाणि। गृहं केवलमन्दिरमिति। एतच्च प्रकटछन्नतया द्विधा
स्यात्। तत्र प्रकटं स्वग्रामाभ्याहृतमित्थं स्यात्। यथा कश्चित् साधुर्भिक्षामटन् क्वापि गृहे प्रविष्टस्तच्च तदा बहिर्निर्गतमानुषत्वेन शून्यं
दात्री वा तदा सुप्ताऽभूत्, साधुभिक्षाप्रस्तावे राद्धं वा नासीत्, साधोर्वा तत्र विहृत्य निर्गतात् (गतस्य पश्चात्) प्राघूर्णकस्वज-

नादिभोज्यं जातं लाहणकं वाऽऽयातमित्येतैः कारणैः काचिद् गृहस्थी स्थालीतलिकाकरोटकादिभाजने कृत्वा भक्तादि साधोरूपाश्रयमानयति। ततः किं त्वयेदमत्रानीतमिति साधुना पृष्टे सोपाश्रये भक्ताद्यानयनप्रयोजनं कथयति। यथा यदा त्वं मदीये गृहे भिक्षार्थं गतस्तत्तदा शून्यं गृहमासीदित्यादीति। तस्मादिदं मयाऽऽनीतं त्वं गृहाणेति जल्पति। तदिदं प्रकटं स्वग्रामाभ्याहृतं। प्रच्छन्नं च तदित्थं स्याद्यथा काचित्साधोः प्रतिलाभनाय प्रहेणकमिषेणोपाश्रये लड्डुकाद्यानीय तत्संमुखमेवं वदति यथा मया भ्रातृगृहादौ संखड्यां वा गतया प्रहेलकमिदं लड्डुकादि लब्धं। यद्वा स्वगृहानीतं प्रहेणकं स्वजनानां गृहे मया तैश्चेदं रोषादिना न गृहीतं। संप्रति तु भवद्वन्दनार्थमिहायाताऽस्मि ततः किमनेन गृहं नीतेन त्वमेवेदं गृहाणेत्येवं भणनपूर्वकं, तथाभ्याहृतशङ्कारक्षणार्थं स्वगृहाभिमुखं दत्तकतिचित्क्रमा, तद्गृहीतहस्ता, भूयोऽपि तद्दानाय साध्वभिमुखमागता सती तत् साधवे ददाति। यद्वा मायया काचिदभ्याहृतमानीय साधोः शृण्वतो वसतिप्रत्यासन्नां शय्यातरीं प्रति साधुसमीपगृहवर्त्तिनीं प्रतिवेशिनीं वा प्रति गृहाणेदमिति वदति। तया च पूर्वगृहीतसङ्केतया मातृस्थानेन सा निषिध्यते, यथा त्वयाप्यमुकत्र दिने मदीयं प्रहेणकं न गृहीतमित्यहमपि त्वदीयं न गृहीष्ये इति। ततो लाहणकनेत्री किञ्चित् परुषं प्रत्युत्तरं ददाति, ततो द्वितीयाऽपि पुनः किञ्चिज्जल्पतीत्येवं परस्परमलीककलहे सति रोषवती सम्भूय तद्गृहीत्वा स्वस्थानाभिमुखं चलति। ततो भूयोऽपि परावृत्य साधूपाश्रयं प्रविशत्यभिवन्द्य च साधुं वदति। यथेदं नानया गृहीतं तथा त्वयापि श्रुतमिति त्वमेवेदं गृहाण इत्युक्त्वा साधवे तत्प्रयच्छति, इत्येवं प्रच्छन्नं स्वग्रामाभ्याहृतं भवति। तत्र स्वदेशः साधोर्निवासमण्डलस्तस्मिन्। परग्रामः साधोरनिवाससंनिवेशस्तस्मादभ्याहृतमानीतं तत्। तथा परदेशः साधोरनिवासमंडलस्तस्मिन्। परग्रामः पूर्वोक्तस्तस्मादभ्याहृतमानीतं तत्तथा। एतत्सर्वमप्यभ्याहृतं सामान्यतो द्विधा, नद्यादिमार्गरूपेण जलपथेन, पृथ्वीमार्गरू-

पेण स्थलपथेन च । जलपथेनापि नौत्रप्यक(तप्रक)तुम्बकबाह्वादिभिर्जङ्घाभ्यां वाऽभ्याहृतं स्यात्। स्थलपथेनापि स्कन्धेन कापोत्या मस्तकेन करादिना स्थाल्यादिना वा भाजनेन गन्त्रीगर्दभादिना वाहनेनाभ्याहृतं स्यादत्र च जलपथस्थलपथाभ्याहृते द्विविधेऽपि संयमात्मप्रवचनविराधनास्तिस्रः स्युः। तत्राद्या, द्विविधेऽपि चंक्रमणादिना पृथ्वीकायादिव्यापादना स्यात् । आत्मविराधना त्वाद्य- (त्वस्ताधे) पादादिभिरलभ्यमानाधोऽभूभागे नद्यादिजले प्रभूतपङ्के निमज्जनभावात्, ग्राहमकरमत्स्यकच्छपपादबंधकतन्तुकादिभ्य- स्तद्दंशाद्यपायसद्भावाच्च स्यात् । स्थलपथाभ्याहृते च कण्टकाहिस्तेनव्याघ्रादिश्वापदेभ्यो वधादिरूपापायसद्भावात्, ज्वराद्युत्पादक- परिश्रमादिभावाच्च स्यात् । प्रवचनविराधना तु प्रवचनमालिन्यजनकजनभाषणादिना स्वयमभ्युह्या इति । एवं भेदविशिष्टं प्रकटपर- ग्रामाभ्याहृतं भवति तथाहि यदा यतिजनरहिते ग्रामे श्रावकः कश्चिद् विवाहादौ जाते प्रभूतमशनाद्युद्वरितं दृष्ट्वा विचिन्त्य च यद्येतद्यतिभ्यो दीयते तदा महते पुण्याय स्यादिति भक्तिवशतो यत्र यतयस्तत्र तन्नीत्वा तथा कथञ्चिद् गोपनं विधाय तेभ्यो दद्याद्यथा ते न जानन्त्यभ्याहृतमिदमिति । तदा तस्थ(त्) छन्नपरग्रामाभ्याहृतं भवति । अत्राख्यानकं यथा–

धन्नउरं नाम गामो आसि । तत्थ य एगंमि कुडुंबे बहवे सावया बहुयाओ य सावियाओ चिट्ठंति, अन्नया य तेसिं गिहे विवाहो जाओ वित्तो य । तत्थ पउरं कूरलड्डुगाइयं उव्वरियं । तेहिं चिन्तियं, जहा जइ एयं साहू दिज्जइ ता महापुन्नं भवइ । तत्तो य साहूणो दूरे चिट्ठंति अहवा पच्चासन्ना परं अंतरे नई तो आउकायविराहणाभयेण नागमिस्सन्ति, आगया वि पउरकूराइ अवलोयणेण आहाकम्मसंकाए न गिण्हिस्सन्ति त्ति, पच्छन्नं जत्थ गामे साहुणो चिट्ठन्ति तत्थ कूरलड्डुगाइयं गहिऊण सव्वे सावया सावियाओ य आगया। तेहिं चिन्तियं जइ साहूणं चेव हक्कारिऊण देमो तो असुद्ध त्ति आसंकिय ते न गिण्हिस्सन्ति, ता बंभणाइणं किंपि

दिज्जउ तं पुण जइ अन्नत्थ देमो तो साहुणो न पेच्छिस्सन्ति त्ति चिन्तिय जंमि साहुणो उच्चाराइकज्जेण निगच्छन्ता पेच्छन्ति तंमि ठाणे एयस्स जक्खदेवउल्लस्स बाहिं बंभणाईणं थोवं दाणं दाउमारद्धं । तओ उच्चाराइकज्जे निग्गया केइ साहुणो तं दिज्जमाणं दट्ठूण सुद्धं ति काउं तत्थागया पउरं लद्धं । तेहिं सेससाहूण कहियं ते वि गया तेसिं एगे पउरं कूराइयं देति, अन्ने आहडसंकारक्खणत्थं माइट्ठाणेण कम्मकरं वारिंति, जाव ते तं गहिऊण नियट्ठाणे गया । तत्थ नवकारसहिया भुत्ता, अजिन्नवंता पुरिमड्डियाइणो य पडिवालंति पोरिसिया भुंजन्ता चिट्ठन्ति । एत्थंतरे तेहिं सावगाईहिं चिंतियं । एण्हिं साहूणो भत्तं भुत्ता भविस्सन्ति त्ति, वंदिय नियट्ठाणे गच्छामोत्ति समहीए पहरे साहुवसहीए आगया । निसीहियाइसव्वा सावयकिरिया कया, साहूहि पच्चभिन्नाया, नायं च जहा सावएहिं हुन्तेहिं एएहिं महेसररूवट्ठिएहिं अम्हं दाणं दिन्नं । ता आहडं एयं । तत्थ जेहिं भुत्तं तेहिं भुत्तं जे भुंजिउकामा आसि तेहिं न भुत्तं भुंजंतेहिं पुण जे केवला उक्खित्ता ते भायणे चेव निक्खित्ता । मुहपक्खित्तं तु पासट्ठियखेलए पक्खित्तं तओ सव्वं परिट्ठवियं । सावया सावियाओ य खामिउं गया । साहुणो य जेहिं पडिपुन्नं थोवं वा भुत्तं ते वि सुद्धा असढभावत्ति काउं ति । तदेवमभ्याहृतं यतीनां ग्रहीतुं भोक्तुं वा जिनैर्निषिद्धमिति तत् परिहार्यमिति गाथार्थः ॥४६॥

उक्तमनाचीर्णाभ्याहृतं सभेदमधुना आचीर्णाभ्याहृतमाह ।

आइन्नं तुक्कोसं हत्थसयंता घरेउ तिन्नि तहिं। एगत्थ भिक्खगाही बीओ दुसु कुणइ उवओगं ॥४७॥

व्याख्या—आचीर्णं गीतार्थसाधुभिर्ग्रहणे आचरितं अभ्याहृतं पुनः क्षेत्रापेक्षया गृहापेक्षया च द्विधा स्यात् । क्षेत्रापेक्षयाप्युत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात्त्रिविधम् । तत्रोत्कृष्टभणनेन जघन्यमप्युक्तप्रायमिति विचिन्त्योत्कृष्टं मध्यमं चैकवाक्येन । तत्र क्षेत्रापेक्षया

तावदाह 'उक्कोसं हत्थसयंतो' त्ति इह च प्राकृतत्वादन्तशब्दस्य अन्तःशब्दस्य च, निर्देशस्य च समानत्वात्, उत्कृष्टं प्रत्यन्त-
शब्दो मध्यमं चाश्रित्यान्तःशब्दो दृश्यः। ततश्चोत्कृष्टं महत् क्षेत्रविषयमभ्याहृतमाचीर्णं वर्त्तते। कियदित्याह हस्तशतान्त इति।
हस्तशतं प्रतीतमन्तः पर्यन्तो यस्य भूभागस्य स हस्तशतान्तः एतावद्दूरादागतमशनादीति तत्त्वं। अथ कदा पुनर्हस्तशतादेः
सम्भवः! उच्यते। यदा प्रचुरभोजकजनपङ्क्तिरुपविष्टा भवति तदा तस्या एकस्मिन् पर्यन्ते साधुसङ्घाटको द्वितीये तु देयं तिष्ठति।
स च स्पृष्टास्पृष्टभयादिना देयस्य समीपे गन्तुं न शक्नोत्यतोऽस्य सम्भवः। तथा प्रलम्बगमनमार्गे छिण्डिकादौ घंघशालारूपे
दीर्घप्रवेशभवने वा हस्तशतादागतस्य भक्तादेः साधुभिराचीर्णं ग्रहणम्। समधिकहस्तशतादारभ्य पुनर्जिनैर्निषिद्धं। अयं चापवादः।
स च स्थविरकल्पिकानामेव ज्ञेयो न तु जिनकल्पिकादीनां तेषां निरपवादित्वात्। तथा मध्यमक्षेत्राचीर्णाभ्याहृतं त्वाश्रित्येदमेव
वाक्यमुत्कृष्टाभिधायकं हस्तशतेन प्रमितं क्षेत्रमपि तथा। ततो हस्तशतस्यान्तर्मध्ये हस्तशतान्त इति व्याख्येयम्। करपरिवर्त्ता-
दुपरि यावद्धस्तशतं किञ्चिन्न्यूनं तावन्मध्यमं स्यादित्यर्थः। सामर्थ्यात्करपरिवर्त्तो जघन्यक्षेत्राचीर्णमभ्याहृतमित्युक्तं भवति। तत्र
करपरिवर्त्तो नाम हस्तस्य किञ्चिच्चलनं यथा काचिद् दात्री ऊर्ध्वोपविष्टा वा स्वयोगेन मुष्टिगृहीतमण्डकेन प्रसारितेन चाङ्गुना तिष्ठ-
त्यत्रान्तरे साधुरागच्छति सा च तथैव स्थिता करस्थमण्डकैस्तन्निमन्त्रयते, स मुष्टेरधः पात्रकं धारयति सा च भुजमचलयंती कि-
ञ्चिन्मुष्टिं शिथिलयति, ततो मण्डकाः पात्रके पतन्तीति। उक्तं क्षेत्रविषयमधुना गृहविषयं तदाह। 'घरेउ तिन्नि' त्ति गृहाणि तु
भवनानि पुनः पङ्क्तिस्थितानीति दृश्यं। त्रीणि त्रिसङ्ख्यानि यावत् गृहविषयाभ्याहृतमुत्कृष्टमाचीर्णमिति प्रक्रमः। तत्राप्येषणावि-
षयदत्तावधानस्य गृहत्रयाभ्याहृतमनुज्ञातमिति। तद्भिक्षाग्रहणविधिमाह 'तेहिं एगत्थे' त्ति तस्मिन् पङ्क्तिव्यवस्थितगृहत्रये-यदा साधु

सङ्घाटको भिक्षां गृह्णाति तदा तयोः साध्वोर्मध्यादेकस्तु धर्म्मलाभिते गृह्यमाणभिक्षागृहे भिक्षाग्रही समुदानप्रतीक्षकसङ्घाटकाग्रेतन-साधुरुपयोगं करोतीति योगः। 'बीओ' त्ति पुनरर्थचकारलोपात् द्वितीयश्च भिक्षाग्राहकादपरः पुनर्द्वयोरानीयमानभिक्षयोर्धर्म्म-लाभितगृहादितरयोर्गृहयोर्विषये करोति विधत्ते उपयोगं दायकहस्तादिव्यापारविषयमवधानमित्येवमुपयोगपूर्वकं गृहत्रयाशनादि-दीयमानमाचीर्णमिति। गृहत्रयात्परतोऽनाचीर्णमिति प्रागेवोक्तं इति गाथार्थः ॥४७॥

उक्तमभ्याहृतद्वारमथोद्भिन्नद्वारमाह।

जउछगणाइविलित्तं, उब्भिंदिय देइ जं तमुब्भिन्नं। समणट्ठमपरिभोगं, कवाडमुग्घाडियं वा वि॥४८॥

व्याख्या–इहोद्भिन्नं द्विधा–पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नं च तत्र पिहितोद्भिन्नमाश्रित्याह। 'जउ'त्ति, जत्वग्नितापोत्पन्नं श्लेषद्रव्यं लाक्षाकिट्ट इति लोकप्रतीतं। छगणं गोमयं। ततः छगणमादिर्यस्य द्रव्यस्य तच्छगणादि आदिशब्दाद्धसदर्दरकसंज्ञितकुतपादिमुख-बन्धकवस्त्रखण्डमृत्तिकालक्षणास्यगतोपलेपनकारिद्रव्यग्रहस्ततो जतुछगणादि चेति विग्रहे तत्तथोक्तं, तेन विलिप्तमुपदिग्धं पिहितं जतु-छगणादिविलिप्तं। तथा डमरुकमणिन्यायेन 'समणट्ठमपरिभोगमि'ति गाथातृतीयपादोऽत्रोत्तरत्र च सम्बन्धनीयः। ततः परिभुज्यते, प्रतिदिनं बन्धनच्छोटनादिना यद् व्यापार्यते तत्परिभोगं न तथाऽपरिभोगं प्रतिदिनमव्यापारमित्यर्थो यत् कोष्टिकादि खण्डतैलादि-भृतघटादिकं चोद्भिद्योद्भिद्य श्रमणनिमित्तं ददाति प्रयच्छति साधुभ्यस्तन्मध्यादशनादिकमिति शेषः। तत्कोष्टिकातैलादिभृतघटादि-कमुद्भिद्यत इत्युद्भिन्नं स्यात् ततो घटाद्युद्भिन्नभाजनसम्बन्धात्तन्मध्यस्थितं देयमपि तैलखंडादिकमुद्भिन्नाख्यमुच्यते। यद्वा जतुछग-णमृत्तिकादिविलिप्तं कोष्टिकाघटादिकमव्यापारं साध्वर्थमुद्धाट्य यदशनादि तन्मध्यस्थितं साधुभ्यो गृही ददाति तदशनाद्युद्भिन्नतायो-

गादुद्भिन्नाख्यमुच्यते इत्यक्षरघटना कार्या। द्वितीयं कपाटोद्भिन्नमाह 'समणट्ठमि'त्यादि श्रमणार्थं साध्वर्थमपरिभोगमपरिवहन् प्रतिदिनमुद्घाटयन्(टन)स्थगनादिना कपाटं लोकप्रतीतं। इह कपाटस्योपलक्षणत्वाच्छेषस्यापि प्रभूतप्राण्युपमर्दकारिणो द्वारपिधायकवस्तुनः कपाटार्गलादर्दरकादिग्रहस्य ग्रहो द्रष्टव्यः। उद्घाट्य पश्चान्मुखं प्रेर्य सञ्चाल्येत्यर्थः। वापीति विकल्पे। यदशनादि ददाति तत्कपाटादीनां प्रेरणकस्वभावोद्भिन्नतायोगात् कपाटोद्भिन्नमुच्यते। तदिदं द्विविधमपि यतीनामकल्प्यं षट्कायोपमर्देन संयमविराधनादिदोषदुष्टत्वात्। इह हि कोष्टिकादौ पिहितोद्भिन्ने तावत् पिधानं सचेतनाचेतनभेदात् द्विधा स्यात् तत्राविध्वस्तमृत्तिकादिकं सचेतनं। तत्र सचेतनेन पिहितस्योद्भेदकाले पृथ्वीकायादयो विराध्यन्ते। तथाहि–वस्त्र(खण्ड)मयदर्दरकोपरि पाषाणखण्डमिष्टकाखण्डं वा दत्वा तैलादिभृतघटादिकं कोष्टकादि वा गृहस्थेन तन्मध्यवर्त्तितैलादिरक्षणार्थं साधुदानकालापेक्षयाऽग्रतोऽपि कदाचित् सचित्तजलार्द्रीकृतसचित्तमृत्तिकयाऽवलिप्तं स्यात्। तत्र च पृथिव्यादयः कायाश्चत्वारः स्युस्तथाहि सचित्तपृथिवीलेपः सचित्तश्चिरमपि तत्र प्राप्यते। तल्लेपमिश्रणजलं च सचित्तं तत्कालमेव लिप्ते तस्मिन्नवाप्यते, शुष्कप्राये तस्मिन्नुदकमपि न स्यात् किं पुनः सचित्ततेति तत्कालमेवेत्युक्तं। तथा पृथिव्यादिमध्ये वनस्पतिर्मुद्गादिः स्यात्। त्रसस्तु कीटिकादिरन्यत आगत्य चटतीति। ते चत्वारोऽपि साध्वर्थं पुनस्तत्क्षण एव तस्मिन्नुद्भिद्यमाने विराध्यन्ते इति संयमविराधना। तथा कदाचिद्भस्मादिमिश्रछगणादिना वा लिप्तं शुष्कं च स्यात्। तथा साधुदानकालात् पूर्वमपि केनाप्यपरिभोगस्य खण्डादिभृतघटादिकस्य स्थगनिकां दत्वा जतुना सन्धिपूरणं विहितं स्यात् वस्त्रखण्डमयदर्दरकोपरि बन्धनरूपदवरकग्रन्थिपर्यन्ते मनुजेन निजसाभिज्ञानेनाङ्कितो जतुस्तवको वा विहितः स्यादत्र पक्षे घटाद्यभ्यन्तरवर्त्तिद्रव्यरक्षणादिसाम्यादिदमपि जतूपलेपनमुच्यते। ततस्तथोपलिप्तं घटादिकमुद्भिद्य तन्मध्यात् खण्डादिकं साधवे दत्त्वा शेषस्य तस्य

संभाव्यते ।
रक्षणार्थं भूयोऽपि तस्मिन्नुपलेपनतः स्थग्यमाने तत्र पृथिवीलेपतीमनजलमुद्गादिवीजकीटिकादित्रसरूपकायानामुपमर्दः सम्भाव्यते । यद्वा यत्रा- तथाऽग्निना सेकयित्वा भूयोऽपि च जतुना सन्धिपूरणादौ क्रियमाणेऽग्निविराधना वायोस्त्वग्निप्रज्वालनार्थं फुत्करणेन । यद्वा यत्रा- ग्निस्तत्र वायुरित्येवं षट्कायविराधनातः संममविराधना । तत्स्थगनाय जतुमृत्तिकादिकं गवेषयन् दाता वृश्चिकादिना दश्यते । ततो भक्तादिलुब्धा एते दातुरनर्थं न गणयन्तीत्यादिप्रवचनमालिन्योत्पादकवचनभाषणेन रोषवशतो यतिहननादिना च प्रवचनात्मविरा- धने अपि स्यातामिति । तथा साध्वर्थमुद्घाटितद्वारे तस्मिन्, घटादिमध्यवर्त्तितैलखण्डादिकं पुत्रादिभ्यो दद्याच्छेषयाचकादिभ्यो वा। तथा स्वद्रव्यं मूल्येन गृहीत्वा तन्मध्ये क्षिपेत्तन्मध्यान्मूल्येनान्येभ्यो वा दद्यात् तन्मध्यवर्त्तितैलादिनाऽन्यद्वा क्रीणीयादेवं च गृहस्थ- व्यापारजनितः कर्म्मबन्धः साधोः स्यात् । तथोद्घाटितघटादौ कदाचित् कीटिकामूषिकादेर्जीवस्यान्यत आगत्य तन्मध्ये प्रविष्टस्य मरणे तद्वधजनितं पापं चेति । एवं कपाटोद्भिन्नमाश्रित्य कपाटेऽपि पूर्ववद्दत्ते साध्वर्थमुद्घाट्यमाने गृहमध्यात् साधवे देयम् दत्त्वा भूयोऽपि तस्मिन् दीयमाने वा भूमिकाया अध उपरि भागे वा गिरोलिकाकीटिकामूषिकादिर्जन्तुः प्रविष्टस्तया चलन्त्या विराध्यते इति जीववधः स्यात् सा संयमविराधना । तथा साध्वर्थमुद्घाटिते तस्मिन् गृहमध्यवर्त्तिनः पुत्रादिभ्यो दानादिना क्रयविक्रयादिना च यतेरधिकरणमिति । यदा तु यन्त्ररूपाणि कपाटानि पायूद्घाट्यमानानि भित्तिपिट्टणिकादीनां मध्ये प्रविशन्ति । तानि तु प्रायो दर्द्दरकोपरि पिट्टणिकाया एकदेशवर्त्तिनि मालप्रवेशरुपद्वारे स्युस्तेषु चान्यापारेषूद्घाटयमानेषु भित्त्यादिमध्येऽप्रत्युपेक्षिताप्रमार्ज्जिते क्षेत्रे घर्षणेन कुन्थुपिपीलिकाद्यधिकतरजीवघातसम्भव इत्येवमुद्भिन्नं वर्ज्जनीयमेवेति । यद्येवं तर्हि यतीनां भिक्षासम्प्राप्तिरेव न स्यात् सर्वत्र प्रायेण कपाटपिहितोद्भिन्नत्वादेर्भावात् । उच्यते अविद्यमानोच्छालकछिद्रे क्रेंकारशब्दरहिते वा प्रतिदिनं प्रतिवहति च कपाटे

उद्घाटिते गृहमध्यवर्त्तिभक्तादेर्ग्रहणमनुज्ञातं एवं ह्रुल्लालकप्रघर्षणे ऊर्ध्वादिभागघर्षणजश्च गिरोलिकाकुंथ्वादिवधः परिहृतो भवति। तथा विहितोद्भिन्नमाश्रित्य जतुसन्धिपूरणवर्जिते दवरकग्रन्थिप्रान्ते जतुस्तवकरहिते वा श्लथदवरकमयपाशनिबद्धे घटादावुद्घाटिते घटादिमुखबन्धनवस्त्रादिखण्डं वा यत्र प्रतिदिनं बध्यते छोटयते वा तस्मिंश्चापनीते साध्वर्थं तन्मध्यवर्त्तिनोऽशनादेर्ग्रहणमनुज्ञातमेतेन कायषट्कवधे यतना कृता स्यादिति गाथार्थः ॥४८॥

उक्तमुद्भिन्नद्वारं, अथ मालापहृतद्वारं व्याख्यातुमाह—

उड्ढमहोभयतिरिएसु, मालभूमिहरकुंभीधरणिठियं। करदुग्गेज्झं दलयइ जं, तं मालोहडं चउहा ॥४९॥

व्याख्या—ऊर्ध्वं चाधश्चोभयं च तिर्यक्च तानि तथा तेषूर्ध्वाधोभयतिर्यक्षु ऊर्ध्वादिभेदस्वरूपेष्वित्यर्थः। केषु पुनस्तेष्वित्याह 'माले'त्ति मालं सीककप्रासादोपरितलादिकमभिप्रेतं। भूमिगृहं गृहाधोभागवर्ति शुषिरभूप्रदेशरूपं। 'कुम्भी' उष्ट्रिका बृहत्कलशादेरुपलक्षणमेतत्। भूमिस्थितपृथुलभित्त्याद्याश्रितदीर्घगवाक्षादिकं वस्तु धरणिशब्देनाभिप्रेतं ततो मालं च भूमिगृहं च कुम्भी च धरणि च तानि तथोक्तानि सप्तमीबहुवचनस्य लुप्तत्वात्तेषु स्थितमित्याश्रितं। अत एव मालादिस्थितं सत्, करो हस्तः तस्य दुर्ग्राह्यं दुष्प्रापं करदुर्ग्राह्यं, कष्टेन हस्तप्राप्यमित्यर्थो ददाति दात्री यद्देयमशनादि तदशनादि मालादूर्ध्वादिभेदस्वरूपादपहृतं साध्वर्थमानीतं मालापहृतमुच्यते इति शेषः। एतच्च व्याख्यातमुपाधिभेदाच्चतुर्द्धा चतुष्प्रकारं यथोर्ध्वमालापहृतमधोमालापहृतमुभयमालापहृतं तिर्यङ्मालापहृतमिति। ननु मालान्मञ्चादेर्यदपहृतं तदेव मालापहृतमुच्यते भूमिगृहाद्यानीतं तु यत्तत्कथं तदभिधेयमुक्तमिति ? उच्यते व्युत्पत्तिमात्रमेतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं त्वस्य शब्दस्य भूमिगृहाद्यानीतमप्यागमे रूढमित्यदोषः। अयमत्र भावार्थः। इहोर्ध्वमालापहृतं जघन्यो-

त्कृष्टमध्यमभेदात् त्रिधा स्यात्। तत्रोच्चसीककादेर्ग्रहीतुमशक्तेनोत्पाटिताभ्यां पार्ष्णिभ्यां पादाधोभागरूपाग्रेतनफणाभ्यां च भून्यस्ताभ्यां दात्र्या दृष्ट्वा दृष्टं गृहीतं यद्भक्तादि तत्पार्ष्णिउत्पाटनमात्रस्तोकक्रियागृहीतत्वाज्जघन्यं लघु। ऊर्ध्वरूपाच्च मालादुच्चनिबद्धसिककादेराहृतं साधुदानाय तत्रस्थमशनाद्यानीतमिति कृत्वा जघन्योर्ध्वमालापहृतमिति। यच्च निश्रेण्यादिकमारुह्य प्रासादोपरितलाद्दात्र्या गृहीतं तन्निश्रेण्यारोहणादिगुरुक्रियागृहीतत्वादुत्कृष्टं महदूर्ध्वमालापहृतमिति। अनयोर्मध्यवर्त्ति मध्यमं ज्ञेयं। तच्च साध्वर्थमुच्चतरसीककादेर्लड्डुकादेर्ग्रहणाय मुडकाख्यमासनं ज्ञेयं गोमयमयाद्यासनरूपं पीठं वा, मञ्चोदूखले वा व्रीह्यादिदलकं यन्त्रं वा सीककादेरधो दत्त्वा तदारुह्य च सीककादिस्थितमशनादि यदा ददाति दात्री तदा भवति। इदं च सामान्येन मालापहृतं यतीनामकल्प्यं। संयमविराधनादिदोषदुष्टत्वात्, तथाहि सीककादेरधोदत्तेभ्यो मुडकादिभ्यः पार्ष्ण्युत्पाटनादिना वा दात्र्या अस्थिराधारस्थिततया भ्रश्यमानाया हस्तपादादिभङ्गः स्यात्, तया पतन्त्या भूम्यादिस्थितपृथ्वीकायादेश्च विनाशः स्यादिति संयमविराधना तथा तद्द्रव्यान्यद्रव्यलाभनिषेधश्च स्यात्। यद्द्रव्यं हि गृह्णती पतति तदेवान्यदपि न ददातीति तद्द्रव्यव्यवच्छेदः, अपरं न ददातीति इतरः। अनेन यतिनाऽहं परमार्थतः पातितेति विचिन्त्य साधूपरि द्वेषं कलहादिकं घातादिकं वा विदध्यादित्यात्मविराधना। जैना दात्र्या अनर्थकारणमप्याहारं न परिहरन्तीत्यादिजनखिंसासद्भावादेवंविधमपि दात्र्यनर्थं नैते जानन्ति इति लोके अज्ञानिप्रवादाच्च प्रवचनविराधनेत्येवं त्रिविधा विराधना भवतीति। विशेषतश्च सीककादौ दृष्ट्याऽदृष्टे दीयमाने दात्र्या अहिदशनादयो दोषाः स्युः। अत्राख्यानकं।

जयपुरं नाम पुरं आसी। तत्थ य जक्खदिन्नो नाम गिहवई। तस्स य वसुमई नाम भारिया। अन्नया य भिक्खायरियाए

हिंडंतो गुणरयणनिही एगो साहू तेसिं गिहे पविट्ठो। जक्खदिन्नेण वसुमईए सयासाउ तस्स भिक्खा दवाविया। सोय उच्चसिक्कगठियघडगमज्झनिहित्तं न गिण्हिस्सामित्ति ताउ घराउ निग्गओ। तीए चेव वेलाए तत्थेव भिक्खठाणे एगो तच्चणिओ आगओ जक्खदिन्नेण पुट्ठो जहा भो भो किमणेण भिक्खा न गहिया। तेण मच्छरित्तेण भणियं जहा अदिन्नदाणा एए वराया तुम्हारिसाणं ईसराणं गिहेसु निद्धं महुरं भोयणं दइवाउ सयासाउ भुंजिउं न लहन्ति किन्तु दालिद्दियगिहेसु अंतपंता चेव भिक्खा लद्धा इमेहिं खाइयव्व त्ति। किं च सत्थयारेण एएसिं गलउ चेव न मोडिउत्ति। तओ गिहवइणो असंबद्धपलावी एसोत्ति किमणेण संलत्तेण त्ति चिन्तिऊण तस्स वि भिक्खा दवाविया। तओ वसुमईए तंमि चेव घडए लड्डुए गिण्हिस्सामित्ति फणेहिं ठाउं करो वूढो तत्थ य तेसिं सुगन्धेण राइए सप्पो पविठो आसि तेण य सा करे डक्का, डक्काडक्कत्ति पोकरन्ती जक्खदिन्नेण कहवि गारुडिएहिंतो उठाविया। अन्नंमि दिणे सो चेव साहू भिक्खं अडन्तो तत्थागओ। जक्खदिन्नेण उवालद्धो। जहा भयवं निद्दओ तुमं जेण तंमि दिणे सिक्कगठियघडयमज्झनिहियलड्डुयाणं मज्झे सप्पं पविट्ठं नाउं विसभएण सयं भिक्खा न गहिया। अम्हाणं पुण सप्पपवेसो न कहिओ। तओ मे भज्जा वन्दग(तच्चणिअ)भिक्खठाए ताउ घडयाउ लड्डुए गेण्हन्ती सप्पेण दट्ठा, साहुणा भणियं न मए सप्पपवेसो नाओ किन्तु अम्हाणमागमे जहन्नमालोहडं एसा भिक्खा वुच्चइ। सा य साहूण गहणाय निवारियत्ति मए परिहरिया इच्चाइकहाए निउणो एसो धम्मो, भाविताणि दोवि संवुद्धाणि। गओ य साहू सट्ठाणं ति। अत्र देयवस्तु न दृष्टमिति। तत्रस्थसर्प्पेण भिक्षार्थं व्यापृता दष्टेत्यदर्शनमाश्रित्य कथानकमिदं।

तथा निःश्रेण्यादिकमारुह्य प्रासादोपरितलमक्षनाऽऽदानाय चटत्या दात्र्याः पतनादुदरस्फोटादिना मरणादिकमपि स्यादत्राख्यानकं-

यथा एगाए नयरीए एगस्स गिहवइस्स गिहे एगो साहू भिक्खट्ठं पविट्ठो । तस्स य गिहवइणा नियभज्जासयासाउ लड्डुया दवाविया । सा य आपन्नसत्ता मोयगाणमाणणट्ठा कयनिस्सेणियारोहणाभिप्पाया मालाभिमुही चलिया । साहू पुण एयं भिक्खं न गिण्हिस्सामि त्ति वारिऊण निग्गओ । तीए चेव वेलाए भिक्खट्ठं तत्थ उवागओ एगो परिव्वायगो, सो य गिहवइणा पुट्ठो । जहा भो किमणेण भिक्खा न गहिया । तेण मच्छरित्तेण भणियं जहा अन्नजम्मे एएहिं वराएहिं धम्मो न कओ तेण एसणगवेसणमिसेण विहिणा एरिसाउ सुभाउ सुभाउ आहाराउ वंचिउण अंतपंतभिक्खा भुंजाविया । तस्स वि तेण भज्जासयासाउ, लड्डुया दवाविया । सा य मालट्ठियलड्डुयाणणत्थं निस्सेणीं दुरुहमाणीं झडत्ति पडिया, हेठा वीहियदलणजन्तयं हुन्तं । तस्स कीलएण तीसे कुच्छी फोडिया । गब्भो य फुरुफुरन्तो पडिओ मओ य सा य मया । अन्नम्मि दीयहे (दिवहे) सो चेव साहू भिक्खं अडंतो तत्थेवागओ । गिहवइणा उवालद्धो । जहा भयवं अमुगंम्मि दिणे मालाउ आणिज्जन्तीए भिक्खाए दायारीए पडणं नाउं जहा सयं भिक्खा न गहिया तया कीस अम्ह न कहियं । जेण तं माले ण चडावेन्तो तो सा न मरंती । साहुणा भणियं न मए तीसे पडणं नायं, किन्तु अम्हाणं आगमे उक्कोसमालोहडं एरिसा भिक्खा वुच्चइ । सा य साहुणा गहणा य वारियत्ति मए परिहरिया । इच्चाइ कहणं कयं । अहो सुहुमो एसो धम्मोत्ति पडिबुद्धो पव्वइउत्ति । अत्र गुर्व्विण्या वृत्तांतवशेन दोषदर्शनं कृतमित्यगुर्व्विण्या अप्येतद्दूषणजातं सम्भवतीति ।

उक्तं सीक्कप्रासादारोहणविपयमूर्ध्वमालापहृतं तथा साध्वर्थं भूमिगृहादौ प्रविश्य तत्स्थितमानीय यद्ददाति तदधोरूपभूमिगृहादेरपहृतमिति कृत्वाऽधोमालापहृतं । तथोष्ट्रिकाकलशमञ्जुषाकोष्टिकादिस्थितं किञ्चित्सकष्टं यद्दात्री ददाति तदूभयादूर्ध्वाधो-

गतव्यापारात् कुम्भादेरपहृतमिति कृत्वा उभयमालापहृतं। तथाहि—उच्चकुम्भादिकमध्ये स्थितस्य देयस्य ग्रहणाय येन दाता पाष्ण्र्यु-गतव्यापारात् कुम्भादेरपहृतमिति कृत्वा उभयमालापहृतं। तथाहि—उच्चकुम्भादिकमध्ये स्थितस्य देयस्य ग्रहणाय येन दाता पाष्ण्युत्पाटनं करोति तेनोर्ध्वाश्रितव्यापारता, येन त्वधोमुखं बाहुं व्यापारयति तेनाधोगतव्यापारता, इत्युभयाश्रितव्यापारत्वं कुम्भा-दिषु, यदा च पृथुलभित्त्यादिस्थितं स्कन्धसमोच्चप्रदेशप्राये दीर्घगवाक्षादौ तिर्यक्प्रसारितबाहुना क्षिप्तेन हस्तेन गृहीत्वा यद्देयं प्रायो दृष्ट्याऽदृष्टं कष्टेन च दात्री ददाति तथा तत्तिर्यग्मालापहृतं स्यात्तिर्यग्मालाद्भित्त्यादिस्थितगवाक्षादिरूपादपहृतमिति कृत्वा। यदा च भित्त्यादौ तथाविधादुच्चप्रदेशस्थाद्गवाक्षादेर्भूलग्नपाष्णिणफला सती गृहीत्वा ददाति तदा देयमपि गृह्णती प्रायो दृष्ट्या पश्यति, तेन पूर्वोक्तदोपाभावात्तत्तिर्यग्मालापहृतं न भवति। दृष्ट्या अदृष्टदेयदाने सर्प्पभक्षणादितया विराधनादित्रयरूपा दोपा अधोमालापहृतादिष्वपि भावनीयाः। तथेह निरन्तरकाष्ठमयनिःश्रेणीविशेपरूपेण दर्दरेण इष्टकादिमयावतरणरूपसोपानैर्वा निश्चल-महाशिलया वा निरन्तरशिलानिचयघटितनिश्रेणीविशेषेण वा प्रासादोपरितले समारुह्य यद्दाता ददाति, प्रासादारूढस्य साधोरप-वादेन भूस्थस्य आनीय, तन्मालापहृतं न स्यात्। यदा वा साध्वागमनादग्रतः स्वयोगे(गेन) निश्रेण्यादिना तथाविधप्रमाणोच्चस्य स्वयोगेन स्थापितं स्यात्। यथा स वरण्डिकादावुपविश्यानुत्पाटितपार्ष्णिकोऽधोमुखं प्रलम्बमानेन हस्तेन साधुपात्रके क्षिपति, साधु-रपि तद्ग्रहणाय तथाविधप्रदेशे भूमौ स्थितो यदि तिरश्चीनप्रसारितबाहुना हस्तेन धृते पात्रके स्वमस्तकसमप्रदेशादधो न तु स्वदृष्टि-पथमतिक्रम्य मस्तकस्य समुपरि वा ऊर्ध्वमुत्पाटिते, देयमपीदं न समर्घादियुतं (?) भविष्यतीति ज्ञानार्थं दृष्ट्या पश्यन्यत् तत्र गृह्णाति तदिदमपवादविषयं किञ्चिन्मालापहृतच्छायमपि मालापहृतं न भवति दोपाभावादिति गाथार्थः ॥८९॥

उक्तं मालापहृतद्वारमथाच्छेद्यद्वारमाह—

अच्छिंदिअ अन्नेसिं बलावि जं देंति सामिपहुत्तेणा। तं अच्छिज्जं तिविहं न कप्पए नणुमयं तेहिं ॥५०॥

व्याख्या—आच्छिद्योद्दाल्य अन्येषां परेषां दरिद्रकौटुम्बिकानां गोपालादीनां दरिद्रसार्थिकादीनां च सम्बन्धि, ईश्वरादीनां च सम्बन्धि प्रायो बलादाच्छेत्तुं न शक्यते, इत्येतेषां प्रदर्शनं क्रियते, बलादपि दातुमनीप्सतामपि तेषां प्राणेनापि बलात्कारेणैवेति यावत् यद्देयं दुग्धादि, सर्पिष्कपाथेयादि च ददति प्रयच्छन्ति साधुभ्यो भद्रकादितया दानश्रद्धालवः के इत्याह स्वामिप्रभुस्तेनाः, तत्र स्वामी ग्रामादिनायकः स्वामिप्रायराजवल्लभादिश्च, प्रभुर्गृहादिनायकः स्तेनाश्चौरास्तद्देयमाच्छेद्यमुक्तशब्दार्थं स्यात्तच्च त्रिविधं त्रिप्रकारं त्रिविधदायकभेदाद् ज्ञेयमिति। अयमत्र भावार्थो यदा ग्रामादिस्वामी साधून् दृष्ट्वा तन्निमित्तं भद्रकादितया कलहेनाकलहेन वा बलादपि दरिद्रकौटुम्बिकेभ्यः सकाशादशनाद्युद्दाल्य यतिभ्यो दद्यात् तदा तदशनादि स्वामिविषयाच्छेद्यं। यदा सुरभीरक्षककर्म्मकरअङ्कितदासपुत्रपुत्रिकावधूभार्यादिसक्तमेतेभ्योऽनीप्सद्भ्योपि सकाशाद् गृहीत्वा, गृही गृहनायकः साधुभ्यो दुग्धादिकं दद्यात् तदा प्रभुविषयमाच्छेद्यं स्यात्। यदा च चौराः साधुषु प्रीतिमन्तः स्वग्रामाभिमुखं मार्गे आगच्छन्तः कदाचित्तत्र दरिद्रसार्थिकसार्द्धमागतान् साधून् भोजनार्थं, कृतावस्थितिसार्थमध्ये भिक्षामटतः परिपूर्णां तां अप्राप्नुवतश्च दृष्ट्वा साधुनिमित्तमात्मनोऽर्थाय वा सार्थिकेभ्यो बलादाच्छेद्य यत्पाथेयादि साधुभ्यो दद्युस्तत् स्तेनविषयाच्छेद्यं, त्रिविधस्याप्येतस्य कल्पाकल्पविधिमाह। न नैव कल्पते ग्रहीतुमुचितं स्यात् यतीनां त्रिविधमप्याच्छेद्यमाहारादि, इह पिण्डस्य प्रकृतत्वान्मुख्यत आहारादीत्युच्यते। तेन मुखवस्त्रिकाद्युपकरणोपाश्रयादेरप्याच्छेद्यस्य वर्जनं द्रष्टव्यं। कीदृशं सदित्याह अननुमतमननुज्ञातं यतिभ्यो दातुमनभिप्रेतं सदित्यर्थः। 'तेहिं' ति प्रस्तावाद्येभ्यस्तदुद्दालितं तैः कौटुम्बिकादिभिरित्यर्थः, कलहप्रद्वेषादिदोषसद्भावेन जिनैर्निषिद्धत्वात्। तथाहि प्रस्तुतकौटुम्बिकाः

स्तेनलुण्टितसार्थिका वा साधोरुपरि प्रद्वेषं गालीप्रदानं च कुर्युः । तथा तेषामेवाहारादिलाभहानेः साधोरन्तरायदोषः, स्तेनाहृतं च गृह्णतोऽदत्तादानं स्यात्, एकानेकद्रव्यव्यवच्छेदं वा रुष्टास्सन्तस्ते विदध्युस्तत्र यद् द्रव्यं गृहीतं तदेव ते रोषेणान्यदपि यतेर्न दद्युरित्येकद्रव्यव्यवच्छेदः । एवमनेकेषां तेषां ग्रहणे एकस्य वा तस्य ग्रहणे सर्वनिषेधेनाऽनेकद्रव्यव्यवच्छेद इति । तथा पूर्वप्राप्तोपाश्रयात्तद्गोस्वामिनः प्रद्विष्टापत्तेर्निःसारणं कुर्युस्ततोऽन्योपाश्रयालाभे कष्टेन लाभे वा साधुः सूत्रार्थहान्यादिकं मानसिकदुःखं वा प्राप्नुयात् । तथा प्रभुविषयाच्छेद्येऽमी दोषा, यथा गोपालादीनां पूर्वोक्तानामप्रीतिस्तेषामेव प्रभुप्रभृतिकेन सह कलहोऽभिमानादात्मघातं च ते कुर्युः, गोपभार्यादेः दुग्धादिलाभहानेरन्तरायदोषश्च यतेः स्यात् । गोपालादिमध्यात् केचन साधोरुपरि रोषं च गच्छेयुः । यद्वा दुग्धग्रहणेन गोपालः प्रद्वेषं गतः । अत्राख्यानकं यथा ।

एगंमि गोउले एगो सावगो आसि । तस्स य एगो गोवो गाविउ चारेइ । सो य अट्ठमे अट्ठमे दिणे सव्वासिं गावीणं दुद्धं वित्तीए लब्भइ । अन्नया भिक्खट्ठं एगो साहू तत्थागओ । इओ य तम्मि दिणे गोवस्स दुद्धगहणवारओ । तओ तेण सव्वाउ गाविउ दुहेऊण गरुइ पारिया दुद्धस्स भरिया । सावएण साहुनिमित्तं सो दुद्धं मग्गिओ । तेण अणिच्छंतेणावि भयाइणा दिन्नं । पारिया ऊणिया जाया । गोवो य किंचि साहुस्सुवरिं रोसमुवगओ । सावएण तेण दुद्धेण साहू पडिलाभिओ । गोवो य तं पारियं गहिऊण नियगेहे गओ । तब्भज्जा य तं ऊणपारियं दट्ठूण हयासा किं अज्जत्थेवं दुद्धमाणियं इच्चाइ अक्कोसिउ लग्गा चेडरूवाणि रोवन्ताणि किं अम्हं एएण दुद्धेण भविस्सइ त्ति भणिउं लग्गाणि । तओ सो, एगं सयं चेव साहुणा उवरिं पउडो आसि । अन्नं तेहिं उत्ताविओ तउल्लसियबहलकोवानलरत्तच्छो तं साहुं मारणत्थं गवेसिउं लग्गो । जाव साहू तेण दिट्ठो पिट्ठओ धाविओ । साहुणा

सयासाउ अच्छिदिऊग सावएण दुद्धं दिन्नं, तेण एस वि कोवारुणलोयणो सो एन्तो दिट्ठो नाओ तस्स भावो जहा णूणमेयस्स कुविओ मम मारणत्थमागतो। तओ साहू तस्सेव सम्मुहो चलिओ जाव समासन्नी भूओ। सो तात्र साहुणा भणिओ। भो भो खीरहरिय तुहपहुनिबन्धेण एयं दुद्धं मए गहियं सम्पयं तुज्झ समप्पणत्थं चलिओहं, न य तुज्झ घरं जाणामि, ता गिण्ह तुमं। तओ तव्वयणेणोवसन्तकोवेण गोवेण भणियं। तुह मारणत्थमुवगओहं। परमणेण वयणेणोवसन्तो कोवो ता गिण्ह तुमं चेव एयं एण्हि मुक्कोसि, मए। परं पुणो मा, एरिसं आच्छिदियं किंचि गिण्हिहिसित्ति नियत्तो गोवो त्ति।

तदित्थमनेकदोषनिबन्धनमाच्छेद्यं न कल्पते। अत्र चाननुमतं तैर्न कल्पत इति भणनात् सामर्थ्यात्तैरनुज्ञातं सत्तदेवादातुं कल्पत इति व्यतिरेको गम्यत एव। नवरं स्तेनाच्छेद्ये इयं विशेषतो विधिः यथा यदा चौराः सार्थिकेभ्यः पाथेयाद्याच्छिद्य ददति यतिभ्यस्तदा तद्यतिभिर्निषेध्य पूर्वोक्तदोषभावात्। यदि च तैस्तेभ्यस्तद्दीयमानं दृष्ट्वा पथिका घृतसक्तुकदृष्टान्तेन सुन्दरतामनुमन्यंते यथा घृतं सक्तुकानां मध्ये पतितं तथा, तथासंयोगवशाद्युक्तं स्यात्तथेदं पाथेयाद्यपि तथैव तथैव साधुभ्यो दत्तं युक्तं सञ्जातमिति। दर्शयन्ति तदाऽनुमतमिदं गृह्णीध्वमिति वचनेन वा मुत्कलयन्ति, तथाविधभयविह्वलतया जल्पनशक्त्यभावादनुज्ञातत्वमाकारतो वा गृहीतमिदं साम्प्रतं स्वकीयं ममीपामिति कृत्वा तदभिगृह्य चौरापगमानंतरं भूयोऽपि तदग्रीत्यादिपरिहारार्थमस्माभिश्चौरभयादिना गृहीतमिदं साम्प्रतं स्वकीयं गृह्णीतेति जल्पनपूर्वकं पथिकेभ्य एव पुरतस्तच्चौरादत्तं मुञ्चत्येवं कृते यदि ते तद्गृह्णन्ति तदा समर्प्यते परमार्थतस्तदीयमेव, यदि च न गृह्णन्ति वदंति च भवन्त एवैतदुपभुञ्जतामिति तदा तैर्मुत्कलितास्तद्गृहीत्वोपभुञ्जते यतय इति गाथार्थः ॥५०॥

उक्तमाच्छेद्यद्वारमथानिसृष्टद्वारमाह।

अणिसिट्ठमदिन्नमणणुमयं च बहुतुल्लमेगु जं दिज्जा । तं च तिहा साहारणचोल्लगजड्डानिसट्ठंति ॥५१॥

भवेदिति शेषः । यत्किमित्याह 'अदिन्नं'ति अदत्तं देय-

व्याख्या—अनिसृष्टं पूर्वोक्तशब्दार्थानिसृष्टदोषसंज्ञं तन्मोदकाद्यशनादि भवेदिति शेषः । यत्किमित्याह 'अदिन्नं'ति अदत्तं देय- स्वोपभोगादिना स्वामिसमुदायस्य दातुमनभि
वस्तुस्वामिसमुदायेनाऽवितीर्णं, वचनेन साधुदानायामुत्कलितमित्यर्थस्तथाऽननुमतं स्वोपभोगादिना स्वामिसमुदायस्य दातुमनभि
प्रेतं । वा विकल्पे, तथा बहुतुल्यं बहुभिः साधारणं बहुजनसत्कमित्यर्थः । एकः केवलो बहुजनसाहिकाऽस्वामी दाता यल्लड्डुक-
क्षीरादिकं दद्यात् साधवे प्रयच्छेदिति स्वरूपमभिधाय भेदानाह तच्च तत्पुनः सामान्येनानिसृष्टं त्रिधा, उपाधिभेदात् त्रिविधं स्यात्
केनोल्लेखेनेत्याह साधारणचोल्लकजड्डानिसृष्टमिति, तत्र साधारणं बहुजनसामान्यं, चोल्लकः स्वामिना पदातिभ्यः प्रसादीक्रियमाणं,
कौटुम्बिकेन वा क्षेत्रादिस्थितकर्म्मकरेभ्यो दीयमानं, देशीभाषया भक्तमुच्यते, जड्डो हस्ती, अमीषां द्वन्द्वस्तद्विषयमनिसृष्टमिति
विग्रहः । इहाऽनिसृष्टशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् साधारणानिसृष्टं चोल्लकानिसृष्टं जड्डानिसृष्टमित्येवं त्रिभेदं भवतीत्यर्थः । इह च
साधारणानिसृष्टं यंत्रहट्टगृहाद्याधारमध्यस्थिततैलवस्त्रलड्डुकक्षीरादिदेयवस्तुभेदेनानेकवस्तुविषयं भवति तत्र घणकादियन्त्रे तिलकु-
ट्टितैलादिकं हट्टे वस्त्रादिकं क्वचिद्गृहे विभवाद्युपेते सह्वड्यां वाऽशनादिचतुर्विधाहारादिकं बहुजनसाहिकं स्वाम्यननुज्ञातं यद्येको
दद्यात्तत्साधारणानिसृष्टं । अत्र च लड्डुकद्रव्यं प्रतीत्य साधारणानिसृष्टमाख्यानकेनोच्यते । (ग्रं० २०००)

खिइपइट्ठिय नामं नयरं आसि । तत्थ य माणिभद्दसालिभद्दपमुहा बत्तीसं तरुणा य अवरोप्परं मित्ता चिट्ठिंसु तेहिं अन्नया कयाइ उज्जाणियानिमित्तं बहवे लड्डुया साहियामोल्लेण काराविऊण उज्जाणे नीया । तओ ते तत्थेगं रक्खवालं जुवाणं तेसिं रक्ख- णट्ठा मोत्तुं सेसा णईए ण्हाणनिमित्तं गया । एत्थन्तरे भिक्खानिमित्तं एगो साहू तत्थागओ । तेण दिट्ठा मोयगा धम्मलाभं काऊण

मग्गिओ जुवाणो तेण भणिय भट्टारया ! अन्नेसिंपि एगतीसं जणाणं सामन्ना एए, कहमेगागीहं देमि, साहुणा भणियं ते कत्थ गया तेण भणियं नईए ण्हाणनिमित्तं, साहुणा वुत्तं भो भो महाणुभाव ! मूढोऽसि तुमं जो परसंतिए लड्डुए मे दाउं अप्पणा एक्कओ पुन्नं न गिण्हसि । किंचि बत्तीसेहिं वि दिन्नेहिं तुह भाए एक्को चेवागच्छिस्सइ । ता एयं अप्पवयं बहुआयं दाणं जइ जाणसि तो मज्झ मोयगे देहि एवं पुणो पुणो भणिए तेण दिन्ना । सो य भायणं भरिऊण जाव तओ ठाणओ निग्गच्छइ ताव माणिभद्दाइणो संमुहा आगच्छन्ति । तेहिं पुट्ठो भट्टारया ! किं एत्थ लद्धं । साहुणा नायं जहा एते लड्डुयाणं सामिया तो जइ लड्डुए लद्धे कहिस्सं, ता एए नियगेत्ति काउं उद्दालिस्संति त्ति चिन्तिय भणियं न किंचि । तेहिं तं भारकंतं दट्ठुं संकिएहिं वुत्तं पेच्छिमो भायणं दवेहि, साहू न दवेइ । बलावि पलोइयं जाव नियगा लड्डुगा दिट्ठा । तओ तेहिं कोवारुणलोयणेहिं सो जुव्वणो पुट्ठो । जहा किं तए एए लड्डुया एयस्स दिन्ना तेण भीएण भणियं न मए दिन्ना । तओ तेहिं वुत्तं पावसाहुवेसेण चोरोसि तुमं एण्हिं सलोत्तो लद्धोसि कहिं गच्छिहिसि गहिओ वत्थंचले । कड्ढिओ नाहए भणिओ य, आगच्छेहि धम्माहिगरणे रहोहरणपत्ताइयं उद्दालिऊण चोरो त्ति साहू ठाविओ परं लिंगिउ त्ति काउं निविसओ काराविओ राइणा । तहेव कयंति ।

नीओ धम्माहिगरणे, कहिओ तेहिं धम्माहिगरणियाणं वुत्तन्तो, साहू वि तेहिं पुट्ठो लज्जाइणा न किंचि जंपेइ । तेहिं वि पारंतेहिं

तदेवं यस्मादनायकाद्भक्तादेर्ग्रहणे ग्रहणाकर्षणधर्माधिकरणनयनरजोहरणाद्युद्दालनगृहस्थीकरणदेशनिष्कासनप्रवचनमालिन्यापादानादिलक्षणा एते दोषाः स्युः तस्मात्साधारणानिसृष्टं न ग्राह्यमिति । यदि च तत्कथश्चित् पूर्वमननुज्ञातं गृहीतं पश्चाद्भद्रकादितया सर्वस्वामिभिर्मुत्कलितं तदा गृहीतं तु कल्पते । तथा चोल्लको द्विधा । छिन्नाच्छिन्नभेदात् । तत्र गृहादिसाधारणस्याल्याः पृथक्कृत-

च्छिन्नः । पृथगकृतश्चाच्छिन्नः । तथा किल कश्चित् कौटुम्बिको भक्ताहारकहस्तेन गृहात् क्षेत्रे हालिकानां भोजनाय चोल्लकं स्थापयति । तत्र गृहादिसाधारणाया गृहे स्थितायाः क्षेत्रे नीताया वा स्थाल्या मध्याद्धालिकभोजनाय पृथक् पृथक् भाजनेषु परिवेषितश्छिन्नः स्यात् । तथा गृहस्थितः क्षेत्रे चानीयमानः क्षेत्रे नीतो वा हालिकभुक्तशेषो वा क्षेत्राद्भक्ताहारकहस्ते व्यावर्त्तमानो वा स्थालीस्थितोऽच्छिन्नः, स्यात्, तत्राप्यच्छिन्नो गृहसाधारणस्तेन कौटुम्बिकेन साधुभ्यो दानाय मुत्कलितोऽमुत्कलितश्च स्यात् । तत्र च्छिन्नचोल्लके यदर्थं छिन्नः स यदि हालिकस्तन्मध्यात् किञ्चित् साधवे ददाति, तदा स हालिकेन दीयमानः कौटुम्बिकेन पार्श्ववर्तित्वावर्तित्वाभ्यां दृश्यमानोऽदृश्यमानश्च ग्रहीतुं कल्पते तेन छेदेन तस्य स्वकीयीकृतस्य दत्तत्वात् । अच्छिन्नचोल्लके च भक्ताहारकहालिकयोर्मध्याद्यः कौटुम्बिकेन साधवे दानायाऽनुज्ञातः, स यदि ददाति तदाऽसौ कल्पते तथा छिन्नोऽपि कौटुम्बिकेनापि निसृष्टः कल्पते ग्रहीतुं नवरं यदर्थं छिन्नस्तस्य यद्यप्रीतिरन्तरायकरणं वा न स्यात्तदा, नान्यथा । अच्छिन्ननिसृष्टश्च चोल्लकः कौटुम्बिकेन दृष्टोऽदृष्टो वा भक्ताहारकेण हालिकेन वा साधवे दीयमानस्तस्य ग्रहीतुं न कल्पते अदत्तादानदोषात् कौटुम्बिकस्य मच्छरादिसम्भवाच्च । प्रायः क्षेत्र एव हालिको भुञ्जते इति क्षेत्रे चोल्लक उक्तः । यदि कश्चिद्गृहेऽपि भुङ्क्ते तदा सोऽप्येतदनुसारतो भावनीयः । एवं तडागखननादिके उड्डादिष्वपि (?) भावनीयं । तथा जड्डस्य हस्तिनः सम्बन्धि पिण्डरूपं वस्तु राज्ञा गजेन चाननुज्ञातत्वादनिसृष्टं जड्डानिसृष्टमुच्यते । इह कश्चिन्मेण्ठः साधुभक्तो हस्तिसत्कस्याहारस्य मध्यादाहारं साधवे यदि ददाति, तदा स गजस्य पश्यतोऽपश्यतो ग्रहीतुं न कल्पते तस्य गजपिण्डत्वात् स च साधूनां न कल्पते राजगजाभ्यां साधवेऽननुज्ञातत्वादसावदत्तादानत्वेन चाकल्प्यः । तथा तं पिण्डकं दीयमानेन असौ गजो दातुमिच्छति नवेति न ज्ञायते । ततो यदि नेच्छति तदा तद्गृह्णाने तस्य

प्रत्यासन्नतया हस्तिना शुण्डया गृह्यते कदर्थ्यते मनोबाधा कृता स्यात् सा च साधूनां परिहार्या । तथा तत्र पिण्डं गृह्णन् साधुः प्रत्यासन्नतया हस्तिना शुण्डया गृह्यते कदर्थ्यते मनोबाधा कृता स्यात् सा च साधूनां परिहार्या । अन्यथा कथं पिण्डग्रहणव्याजेन वा । यदासौ केनापि मदीयगजस्य वैरिणा राज्ञा हस्तिनां कवलनायानेन वेषेण प्रस्थापितोऽन्यथा कथं पिण्डग्रहणव्याजेन हस्तिनः प्रत्यासन्नः समागच्छतीति विचिन्त्य हस्तिरक्षकपुरुषैर्गृह्येत, ततो मरणाद्यपि प्राप्नुयात् । तथा हस्तिनस्तत्प्रमाणाहारस्य लाभच्छेदेनान्तरायिकं कृतं स्यादित्येतद्दोषदुष्टत्वादसौ न ग्राह्य इति । नवरमिह प्रथमैको गजभक्तपिण्डको राज्ञा गजेन चानुज्ञातः प्रतिदिनं मेंठो लभते । तं भक्तपिण्डकं मेंठेन स्वं दीयमानं गजेनादृष्टं यदि ददाति तदास्मै कल्पते । यदि च स्वपिण्डकमपि गजस्य पश्यतः प्रतिदिनमभीक्ष्णमसौ ददाति साधुश्च गृह्णाति तदा यदयं मुण्डो मेंठात्सकाशात् पिण्डं गृह्णाति तं च मेंठो मदीयपिण्डमध्यात् स्वलभ्यं पिण्डोलकं स्थूलतरं गृह्णातीत्यादि विचिन्त्य प्रद्वेषेणासौ गजः साधूपाश्रयस्य यतेर्वा विनाशमपि कुर्यात्, सकृद् ग्रहणे च न तथाविधो दोष इत्यनवरतमसौ न ग्राह्य इति गाथार्थः ॥५१॥

उक्तमनिसृष्टद्वारमथाध्यवपूरकद्वारमाह ।

जावंतियजइपासंडियत्थमोयरइ तंदुले पच्छा । सद्धा(ट्ठा) मूलारंभे जमेस अज्झोयरो तिविहो ॥५२॥

व्याख्या—सूचनाद्यावदर्थिकाश्च समस्तार्थिनः, यतयश्च निर्ग्रन्थाः, पाखण्डिकाश्चरकादयस्ते तथोक्तास्तेभ्य इदं तदर्थमेतन्निमित्तमित्यर्थः । यद्यस्मात्कारणादवतारयति स्वगृहयोग्यकणो(कङ्गु)दीनां मध्ये मिश्रितान् कृत्वा गृही स्थाल्यां प्रतिक्षिपति । 'तंदुले'ति धान्यकणान् । उपलक्षणत्वादधिकतरजलकणादीनीत्यर्थः कथमित्याह पश्चान्मूलारम्भोत्तरकालं, यद्वा पश्चादुपरिश्च मनोलङ्घनेनेत्यर्थः । पश्चाच्छब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात्पूर्वत्वमपेक्षते, अतोऽनुक्तमिति(मपि) पूर्वमिति विशेषणं दृश्यं । ततः किमपेक्षं पश्चादित्याह स्वार्थं

गृहाय पूर्व्वं कर्प्पटिकाद्यागमनापेक्षयाऽग्रतो विहिते सतीति विशेषः। कस्मिन्नित्याह। मूलं प्रथमोऽग्निज्वालनाद्ग्रहणदानादिरूपारम्भादिकर्त्तव्यव्यापारो मूलारम्भस्तस्मिन्। एतेन च मिश्रजाताद्ध्यवपूरकस्य नानात्वं दर्शितं। मिश्रे ह्यादितेऽग्निज्वालनादिप्रस्तावएव स्वगृहयावदर्थिकाद्यर्थमुपस्कर्त्तुमारभते, अध्यवपूरके च गृहिणा स्वार्थमग्निनाद्याद्ग्रहणदानमतो आरम्भे कृते सति पश्चात्स्वार्थकल्पिततन्दुलानां मध्ये कार्पटिकाद्यर्थं तन्दुलादीनां माणकादिकं सङ्कल्पितं प्रक्षिप्य राध्यते इत्युभयोर्भेदः। यत्तदोर्नित्ययोगाद्यदिव्याख्यातं तत्तस्मात्कारणाद् दोषोऽनन्तरोक्तः। स्वार्थदत्ताद्ग्रहणे प्रथमं कृते प्रभूतभिक्षाचरसंदर्शनतस्तदर्थमपि पश्चादधिकतरं तंदुलादिप्रक्षेपकरणलक्षणोऽध्यवपूरक उक्तशब्दार्थस्त्रिविधो यावदर्थिकादिविघटितभेदात्त्रिप्रकारः स्याद्यथा स्वगृहमिश्रशब्दयोः प्रस्तावाद्गम्यमानत्वात् स्वगृहयावदर्थिकमिश्रो निजवेश्मकार्प्पटिकादिसाहिक इत्यर्थः। तथा स्वगृहसाधुमिश्रो निजगृहसाधुसाधारण इत्यर्थः। स्वगृहपाखण्डिमिश्रो निजवेश्मशाक्यादिसाहिक इति। इह स्वगृहश्रमणमिश्राध्यवपूरकोऽपि घटते परं श्रमणाः पाखण्डिनां मध्ये विवक्षिता इत्येवं त्रैविध्यं ज्ञेयं। इह यावदर्थिकाद्यर्थमधिकतरतंदुलादिप्रक्षेपदोषेण सर्व्वोऽप्याहारोऽशुद्धः स्यात् तथा स्वगृहयावदर्थिकमिश्राध्यवपूरके यावंतः कणाः कार्प्पटिकाद्यर्थं पश्चात् क्षिप्तास्तत्प्रमाणे राद्धेर्यावत् स्यादेतावत् प्रमाणं भक्तं यदि गृहस्थेन स्थाल्या उद्देशेन स्वगनिकादौ क्षिप्त्वा पृथक् कृतं स्यादुद्देशेन स्वगृहादौ वितीर्णं वा नतु सिक्थादिगणनेन पलिमन्थादिदोषात्तदा शेषं स्थालीभक्तं ग्रहीतुं कल्पते विशोधिकोटिकत्वादेवं मिश्रजाताद्यभेदेऽपि ज्ञेयं किञ्चित्तुल्यत्वादनयोरिति। अन्त्यभेदद्वयं चाविशोधिकोटिककतया वक्ष्यतीति तद्भक्तमकल्प्यमिति गाथार्थः ॥५२॥

उक्तमध्यवपूरकद्वारं तत्प्रतिपादनाच्च षोडशाप्युद्गमदोषाः प्रोक्ता अथैतेष्वेव कल्पाकल्पव्यवस्थार्थं विषयविभागमाह।

इय कम्मं उद्देसियतियमीसज्झोयरंतिमदुगं च। आहारपूइबायरपाहुडि अविसोहिकोडित्ति ॥५३॥

व्याख्या—अत्रोद्गमदोषसमूहोऽविशोधिकोटिविशोधिकोटिभेदेन द्विधा भिद्यते। तत्र 'इय'त्ति इत्येतेष्वाधाकर्म्मादिषु षोडशोद्गमदोषभेदेषु मध्ये। 'कम्मं'ति सूचनाद् कर्माधाकर्म्मपरिपूर्णं। तथोद्देशिकत्रिकमितिकिलौघोद्देशिकविभागोद्देशिकभेदाद्द्विधोद्देशिकमुक्तं। तत्रेह व्याख्यानाद् वक्ष्यमाणान्त्यशब्दस्य सिंहावलोकनन्यायेनात्रापि योजनात् द्वादशविधस्य विभागोद्देशिकस्य कर्म्मभेदसत्कमन्त्यमेव त्रिकं ग्राह्यं। तथा सूचनान्मिश्रजाताध्यवपूरकयोरन्त्यद्विकं चरमभेदद्वयं। किल, मिश्रमध्यवपूरकश्च यावदर्थिकपाखण्डिनिग्रन्थार्थिभेदात्रिधा। अत्र च पाखण्डिगृहमिश्रसाधुगृहमिश्ररूपं भेदद्वयं ग्राह्यं। क्वापि ग्रन्थे मिश्रं समस्तमध्यवपूरकश्च सर्व्वोऽप्यविशोधिकोटितयोक्त इति चकारेण सूच्यते। तथाहारपूतिर्भक्तपानपूतिरित्यर्थः। किल पूतिः उपकरणपूतिभक्तपानपूतिभेदाद्द्विधोक्ता इत्यत्र बादरभेदो ग्राह्यतयोक्तः। तथा बादरप्रभृतिका पूर्वोक्तरूपा किल प्राभृतिका दोषाः सूक्ष्मबादरभेदाद् द्विधोक्ता इत्यत्र बादरभेदो ग्राह्यतयोक्तः। एतत् किमित्याह अविशोधिरूपदूर(दूरकर)णादिनाप्यकल्पनीयताजनकत्वेन मलिना कोटिरुद्गमदोषलेशोऽविशोधिकोटिरित्येवमनन्तरमेवोपवर्णितरूपा भण्यते इति शेषः। यद्वा इति शब्दः परिमाणार्थस्तत इत्येतावती उत्तरभेदाविवक्षणे मूलभेदापेक्षया भेदषट्कप्रमाणा स्यादिति शेषोऽपरनाम्ना उद्गमकोटिरपीयमेवोच्यते। अत एव पूतिदोषस्वरूपनिरूपणायां 'उग्गमकोडिकणेण वी'त्याद्युक्तं। तेन सर्व्वैरविशोधिकोटिदोषैर्युक्तस्याहारस्यावयवेनापि स्पृष्टस्य शुद्धस्याप्यशनादेः पूतित्वं भवतीति तत्र व्याख्यातमिति गाथार्थः ॥५३॥

अधुना अविशोधिकोटेरेव इति दुष्टताख्यापनार्थतया स्पृष्टस्य पात्रकस्य विधिमाह।

तीए जुयं पत्तं पिहु, करीसनिच्छोडियं कयतिकप्पं। कप्पइ जं तदवयवो सहस्सघाईविसलवो व्व ॥५४॥

व्याख्या—इहाविशोधिकोटिद्रव्यं लेपकृदलेपकृच्चेति द्विधा पात्रके निपतितं स्यात्। तत्र तक्रतीमनजगार्यादिकं खरण्टकत्वाल्ले-
पकृत्। वल्लचणकादिकं तद्विपरीतत्वादलेपकृत्। ततश्च 'तीए जुयं'ति तया प्रदर्शितरूपयाऽविशोधिकोट्या उपचारादविशोधिकोटि-
दोषयुक्तलेपालेपकृदाहारेणेत्यर्थः,युतं खरण्टितं स्पृष्टं वा, किञ्चि(किं त)दित्याह पात्रमपि साधुभाजनमपि। अपिः पात्रकस्याकल्पनीय-
ताभणनेनातिशयद्योतकः। हुर्वाक्यालङ्कारे, शेषशुद्धाशनादेर्ग्रहणाय न कल्पते इति शेषः। यद्येवं तर्हि कीदृशं सत्पात्रकं कल्प्यं स्या-
दित्याह—'करीसनिच्छोडियं' ति करीषेण शुष्कगोमयचूर्णेनोपलक्षणत्वाद्भस्मादिना च निश्छोटितं घृष्टमुद्घर्षितमित्यर्थः। करीषनि-
श्छोटितं सत् उपलक्षणत्वाल्लेपकृदशुद्धाहारावयवापनोदाय करीषघर्षणात्पूर्वमङ्गुल्यादिप्रोञ्छितं चेत्यपि दृश्यं। पुनरपि किं विशिष्टं
सदित्याह, 'कयतिकप्पं'ति कृता दत्ता त्रयस्त्रिसङ्ख्याः कल्पा जलप्रक्षालनरूपा यत्र तत्कृतत्रिकल्पं। इत्थं कृतं सत्, किमित्याह
कल्पते साधूनां परिभोक्तुं युज्यते। इतरथा पूत्य(ति)दोषत्वादकल्प्यमिति भावः। तथा कृतत्रिकल्पमप्यातपादिना शुष्कं कल्प्यं स्या-
न्नान्यथा। चतुर्थकल्पे दत्ते जलार्द्रमपि पात्रकं शेषग्रहणाय कल्पत इत्याद्युपलक्षणत्वाद् दृश्यं। तदुक्तं वृद्धैः 'निच्छोडिए करीसेण वा-
वि उव्वट्टिए तए कप्पा। सुक्खाविन्ना गिण्हइ अन्ने चउत्थे असुक्खे वि'॥१॥ तदेतेन एतस्या अतिपरिहार्यतां दर्शितवान्। तथाह्यवि-
शोधिकोट्याहारे ग्रहीत्वोज्झितेऽपि तया छुप्तमकृतत्रिकल्पं तं पात्रकमपि तावन्न कल्पते। किं पुनः साक्षादविशोधिकोट्याहारोपभोगः
कर्त्तुमिति सामर्थ्यादुक्त भवति। अथ किमेत्येवं महता यत्नेन एतस्या निषेधोऽपदिश्यते इत्याह यद्यस्मादपेर्गम्यमानत्वात्तस्याऽवि-
शोधिकोटिदुष्टाशनादेः सम्बन्धी अवयवोपि सिक्थाद्यपि आस्तां कवलादिरित्यपेरर्थः। किमित्याह सहस्राणि हन्तुं शीलमस्येति सह-

इदमुक्तं भवति । किल तीव्रविषलवोपभोगात् कश्चिन्मृतस्ततो विषत्वपरिण-
स्वघाती, क इवेत्याह विषलव इव प्रधानगरलेशो यथा । इदमुक्तं भवति । किल तीव्रविषलवोपभोगात् कश्चिन्मृतस्ततो विषत्वपरिण-

स्वघाती, क इवेत्याह विषलव इव प्रधानगरलेशो यथा । प्राणिन इत्यन्यान्यविधिना परंपरया, यथाऽतिप्रधानविषलवोऽपि
ततत्पिशिताशनादन्यो मृतस्तत्पिशिताशनादन्यो यावत्सहस्रसङ्ख्याः प्राणिन इत्यन्यान्यविधिना परंपरया, यथाऽतिप्रधानविषलवोऽपि
प्राणिसहस्राणि भक्ष्यसहस्राणि वा विनाशयत्येवं येन कृतोऽविशोधिकोटयशनाद्याहारस्तेन पाककारकेणान्यस्मै गृहस्थाय दत्तस्तेनाप्य-
न्यस्मायित्याद्यन्यान्यगृहसंवरणेन परम्परया गृहसहस्रमपि गतोऽविशोधिकोटिलवोऽपि गृहसहस्रसत्कशुद्धभक्तसहस्राण्यपि पूतित्वक-
रणेन दूषयति । स चैवं भुज्यमानो निर्मलमपि चरणात्मकं भावजीवं साधोर्हन्तीति विषलवत्वेनोपमित इति । तथाऽविशोधिकोटि-
प्रस्तावं प्रतीत्य मुग्धशिष्यः कश्चिदाचष्टे, ननु साधुसङ्कल्पेन यत् क्रियते तदेवाधाकर्म्म स्यादतः कूर एव केवल आधाकर्म्म भवति
तस्यैव साध्वर्थं सङ्कलिपतत्वान्न तु तन्निष्पन्नान्यपि सौवीरावश्रावणतंदुलोदकानि तेषां साधुसङ्कल्पं विनाप्युपजायमानत्वादतस्तद्ग्रहणं
कर्तुं यतेर्युज्यते नवा ? नैवं, तान्यप्याधाकर्म्मिकाण्येव । तत्राधाकर्मिककूरावयवरूपावश्रावणादिनिष्पन्नत्वेन सौवीरे कूरावयवरूपत्वे-
नावश्रावणे तदर्थधौततंदुलावयवमिश्रितत्वेन साध्वर्थं निष्ठितत्वेन वा धावने आधाकर्मता भवति । तस्यां वसत्यां उद्गमकोटिरूपैः
काञ्जिकादिभिरपि छुप्तं शुद्धमप्यशनादिकं पूतिरपि भवतीति ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥५४॥

अविशोधिकोटिरुक्ताऽथ विशोधिकोटिं तद्गतं विधिं चाह ।

सेसा विसोहिकोडी, तदवयवं जं जहिं जया पडियं । असढो पासइ तं चिय तओ तया उद्धरे सम्मं ॥५५॥

व्याख्या—शेषाऽविशोधिकोटेरन्याऽविशोधिरूपोद्धरणादिना कल्पनीयताजनकत्वेन निर्मला कोटिः पूर्वोक्ता विशोधिकोटि
विशुद्ध्य(द्ध)कोटिरित्यर्थः, स्यादिति शेषः । सा चानेकविधोद्देशिकादिभेदेन भवति । यद्वा शेषाः षोडशानामुद्गमदोषाणां मध्यादवि-

विशोधिकोटिशब्दवाच्याः स्युः, यथौघौद्देशिकं, विभागौद्देशिकस्याद्यं भेदनवक-
शोधिकोटया गृहीतेभ्य उद्धरिता उद्गमदोपास्ते विशोधिकोटिशब्दवाच्याः स्युः, यथौघौद्देशिकं, विभागौद्देशिकस्याद्यं भेदनवक-
मुपकरणपूतिमिश्रस्याद्यो भेदः, स्थापना, सूक्ष्मप्राभृतिका, प्रादुष्करणं क्रीतमापमित्यकं, परिवर्त्तितमभ्याहृतमुद्भिन्नं मालोपहृतमा-
च्छेद्यमनिसृष्टमध्यवपूरकस्याद्यो भेदश्चेति। उपलक्षणत्वाद्वक्ष्यमाणोत्पादनैषणदोपाश्चेति व्याख्येयं। तत्र शुद्धस्य मध्ये विशोधिकोटि-
दोषवतो भक्तादेः पतितस्योद्धृत्य त्यागः कार्यो अकल्प्यत्वात् स च यद्विषयो भवतीत्येतदाह। 'तदवयवमि'त्यादि इह द्रव्यक्षेत्रकाल-
भावानाश्रित्य तत्त्यागो भवति तत्र तदवयवं यत्पतितं पश्यतीति योगः। इह चातिशयोक्त्या एतस्याः परिहारख्यापनार्थमवयवशब्द
उपात्तस्ततोऽत्रावयवशब्देन द्रव्यं ग्राह्यं ततो यत्किमपि तदवयवं विशोधिकोटिदोषात् कूरादिद्रव्यं पतितं दात्र्या क्षिप्तं पश्यत्यवलोकते
'तं चिय उद्धरे' इति वक्ष्यमाणेन योगस्तत्र चिय शब्दस्यैवकारार्थत्वात्तदेवाऽशुद्धद्रव्यमुद्धरेत् पृथक् कुर्यात् परिष्ठापयेदिति यावत्।
अनेन द्रव्यविषयस्त्याग उक्तः। तथा यच्छब्दस्यावृत्त्या योजनात् यत्कूरादिद्रव्यं, 'जहिं'ति, यत्र पात्रैकदेशे शुद्धभक्तमध्ये वा
पतितं तत्तस्तस्मात् पात्रकाच्छुद्धभक्तमध्याद्वा उद्धरेदिति क्षेत्रविषयः स उक्तः। तथा यद्यदा यस्मिन् क्षणे पतितं प्रक्षिप्तं
दात्र्या तत्तदैव शीघ्रमुद्धरेत्। वृहद्वेलया हि शुद्धं भक्तमितरेण व्याप्यते। ततस्तदप्यशुद्धप्रायं स्यादिति कालविषयः स उक्तः।
तथाऽशठस्तस्मिन् मनोज्ञेऽरक्तोऽमनोज्ञेऽत्वद्विष्टश्च मास्य विकल्पः स्यात् यदोदनादिकं द्रव्यं पश्यति विशोधिकोटिदोषवदिद-
मिति प्रत्यभिजानाति। ज्ञात्वा च 'सम्मं' ति सम्यक् निर्वाहविषयविज्ञानविषयनिजशक्त्यनुरूपयतमानतानैपुण्येन शुद्धभक्तादि,
धृतपतद्ग्रहात्तदुद्धरेदित्यनेन च भावविषयस्स उक्तः। तथाऽप्रोज्झिते शुद्धाहारे सति के(पात्रके) तस्मिन्नशुद्धावयवेषु सत्स्व-
प्यऽकृतकल्पेऽपि शेपं गृह्णन्न दोपभागस्य शुद्धकोटिकत्वात् निजभक्तस्तौलितत्वात्तदवयवपरिभोगाय तं(तत्) प्रायश्चित्तमपि न

शुद्धं यदा पतितं पश्यति तत्ततस्तदा सम्यगुद्धरेदशठः सन्नित्युक्तम् । अधुनाऽशठ एव विशोधिकोटिदोषवत
स्यादिह चाशुद्धं यद्यत्र यदा पतितं पश्यति तत्ततस्तदा सम्यगुद्धरेदशठः सन्नित्युक्तम् । अधुनाऽशठ एव विशोधिकोटिदोषवद्द्रव्यं, ततश्च
आहारस्य समुद्धरणविधिरुच्यते । तत्र च यत्पात्रकेऽग्रगृहीतं तच्छुद्धं यत्तु पश्चात्तन्मध्ये पतितं तद्विशोधिकोटिदोषवद्द्रव्यं, ततश्च
निर्व्वाहे सति शुद्धं विशोधिकोटिदोषवच्च सर्व्वं त्याज्यमनिर्व्वाहे तु चतुर्भङ्गिकया कल्पनीयता वक्तव्या । यथा शुष्के शुष्कं
१ शुष्के आर्द्रं २ आर्द्रे शुष्कं ३ आर्द्रे आर्द्रं ४ पतितमिति । तत्र शुष्कं वल्लचणकादि रूक्षद्रव्यं । आर्द्रं तु तक्रतीमनस्नेहा-
दिकं । ततश्च यदि शुष्कस्य पुरागृहीतस्य शुद्धस्य मध्ये शुष्कं वल्लादिकमेव विशुद्धिकोटिदोषवत्पतितं तदा तद्वल्लकादिकमशुद्धं
वक्ष्यमाणन्यायोक्तजलप्रक्षेपादिकष्टं विनापि विविक्तुं शक्यत्वादुद्धृत्य तत्त्यज्यते । उद्धृते च शेषं वल्लकादिकं कल्प्यं स्यादिति
प्रथमभङ्गः । यदा च पतद्ग्रहे शुद्धस्य शुष्कप्रायवल्लादेर्मध्ये यदि विशोधिकोटिदोषवत्तीमनाद्यार्द्रं पतितं तदा तन्मध्ये काञ्जिकादि-
जलं प्रक्षिप्य धूल्ल्यादेरुपरि नामितस्य पात्रकस्य भूप्रत्यासन्नकर्णैकदेशे लग्नं शुद्धभक्तस्य पातरक्षणार्थं तिर्यग् स्वहस्तं विधाय तत्
क्षिप्तजलं विविक्तप्रदेशे गत्वा निष्काशयन्ति । येन तज्जलेन सह तदशुद्धतीमनादिकं निस्सरति । ततः शेषं वल्लादिकं कल्प्यं स्यादिति
द्वितीयभङ्गविधिः । यदि चार्द्रस्य शुद्धस्य तीमनादेर्मध्ये शुष्कप्रायं कूरमुद्गादिकं विशोधिकोटिदोषवत्पतितं, तदा तदाधारपात्रक-
मध्ये स्वहस्तं प्रक्षिप्य तीमनादेर्मध्याद् यच्छक्नोति निष्कासयितुं हस्तेन तन्निस्सारयति । ततः शेषं तीमनादि कल्प्यं स्यादिति
तृतीयभङ्गविधिः । यदि च दुर्लभद्रव्यस्यार्द्रस्य मध्ये आर्द्रमेवाशुद्धं पतितं तदस्मिन् तावत् प्रमाणे उद्धृते शेषं कल्प्यमिति चतुर्थ-
भङ्गविधिः अयं च सूत्रकारेणाप्यभिधास्यते इति गाथार्थः ॥५५॥

अधुना प्रदर्शितमेवार्थं सूत्रकारः संक्षेपतोऽभिधित्सुराह ।

तं चेव असंथरणे, संथरणे सव्वमवि विगिंचंति । दुल्लहदव्वे असढा, तात्तियमेत्तं चिय चयंति ॥५६॥

व्याख्या—'तं चेव' त्ति । चः पुनरर्थः भिन्नक्रमश्च तदेव विशोधिकोटिदोपदुष्टमेव, असंस्तरणे तद्विनाऽनिर्व्वाहे विगिंचंतीति योगः । संस्तरणे पुनस्तद्विनापि निर्व्वाहे सत्यपेरेवकारार्थत्वात् सर्वमपि समस्तमेव सर्व्वं विशोधिकोटिदोपवच्च वल्लादिकं विगिंचन्ति परित्यजन्ति परिष्ठापयन्तीति यावत् । अयमत्र भावार्थः । साधुना हि भिक्षामटता पूर्व्वं पात्रके शुद्धं भक्तादि गृहीतं ततस्तत्राप्यनाभोगादिनाऽज्ञातं विशोधिकोटिदोपदुष्टं गृहीतं । पश्चादूज्ञातं ततो यदि तेन विनापि निर्व्वहति तदा तत्सर्वमपि विधिना त्याज्यं । अथ न निर्व्वहति तदा प्रत्यभिज्ञाय निजविज्ञानेन तदेव दोपदुष्टं त्याज्यं न शेषम् । यदि च श्लथद्रवरूपस्य विशोधिकोटिदोपवत-स्तक्रतीमनादेः शुद्धतज्जातीयमिलितस्य व्यक्त्या परस्परं मिलितत्वेन शुद्धाशुद्धविभागो न लक्ष्यते, तदापि समस्तत्यागः कार्यः । चतुर्थभङ्गकाश्रितं विधिविशेपमाह । 'दुल्लहेत्यादि' दुर्लभमन्यत्र दुष्प्रापद्रवं श्लथरूपं घृतादिकं द्रव्यं तस्मिंस्तु पुनः शुद्धे यद्यपरं विशोधिकोटिदोपवत्पतितमथ ग्लानाद्यर्थं अवश्यं दुर्लभत्वाद्य(द्यद)र्थं तत्तदा तावन्मात्रमेव यावन्मात्रं विशोधिकोटिदोपवद् घृतादिकं पतितं तत्प्रमाणमेव कलय्य सर्व्वस्यापि मिलितस्य मध्यात्त्यजन्ति उद्धरन्ति साधवः । कीदृशाः सन्तः ? इत्याह । अशठा निजशक्त्यनवगूहनेन यतमानतयाऽमायाविनस्ततः शेपः किञ्चिच्छुद्धं किञ्चिद्विशोधिकोटिदोपवच्च भवति । परं तत् सर्व्वज्ञाज्ञाकरणात् कल्प्यं स्यात् । इह दुर्लभशब्दोपादानात् सुलभे द्रव्ये सति सर्व्वमपि त्यजन्तीति दृश्यम् । तथाऽशठः सन् यदेवाचरति तदेव तस्य चारित्रनैर्मल्यहेतुतया कर्म्मबन्धाभावाय स्यात् । शठस्तु तदप्याचरन् चारित्रमालिन्योत्पादनेन कर्म्मणा श्लिष्यते इत्यावेदयतीति गाथार्थः ॥५६॥

सांप्रतमुद्गमदोषनिगमनमुत्पादनादोषप्रस्तावनां चाह ।

भणिया उग्गमदोषा, संपइ उप्पायणाए ते वोच्छं। जे णज्जकज्जसज्जो, करेज्ज पिंडट्ठमवि ते य ॥५७॥

व्याख्या—भणिता भेदप्रभेदादिकथनेनादित आरभ्यैतावता ग्रन्थेन प्रतिपादिता उद्गमदोषा आहारोत्पत्तिदूषणानि इति-
निगमनं । सम्प्रति साम्प्रतमधुनेत्यर्थः । 'उप्पायणाए' त्ति तत्र धात्र्यादिप्रकारैर्वक्ष्यमाणैर्याच्ञया आहारोत्पादनमुत्पादना तस्या-
स्तस्यां वा विषये तान् दोषान् वक्ष्ये—अभिधास्ये । यान् दोषान् । अनार्यं जघन्यजनोचितं यत्कार्यं प्रयोजनमाहारादिलौल्येन तदु-
पार्जन्या(न)करणरूपमथवोत्तमजनाचरणीयं धर्म्मलक्षणमेव कार्यं नाहारादिकं । तदुक्तं, "नाहारं चिन्तयेत् प्राज्ञो धर्म्ममेकं हि
चिन्तयेत् , आहारो हि मनुष्याणां जन्मना सह जायते" ॥१॥ इति तत्र सज्जः प्रगुणस्तदुपायनिरतः कुर्व्वीत विदधीत लौल्ययुक्तः
कश्चित् साध्वाभासः यदर्थमसौ तान् कुर्व्वते तद्दर्शयितुमाह । पिण्डार्थमपीति आहारनिमित्तमपि न केवलं दुर्लभवस्तुन उत्पादना-
देरर्थायेत्यपेरर्थोऽनेनार्यकार्यमेव व्यक्तीकृतं परमिह पिण्डेनैव प्रकृतमिति मुख्यतस्तदुपादानं । यद्वा अनार्यकार्यं क्रोधादियुतस्य
साधोर्धात्रीत्वादिकरणम् । अथ च क्षमाद्यन्वितत्वमेव यतेः प्रशस्यं कार्यं । तत्र सज्जः प्रगुणः, शेषं प्राग्वत् तत्र क्रोधयुतो धात्रीत्वं
करोति । यथा केनापि साधुना क्वापि गृहे भिक्षार्थं गतेन लड्डुकादीन् दृष्ट्वा गृहस्थी याचिता एतान् मह्यं देहीति तयोदरिको भवा-
नित्यादिवचनैर्निर्भर्त्सितो यतिः ततः कुपितश्चिन्तयति यथा इयं पापा तथा कार्या, यथा मदायत्ता स्यादिति । मानयुतस्त्वभ्युत्था-
नाद्यर्चया, मायायुतस्त्वेकस्या धात्र्याश्च्यावनायान्यस्याः स्थापनाय बालस्य गृहे गत्वा कूटश्लोकपाठकरणादिना, लोभयुतस्त्वाहार-
लोभादिना धात्रीत्वं करोतीति । 'ते य' त्ति ते दोषा पुनरमी भवन्तीति गम्यते इति गाथार्थः ॥५७॥

उद्गमदोष-
निगमन-
मुत्पादना-
दोषप्रस्ता-
वना च

अथ तानेव प्रस्तावितोत्पादनादोषान् नामतः सङ्ख्यातश्च गाथाद्वयेनाह ।

धाइ दूइनिमित्ते, आजीववणीमगे तिगिच्छाय । कोहे माणे माया लोभे अ हवंति दस एए ॥५८॥

पुव्विं पच्छा संथवविज्जा, मंते य चुन्नजोगे य । उप्पायणाए दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य ॥५९॥

व्याख्या—धात्री बालपालिका स्त्री । इह च धात्रीति निर्देशेऽपि दोषशब्दसामान्याधिकरण्यात् सूचनाच्च धात्रीत्वकरणमिति दृश्यं । एवं यथासम्भवमन्यत्रापि ।१। तथा दूती परस्परसन्दिष्टार्थकथिका स्त्री, दूतीत्वकरणमित्यर्थः ।२। 'निमित्ते' त्ति निमित्त-करणमतीताद्यर्थसूचनं ।३। तथा आजीवो जात्यादीनां गृहस्थात्मसमानां कथनादिना आजीवनं ।४। 'वणीमगे' त्ति वनीपकत्वकरणं । तत्र वनुते दायकाभिमतेषु श्रवणादिष्वात्मनो भक्तस्य दर्शनात् पिण्डं याचते उत्पादयतीत्यर्थः । वनयति वा पिण्डार्थमात्मानं दायिकाभिमतेषु श्रमणादिषु संभक्तं दर्शयतीति निरुक्तिवशाद्वनीपकः । यद्वा वनीं दायकाभिमतजनप्रशंसोपायतो लब्धार्थरूपां पाति पालयतीति वनीपः । स एव वनीपकः । तस्य भावस्तत्त्वं तस्य करणं विधानं तत् ।५। तथा चिकित्सनं चिकित्सा रोगप्रती-कारः चः समुच्चये ।६। तथा कोपः क्रोधः ।७। मानो गर्व्वः ।८। माया वञ्चना ।९। लोभो लुब्धता ।१०। चः पूर्व्ववत् भवन्ति जायन्ते दश प्रतीताः । एते अनन्तरोक्ता इति ॥५८॥

तथा पूर्व्वं दानात् सूचनाद्विद्याप्रयोग इति । तत्र विद्या स्त्रीस्वरूपदेवताधिष्ठिता ससाधना वा ओमित्याद्यक्षरपद्धतिस्तस्याः प्रयोगो व्यापारणं सः १२, एवं मन्त्र इति मन्त्रप्रयोगः किन्तु मन्त्रः पुरुषरूपदेवताऽधिष्ठितोऽसाधनो वा । चः समुच्चये ।१३। तथा चूर्णस्तिरोधानादिफलो नयनाञ्जनादियोग्यो द्रव्यक्षोदः ।१४। योगः आकाशगमनसौभाग्यादिफलो द्रव्यसमूहः । चः पूर्व्ववत् ।१५।

एते किमित्याह उत्पादनाया दोषाः पिण्डोपार्जनस्य दूषणानि एते पञ्चदश। तथा षड्भिरधिका दशपरिमाणमस्येति षोडशं मूल- कर्म्म चेति मिलिताः षोडश भवन्ति तत्र मूलमालोचनादीनां दशानां प्रायश्चित्तानां मध्ये इष्टमेतत्प्राप्तिनिबन्धनं कर्मव्यापारो गर्भ-घातादिमूलानां वा वनस्पत्यवयवानां कर्मौषध्याद्यर्थं छेदादिक्रिया मूलकर्म्म चः समुच्चये।१६। एतेषां मध्याद्येन कृतेन य आहारो लभ्यते स तद्दोषवानिति द्वारगाथाद्वयार्थः ॥५९॥

अधुनाद्यं धात्रीद्वारं व्याख्यानयन्नाह—

बालस्स खीर मज्जण, मंडणकीलावणंकधाइत्तं। करिय कराविय वा जं, लहइ जइ धाइपिंडो सो ॥६०॥

व्याख्या—बालस्य शिशोः सम्बन्धि किमित्याह। क्षीरं च स्तन्यं मज्जनं च स्नानं मण्डणं च भूषा क्रीडापनं च रमणं, अङ्कश्चोत्सङ्गः। उपलक्षणत्वात् कक्ष्यादिग्रहस्ते तथा तद्विषयं धात्रीत्वं क्षीरमज्जनमण्डनक्रीडापनांकधात्रीत्वमिति। तत्र धारयति क्षीरपानादिनाऽवष्टंभयति बालकमिति धात्री निपातनात्। धयन्ति दुग्धपानादिना पिबन्ति बालकास्तामिति वा धात्री बालपालिका स्त्री। सा च रूढया क्षीरादिभेदाद् पञ्चविधाः, तस्या भावो धात्रीत्वम्। एताश्च क्षीरादिविषयाः पञ्चधात्र्यश्चिरन्तनकाले बालपितृविभवानुसारत आसन्। साम्प्रतं तु दुःषमानुभावान्नैतास्तादृश्यो दृश्यन्ते इति। तदेकैकं क्षीरादिधात्रीत्वं कर्म्मतायत्तं, 'करिय'त्ति कृत्वा स्वयं विधाय। 'काराविय' त्ति कारयित्वा अन्यसकाशाद्विधाप्य, वाशब्द एकां प्रच्याव्यान्यस्यास्तत्स्थाने व्यवस्थानरूपं वा क्षीरादिधात्रीत्वं कृत्वेति समुच्चयार्थः। यं पिण्डं लभते–प्राप्नोति यतिः साधुः धात्रीत्वकरणाल्लब्धः पिण्डो मध्यपदलोपाद्धात्रीपिण्डः। सोऽनन्तरोक्त उच्यते इति शेषः। तत्र यथा क्षीरधात्रीत्वं कारयति करोति वा स्वयं तथोच्यते। किल कश्चित्साधुर्भिक्षार्थं पूर्व्वपरिचितगृहे प्रविष्टो

रुदन्तं बालकं दृष्ट्वा तज्जननीं प्रत्याह, यथा मह्यं शीघ्रं भिक्षां प्रयच्छ तेऽसौ बालको रोदिति पश्चादेनं स्तनं धापय । अहो ते अतिप्रमादिता किं सुलभानि पुत्रभाण्डानि ? यद्वा पर्याप्तं मम भिक्षया तावदेनमेव तर्प्पय । भूयोऽपि वाऽहं भिक्षार्थमागमिष्यामि । तथा मतिमानऽरोगी दीर्घायुश्च स्तनं पायितो बालः स्यादिति क्षीरधात्रीत्वं कारयति । यद्वा वक्ति तिष्ठ त्वं निराकुलाऽहमेवास्मै कुतोऽप्यानीय क्षीरं दास्यामीति वचनतः स्वयं धात्रीत्वं करोति । अत्र च प्रभूता दोषाः स्युर्यथाऽसौ बालकमाता भद्रकतयाऽऽवर्जितचित्ता सत्याधाकर्म्मादिपाकं कुर्यात्तथा बालकस्वजना अन्यो वा प्रातिवेश्यादिर्बालकमात्रादिना सह सम्बन्धं भावयेच्चाटुकरणदर्शनात् । यदि च प्रान्ताऽसौ तदा प्रद्वेषं विदध्यात्तथा वेदनीयकर्म्मविपाकवशाद् बालस्य मान्द्ये जाते त्वया मत्पुत्रो ग्लानीकृतइत्यादि साधुना सह कलकलादिभवनात् प्रवचनमालिन्यं स्यात् । चाटुकारिण एते इति जनेऽश्लाघा स्यादेवं शेषास्वपि धात्रीष्वमी द्रष्टव्याः । अधुनैकां प्रच्याव्यान्यस्याः स्थापनेन यथाऽसौ तत् करोति तथोच्यते । भिक्षाचर्यायां प्रविष्टेन साधुना महिलां सशोकां दृष्ट्वा किन्त्वमद्याधृतिपरा दृश्यसे ? इत्यादि पृच्छयते, तया चोच्यते । धार्मिक यते ! दुःखं दुःखसहायस्यैव कथ्यते, साधुः प्राह को दुःखसहायो भण्यते, सा प्राह यः कथितो दुःखविषयं प्रतिकारं करोति । साधुनोक्तं मां मुक्त्वा कोऽन्यस्तथाभूतः, सा प्राह तर्ह्युद्दालितमपरधात्र्या मम धात्रीत्वमिति । ततः साधुरुत्पन्नाभिमानो यावन्न त्वं तत्रैव स्थापिता तावन्नाहं त्वदीयां भिक्षां ग्रहीष्यामीत्यभिधाय च्यावयितुमिष्टाया धात्र्या अदृष्टत्वात् स्वरूपं जानाय तस्या एव पार्श्वे पृच्छति यथा सा किं तरुणी मध्यादिवयस्का वा, प्रतनुस्तनी स्थूलस्तनी वा, शरीरेण वा मांसला कृशा वा कृष्णा गौरा वेत्यादि । ततो ज्ञाते तत्स्वरूपे यदि च्यावयितुमिष्टा धात्री स्थविरा, तरुणीरा [illegible] कर्परकास्तनी वा स्यात्तस्तत्स्वरूपधात्रीसमर्थं तदाश्रिते गृहे गतः संस्तद्गृहस्वामिनः शृण्वतो बाले

दृष्टिं निवेश्य वदति यथा वृद्धा धात्र्यऽबलस्तन्या स्यात्तां धयन्बालोप्यबलः सम्पद्येत, कृशा च धात्री स्तोकस्तन्या स्यात्तां च
धयन्बालोपि कृशो भवेत्। स्थूलस्तन्यास्तनौ धयन्बालः कोमलाङ्गत्वात् कुचचम्पितवक्त्रघ्राणः सन् चिपिटनासिकः स्यात् कूर्पराका-
रस्तनीं च धयन्बालः स्तनाभिमुखमुखप्रसारणतो दीर्घीकृतमुखतया सूचीसदृशवदनः स्यात् कोमलाङ्गत्वादिति । अत्रार्थे स्वकृतश्लो-
कान् पठति । यथा 'निस्थामां स्थविरां धात्रीं सूच्यास्यः कूर्परस्तनीं । चिपिटः स्थूलवक्षोजां धयंस्तन्वीं कृशो भवेत्' ॥१॥ इत्यादि ।
यद्वा च्यावयितुमिष्टाया वर्णमाश्रित्य तत्समक्षं स्वामिनः शृण्वतः स्वकृतश्लोकपठनेन दोषान् वक्ति यथा 'कृष्णा भ्रंशयते वर्णं, गौरी
तु बलवर्जिता । तस्माच्छ्यमा भवेत् धात्री बलवर्णैः प्रशंसिता' ॥१॥ इत्यादि । इह यश्च्यावयितुमिष्टाया वर्णः कृष्णादिरुत्कटोऽस्ति
तेन तां दूषयति । यदि च स्थापयितुमिष्टापि च्यावयितुमिष्टसदृशवर्णा स्यात्तदा तां विशेषतः श्लाघ्यवर्णामपरगुणसम्पर्कादिना वक्ति।
च्यावयितुमिष्टां च निन्द्यवर्णामिति । तदिह च्यावयितुमिष्टा स्थविरादिवयस्त्वेन स्थूलस्तनादित्वेन कृष्णादिवर्णत्वेन वा युक्ता
वर्त्तते इति न सम्यग् योगः । स्थापयितुमिष्टा च तरुणीत्वेन लक्षणयुक्तस्तनतया नातिकृष्णागौरवर्णतया च सम्पन्नेत्यतस्तद्गृह-
स्वामी साध्वभिप्रेतां धात्रीं पुनरप्यङ्गीकरोतीतरां मुञ्चतीति । अत्र चैवं विधानेऽमी दोषाः स्युः । यथा या क्षीरधात्रीत्वच्याविता सा
साधूपरि विद्वेषं कुर्यात् । प्रद्विष्टा च सती चौरोऽयमित्यादिकमनृतं छोभकं दद्यात् । यद्वा अनया धात्र्या सह तिष्ठतीति ब्रूयात् ।
वधादिकं वा तस्य कुर्यादधिकरणं चेत्थं महत्साधोः स्यात् तथा या स्थापिता सापीदृशं व्यतिकरं दृष्ट्वा ममापि धात्रीत्वविघ्नमित्थमसौ
करिष्यतीति विचिन्त्य विषादि तन्मरणाय दद्यात् । मा कदाचिद्यथा मया अभ्यर्थितेनेतरा च्याविता तथाऽन्ययाऽभ्यर्थितो मां
च्यावयिष्यतीत्येवं शेषास्वपि । उक्तं क्षीरधात्रीत्वमाश्रित्यकरणकारणादिस्वरूपम् ,अथमज्जनधात्रीत्वमाश्रित्य तदुच्यते । यथा भिक्षार्थं

गृहं गतो यती रममाणं बालं दृष्ट्वा तज्जननीं प्रत्याह। तथा महामसौ बालो लुठति धूल्या वा अवगुण्ठितशरीरस्तिष्ठत्यतः स्नापयनमिति। जलं ग्राहयित्वा बालमातुः पार्श्वात्तस्य मज्जनविधापनं कारयति। यद्वा अहमेनं मज्जयामीत्यभिधाय स्वयं जल गृहीत्वा बालस्य मज्जनविधानं करोति। तथाऽत्राप्यनी(भिम)तधात्र्याः स्थापनाय सुतजनन्याः पुरतो जल्पति। यथा भवदभिमता धात्री सर्वथा न मज्जति। अतिबहुजलेन वा मज्जति तत्र सर्वथा अस्नपितो बालो दुर्बलदृष्टिरेव स्यादतिशयबह्वम्बुक्षेपणेन स्नप्यमानोऽसावबलनयनो रक्ताक्षो जलभीरुश्च स्यात्। स हि बालत्वेऽसहितजलप्लावनतया श्वासनिरोधाद्व्याकुलीभवतस्तस्य यज्जलभयं समुत्पद्यते, तेन गुरुरपि जातो नद्यादिषु प्रविष्टः पूर्वभयाऽभ्यासेन जलाद् बिभेदिति। भवदभिष्टा च धात्री प्रचुरजलेनैव स्नपयतीति न सम्यग् योगः। अथ मण्डनधात्रीत्वं करणादिभेदत उच्यते। गृहे गतो बालजननीं प्रत्याह। खेलाक्षुरिकादिरूपैस्तिलककटककुण्डलादिभिश्चाभरणैरेनं मण्डयेति कारणम्। यद्वा अहमेनं मण्डयामीति प्राहेति स्वयं करणं। च्यावयितुमिष्टायाः सत्यानि वा दूषणानि वदति। यथासौ भवत्स्थापितमण्डनधात्री बालस्य हस्ताभरणानि कटकादीनि कण्ठसत्कानि च नक्षत्रमालादीन्यपि पादयोः परिदधाति चरणसत्कानि च घुघुरादीनि कण्ठादाविति। इदं च श्रुत्वा बालजनकेन तामशोभनामिति विचिन्त्यापनीय च, पूर्वधात्र्येव क्रियते। क्रीडनधात्रीत्वं करणादिभेदतो यथा, भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुर्बालं रुदन्तं दृष्ट्वा तज्जननीं प्रत्याह यथैनं बालं क्रीडनककार्युल्लापनकवाक्यैर्मृन्मयहस्त्यादिभिर्वा क्रीडां कारय। अहं वा एनं रमयामीत्येवं मातुः सकाशात् स्वयं वा क्रीडनकधात्रीत्वं कारयति करोति वा। अभिप्रेतायाः स्थापनार्थं तन्मातुरग्रतश्च्यावयितुमिष्टधात्र्या दोषोद्घट्टनं च करोति यथा—कठिनध्वनयुतधात्र्या रमितो बालोऽपि कर्कशध्वनः स्यात्। मृदुस्वरया च रमितो बालो मृदुस्वरोऽव्यक्तस्वरो वा स्यात् इति स्वमत्या दोषान् घटयति। एतद्दोषान्यतरस्मिंश्च भवद्धात्री वर्त्तते।

अङ्कधात्रीत्वकरणादिकं यथा, भिक्षार्थं गृहे गतो बालं भूमौ रुदन्तं दृष्ट्वा अङ्के गृहाणैनमहं वा गृह्णामि इति तज्जननीं जल्पतीत्यङ्कधा- त्रीत्वं कारयति करोति वा। च्यावयितुमिष्टधात्र्या दोषोद्घट्टनं च कुरुते। यथा स्थूलशरीरया धात्र्या कट्यां बालको गृह्यमाणोऽन्योऽन्यं त्रिस्तीर्णान्तरपादः स्यात्। वक्रीभूतकट्या निर्मांसत्वेन शुष्कशरीरया धात्र्या कट्यां ध्रियमाणः कष्टेन तिष्ठति। निर्मांसकठिनहस्ता- भ्यां च धात्र्या गृह्यमाणो भयवान् भवति। भवदभिप्रेता चैतेषामन्यतरस्मिन् वर्त्तते। इह कटीधरणादिकमप्यंसकठिनहस्ताभ्यां च धात्रीत्वं ज्ञेयं। इह सर्वास्वपि च्यावयितुमिष्टासु धात्रीषूद्भावितदोषाणां मध्याद् घटमानोऽघटमानश्च दोषः स्यात्। परमसौ स्वमतिवि- कल्पितत्वात् दुष्टाभिसन्धित्वात् सर्वज्ञनिषिद्धत्वाच्चासत्य एव ज्ञेय इति गाथार्थः ॥६०॥

उक्तं धात्रीद्वारमथ दूतीद्वारमाह।

कहियमिहो संदेसं, पयडं छन्नं च सपरगामेसु। जं लहइ लिंगजीवी, स दूइपिंडो अणहा(ट्ठ)फलो ॥६१॥

व्याख्या—कथयित्वा निवेद्य मिथो मात्रादिसम्बन्धिनं पुत्र्यादेरग्रतः पुत्रादिसत्कं च मात्रादेरित्येवं परस्परमुभयोरपीत्यर्थः। कं क- थयित्वेत्याह 'संदेशं'ति सन्देशकं अभीप्सितार्थाभिधायकनिवेदितवचनकथनरूपं प्रतीतं। किं विशिष्टं तमित्याह। प्रकटमन्येषामगुप्तं सर्वजनविदितमित्यर्थः। तथा छन्नं बाह्यजनालक्षिततया गुप्तं बाह्यजनश्च लोकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा। तत्र लोकः पार्श्ववर्ती पृथग्जनः। लोकोत्तरः सङ्घाटीयसाधुः। तत्र कदाचिदुभयोरपि प्रच्छन्नः। कदाचित्सङ्घाटीयसाधोरेव गुप्तो ज्ञेयो यस्याश्च सन्देशको नीयते तस्याश्छ- न्नो न भवत्येव। तदित्थं छन्नो द्विधा भवति। एतत्स्वरूपं च गाथार्थादुपरि वक्ष्यामः। वा विकल्पे क्व कथयित्वेत्याह स्वपरग्रामयोः स्वग्रामे परग्रामे च। तत्र स्वग्रामः स्वनिवासग्रामस्तद्विपरीतः परग्रामः। कोऽर्थः ? स्वनिवासग्रामस्यैव सत्केऽन्यस्मिन् पाटकादौ परग्रामे

वा सन्देशकं नीत्वेति। ततः किमित्याह यं पिण्डमाहारादिलक्षणं लभते प्राप्नोति क इत्याह लिङ्गं रजे हरणादि साधुवेषरूपं चिह्नं तेन जीवति निर्वहतीत्येवंशीलस्स तथा इत्थं निर्व्वाहं प्रवर्त्तयन् लिङ्गमात्रोपजीवक एव भवतीति विशेषणं स इत्थम्भूतो दूतीत्वकरणोपायेन लब्धः पिण्डो मध्यपदलोपे दूतीपिण्ड इत्युच्यते। स च किंविशिष्ट इत्याह अनर्थाः प्रभूता ऐहिकामुष्मिका अपायाः फलं कार्यं यस्यासौऽनर्थफलोऽनेकदोषव्रातहेतुरित्यर्थः। अयमत्र भावार्थः किल कश्चिद् व्रती भिक्षावस्त्राद्यर्थं व्रजन् विशेषस्तल्लाभार्थं तस्यापि ग्रामस्य मत्कं पाटकांतरे ग्रामान्तरे वा जनन्यादेः सत्कं पुत्र्यादेरग्रतस्तद्वचनं नीत्वा कथयति। यथा सा तव माता स तत्र पिता च त्वयाऽद्यागन्तव्यमित्यादि त्वत्संमुखं वक्तीत्येवं स्वपक्षपरपक्षयोः शृण्वतो निःशङ्कं कथनात् प्रकटः सन्देशः। तथा कश्चिद् व्रती दुहित्रामात्रादिकं प्रति स्वग्रामे परग्रामे वा सन्देशकनयनायाभ्यर्थितस्ततस्तत्सन्देशकमवधार्य तज्जनन्यादिपार्श्वे गतः सन् द्वितीयसङ्घाटकीयसाधोः दुहितुः सत्कमवलभकमसौ तन्मातुर्ददाति इत्यध्यवसायोत्पत्त्यर्थमित्थं तज्जननी संमुखं ब्रूते। यथा अतिमुग्धा सा तव दुहिता, यैवमस्मान्प्रतिवदति यथेदं मयोजनं मदीयागमनादिकं मम मात्रे त्वया निवेद्यमिति। सापि दक्षा तदभिप्रायं ज्ञात्वा तत्सङ्घाटकीयसाधुप्रत्यायनाय प्रतिभणति। यथा वारयिष्याम्यहं तां तत्राभिमुखं पुनरेवं जल्पन्तीमित्येवं सङ्घाटकीयसाधोरसौ गोपयितुमिष्टो न लोकस्येति लोकोत्तरप्रच्छन्नसन्देशक इति। तथा कस्याश्चित् पिता व्रती समभवन् माता तु तस्यापि ग्रामस्य सत्केऽन्यस्मिन् पाटकादौ ग्रामान्तरे वा गृहस्थ्यभूत्तस्तत्र भिक्षाद्यर्थं व्रजन्तं निजपितरं साधुं दृष्ट्वा मातुः सन्देशकं ददाति यथा हे तात मज्जनन्यास्त्वमेवं कथयेर्यथा तत्कार्यं तव प्रतीतं यथा त्वं जानासि तथैव सम्पन्नं यथा वा जानासि तथा वा तत्त्वया विधेयमित्येवमसौ स धुसङ्घाटकस्य शेपलोकानां चार्थानवगमादुभयच्छन्नसन्देशक इति। इह च सर्व्वत्र दोषा गृहस्थव्यापारणादिना जीवोपमर्दादयो

ज्ञेयाः । प्रकटसन्देशकं चाश्रित्य विशेषतो दोषा आख्यानकेनोच्यते । तच्चेदं

एगंमि गामे उज्जुओ नाम कोडुंबिओ, तस्स य देवई नाम दुहिया । सा य-तग्गामवासिणा एगेण कोडुंबियेण परिणीया । एगंमि गामे उज्जुओ नाम कोडुंबिओ, तस्स य देवई नाम दुहिया । सा धूया पच्चासन्नगोउलगामवासिणा एगेण कोडुंबियपुत्तेण परिणीया । एत्थन्तरे तीये कालंतरे एगो पुत्तो दुहिया य जाया । सा धूया पच्चासन्नगोउलगामवासिणा एगेण कोडुंबियपुत्तेण परिणीया । एत्थन्तरे उज्जुयभज्जा पंचत्तमुवगया । तओ उज्जुओ संसारभयभीओ धम्मघोसाणं थेराणं सगासे पव्वइओ । विहरमाणो तत्थेव गामे नियदुहिआए देवईए वसहीए सपरिवारनियगुरुसहिओ ठिओ । तम्मि पत्थावे ताणं दोण्हवि गामाणं परोप्परं वेरं आसि सेज्जायरिनिवासिगामेण एयस्सुवरि च्छन्ना धाडी सज्जिया । सो य उज्जुयसाहू गोउलगामे भिक्खट्ठ चलिओ । देवईए दुहियानेहेण भणिओ । जहा जणय तुमं गोउलगामे वच्चिहिसि । तत्थ मे दुहियाए णियदोहित्तियाए कहेज्जसु, जहा तुह जणणीए कहावीयं, जम्हा अम्ह गामो तुज्झ गामस्सुवरि पहाए छन्नाए धाडीए आगमिस्सइ त्ति । तुमं घरवक्खरं ठवेज्जसु त्ति । तेण तहेव कयं । तीए नियभत्तुणो, तेण य गामस्स कहियं । गामो सन्नद्धबद्धकवओ, जुज्झसज्जो जाओ । इयरो य पभाए आगओ । महाजुज्झं जायं । तत्थ देवईए भत्ता पुत्तो य धाडीए सहागया । जामाओउ गोउलगामेण सह हुंतो । तिन्निवि जुज्झे मया । धाडी वलिया । देवई जामाइयाणं मरणं नाउं रोइउं पयट्टा । तीसे सयासे अणुणयवहणत्थं लोगा आगया भणंति य जइ गोउलगामो धाडीं एंती न जाणन्तो तो असन्नद्धो न जुज्झंतो, तेण तुह जामाइणो न मरता । ता केण पावेण सो जाणाविओ, तं सोऊणं तीसे पिउणो उवरिं कोवो जाओ । जहा जइ मए अयाणंतीए तस्स सयासाउ दुहियाए कहावियं तो किं साहुवेसविडंबएण साहियंति चिंतिय रोयंतीए भणियं । जहा मे जामाइपुत्तमारएण जणएणं सिट्ठं लोगेण सो साहू खिंसिओ उड्डाहो य जाउ त्ति गाथार्थः ॥६१॥

उक्तं दूतिद्वारं, अथ निमित्तद्वारमाह—

जो पिंडाइनिमित्तं, कहइ निमित्तं तिकालविसयं पि। लाभालाभसुहासुह—जीविअमरणाइ सो पावो॥६२॥

व्याख्या—यः कश्चिद् व्रती पिण्डादिनिमित्तमाहाराद्यर्थमादिशब्दादुपध्यादिपरिग्रहः। भक्तवस्त्रादिलिप्सयेत्यर्थः। कथयति गृहिणां निवेदयति व्यापारयतीति यावत्। निमित्तं ज्ञानविशेषरूपं त्रिकालविषयमपि अतीतादिकालत्रयगोचरमपि। न त्वेककालविषयमेवेत्यपरार्थः। यथा हे श्राद्धा! अतीतदिने तवैतज्जातं इदं भविता, साम्प्रतं चेदं भवते वर्त्तते इत्यादीति। किं विषयं पुनस्तदित्याह 'लाभे'त्यादि तत्र लाभोऽभिलषितावाप्तिस्तद्विपरीतोऽलाभः। आल्हादरूपं सुखं, तदभावोऽसुखं दुःखमित्यर्थः। जीवितं प्राणधारणं, मरणं प्राणत्यागरूपं, अमीषां द्वन्द्वे लाभादीनि मरणान्ता(न्तान्या)दिर्यस्य तत्तथा। लाभादिविषयमित्यर्थः। आदिग्रहणाच्चिन्तालूकामुष्टिभेदबन्धुममागमसुभिक्षदुर्भिक्षादिग्रहः। यश्चेदं कथयति सोऽनन्तरोक्तः साधुः किमित्याह पापः पापोपदेशकत्वात् पापीयान्। तदित्थं लाभादिसूचककालत्रयगोचरनिमित्तव्यापारणाल्लब्धः पिण्डो निमित्तपिण्ड इत्युच्यते। दुष्टश्चायं यतस्त्रिविधेऽप्येतस्मिन् कथ्यमाने आत्मोभयपरविषया वधादयोऽनर्थाः सम्पद्यंते। तत्रात्मविषये साधुर्वधादिकं प्राप्नोति। उभयविषये साधुर्वधादिकं माप्नोति जीवोपमर्दश्च जायते। परविषये जीवोपमर्द एवेति। वार्त्तमानिके च सद्य इहलोकेऽपि प्रत्यपाया जायमाना दृश्यन्ते। तत्राख्यानकं यथा—

एगंमि सन्निवेसे आसि पुरा गामभोइओ एगो। सोहग्गाइगुणजुया भज्जा से सुंदरी होत्था॥१॥ देसंतरंमिय गओ रन्नाएसेण अन्नया सो उ। भज्जं मोत्तुं गामे तत्थ य नेमित्तिओ निउणो॥२॥ एगो साहू पत्तो भिक्खट्ठा सो गओ तीए गेहे। तं दट्ठूणं

पुट्ठो निमित्तमिह जाणसे किं पि ॥३॥ तेणुत्तं सुट्ठुत्तरं जाणामि तीए जंपियं तत्तो। कहहि मम किंचि समणग जं ते रोयइ तयं पुच्छ ॥४॥ तत्तो निमित्तकहणेण सुंदरी तेण हियहिअया। पकया विउलासणपाणाइ दिन्नं तो तीए हिट्ठाए ॥५॥ देसन्तराउ वलिओ अह अन्नया बहु अकालता(जाया)। जाव स चणुपत्तो, नियगाम अदूरदेसंमि ॥६॥ तो तेण भोइएणं, निययग्गामस्स नियडपत्तेण। भज्जाणुरत्तएणं नियमणे चिंतियं च जहा ॥७॥ एगागी पच्छन्नो गत्तूणं चेट्ठियं नियघरस्स। किं सुंदरी सुसीला उय निस्सीला व जोएमि ॥८॥ एत्थावसरे पुट्ठो महदइओ एइही कया हहइ। तेणुत्तं अज्जेव य वारे गामस्स आयाओ ॥९॥ साहु सयासाउ तओ, तीए य तयागम सुणेऊण। संमज्जणोवलेवणचंदणमालाइ गिहिकिच्चं ॥१०॥ काऊणं सव्वंचिय हरिसवसुल्लसियबहलपुलयाए। नियपरिजणो य सव्वो तदभिमुहं पेसिओ पत्तो ॥११॥ तं पत्तं दट्ठूणं पुट्ठो सो तेण परियणो मज्झ। कओ नायं तुब्भेहिं आगमणं परियणो भणइ ॥१२॥ पट्ठविया किल अम्हे सुंदरीए ण णायमम्हेहि। एत्थंतरंमि तो कोउगेण तीए य सो पुट्ठो ॥१३॥ पुव्वाणुभूयमत्थं सद्धिं जं भोइएण संजायं। ता जाव इमं पकहइ तो पत्तो भोइउ गेहे ॥१४॥ दिट्ठो सो उवविट्ठो, तीए समिवे सो वि उवविट्ठो। कयनियजणोवहारो 'सा पुट्ठा जह कहं नायं ॥१५॥ मम आगमणं तुमए, तीए वुत्तं अणेण मम मुणिणा। पच्चयपुव्वं कहियं' भद्दे को पच्चओ कहसु ॥१६॥ तीए वुत्तं निसुणसु, तुमए सह, जं मए पुरा विहियं। जं पि य हसियाईयं, सुमिणो वि य जो मए दिट्ठो ॥१७॥ तं सव्वमणेण ममं कहियं जो गुज्झदेसतिलओ वि। सो वि य एयं सोउं, ईसावसविप्फुरियकोवो ॥१८॥ जहा एयाए ताव वडवाए पुच्छिमो गब्भं। जइ जाणिही निमित्तेण, गुज्झतिलउ विईयाए ॥१९॥ तो नाओ तेणं चिय होही, तो हं न किंचि एयस्स। उववायं पकरिस्सं, अह नो जाणिही इयं गब्भं॥२०॥ तो तिलओ विहु नाओ अकज्जायरणओ न नाणेण।

तो एयं मारिस्सं निब्भंतं भणइ तो एसो ॥२१॥ रोसेण फुरफुरिंतो भो भो पव्वइयग ! मह इमीए। वडवाए जं गब्भं चिठइ तं कहसु नाऊणं॥२१॥ तेण भणियं किसोरो पंचहिं पुंडेहि संजुओ अत्थि। पच्चयहेउं तीए पोट्टं फालावियं तेण ॥२२॥ दिट्ठे तारिस उच्चिय जारसिओ अक्खिओ सो किसोरो। तं दट्ठुं तस्स तओ कोवोवसमो समणुजाओ ॥२३॥ भणिओ साहू तेणं जइ एयं सव्वयं जइ न कुन्तं। तो तुह उदरं एयं फालावितो अहं नियमा ॥२४॥ तम्हा जाईण(णीय)मेयं इहपरलोए अणत्थकरणखमं। नो कहवि अनुन्नायं जिणेहि काउं(?)हिएसीणं ॥१॥ ननु साधोर्वधादिकं न किञ्चिज्जातमिति तस्य करणे को दोषः? उच्यते वडवादिघातादयो दोषा अत्रापि जाता एव। तथा ये च पञ्चपुण्ड्रकिशोरकादिपरिज्ञानेन परस्य प्रत्ययमुत्पाद्य स्वस्य मारणादिकरणं पारदारिकादिदूषण-मुत्तारयिष्यन्ति ते कियन्तो भविष्यन्ति, विरला एवैते स्युः। एवमतीतादिनिमित्तेऽपि भावनीयमिति गाथार्थः ॥६२॥

उक्तं निमित्तद्वारमथाजीवनाद्वारमाह।

जच्चाइधणाण पुरो, तग्गुणमप्पं पि कहिय जं लहइ। सो जाईकुलगणकम्म–सिप्पआजीवणापिंडो ॥

व्याख्या—जात्यादीन्येव धनं स्वोत्कर्षादिहेतुतया वित्तं येषां ब्राह्मणादीनां ते जात्यादिधनास्तथा च विप्रादेर्जातिरेव ब्राह्मणत्वादिका धनं तया ह्यसौ सर्व्वजनोत्कृष्टमात्मनं प्रख्यापयति, निर्वहति च। आरक्षकादीनां कुलमेव धनं तेन तेषां निर्व्वाहादिभावात्। मल्लादीनां बाहुमुष्टियुद्धादिक्रियैव धनं। कृषीवलादीनां हलवाहनादिना कृष्यादिकर्म्मैव, चित्रकरादीनां चित्रकरणादिशिल्पमेव धनमिति तेषां जात्यादिधनानां दातॄणां ब्राह्मणानां पुरतोऽग्रतः 'तग्गुणं'ति तेषां जात्यादिधनानां सम्बन्धी गुणो जात्यादिधर्म्मो यस्यात्मनः स तद्गुणस्तं दातृसमानजात्यादिधर्मकमित्यर्थः। आत्मानमपि न केवलं परमित्यपेरप्यर्थः। कथयित्वा तत्सत्कहवनादि-

क्रियाविज्ञातृत्वसूचनव्याजेन स्फुटवचनेन वा प्रकाश्येत्यर्थः। यं पिण्डमशनादिरूपं लभते स्वजात्यादिपक्षपातरञ्जितेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सकाशात् प्राप्नोति साधुः, सोऽनन्तरोक्तः पिण्डः। किमित्याह जातिश्च कुलं च गणश्च कर्म्म च शिल्पं च तानि यथा एतानि वक्ष्यमाणार्थानि तेषामाजीवना सा तथा, तया लब्धः पिण्डो जातिकुलगणकर्म्मशिल्पाजीवनापिण्डः। जात्याजीवनापिण्डः, कुलाजीवनापिण्ड इत्यादिनामाभिधेयाऽसौ भवतीत्यर्थः। कथं पुनरसौ तद्गुणमात्मानं प्रकाशयतीत्युच्यते। यथा कश्चित्साधुर्भिक्षामटन् भिक्षार्थं ब्राह्मणगृहे प्रविशति। ततस्तत्सुतं होमादिक्रियाः सम्यगकुर्वाणं दृष्ट्वा तत्पित्रभिमुखं जल्पति, यथाऽवितथवितथहवनादिक्रियाकरणाद् ज्ञायते, यथैष विज्ञातवेदादिशास्त्ररहितस्य द्विजस्य सुत इति, वेदादिशास्त्रज्ञपार्श्वस्थितो नासाविति तत्पितुः कथयति यद्वा निजसुतं क्रियां कुर्वाणं साधुमवलोकयन्तं दृष्ट्वा द्विजः पृच्छति यथा साधो! त्वया किं हवनादिक्रिया सम्यगसम्यग् वा विज्ञायते येनेत्थं निरीक्षते ततः साधुर्ब्रूते, यथा समिन्मन्त्राहुतिस्थानयागकालघोषादीनाश्रित्य सम्यगसम्यग् वा क्रिया स्यात्। तत्र समिधः पिप्पलानामार्द्रप्रतिशाखादिखण्डस्वरूपा यत्र यथावत् प्रयुज्यन्ते, एवं मन्त्रा ओमित्याद्यक्षरच्छन्दरूपा, आहुतिरग्नौ घृतादेः प्रक्षेपाख्या, स्थानमुत्कुटादिरूपं, यागोऽश्वमेधादिकः, कालः प्रभातादिः, घोषो ध्वनिरूपो, यत्र यथावत् प्रयुज्यते सा सम्यक् क्रियेति। यत्र च समिधादयो न्यूनतया अधिकतया विपर्ययेण वा प्रयुज्यन्ते, न यथावत् सा त्रिविधा असम्यक् क्रियेति। तदित्थमाहारादिलिप्सया व्याजेन तत्समानजातिकस्यात्मनः प्रकाशनं विधीयते। तत्र च स ब्राह्मणस्तच्छ्रुत्वा गार्हस्थ्ये ब्राह्मणोऽयमित्यध्यवस्य भद्रकः सन् स्वजातिपक्षपाताद्यदाहारादि दापयति तदाजीवनादोषवत्स्यादथ प्रांतस्तदाऽस्माकमयमुपहासं करोतीत्यादि विचिन्त्य गृहनिस्सारणादि कुर्यात्। यदि ब्राह्मणः(णोऽ) सन् कुतोऽपि किञ्चिद् ब्राह्मणक्रियादिकं ज्ञात्वेत्थं ब्राह्मणत्वं प्रकटयति तदा अपरोऽपि भावतो मृषावादः

स्यादिति। यदा पृष्टोऽपृष्टो ब्राह्मणोऽहमित्यात्मानं जातिमन्तं साक्षादेव कथयति तदा स्फुटवचनेनैव तद्गुणात्मनः प्रकाशनाज्ञा-
न्युपजीवनं भवति। तत्रापि मायामृषावादादयो दोषा वाच्याः। एवं क्षत्रियादिजातेरप्युपजीवनं ज्ञेयम्। कुलोपजीवनं यथा उग्रकुलेषु
भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुरुग्रपुत्रं हडिप्रभृतीनि समारचयंतं दृष्ट्वा तत्पितरमाह, यथा हव्यादीनामवितथाऽकरणाद् ज्ञायते यथा सुशिक्षित-
ग्रक्रियस्योग्रपुत्रोऽयमित्यादि एवं भोगादिकुलेष्वपीति। गणोपजीवनं यथा मल्लादिगृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुस्तान् युद्धादिक्रियानिरतान्
व्यवलोक्य कथयति। यथा मल्लानां युद्धप्रस्तावे वासुदेवादिप्रतिमाप्रणमनखङ्गबाहुयोधनादिव्यवस्थाभाषणं तथा कखाड(अक्षवाट)के
प्रविष्टस्यैकस्य मल्लस्य निजभूम्याक्रमणेन प्रतिद्वन्द्विमल्लघाताय पार्श्वे गमनं ग्रीवाबन्धादि च स्यात्, धरणिपातछुप्तांकयुद्धादिप्रकटनं
च भवतीति। ततो मल्ल एवासौ गार्हस्थ्य आसीदिति स्वगणपक्षपातादाहारादि दापयन्तीत्यादिपूर्ववत्। कर्म्माजीवनं यथा कृषी-
वलस्य गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः कृषीवलस्य पुरतः साधुर्भणति यथा यदि प्रभूतं द्रव्यं कृषिकारापकाद्वणिगादेः कृषीवलो लभते तदा
हलादीनि शुभानि करोति। अथ स्तोकं तदा अन्यथापीति। कृषिकारापकोऽपि यदि प्रभूतद्रव्यवान् स्यात् तदा तानि शुभानि कार-
यति। अथ स्तोकद्रव्यवान् तदा अन्यथापीति। तच्छ्रुत्वा गार्हस्थ्ये कृष्यादिकर्म्म निपुणोऽसावासीदित्यादि पूर्ववत्। शिल्पाजीवनं
यथा शिल्पिनो गृहे प्रविष्टः शिल्पिनः शिलावर्त्तकादेः पुरतो जल्पति यथा यदि प्रभूतं द्रव्यं शिल्पी लभते तदा शुभानि देवकु-
लादीनि कारयति। अथ स्तोकं तदा इतरथा। एवं कारापकेऽपि वाच्यमिति। ततः शिल्पिकोऽसौ पूर्वमासीदिति संभाव्य स्वशिल्पि-
त्वपक्षपातात्तस्यासावशनादि दापयतीति। एवं च यदुपजीवनेन यः पिण्डो लभ्यते स तेन व्यपदेश्यो ज्ञेय इति गाथार्थः ॥६३॥

अधुना जात्यादीन्यनन्तरगाथोत्तरार्द्धोपात्तानि व्याख्यातुमाह।

जात्या-
दीनि

मल्लाइ गणो किसिमाइ कम्म चित्ताइ सिप्पं तु ॥६४॥

माइभवा विप्पाइ व जाइ उग्गाइ पिउभवं च कुलं ।

व्याख्या—मातृभवा जननीसमुत्थेत्यर्थः । यद्वा विप्रादिका ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यप्रभृतिका, वा विकल्पे जातिर्लोकप्रतीता ज्ञेयेति शेषः । तथोग्रादि उग्रभोगक्षत्रेक्ष्वाकादिकं । तत्रोग्रभोगावादिदेवेनारक्षकत्वेन गुरुत्वेन च व्यवस्थापितौ वंशविशेषौ, क्षत्रियाः प्रतीता, इक्ष्वाकवो नाभेयवंशजा इति । यद्वा पितृभवं जनकसमुत्थमित्यर्थो, वा विकल्पे कुलं ज्ञेयमिति शेषः । तथा मल्लादिर्मल्लसारस्वत-लक्षणो बाहुखड्गयोद्धृप्रभृतिसमुदायो गण उच्यते इति शेषः । मल्लगणसारस्वतगणस्वरूपं तु लोकरूढितो ज्ञेयं । तथा 'किसिमाइ' त्ति मकारस्य लाक्षणिकत्वात् कृष्यादिकर्षणवाणिज्यप्रभृति 'कम्म' त्ति कर्म विज्ञेयम् । तथा चित्रादि आलेख्यलेपादिकं तूर्णनसीव नादिकं वा शिल्पं शिल्पशब्दवाच्यं स्यात् तु शब्दश्च कर्मशिल्पयोर्लक्षणान्तरद्योतको यथा अनाचार्योपदिष्टं कर्म आचार्योपदिष्टं शिल्पमित्यनयोर्भेद इति गाथार्थः ॥६४॥

उक्तमाजीवनाद्वारमथ वनीपकद्वारं व्याख्यातुमाह ।

अप्पाणं तब्भत्तं दंसइ जो सो वणिमो त्ति ॥६५॥

पिंडट्ठा समणातिहि-माहणकिविणसुणगाइभत्ताणं ।

व्याख्या—पिण्डार्थमुपलक्षणत्वात् भोजनवस्त्रादिनिमित्तं भक्तादिलिप्सयेत्यर्थः । आत्मानं तद्भक्तं दर्शयतीति योगः । केषा-मित्याह श्रमणातिथिब्राह्मणकृपणशुनकादिभक्तानाम् । इह च निर्ग्रन्थशाक्यतापसगैरिकाजीवभेदात् पञ्चधा श्रमणाः स्युः । तत्र-निर्ग्रन्था यतयः, शाक्या वन्दकाः, तापसा वनवासिपाखण्डिनः, गैरिकाः परिव्राजकाः, आजीवा गोशालमतानुसारिण इति । तथा अतिथयोऽध्वखिन्नप्राघूर्णकादयः, ब्राह्मणा विप्राः । उपलक्षणत्वादन्येऽपि च दुर्मनोऽन्धवातंकवज्जुंगिताः कृपणप्राया द्रष्टव्याः ।

तदुर्म्मनस इष्टवियोगादिविधुराः । अबान्धवाः स्वजनादिरहिताः । आतङ्कवन्त आकस्मिकज्वराद्युपेताः । जुङ्गिताङ्गाः कर्त्तितहस्त-
पादाद्यवयवा इति । शुनकाः श्वान आदिर्येषां ते शुनकादयः आदिशब्दात् काकशुकयक्षप्रतिमादिग्रहः । ततः श्रमणाश्चातिथयश्चे-
त्यादि द्वन्द्वस्तेषां भक्ता बहुमानपरा ये गृहस्थास्तेषां पुरतः आत्मानं स्वं, किमित्याह (ग्रं० २५००) तद्भक्तं तेषु श्रमणादिषु विष-
येषु भक्तं बहुमानवन्तं दर्शयति प्रकाशयति यः साध्वाभासः स 'वणीमो'त्ति प्राकृतत्वाद्वनीपक इत्युच्यते । कथं पुनरात्मा तद्भक्तो
दृश्यते ? उच्यते श्रमणादिप्रशंसाकरणत इति । यथा कश्चित् साधुः भिक्षार्थं गृहे प्रविष्टो निर्ग्रन्थानाश्रित्य वक्ति यथा भो श्रावक-
तिलक ! तवैते गुरवः सातिशयश्रुतोपेताः शुद्धक्रियानुष्ठानपालनपरा अत्यन्तं मोक्षाभिलाषिण इति । तथा शाक्योपासकगृहं प्रविष्टः
शाक्यांस्तत्र भुञ्जानान् दृष्ट्वा तद्भक्तानां पुरतस्तत्प्रशंसां कुरुते, यथा अहो शाक्याश्चित्रलिखिता इव निश्चला भुञ्जते । युक्तमित्थं
भोक्तुं । तथा दयालवो दानशीलाश्चैते । तथा रासभवदत्यन्तं मैथुनप्रसक्तेषु द्विजेष्वप्यशनादि दत्तं न निष्फलं भवति किं पुनः शा-
क्यमुनिष्विति । एवं शेषानपि तापसादीनाश्रित्य तत्प्रशंसाकरणेन वनीपकत्वं ज्ञेयम् । अतिथिभक्तेषु(क्तानां) पुरतोऽतिथिदानं प्रशस्य
वदति यथा प्रायेण लोक उपकारकेषु प्रत्युपकाराय यतते, सर्व्वदा परिचित्ते वा, तन्निश्रया आश्रिते वा न तु मार्गपरिश्रान्तातिथि-
रूपप्राघूर्णकेष्वतस्तेषामशनादि दत्तं महते पुण्याय, तस्यैव च दानं प्रशस्यमुच्यते इति । ब्राह्मणभक्तानामग्रतस्तत्प्रशंसाद्वारेण तद्दान-
माहात्म्यं ख्यापयति । जातिमात्रोपजीविष्वपि द्विजेषु दत्तं भक्तादि बहुल स्यात् । किं पुनर्यजनादिषट्कर्म्मनिरतेषु धर्म्मकथादिना
जननिस्तारकेषु तद्दत्तं हि प्रभूतकालवेद्यस्वर्गादिसुखफलकादिति । कृपणभक्तानां पुरतस्तद्दानोपबृंहणां कुरुते । यथा अयं लोकः
पूजितपूजकस्ततो य एवं पङ्ग्वन्धदीनहीनाङ्गेभ्योऽशनादि दद्यात् स एव दानपताकां जगति गृह्णातीति तत्प्रशंसां कुरुते । यथा किल

वनीपक-
द्वारम्

ये च च्छित् छिदित्येवं शब्दपूर्वकं लगुडादिहताः श्वानः सर्व्वदैव वर्त्तन्ते, न
बलीवर्द्दादीनां जगत्यकष्टलभ्यस्तावत्तृणाद्याहारः, तथैते यत्र कैलासे गौरीमहेश्वरौ किल त्रैलोक्यप्रधानौ निवसतस्तत्स्थाननिवासिनः परं
तेषां सुखलभ्योऽशनाद्याहारोऽतः कष्टं सहते, तथैते यत्र कैलासे गौरीमहेश्वरौ किल त्रैलोक्यप्रधानौ निवसतस्तत्स्थाननिवासिनः परं
तसादायाता गुह्यकदेवविशेषा एते श्वाकृत्या मह्यां चरन्ति तथा अशनादिदानेन पूजकानामीप्सितकारिणः, तददायकानामनीप्सित-
कारिणश्च स्युरतः पूज्या एते इति। एवं काकशुकादिषु शुभाशुभादिनिवेदनपठनादिकं बहु तं प्रशंसति । यक्षादिभक्तेषु(क्तानां) पुरतः
साधो ! कीदृशोऽयं किं गुणो वा यक्षादिरिति पृष्टोऽपृष्टो वा तत्प्रशंसादिकं कुरुत इति। तदित्थं वनीपकत्वकरणेन कृपणभावद-
र्शनेनोत्पादितः पिण्डो वनीपकपिण्ड इत्युच्यते। बहुदोषदुष्टश्चायं यतोऽत्र धार्म्मिकेऽधार्म्मिके वा पात्रे दानं दत्तं निष्फलं न भवती-
त्येवमप्युक्तेऽपात्रदानप्रवर्त्तनां समाश्रित्य मिथ्यात्वस्थिरीकरणदोषः स्यात् । यदा तु कुपात्रे शाक्यादिके प्रशंसारूपं वनीपकत्वं कुरुते
तदा विशेषतो दोषास्तस्य स्युस्तथाहि शाक्यधर्म एव शुभ इति विपरीतबोधस्य लोके दार्ढ्यापादनान्मिथ्यात्वं स्थिरीकृतं स्यात् ।
तथा यदि शाक्यसत्कोपासका भद्रकाः स्युस्तदा स्वगुरुवर्णनारञ्जितास्सन्त आधाकर्म्माद्याहारं दद्युर्गृहादि सत्कपर्यालोचनं च विदध्यु-
रिति संयमविराधना । यद्वा शाक्यप्रशंसाभावितांतःकरणस्तथाविधाहारलुब्धश्च स एव च कदाचिच्छाक्यत्वं प्रतिपद्येत । तथा मृषा-
वादश्च तत्प्रशंसया कृतः स्यात् । तथाहि हस्तमुखादिचलनाच्चित्रलिखिता इव भुञ्जते इत्यलीकं । सचित्तजलपानादिना तु दयालव
इति व्यभिचारि । तदर्थपाकनिष्पन्नाहारस्याभ्यवहारेण तु प्राणातिपातानुमतितोऽभयप्रदानाभावाद्दानरुचित्वमसत्यमिति । अथ प्रा-
न्ताः स्युस्तदाऽन्यजन्मन्येभिर्न दीनादिभ्य आहारादिदत्तमित्याहाराद्यर्थं श्वान इव दीनास्यं दर्शयन्तीति स्वोपासकाग्रतः शाक्या जल्पे-
युरिति प्रवचनविराधना तथा प्रत्यनीका अस्माकमेते वर्त्तन्तेऽतोऽस्मदुपासकगृहेषु मैते भूयोऽप्यागच्छन्त्विति विचिन्त्य विषादि

॥६२॥

दापयेयुरिति साधोरात्मविराधना स्यात्। एवं ब्राह्मणादिष्वपि प्रशंसायां मिथ्यात्वस्थिरीकरणमृषावादादयश्च दोषाः स्युरिति गाथार्थः ॥

उक्तं वनीपकद्वारमथ चिकित्साद्वारमाह ।

भेसज्जवेज्जसूयण—मुवसामणवमणमाइकिरियं वा । आहारकारणेण वि दुविह, तिगिच्छं कुणइ मूढो ॥६६॥

व्याख्या—सूक्ष्मबादरभेदाद् द्विविधा चिकित्सा स्यात्तत्राप्याद्या द्विविधा तां वक्तुमाह 'भेसज्जवेज्जसूयणं' ति तत्र भैषज्यं त्रिफलाद्यौषधविशेषो, वैद्यो भिषक् तयोः सूचना उल्लिङ्गना अनभिज्ञस्य रोगिण एतद्द्वयावबोधनेत्यर्थस्तां करोतीति योगः । यथा कश्चिद् रोगार्त्तो गृही भिक्षाद्यर्थं गृहे प्रविष्टं साधुं दृष्ट्वा भगवन् ! एतस्य मदीयव्याधेर्जानीषे कमपि प्रतिकारम् ? इति पृच्छति स प्राह भो श्रावक ! यादृक् तवेदं गंडादिकं वेदनाहेतुरस्ति तादृशं ममाप्यासीत्तच्चामुकेनौषधिना मम नष्टवेदनमभूदिति ततोऽस्य(स्यानभिज्ञस्य)सतो भैषज्यकरणाभिप्रायोत्पादनाद् भैषज्यसूचनं कृतं । यद्वा रोगिणा चिकित्सां पृष्टो वक्ति किमहं वैद्यो येन रोगप्रतीकारं जाने ? इति । एवं च वदता रोगिणोऽनभिज्ञस्य सतो वैद्यं पृच्छामीति परिणतिविधानाद् वैद्यसूचनं कृतमिति । इयं च द्विरूपापि सूक्ष्मचिकित्सेत्येको भेदोऽथ बादरचिकित्सामाह । 'उवसामणवमणमाइकिरियं व'त्ति तत्र शर्करादिभक्षणेनोदीर्णपित्तादेरुपशम उपशमनं, पटोल्यादिकटुकौषधसंयोगनिष्पन्नक्वाथपानादिनोर्ध्वमुद्गिरणं वमनं आदिग्रहणात् क्वाथकरणस्वेदनविरेचनसिरोवेधक्षाराग्निकर्म्मादिक्रियाग्रहः । गोऽलाक्षणिकस्तत उपशमनं च वमनं च ते आदिर्यस्याः सा चासौ क्रिया चोपशमनवमनादिक्रिया तां, वा विकल्पे, इत्येवं द्विविधचिकित्सां करोतीति योगः । उपलक्षणत्वादन्येन वा कारयति । किमर्थमेतां करोतीत्याह आहारस्य तुच्छग्रासमात्ररूपस्य कारणेनापि तन्निमित्तमपि न केवलमुपकरणादिकारणेनेत्यपेरर्थो द्विविधचिकित्सां सूक्ष्मबादरभेदाद् द्विप्रकारप्रतीकारं

करोति सूचाद्वारेण साक्षाद्वा विधत्ते मूढः संयमनिरपेक्षत्वान्मूढधीरिति । तथाहि चिकित्साकाले चिकित्सां कुर्व्वतो यतेः कन्दमूलादिजीववधेन क्काथकथनादिपापव्यापारकरणादसंयमः स्यात् । तथा नीरुक् कृतो गृहस्थस्तप्तायोगोलकवत् प्रगुणीकृतदुर्बलान्धव्याघ्रवज्जीवघातं कुर्यात् । यथाह्यटव्यामान्ध्येनाहारग्रहणशक्तेरभावात् दुर्ब्बलः सन् व्याघ्रः केनापि वैद्येनान्ध्यापनयनेनाहाराग्रहणशक्तेर्जननाद्बलीकृतो बहूनां सत्वानामुपघाते वर्त्तन्ते एवं गृही नीरोगः कृतस्सन्निति संयमविराधनोक्ता । तथा यदि दैवदुर्योगात् साधुविहितक्रियानन्तरं रोगिणो व्याधेराधिक्यं जायते तदा कुपितस्तत्पित्रादिर्बाह्वादावाकृष्य राजकुलादौ साधुं नयेदित्यात्मविराधना । एवं सति एते आहारादिलुब्धा एवंविधानर्थपरंपरां कुर्वन्तीति जनापवादः स्यादिति प्रवचनविराधनेति । तत् चिकित्साकरणेनोत्पादितः पिण्डश्चिकित्सापिण्ड इत्युच्यते इति गाथार्थः ॥६६॥

उक्तं चिकित्साद्वारमथक्रोधपिण्डद्वारं व्याख्यातुमाह ।

विज्जातवप्पभावं निवाइपूयं बलं व से नाउं । दट्ठूण व कोहफलं, दिंति भया कोहपिंडो सो ॥६७॥

व्याख्या—विद्या च ओंकाराद्यक्षरवृन्दरूपा प्रतीता उपलक्षणत्वान्मन्त्रयोगादिग्रहः । तपश्च मासक्षपणादि तयोः प्रभावः उच्चाटनादिमाहात्म्यं विद्यातपःप्रभावस्तं । तथा नृपादिपूजां राजामात्यप्रभृतिसन्माननीयतां राजादिवल्लभत्वमित्यर्थः । बलं सहस्रयोध्यादिशरीरसामर्थ्यं । वा विकल्पे से तस्य साधोः सम्बन्धिनं ज्ञात्वा अवबुध्य तथा दृष्ट्वा साक्षादवलोक्य वा विकल्पे किं तदित्याह क्रोधस्य रोषस्य साधुसक्तस्य फलं शापदानेन कस्यचिन्मारणाद्यनर्थकरणरूपं कार्यं, यं पिण्डं गृहिणः साधवे इति शेषः । ददति यच्छन्ति कस्मात्कारणादित्याह भयात्त्रासाद्यथा किलायं यतिर्भिक्षयाऽदत्तया कोपं गतो विद्यामन्त्रयोगादिभिरुच्चाटनादि,

तपसस्तु शापदानादिना राजवाल्लभ्यात्तु नगरादेर्निस्सारणदण्डादिना, शरीरसामर्थ्यान्मुष्टिप्रहारदानादिना मामनर्थं प्रापयिष्यतीति । अत्र च सर्व्वत्र कोप एव पिण्डोत्पादने मुख्यं कारणं द्रष्टव्यं कोपपिण्डस्य प्रस्तुतत्वात् विद्यातपःप्रभृतीनि तु तत्सहकारिकारणान्येवेति न विद्यापिण्डादिभिः सहास्य लक्षणसांकर्यमाशङ्कनीयमिति । स किमित्याह । क्रोधादुत्पादितः पिण्डः क्रोधपिण्डः, स उक्तरूपो विज्ञेयः । इह चोदाहरणं सूत्रकारो लाघवार्थं 'कोहे घेवरखवगो' इत्यग्रेतनगाथांशेनाग्रे वक्ष्यति । वयं तु स्वस्थानत्वादत्रैव ब्रूमस्तच्चेदं, क्रोधे क्षपकज्ञातं यथा—

इह आसि भरहवासे नयरं नामेण हत्थकप्पति । तत्थ य एगो विप्पो अ होसि सद्धम्मकम्मरओ ॥१॥ तस्स य गेहे जायं अइभया मयगभत्तकरणं ति । तत्थ य भिक्खमडन्तो विगिट्ठतवओ महाखवओ ॥२॥ मासस्स य पारणए संपत्तो तग्गिहे तओ तेण । दिज्जन्ते दट्ठूणं घयपुन्ने भूमिदेवाणं ॥३॥ तेणावि जाइया तो पडिसिद्धो बंभणेहिं तो कुविओ । अन्नहिं दाहित्थेवं, भणमाणो निग्गओ स मुणी ॥४॥ अह अन्नं माणुस्सं पंचम्मि दिणे चेव दिव्वजोएण । पंचत्तमुवगयं तस्स मासिए सो पुणो पत्तो ॥५॥ पुणरवि तहेव तेणं दिज्जन्ते बंभणाण घयपुन्नो । दट्ठूणं तेणाविय, विमग्गिया तेहि पडिसिद्धो ॥६॥ कुविओ नीसरिओ सो तहेव वयणं मुहेण पभणन्तो । अन्नंमि दिज्जह त्ति य जावन्नमाणुसमतीयं ॥७॥ तस्स वि मासियभत्ते, समागओ कहवि दिव्वजोएण । पुणरवि तहेव तेहिं पडिसिद्धो निग्गओ कुविओ ॥८॥ दिज्जह अन्नंमि अन्नं (य तं) मुहेण वयणं भणन्तओ स मुणी । तं सोउं थेरेणं एगेण दुवारवालेण ॥९॥ चिन्तियमिमेण मुणिणा, जहऽन्नहिं दाहिहत्तिवयणेण । पुरओवि दोन्निवारा साव (सो अ) दिन्नो त्ति तस्स फलं ॥१०॥ दोमणुयमरणरूवं दिट्ठं संपयं तइयवारं । एसो दिन्नो निसि(सर)उ, ता मा सव्वाणि वि मरंतु ॥११॥ गिहवइणो

गंतूणं कहेइ तेणावि मरणभीएण । हक्कारिय खामित्ता पउरा दिन्ना य घयपुन्ना ॥१२॥ एवं जो इह लब्भइ स कोहपिंडो वुच्चइ
जिणेहिं । परिहरियव्वो एसो, हियमिच्छंतेहि सयकालं ॥१३॥ इति गाथार्थः ॥६७॥

उक्तं क्रोधपिण्डद्वारं, अथ मानपिण्डद्वारमाह ।

लद्धिपसंस(सउ)त्तिइउ परेण उच्छाहिओ अवमओ वा । गिहिणोभिमाणकारी, जं मग्गइ माणपिंडो सो ॥

व्याख्या—लब्धिप्रशंसाभ्यां लाभश्लाघाभ्यां आत्मनो लब्धिमत्त्वं प्रशंसां वान्यतः श्रुत्वेत्यर्थः । 'उत्तिइउ'त्ति, उत्तानः गर्वितो अहङ्कारवानिति यावत् । यद्वा अयं लब्धिमानिति केनापि कश्चित्श्लाघितस्तां लब्धिविषयां प्रशंसामात्मनः श्रुत्वा, 'उत्तिइ उ'त्ति अहमेव शोभन इति तया गर्वितः सन्निति व्याख्येयं । यद्वा परेणान्येन साध्वादिना उत्साहितस्त्वमेवास्य कार्यस्य करणे समर्थ इत्यादिवचनेन प्रेरितः । यद्वा अवमतोऽपमानितस्त्वया न किञ्चित् सिद्ध्यतीत्यादिवचनेन परेणैव तिरस्कृतो, वा विकल्पे । तथा गृहिणो गृहस्थस्याभिमानमहमनेन साधुना याचितस्ततोऽस्मै स्वकीयकलत्रादिकमदित्सुं तिरस्कृत्यापि मया दातव्यमस्येत्येवंरूपमहंकारं करोतीति जनयतीत्येवं शीलोऽभिमानकारी यतिरिति शेषः । पुरुषाधम एवासौ योऽभ्यर्थितः प्रयोजनं न साधयितुं समर्थ इत्यादिवचनेनोत्तेजनकर्त्ता इत्यर्थः । यं पिण्डं सेवतिकादिरूपं, मार्गयति गवेषयति याचत इत्यर्थः, स मानादुत्पादितः पिण्डो मानपिण्डः स्यात् । अत्राप्युदाहरणं 'माणे सेवइयखुड्डओ नायं' ति वक्ष्यमाणगाथावयवेन वक्ष्यति । तदपि स्वस्थानत्वादत्रैव ब्रमस्तच्चेदम्, माने सेवतिकाक्षुल्लकज्ञातं यथा ।

गिरिफुल्लिय नाम नयरं आसि । तत्थय इंददत्तो नाम इब्भो, तस्स य पियंगुमइया नाम भारिया । तत्थ य सुसाहुजणपरि-

तत्थ पभाए चेव तरुणसमणाणं परोप्परं यरिया के वि सूरिणो समोसढा। इउ य तत्थ एगंमि पत्थावे सेवइयाऊसवो उवट्ठिओ। तत्थ पभाए चेव तरुणसमणाणं परोप्परं केलीए उल्लावा पवत्ता। तत्थ एगेण खुड्डएण भणियं। जहा भो समणा अज्ज भोयणवेलाए घरे घरे सेवइयाउ लब्भिहिंति किन्तु पभाए चेव जो ताउ अम्हं सव्वेसिं जहिच्छाए भोयणकरणजोग्गाउ आणेइ सो नाम लद्धिमंतो। तउ एगेण खुड्डएण वुत्तं जहाऽहं आणेमि। इयरेहिं भणियं आणेहिसि परं न घयगुलसहियाउ ताहिं न अम्हं कज्जं। खुड्डएण भणियं। जारिसियाउ इच्छह तारिसियाउ जइ न आणेमि ता, नियनामं पि न वहेमित्ति गरुयं नंदिभायणं गहिउं निग्गओ इंददत्तइब्भस्स गिहं पविट्ठो दिट्ठाउ य पउराउ सेवइयाउ रद्धाउ। घयगुलाणि पउणीकयाणि चिट्ठंति। बहुपयारं पियंगुमइया सयासाउ जाइयाउ। तीए बाढं पडिसिद्धो। तेण संजायाहंकारेण वुत्तमवस्सं मए एयाउ गिण्हियव्वाउ। तीए भणियं जइ तुमं किं पि लहिहिसि ता, मम नासउडियाए मुत्तिज्जसु त्ति। तएणं गेहाउ निग्गंतूण कोइ पुट्ठो जहा कस्स सन्तियं इमं गिहं? तेण भणियं, इंददत्तइब्भस्स। खुड्डेण भणियं इण्हिं सो कत्थ? तेण वुत्तं परिसाए, तत्थ गंतूण परिसाजणा पुट्ठा। जहा को एत्थ इंददत्तो इब्भो? तेहिं भणियं, तेण किं कज्जं? खुड्डएण वुत्तं तं किंचि जाइस्सामि, सो य तेसिं मइणिवइओ हवइ त्ति तेहिं वुत्तं अम्हे जायसु सो किविणो न किंचि दाहिसी। इंददत्तेण मम उहावणा भविस्सइ त्ति चिंतिय पुरओ ठाउं खुड्डगो वुत्तो जहा—अहं इंददत्तो इमे केलीए एवं जंपंति, जं तुमं मग्गसि तं दाहामि। खुड्डएण तस्स वभिचाररक्खणत्थं वुत्तं। जहा एएसि छण्हं पुरिसाहमाणं समो महिलियामुमणिसो(माणसो)हवसि ता न मग्गेमि, अह न एरिसो ता इमीसे महालियाए परिसाए मज्झे किंपि तुमं मग्गेमि, तेहिं भणियं के छप्पुरिसाहमा?। सो भणइ निसुणह। सडंगुलि १ बगुडावे २ किंकरे ३ तत्थण्हायए ४। गिद्धावरिङ्खिय ५ हद्दनए, य ६ पुरिसाहमा छओ ॥१॥ तत्थ सडं-

गुलि-त्ति जहा एगो गामो आसि तत्थ य भज्जाछंदाणुवत्ती एगो कोडुंबियपुत्तो, तस्स य मणोरमा नाम पिया। अन्नया य सीय-
काले भत्तारस्स पभाए चेव छुहा जाया। तेण सा पछंके ठिया भणिया, जहा पिए इण्हिं चेव अईव खुए, रंधेहि, तीए वुत्तं जइ
एवं, ता अवणेहि चुल्लीए छारं आणसु इंधणं, पज्जालसु जलणं, देहि अद्दहणं, कोट्ठाउ कड्ढिय सोहिय थालीए खिवसु तंदुले मुग्गे
य जाव रंधिऊण कहिज्जासु जेणाहमुट्ठिऊण परिवेसेमि तेण पिया जं आणवेइ त्ति भणिऊण तहेव कयं। जाव तीए परिविट्ठं। एवं
पइदिणं चुल्लीय(ए) छारं संवरंतस्स सडाउ अंगुलीउ पभाए लोया पेच्छंति तेहिं हेरिऊण नाओ सडंगुलित्ति विस्सुए(ओ)य१ तह वगु-
डावेत्ति जहा एगंमि ग्रामे भज्जामुहजोयओ, भज्जापेमपरवसो एगो कुलपुत्तओ होत्था। अन्नया भज्जाए सो भणिओ। जहा पइदिणं
तलायाउ पाणियं आणेहि, सो य पिया जइ आइसइ त्ति भणिय दिवसे मा लोगा पेच्छिस्संति त्ति राईए पच्छिमपहरे पइ-
दिणं जलं आणेइ त्ति। तत्थ तस्स गमणागमणं करेंतस्स तलायतडरुक्खेसु पसुत्ता वगा रुड(द)त्ति भएण उड्डंति। गामिएहिं
चिंतियं को राईपच्छिमपहरे तलाए वगे उड्डावेइ त्ति हेराविओ नाओ वगुड्डावेत्ति विस्सुओ २। तहा किंकरे त्ति जहा किल
एगंमि गामे एगो कुलपुत्तगो नियमहिलाए अच्चंतं गाढाणुरागरत्तो होत्था। सो य पइदिणं पभाए उट्ठिऊण आएसं मग्गइ।
जहा दइए! आइससु किं करोमि भणइ तलायाउ उदयं आणेहि पिया जं आइसइ त्ति भणिऊग तहेव करेइ। पुणो वि भणइ
किं करेमि। सा भणइ तंदुले छडसु एवं जाव मे भोयणं देहि, उज्झसु उच्छिट्ठ सोहेहि भायणाणि ठाणे नेऊग ताणि मुयसु तहा
मम पाए पक्खालिय घएण फीणसुत्ति, जणेण नाओ किंकरो त्ति विस्सुओ ३। तहा तत्थण्हायए त्ति जहा एगो भज्जायत्तो आसि
वाणियपुत्तो तेणन्नया नियभज्जा भणिया। जहा पिए अहं ण्हाउमिच्छामि तीए भणियं जइ एवं ता आमलए वट्टिऊण गहसु, ण्हा-

णपोत्तियं परिहसु, नियसरीरं चोप्पडसु घडयं गेण्हसु, तलाए ण्हाइउं जहिच्छं देवच्चणं कुणसु घडयं च जलस्स भरिउं आगच्छसु त्ति। तेण पिययमा जं आइसइ त्ति भणिऊण तहेव कयं, एवं निच्चंपि। जणेण नाओ तत्थण्हायउत्ति विस्सुओ ४। तहा गिद्धव्व-रिद्धित्ति। जहा एगो तरुणपुरिसो भज्जावयणनिद्देसकरो होत्था अन्नया तब्भज्जा रसोइए उवविट्ठा। तेण भोयणं जाइया। तीए भणियं थालं गहिऊण मम समीवे आगच्छसु सो पिययमा जं आइसइ त्ति भणिऊण तहेव आगओ। तीए परिविट्ठं भणिओ य जहा भोयणट्ठाणे ट्ठाउं भुञ्जसु। गओ य तओ तेण लुक्खमिणं ति काउं घयं जाइयं। तीए रंधंतीए तह ट्ठियाए चेव भणियं। मम समीवे थालं गहिऊण आगच्छसु तेण सो गिद्धोविव उक्कुडुओ रिंखति त्ति गिद्धव्वरिद्धित्ति विस्सुओ ५। तहा हद्दनओत्ति, जहा एगस्स कुलपुत्तयस्स नियभज्जाए समं विसयसुहमणुहवंतस्स दारो जाओ। सो य खट्टलियाए चेव ट्ठिओ मुत्तपुरीसं वोसिरइ। तउ मुत्तपुरीसेण बालओ खट्टल्लियाबालपोत्तयाइं च खरडियाइं दट्ठूण भज्जाए भण्णइ इमस्स बालस्स पुरीसं धोविऊण फेडहि। तेण पिययमा जं आणावेइ त्ति भणिऊण तहेव कयं। एवं निच्चंपि जणेण नाओ हद्दनउ त्ति विस्सुओ ६। ए एते छप्पुरिसाइमा कहियत्ति। तउ तेहिं एक्ककालं सअट्टट्टहासं हसन्तेहिं भणियं, एयस्स छप्पिदोसा संति। ता मा एयं महिलियामुणिसं(माणसं)जायसु। इंददत्तेण खुड्डगो भणिओ जहा जायसु जं ते रुच्चइ। न एएसिं सरिच्छोहं। खुड्डगेण भणियं जइ एवं, ता घयगुलजुत्ताउ पत्तभरणपमाणाउ सेवइयाउ इण्हिहिं देहि सो य देमित्ति भणन्तो खुड्डगं(गहिय) गहाभिमुहं चलिओ। जाव गिहदुवारे आगओ एत्थंतरे खुड्डएण जं भज्जाए सह जंपियं आसि तं सव्वं कहियं। तेण भणियं जइ एवं ता तुमं एत्थेव गिहदुहारे चिट्ठसु। हक्कारिओ आगच्छसु पविट्ठो इंददत्तो पुट्ठा सा जहा रद्धाउ सेवइयाउ घयगुलाणि पउणीकयाणि ? तीए भणियं

आमं तेण तीसे वंचणत्थं गुलं पलोइऊण भणियं । जहा-थोवो एसो गुलो अन्नो वि मालाउ उत्तारेहि जेणं दिए भुञ्जावेमि । सा आरूढा माले, तेणावणीया निस्सेणी हक्कारिओ खुड्डगो, सेवइयाण पत्तं भरिउमाढत्तं, जाव गेहिणी मालमज्झाउ गुलं गहाय उत्तरिउं लग्गा, ता निस्सेणी नत्थि त्ति विम्हिया चिट्ठइ । ताव तं चेव चेल्लयं सेवइयाउ घयगुलजुत्ताउ लहंतं पासइ । अहो अहं अभिभूआ चेल्लएण त्ति अभिमाणा झरियहियया मा देहि २ इच्चाइ कोलाहलं काउं लग्गा । खुड्डएण तीसे सम्मुहं ट्ठिएण मए तुह नासियाए मुत्तियं त्ति कहणत्थं अंगुलियाए य नासियाउडं पसारिय दंसियं । पत्तयं भरेऊण गओ चेल्लओ । ते सव्वे साहूणो भुंजावियत्ति । एवं यो लभ्यते स मानपिण्डो दोषाश्चात्र वनितादेः प्रद्वेषात्मवधादयः प्रवचनोपघातादयश्च ज्ञेया इति गाथार्थः ॥६८॥

उक्तं मानपिण्डद्वारं अथ गाथापूर्वार्द्धेन मायापिण्डद्वारमाह ।

मायाए विविहरुवं रूवं आहारकारणे कुणइ ।

व्याख्या—मायया परवञ्चनात्मिकया वुद्ध्या मन्त्रयोगाद्युपायकुशलस्सन् रूपपरावर्त्तनेन विविधरूपं काणत्वकुब्जत्वदोपित्वाद्यनेकस्वभावमन्यान्याकारमिति यावत् । तत्र काणत्वमेकस्याऽक्ष्णो निमील्य सङ्कोचनेन, कुब्जत्वं तु शरीरनमनात्, दोपित्वं त्वङ्गुलीनां दुंदुलीकरणादाकुञ्चनादि वा ज्ञेयमितिरूपं निजशरीरसंस्थानं आहारकारणे मोदकादिनिमित्तं करोति विदधाति यः साधुस्तस्यैवं लब्धपिण्डो मायापिण्डः स्यादाषाढभूतियतेरिव यद्वक्ष्यति 'मायाए साढभूइ'त्ति । तद्वृत्तं च स्वस्थानत्वादत्रैव ब्रूमस्तच्चेदं यथा—

इहेव जंबुदीवे दीवे दाहिणड्ढभरहे धणधन्नसमाउले मगहाजणवए पमुइयजणसंकुलं अइव रमणिज्जं रायगिहं नाम नयरं होत्था । तत्थ य पडिवक्खमयंगकुंभनिब्भेयणकेसरी पणयसामंतमणिकिरीडमसणियचलणो सीहरहो णाम राया । तत्थय विस्सकम्मो नाम

नडो, तस्स य जयसुंदरीतिहुयणसुंदरी नामाउ दुवे दुहियाउ। अन्नया य गामाणुगामं विहरमाणसमणगणपरियरिया धम्मरुइणो नाम सूरिणो तत्थेव नाणादुमसंकिन्ने परमरमणिज्जे गुणशिले चेइए समोसढा, अच्छइ य तेसिं आसाढभूई नाम सीसो वेसभासाइअणेगविन्नाणकुसलो, सो य भिक्खकज्जेण वसहीउ नीहरिओ। संपत्तो भिक्खट्ठं विस्सकम्मुणो गिहं। तत्थय पहाणो एगो मोयगो लद्धो। दुवारे निग्गएण तेण चिंतियं जहा एसो आयरियाण भविस्सइ त्तो अप्पणट्ठा रूवपरावत्तं काउं अन्नं मग्गेमि त्ति काणप्परूवं काउं पुणो पविट्ठो, पुणो मोयगो लद्धो चिंतियमेस उवज्झायाणं भविस्सइ त्ति अप्पणट्ठा अन्नं मग्गेमि त्ति कुज्जप्परूवं काउं पुणो पविट्ठो पुण उ मोयगो लद्धो चिंतियमेस संघाडाइल्लसाहुस्स कारणवसेण अज्जं वसहीए चेव ठियस्स भविस्सइ त्ति। तद्दोसियरूवं काउं पविट्ठो, तहेव मोयगो अप्पणट्ठं लद्धो। इउय लोयणट्ठिएण विस्सकम्मुणा सो रूवपरावत्तं कुणंतो दिट्ठो। तउ असरिसतव्विन्नाणसंतुट्ठेण अणेण चिंतियं। जहा सोहणो एस अम्हाणं मज्झ नडो होइ। परं केण उवाएण घेत्तव्वो त्ति चिंततेण लद्धो उवाओ जहा दुहियाहि खुहिय घेतव्वो त्ति हक्कारावेऊण लड्डुगपत्तभरणेण पडिलाभिओ भणिओ य तुब्भेहिं पइदिणं भत्तपाणगहणेण अम्हं अणुग्गहो विहेयव्वो त्ति। तट्ठाणाउ गओ सो नियवसहिं। तउ नडेण रूवपरावत्ताइयं जाणाविऊण भज्जा भणिया। जहा एसो तए मोयगाइदाणेण तहा उवयरियव्वो दुहियाउ य खोभणत्थं भणियव्वाउ जहा अम्ह वसे हवइत्ति। तउ दिणे दिणे विउलं दाणं तत्थ सो लहेइ। विस्सकम्मुणो भज्जाए रूवपरावत्तकहणपुव्वयं ताउ दुहियाउ भणियाउ। जहा दाणसेणेहहासाइणा तुब्भेहिं तहा कायव्वं, जहा एस तुम्हाणं वसे वट्टइ। ताहिं तहेव कयं। तउ स विलासविप्पोक्खियाईहिं सवियारचेट्ठाहिं नागदमणीहि भुयगमिव तस्स माणसं ताहिं तहा आगरिसियं जहा सो उज्झियमज्जाओ अणुरायवसगओ ताहिं समं परिरंभणपरिहासाइयं काउमाढत्तो। तउ

अन्नंदिणे तेहिं एगंते भणिओ जहा तुज्झाणुरत्ताउ अम्हे परिणियं भुंजसु त्ति । इत्थंतरे उइन्नं तस्स चारित्तावरणिज्जं गलिओ गुरूवएसो पणट्ठो विवेगो, दूरीहूओ कुलाभिमाणो त्ति । भणियं एवं हवउ । परं लिंगं गुरूणं समप्पेमि । गओ गुरुसगासं । पणमिऊण कहिओ निययाभिप्पाओ । गुरूहिं भणियं वच्छ ! तुम्हारिसाणं उभयकुलविसुद्धाणं विवेगरयणायराणं अवगाहियसयलसुत्तत्थाणं नहु एरिसं उभयलोगगरहणिज्जं समायरिउं जुत्तं । तहा हि-उत्तमकुलसंभूओ उत्तमगुरुदिक्खिओ तुमं वच्छ ! । उत्तमपगईय तुमं कह सहसा ववसिओ एयं ॥१॥ अविय दीहरसीलं, परिवालिऊण विसएसु वच्छ मा रमसु । को गोपयंमि बुड्डइ उदहिं तरिऊण बाहाहिं ॥२॥ इच्चाइ, तेण भणियं भयवं ! एवमेयं किंतु-विहुरीकयं मे हिययं ताहिं उत्तट्ठहरिणनयणाहिं । तउ गुरूहिं तन्निबंधं नाउ भणियं जहा-जिणसाहूचेइयाणं भत्तिपरो सम्मत्तनिच्चलो य हवेज्जासि त्ति । तउ रओहरणमुहपोत्तियं अग्गए मोत्तुं पाए नमिउं परिणीयाउ ताउ, विस्सकम्मुणा पुज्जाणं कहं पिट्ठी दिज्जइ त्ति पच्छिममुहेहिं पाएहिं वसहीए निग्गंतूण गओ विस्सकम्मभवणं, परिणीयाउ ताउ, विस्सकम्मुणा भणियाउ जहा जेण एयावत्थंगएणावि गुरुणो सुमरिया सो उत्तमपगई एसो ता मज्जपाणाइ असुइपरिहारेण तुब्भेहिं अच्छेयव्वं । अन्नहा विरज्जिहिई । सो य आसाढाइभूई बाहत्तरीकलाकुसलो अणेगेहिं विन्नाणेहिं सव्वेसिं नडाणं मज्झे पहाणो नडो जाओ । पभूयदविणवत्थाभरणाइयाइ लहेइ । अन्नया य अज्ज निम्महिलं नाडयं नच्चियव्वं ति आइट्ठा नडा राइणा, तउ इत्थियाउ सव्वाउ गिहे मोत्तुं नडा सव्वे आसाढभूयपमुहा राउलं गया । आसाढभूइभज्जाहिं अज्ज विरहोत्ति मज्जं पीयं
पडियाउ चिट्ठंति । इउ य राउले परराइणो दूओ आगओ त्ति राइणो
सट्ठाणेसु आगया । आसाढाभूइ य जाव

लावाउ य सरियदुग्गंधाउ वमियमयगंधायड्ढियभिणिभिणितमच्छियछन्नसरीरदुपेच्छा विडंबियदुविविखत्तचरणबाहाउ। तउ गरुयसंवेगमुवगओ चिंतिउं पवत्तो। जहा अहो मे मूढया! अहो मे निव्विवेयया! अहो मे दुव्विलसियं! जं एयारिसाणं असुईभूयाणं नरगहेऊणं कए तारिसं सुईभूयं निव्वाणसुहजणयं चारित्तइयमुज्झियं, अमयभूओ सुयधम्मो पणासिओ। सयलसोक्खावासो मुक्को गुरुकुलवासो। अविय 'निर्व्वाणादिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्म्मान्विते, लब्धे स्वल्पमचारुकामजसुख नो सेवितुं युज्यते। वैडुर्यादिमहोपलौघनिचिते प्राप्ते च रत्नाकरे, लातुं ह्रस्वमदीप्तिकाचशकलं किं सांप्रतं साम्प्रतम् ॥१॥ इत्यादि। परं अज्जवि अणुकुला मे भवियव्वया। अज्जवि न किंपि नट्ठं जउ नट्ठोवि सुहडोवि णिअत्तिऊण पुणरवि परबलं जिणइ। ता इण्हिं चेव गुरूणं समासे गंतूण चारित्तं सेवेमित्ति चिंतिय नीहरिओ मालाउ। दिट्ठो विसकम्मुणा इंगियागारेहिं लक्खिओ। जहा विरत्तो एसो तउ आसंकियचित्तेण तव्वासभवणे गएण गयवत्थाउ ताउ दट्ठूण उट्ठविऊण निभच्छियाउ धूयाउ निल्लक्खणाउ किमेवं तुब्भेहिं विलसियं। निद्दाणभूओ तुब्भाणं भत्ता विरत्तो गच्छइ त्ति। ता जइ नियत्तावेउं सक्कह ता नियत्तावेह। अह न सक्कह ता पजीवणं मग्गह त्ति। तउ ताउ ससंभंताउ परिहियनियवसणाउ गच्छंतस्स तस्स पाएसु लग्गाउ। सामिय! एगं अवराहं खमिऊण नियत्तह मा अम्हे अणुरत्ताउ भत्ताउ अणाहाउ चयसु। जउ दोसपरे वि जणे साहुणो खंतिपरा हवंति त्ति इच्चाइ भणिउमाढत्ताउ। तेण भणियं मा किंपि भणह विरत्तो हं। न इमं पाणच्चए वि इण्हिं हवइ त्ति। जउ जइ सरिससल्लइदलं विंज्झगिरिं उज्झिऊण करिकलहो। अप्पत्तज्जुन्नघासं पि कहावि पामरगिहं पत्तो ॥१॥ ता किं तत्थेव रइं सो बंधइ, सुमरिऊण विंज्झं च। चलिओ किं विणियत्तइ बहुयाहि वि, पत्थणाहिं तहा ॥२॥ तउ निबंधं नाउं ताहिं एवं, जइ एवं ता, पजीवणं कुणसु त्ति दक्खन्नयाए एवं हवउ त्ति पडिवज्जिय नियत्ति-

ऊण भरहचक्कवट्टिस्स चरियपसाह(यासगं)रट्ठवालं नाम नाडयं रइयं सत्तरत्तेण। विन्नत्तो तब्भणिएण किस्सकम्मुणा सीहराया जहा—देव! आसाढभूइणा रट्ठवालयं नाम नाडयं अपुव्वं रइयं। तं नच्चियव्वं। रन्ना वुत्तं सिग्घं तं मह पुरउ नच्चेह, नडेण वुत्तं। देव महासामग्गीए तं नच्चेयव्वं। रन्ना वुत्तं जं किंपि भणह तमहं संपाडेमि। नडेण भणियं देव तत्थ दढपइन्नेहि आयरियविभूसि-एहिं पचहि रायउत्तसयेहिं कज्जं ता, पसाई किज्जंतु, ताणि राइणा दिन्नाणि। ताणि आसाढभूइणा भणियाणि जहा जं अहं करेमि तं तुब्भेहिं वि कायव्वं। तहत्ति तेहिं पडिवन्नं ते सिक्खविया नट्टविहा। तउ अप्पणा इक्खागुवंसुब्भवो भरहचक्कवट्टी ठिओ राय-पुत्ता पुण तस्स पाइक्का कया। तउ जहा भरहेण सट्ठीवाससहस्सेहिं छखंडभरहं साहियं। जहा चोद्दसरयणाणि नवमहानिहीउ य पत्ताउ। जहा बारवरिसिओ महारज्जाभिसेओ। जहा अणुत्तरा कामभोगा भुत्ता। जहा समिद्धं रज्जं परिपालियं, तहा सव्वं दरिसियं तं च कहकहवि साभिनयंतेण सच्चवियं। जहा राइणा पउरलोगेण य दढं हयहियएण परिहाणं एगं मोत्तुं सेसाणि वत्थाभरणाणि सव्वाणि वि बहुवाडए खित्ताणि। जाओ य अइमहप्पमाणो कणयस्स रासी। तं च वत्थाभरणाइयं सव्वं जयसुंदरीतिहुयणसुंदरीण पजीवणं जायं। तउ पुणो वि सो नडो अइअक्खित्तचित्तं सपरियणं रायाणं पासिय जहा भरहो आयंसगिहं पविट्ठो तत्थ सरीरं पलो-यंतो जहा अंगुलीए रयणपडणेण विसोहो दीसिउं पव्वत्तो तउ सव्वाभरणविमोक्खणेण उव्विणियपउमं पउमसरं पि व विसेसउवि-च्छायसरीरं पासिय संवेगमुवगयस्स केवलनाणे समुप्पन्ने। जहा कयपंचमुट्ठिलोओ गहियदव्वलिंगो रायपुत्तविंदपरिवुडो गिहाउ निग्गओ। तहा अप्पणा पंचहि पत्तसएहिं सहिओ समणलिंगं घेत्तूण पंचमुट्ठियं लोय काऊण रन्नो धम्मलाभं दातुं रंगमज्झाउ निगन्तु पयट्टो। तउ किमेयं ति जंपमाणेण राइणा अच्चंतं विम्हियाहिं देवीहि य वारिउमाढत्तो। तेण भणियं किं भरहो गयदिक्खो

नियत्तो जेणाहं नियत्तामि त्ति। तउ भावं नाऊण मुक्को, गओ सपरिवारो गुरुसमीवं। ते वि पंचरायपुत्तसया लज्जाए कुलाभिमाणेण सच्चपइन्नत्तणउ गहियदिक्खा ठिया। पच्छा सव्वेसिं भावओ वि परिणया। अन्ने भणंति ते पंचसए सिस्सत्तेण काऊण सयमेव गुरुत्तणं पडिवज्जितु अणुट्ठाण काउं पयट्टो त्ति। तउ सो तिव्वसंवेगवसाउ अणुट्ठाणं काऊण सुगइं संपत्तो त्ति। तं च नाडयं विस्सकम्मुणा कुसुमपुरे नच्चियं। तत्थवि अणेगे लोगा पव्वइया। मा एवं पव्वयंता वच्चंतेहिं दिणेहिं सव्वे पव्वइस्संति त्ति। ता अम्हाणं रक्खगा न भविस्सति त्ति नागरएहिं तं नाडयं दड्ढंतित्ति। अयं मायापिण्डो यतीनामकल्प्यो, ग्लानक्षपकप्राघूर्णकस्थविरसङ्घकार्यादिप्रयोजनोत्पत्तौ चापवादेन गृह्यते। यद्यपि चात्र लोभवशादेव मायया विविधरूपकरणाल्लोभव्यापारोऽप्यस्ति, तथाप्यत्र प्राधान्येन मायाया एव विवक्षितत्वात्तद्व्यपदेशेनेदं ज्ञातं दर्शितं।

उक्तं मायापिण्डद्वारमथ लोभपिण्डद्वारं गाथापश्चार्द्धेनाह।

गिण्हिस्समिमं निद्धाइ, तो बहु अडइ लोभेण ॥६९॥

व्याख्या—अद्याहं ग्रहीष्ये आदास्ये लभ्यमानस्तु लोभधृष्टाद्यपेक्षया, इदं हृदयं कल्पनाप्रत्यक्षमपरं शोभनास्वादं तदेवाह। स्निग्धादि, सिंहकेसरमोदकघृतपूर्णप्रभृतिकमेवावधारणमध्याहार्यं, ततस्तस्मात्कारणादेतद् विचिन्त्येत्यर्थः। बहु प्रचुरं निजोदरपूर्तेरवधि कमटति गृहेषु भ्राम्यति केनेत्याह लोभेन रसगृद्ध्या, ततो लोभाध्यवसायवता साधुना यदीप्सितं लभ्यते तल्लोभपिण्डः स्यात् सिंहकेसरयतेरिव, यद्वक्ष्यति 'लोभे केसरयसाहु'त्ति। तदुदाहरणमपि स्वस्थानत्वादत्रैव ब्रूमः, तच्चेदं यथा—

'चंपाए खवगरिसी अहन्नया, मोयगूसओ जाओ। तं दट्ठुं पारणए सो साहू गिण्हइ पइन्नं ॥१॥ जह अज्ज मया सव्वं सेसं अस-

णाइयं परिहरित्ता। विउलं पि लब्भमाणं, घेत्तव्वा मोयगा चेव ॥२॥ ते वि सिंहकेसर–नामा जे मोयगा इह पसिद्धा। सुबहुं पि
भमिउं, ते घेत्तव्वा न उण सेसा ॥३॥ हियएण संपधारियमेवं लोलयाए सिग्घयरो। भिक्खट्ठमणुपविट्ठो, पुरिमड्ढं जाव परिअडिओ।
॥४॥ तेसिं अट्ठाय मुणी, तहवि न लद्धा इमेण ते कहवि। तो न य नियत्तिओ सो, गिहाणुगेहं परिब्भमइ ॥५॥ गेहंमि तउ पत्ते,
तस्स दुवारे भणिज्जमाणस्स। ठाणे, उ धम्मलाभस्स सिंहकेसर य इइ भणइ ॥६॥ सयलं पि दिणमईय, परिभमंतस्स जाव रय-
णीवि। संपत्ता नो नाया, पणट्ठचित्तेण किं बहुणा ॥७॥ रयणीए पहरदुगे, एवमडंतो कमेण संपत्तो। सावयगिहंमि एसोऽसत्थचित्तो
(मोअग)त्ति ॥८॥ मुणिणो चोयणहेउं, वुत्तं तो सावगेण जह भयवं। पुन्नो नवत्ति एसो, जो पुरिमड्ढो मए य पकओ ॥९॥ कहसु
तुमं जइ पुन्नो गंठिस्सहियं करेमि तस्सुवरि। जेणाहमिइ वुत्ते, पलोइयं साहुणा गयणं ॥१०॥ तो तारागणजुत्तो दिट्ठो गयणंमि
निम्मलो चंदो। पच्चागयचित्तेणं तो नायं कालपरिमाणं ॥११॥ जह अड्ढरत्तसमओ, वट्टइ उवढतो यत्तनो जत्त विलसियं जायं (?)।
लक्खियमेयं जह मम चोयणदाणत्थमेएण ॥१२॥ मग्गियमेयं पच्चक्खाणं तो मिच्छादुक्कडं देइ। भणियं च सावया! संतिया,
उ मे चोयणा दिन्ना ॥१३॥ तट्ठाणाउ नियत्तिय गंतूणं सुद्धथंडिले तओ। आगमभणियविहीए परिट्ठवितस्स समियस्स ॥१४॥ सुद्ध-
ज्झवसाणपरस्स तस्स निद्दड्ढघाइकम्मस्स, सयलजगुज्जोयकरं केवलणाणं समुप्पन्नं ॥१५॥ इत्येवं लोभपिण्ड इति गाथार्थः ॥६९॥

अथ क्रोधादिपिण्डचतुष्टये उदाहरणसङ्ग्राहिणीं गाथामाह।

कोहे घेवरखवओ, माणे सेवइय खुड्डओ नायं। मायाएऽऽसाढभूई, लोभे केसरयसाहु त्ति ॥७०॥

व्याख्या—क्रोधे क्रोधपिण्डे, मृतकार्यकृताः घृतपूर्णाः पक्वान्नविशेषास्तैरुपलक्षितः क्षपको मासक्षपणतपोविधायी यतिर्ज्ञातमिति

योगः । तेषामप्राप्तौ तस्य क्रोधभावात् । तथा माने मानपिण्डे सेवतिका राद्धाः श्लक्ष्णसेवा(वतिका)स्तदुपलक्षितः क्षुल्लको लघुव्रती ज्ञातं निदर्शनं वाच्यः । तामामलाभे तस्य मानभावात् । तथा मायायां मायापिण्डे आषाढभूतिनामा यतिर्ज्ञातं । तेन मोद्रकलाभमाश्रित्य मायाकरणात् । तथा लोभे लोभपिण्डे सूचनात् सिंहकेसरिकलड्डुकविशेषास्तत्र श्लक्ष्णीकृतेन गोदुग्धसिक्तेन रविकरशुष्कपिष्टेन परिशोधितखण्डसुरभिघृतयुक्तेन शृङ्गाटकफलचूर्णेन ये निष्पन्ना मोदकास्ते सिंहकेसरकशब्दवाच्या इत्याम्नायस्तदुपलक्षितः साधुर्यतिर्ज्ञातं वाच्यस्तानुद्दिश्य तेन लोभविधानादिति ज्ञातचतुष्टयवक्तव्यतासमाप्त्यर्थं, इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकगम्यस्तानि तु पूर्वं स्वस्थान एव कथितानीति गाथार्थः ॥७०॥

उक्तं क्रोधादिपिण्डचतुष्टयं सोदाहरणमथ संस्तवकरणद्वारमाह—

थुणणे संबंधि संथवो दुहा सो, य पुव्व पच्छा वा । दायारं दाणाउ, पुव्वं पच्छा व जं थुणइ ॥७१॥

व्याख्या—इह संस्तवशब्दः श्लाघायां परिचये च वर्तते, इत्यर्थद्वयवृत्तिरपि गृह्यते, इत्याह 'थुणणे संबंधि'त्ति तत्र स्तवने गुणस्तुतौ, 'संबंधि' त्ति विभक्तिलोपात्सम्बन्धिनि मात्रादिनात्रकघटनया स्वाजन्यकरणे इत्येवं श्लाघापरिचयभेदात् संस्तवो द्विधा द्विभेदः स्यात् । गुणसंस्तवः सम्बन्धिसंस्तवश्चेत्यर्थः । स च पुनरेकैकः संस्तवो द्विभेदः स्यात् । कथमित्याह । 'पुव्व पच्छा व'त्ति विभक्तिलोपात् पूर्वं पूर्वसंस्तव इत्यर्थः । तथा पश्चादिति पश्चात्संस्तव इत्यर्थः । वा विकल्पे । अथ पूर्वपश्चाद्भेदेन द्विविधमपि गुणसंस्तवं व्याख्यातुमाह । 'दायारमित्यादि' दातारं दायकं दानाद्देयवितरणात् पूर्वं प्रथमं देयेऽलब्धे सतीत्यर्थः तथा पच्छा'त्ति दानात् पश्चाद्दानोत्तरकालं देये लब्धे सतीत्यर्थः । वा विकल्पार्थो, यत् स्तौति वर्णयति स पूर्वसंस्तवः पश्चात्संस्तवश्च । तत्र भिक्षार्थं

प्रविष्टः साधुरीश्वरादिकं कमपि दातारं यद्दानात् पूर्वं सत्यासत्यैरौदार्यादिभिर्गुणैः स्तौति यथा अहो ! योऽस्माभिर्दानपतिः पूर्वं वार्त्तामात्रेणैव श्रुतः सोऽद्य प्रत्यक्षमवलोकितस्तथा नेदृशा औदार्यादयो गुणा अपरस्य श्रूयन्ते। तथा धन्यस्त्वं यस्येदृशा गुणाः सर्वत्राप्रतिस्खलिता दिग्वलयव्यापिनः प्रसरन्तीति स पूर्वगुणसंस्तवः । तथा दाने दत्ते यत्संस्तौति यथा निजदर्शनेन त्वयाद्यास्मल्लोचने विमलीकृते यतो गुणिदर्शने किल प्रतीतिजनकत्वेन चक्षुषी निर्म्मले स्यातामिति नेदमद्भुतं तथा तवगुणश्रवणं सत्यतया सञ्जातं । यत्त्वद्दर्शनात् पूर्व्वमेवंविधगुणः स श्रूयते तत् किं सत्यमसत्यं वेति शङ्का ममासीत्, साम्प्रतं त्वद्शंनाद्यथाभूतः श्रुतस्तथाभूतस्यैव दर्शनान्निःशङ्कितं सम्पन्नमिति स पश्चाद्गुणसंस्तव इति। उभयरूपेऽपि चात्र मायामृषावादासंयतानुमोदनादयो दोषा वाच्या इति गाथार्थः ॥७१॥

अथ सम्बन्धिसंस्तवं पूर्वपश्चाद्भेदेन द्विविधमिति वक्तुमाह ।

जणणिजणगाइ पुव्वं, पच्छा सासुससुरयाइ जं च जई। आयपरवयं नाउं, संबंधं कुणइ तदणुगुणं ॥७२॥

व्याख्या—जननीजनकौ मातापितरावादौ प्रथमौ यस्य भगिनीभ्रात्रादिसम्बन्धस्य स सम्बन्धसम्बन्धिनोरभेदोपचाराज्जननीजनकादिसम्बन्धः स किमित्याह। 'पुव्वं'ति, पूर्वसंस्तवः स्यात् जनन्यादीनां पूर्वकालभावित्वात् । तथा 'पच्छ'त्ति, पश्चात्संस्तवः स्यात् क इत्याह श्वश्रूश्वशुरादिः इहापि सम्बन्धतद्वतोरभेदात् श्वश्रूश्वशुरौ भार्यादेर्मातापितरौ तावादौ यस्य कलत्रपुत्रशालकादिसम्बन्धस्य स तथेति । एवं पूर्वपश्चाद्भेदेन सम्बन्धिसंस्तवस्वरूपमभिधाय यथा यतिस्तं द्विविधमपि करोति तथाह—'जं चे'त्यादि, चशब्दः सम्बन्धद्वयापेक्षया समुच्चयार्थः । ततश्च यं कञ्चन सम्बन्धं करोतीति योगः यतिः साधुः । किं कृत्वेत्याह आत्मपरौ प्रतीतौ

अवबुध्य, किमित्याह सम्बन्धपरिचयं, पूर्वकालभाविमात्रा-
तयोर्वयस्तारुण्यवृद्धादिलक्षणकालकृता शरीरावस्थात्मपरवयस्तज्ज्ञात्वा अवबुध्य, किमित्याह सम्बन्धपरिचयं, पूर्वकालभाविमात्रा-
दिनात्रकघटनां पश्चात्कालभाविश्वश्र्वादिनात्रकयोजनां वा कुरुते भिक्षार्थं गृहे गतो गृहिणा सहाहारादिलिप्सया विधत्ते। कीदृशं
सम्बन्धं करोतीति आह 'तदनुगुणमि'ति तयोरात्मपरवयसोरनुगुणमनुरूपं स जनन्यादिनात्रकघटनारूपः सम्बन्धः पूर्वसम्बन्धिसंस्तवो
ज्ञेय इति प्रक्रमः। श्वश्र्वादिसम्बन्धश्च पश्चात्सम्बन्धिसंस्तव इति। कथं पुनरसौ स्वपरवयो ज्ञात्वा तदनुगुणं सम्बन्धं कुरुते? उच्यते,
यथा कश्चित् साधुर्भिक्षाद्यर्थं कस्मिंश्चिद् गृहे प्रविशति, ततः काञ्चिन्निजमात्रादिसमानामृज्वीं दात्रीमवेक्ष्याहारादिलम्पटतया मातृ-
त्वादिघटनार्थं मातृस्थानेनाधृतिपूर्वकं गलदश्रूणी लोचने कर्तुमारभते ततस्तया किं त्वमीदृशो दृश्यसे इति पृष्टः सन् सम्बन्धघट-
नार्थं सगद्गदं वदति यथा मम त्वत्सदृशी मात्राद्याऽभूदिति। तत्र यदि स्वयं तरुणो दात्री तु मध्यवया वृद्धा वा तदा ममेदृशी माता
श्वश्रूर्वाऽस्ति स्मेति जल्पति यदि च स्वयं सा च समानवयास्तदा ममेदृशी स्वसा भार्या वा बभूवेति वदति, यदि च स्वयं मध्यम-
वयाः सा तु तरुणी तदा ममेदृशी पुत्र्यभूदिति भाषते। यदि स्वयं वृद्धः सा च तरुणी बाला वा तदा ममेदृशी दौहित्री पौत्रिकादि-
र्वासीदिति जल्पति। तदत्र संस्तवकरणेनोपार्जितः पिण्डः संस्तवपिण्ड इत्युच्यते। इहापि च मायामृषावादादयो दोषा वाच्याः।
तथा परस्परं स्नेहवृद्धिवशात् मृतपुत्रस्य स्थाने अयमपि स्यादित्यभिप्रायेण मातृभावप्रतिपन्ना दात्री तस्मै विधवानिजवधूमन्यां दास्या-
दिकां (वा) कदाचिद्दद्यादिति भद्रकदात्रीं प्रति दोषः। यदि च प्रत्यनीका सा स्यात्तदाऽयं कार्प्पटिकप्रायोप्यस्मान् जनन्यादितया
कल्पयतीत्यस्मदपभ्राजनाकार्यसाविति विचिन्त्य ग्रामादेर्निष्कासनादि कुर्यादिति। तथा या तेन श्वश्रूः प्रतिपन्ना सा तस्मै स्नेहवशात्
मृतादिजामातृकस्थानेऽयमपि भवत्वित्यभिप्रायेण विधवानिजपुत्रीं कुरण्डां वा दद्यात्, या च तेन भार्यात्वेन कल्पिता तस्या यदि

भर्त्ता समीपस्थः कथञ्चित्तद्वचः शृणुयात्तदा मम भार्याऽनेन स्वभार्या कल्पिता तत्तथैव भवत्विति विचिन्त्य (श्रुत्वा) तयाप्यात्मना सहासौ सम्भोगं कार्यत इति गाथार्थः ॥७२॥

उक्तं संस्तवपिण्डद्वारमथ विद्यामन्त्रचूर्णपिण्डाख्यद्वारत्रयं तल्लक्षणकथनद्वारेण व्याचिख्यासुराह ।

साहणजुत्ता थीदेवया व विज्जा विवज्जए मंतो । अंतद्धाणाइ फला चुन्ना नयणंजणाइया ॥७३॥

व्याख्या—साधनयुक्ता वराद्विजपबल्यक्षतादिपूजोपचारान्विता यद्वा स्त्री प्रज्ञप्त्यादिका देवताऽधिष्ठात्री यस्याः सा स्त्रीदेवता । स्त्रीस्वरूपदेवताधिष्ठातेत्यर्थो, वा विकल्पे । ओमित्याद्यक्षरपद्धतिः । किमित्याह 'विज्जे'ति विद्याशब्दव्यपदेशादिति शेषाद्व्यापारणं च(?) दोषस्तेन लब्धः पिण्डो विद्यापिण्ड इति । तथा 'विवज्जए मंतो'त्ति । तत्र विपर्यये साधनस्त्रीदेवतायुक्तत्वस्वरूपविद्यालक्षणवैपरीत्ये भावे सतीति यावन्मन्त्रः स्यात् कोऽर्थोऽसाधनः पुरुषरूपदेवताधिष्ठित ॐकारादिवर्णात्मक एव मन्त्रो भवतीति तत्प्रयोगेण लब्धः पिण्डो मन्त्रपिण्डः तथान्तर्द्धानमदृश्यभवनमादिशब्दात् वशीकरणादिग्रहस्ततोऽन्तर्द्धानादिफलं कार्यं तेषां ते तथोक्ताः । चूर्णा द्रव्यक्षोदरूपाः । के पुनस्ते इत्याह । नयनाञ्जनादय इति द्रव्यसमूहनिष्पन्ननेत्रोपलेपनललाटतिलकादिक्रियाहेतवस्तद्व्यापारणेन लब्धः पिण्डश्चूर्णपिण्डः स्यादत्र च विद्यापिण्डे भिक्षूपासकदृष्टान्तो वाच्यो यथा–

गधसमिद्धं नाम नयरं होत्था । तत्थन्नया सद्धम्मकप्पतरुणो केइ आयरिया समोसढा । तत्थ एगो भिक्खूवासओ, ईसरो सो य साहुण भिक्खट्ठा गिहागयाणं न किंचि देइ । अन्नया य साहूणमेगत्थमिलियाण समुल्लाओ जाओ । जहा एसो भिक्खूवासओ ईसरो वि साहूणं न किंचि देई । ता अत्थि कोई जो एयं घयाइयं दवावेइ । तेसिं मज्झाउ एगेण साहूणा भणियं । जहामं

आणह जेणाहं दव्वावेमि । अणुण्णाओ गओ तस्स गेहं अभिमंतिओ सो विज्ञाए तेण घयगुलाइयं पउरं साहुणो दिन्नं, साहू वि विज्ञं संहरित्ता मट्ठाणमागओ विज्ञाए पडिसाहरियाए सहावत्थो जाओ गेहे घयगुलायाइ थेवाइं पासइ, जाव केण हियं मे घयाइ केण मुट्ठोमित्ति पलविउं विलग्गोत्ति ।

मन्त्रपिण्डे शालिवाहनराजप्रदी(पादलि)प्तकाचार्यदृष्टान्तो वाच्यो नवरं प्रायो बहुजनप्रसिद्धाद्विनेयजनानुग्रहाय यथाम्नायमादितः पादलिप्ताचार्यचरितं किञ्चिदिहोच्यते । तच्चेदम्–

जिणवयणरहस्सजाणकुसला कोसलापुरी नाम नयरी होत्था। तत्थ य जिणवयणसवणजायहरिसुप्फुल्लो फुल्लो नाम सेट्ठी। तस्स य अणण्णपडिमा पडिमा नाम भारिया इउय सव्वमत्थि तेसिं न उण पुत्तो । तदत्थं च वइरोट्टं देवयं सा पोसहसालाए गंतूण चत्त-सयलवावारा पोसहेण धम्मजागरियं करेमाणी आराहिउं पयट्टा। तउ सा देवी तब्भत्तिरंजिया समागया पुत्ते देहि त्ति भणिए भणइ य वच्छे! बहवे तुज्झ होत्थाहि त्ति परमज्ञेत्र विग्घविग्घायणत्थं विसुद्धभावेण तए इहेव नयरे विहरमाणाणं नागहत्तिसूरीणं बहिया-समागयाणं पायपक्खालणजलं पिवेयव्वं ति भणिऊण गया सट्ठाणं देवी, तउ गोसकिच्चं काऊण पडिमा पढमपहरसमए तेसिं वसहीए संपट्ठिया एगो वसहीमाणीए य साहू वहियागयाणं सूरीणं पायसोयजलपरिट्ठवणत्थं निग्गओ दिट्ठो। सो तीए पुट्ठो किमेयंति। तेण य भणियं सूरिपायजलं, तीए तं से मग्गिऊण तत्थेव पीयंति। तओ वसहिमज्झे गया सूरीण वंदणवडियाए। तत्थ य ते दसासु-यखंधं परावत्तयंतो दिट्ठा वंदिया य परमभत्तीए तेहिं सा धम्मलाभेहिं वुत्ता केण निमित्तेण तुममेत्थ एगागिणी समागया?। तीए सव्वं देवयाउवइट्ठं सुयभवणहेउयं पायसोयजलपाणाइयं कहियं। तउ सूरिहि सुओवओगं दाऊण वुत्तं भविस्सति तुज्झ बहवे पुत्ता

'परं पढमो पुत्तो दसण्हं वरिसाणमुवरिं जउणानदीए परउ चिट्ठंतो जीविही न अन्नहा। एवं निसम्म तीए वुत्त जेट्ठपुत्तमहं तुब्भं दाहामि त्ति। सूरीहि वुत्तं जइ एवं तो अम्हे चिरजीवियं करिस्सामो। ततो सा एवं होउ त्ति भणिऊण नियगेहे गया, सेट्ठिणो य तं सव्वं साहियं। तउ तीए चेव रयणीए रयणमओ नागो सुमिणे पविस्संतो मुहे दिट्ठो। पडिबुद्धाए य सो सुमिणो दइयस्स साहिओ तेण वुत्तं गुणप्पवरो पिए! तुह पुत्तो होही गब्भे य परिवड्ढमाणे इमो दोहलो तीए जाओ जहा जइ हं, ससणिद्धसेलकाणणाइट्ठाणे सुबहुं दीणाणाहाइयाणं दाणं देमि त्ति। सेट्ठिणो य तीए कहिओ, तेण य सविसेसतरो सो पुरीओ। तउ नियसमए सव्वंगलक्खणो-ववेयं पुत्तं पडिमा पसूया। सेट्ठिणा अ वद्धावणाइयं कारियं। तउ मासे संपुन्ने सुमिणाणुसारेण जहा एयमि गब्भगए सुमिणो नागो दिट्ठो तम्हा एसो नागिंदोत्ति तस्स नामं कयं। तउ सूरीवसहीए नेऊण इमं सीसं गिण्हत्ति भणिऊण सो तेसिं समप्पिओ तउ तं सव्वलक्खणगुणोववेयं दट्ठूण वुत्तं सूरीहिं। जहा एस जुगप्पहाणो पवयणपुरिसो होहिज्ति। ता तुब्भेहिं एस महाजत्तेण रक्खेयव्वो जाव अट्ठवरिसो होइ त्ति। तेहिं तहेव तं सव्वं कयंति। तं च पइदिणं साहुवसहीए माया नेइ। पढंते गुणंते य साहुणो निसुणेइ अव-धारेइ य। इउ य सा पडिमा अन्नेवि बहुपुत्ते सव्वलक्खणधरे देवकुमारोवमे कुलुद्धरणे पसूया। सो य नागेंदो अट्ठवरिसिओ संतो सूरीहि सोहणदिणे विहिणा पव्वाविओ। तउ सो अन्नदिणे खुड्डओ आसन्नगिहाउ चउत्थरसियं घेत्तूं समागओ। गुरूणं पुरो ठिओ तेहिं वुत्तो इमं आलोइयं जाणसि नव त्ति। तेण वुत्तं अ(तु)ज्झपसाएण जाणामि। जइ एवं ता भणसु, ततो तेणिमं वुत्त, जहा अंबं तंबत्थीए अपुप्फियं पुप्फदंतपंतीए। नवसालिकंजियं नववहूए कुडएण मे दिन्नं ॥१॥ इमं गाहं सुणिऊण सूरीहि वुत्तं भो भो मुणिणो पेच्छह पेच्छह अहो एसो खुड्डो सिगारग्गिणा पलित्तो त्ति। तउ खुड्डएण नमिउं वुत्तं। भयवं काणेण पसायं कुणह जेण पालित्तो

होमि त्ति एवं तेण वुत्ते गुरुमइचमक्किएण गुरुणा आसणे निवेसिय सो सायरमेवं पुट्ठो, किं तुमं किंपि छंदाइयं जाणसि त्ति। तउ तेण बालभावाउ आरब्भ साहुसेवापरेण वागरणच्छंदलंकाराइयं सव्वमवधारियं गुरुणो निवेइयं। अवि य-जं किंचि सुयं दिट्ठं, पण्हामेहागुणेण तं सयलं। साहइ सनिम्मियं पिव पालित्तो सुकयसंपुन्नो ॥१॥ तउ सूरी समुदायं मेलिऊण तस्स इणमेव नामं पइट्ठियं, जेण एसो गुणपगरिसेण आलित्तो तेण होउ इमस्स नामं पालित्तो त्ति। तहा भणियं अम्हवयणाउ अज्जपभिइ तुब्भेहि सव्वायरेण उवयरियव्वो। समुदायेण वि तं सूरिवयणं तहत्ति पडिवज्जियं। तउ गुरुणा जोग्गो एस सयलसुत्तत्थाणं ति नाऊण भावोवहाणरूवेण उस्सारणकप्पेण सव्वाणि तस्स ताणि अणुन्नायाणि। तउ सूरीहि अट्ठवरिसो वि सो संघसंमएण महापमोएण नियपए ठाविओ कयं च से नामं पालित्तयसूरि त्ति। संघो भणिओ जहा अम्हे जंघाबलपरिहीणा अन्नत्थविहारं काउमसमत्था। एसो बालो वि पालित्तसूरी अईव संघपुरीट्ठो जउणा नईए आराया एयस्स संपय अकुसलं। ता एयस्स विहारं अणुजाणे संघो। जेणेमं महुराए देववंदणत्थं पेसेमि। एवं च सूरिवयणं निसुणिय संघेण चिंतियं जहा न एए पवयणपुरिसा निक्कारणमन्नहा जंपंति। तउ सूरिपसिणाउ अकहियं पि किलेयं नज्जइ, जत्थेसो पालित्तसूरी विहरिस्सइ तत्थ नूणं संघस्स परा समुन्नइ भविस्सइ त्ति। ता जामोऽम्हे वि अणेण सद्धिं तत्थ जत्ताए। तउ इणमत्थं सूरीणं निवेइऊण वडतरो संघो तेण समं संपट्ठिओ। तउ सूरीहि पालित्तसूरी भणिओ जहा सयमप्पमाइणा होइयव्वं, संघकज्जेसु पुण विसेसउ वच्छल्लपरेण भवियव्वं। तउ सो संघजुओ संपत्तो महुरापुरीए। वंदेइ य देवनिम्मियं रम्मं थूभं अण्णे य चेइयं ति। तउ सूरी संघेण समं चलिओ। पत्तो कमेण चोंकारपुरे ठिओ सूरी तत्थ कइवयदिणाणि। संघो य सट्ठाणं गओ। अह अन्नदिवसे भिक्खासरीरचिंताइकज्जे गएसु सव्वसाहूसु तव्वेलं च सावयाइविरहे य बालभावत्त-

णउ डिंभे दट्ठण समुप्पन्नरमणवंछो चिलिमिलिं कडीए गोविसुं वसहीपच्चासन्नठिएहिं डिंभेहि समं रमिउं लग्गो। एत्थन्तरं अच्चब्भुयगुणपसरं तस्स सोऊण कुओ वि ठाणाउ तस्स वंदणत्थं के वि सावया अप्पुव्वा आगया तेहिं ते डिंभा पुट्ठा जहा भो कत्थ पालित्तसूरिस्स वसहि त्ति। तेण य ते विन्नाया जहा एए सावयत्ति। तउ तेसिं सूरिणा भमाडेणं वसहीमग्गो कहिओ। जाव ते आगच्छंति ताव‍प्पणा आसन्नमग्गेण गंतूण आयारं संवरिऊण नियआसणे उवविट्ठो। तउ समागया ते सड्ढा। वंदिऊण सूरिं पूच्छिय सुहविहाराई विम्हियचित्ता विन्नाय तच्चेट्ठा तप्पुरओ उवविट्ठा। चिंतियं च तेहि कहं तं डिम्भचरियं कहं च एरिसं पहुत्तणं ति। ए' तेसिं सूरिणा भावं नेऊण भणिया ते भो एयं बालत्तणचेट्ठियं न कोट्टए छोढुं पारिज्जइ। चंचलं च चित्तं जीवाणं, कीसण्णहा परिणयवयाणवि तुम्हाणं सया निक्कलंको नियओ धम्मो एसो न निव्वहइ। ता मा एयं चोज्जं मन्नह त्ति। तउ ते, उवलक्खिओ सूरीहि अम्ह भावो त्ति, हिट्ठमणा केच्चिरं कालं तं पज्जुवासिऊण सट्ठाणं गया। पुणो वि कयाइ सूरी जंतसगडभरं पिच्छिऊण निव्विग्घयणं च नाऊण उप्पन्नरमणवंछो वसहीउ निग्गंतूण डिंभेहि समं सगडपिंगेसु चडणउयरणकीलाए कीडिउ माढत्तो। एत्थंतरे केहिं वि अपुव्वपुरिसेहिं आगंतूण ते डिंभा पुट्ठा जह कत्थ भो पालित्तयपंडीअस्स वसहि त्ति। ततो केइ एए विउसत्ति सूरिणा लक्खिऊण भमाडेण तेसिं वसहिमग्गं कहिउं पच्चासन्नमग्गेण सयं सट्ठाणमागओ। तउ निययासणे पच्छयपडयं लुलंतं पंगरिऊण अलियनिद्दाए ठिओ। एत्थंतरे ते पत्ता वसहिदुवारे, तं दट्ठूण उवलक्खिऊण य, तस्स धरिसणत्थं कुक्कुडसद्दं करेमाणा वसहीए पविसिउमारद्धा। सूरिणा वि तेसिं धरिसणत्थं तस्सद्दविरोही विरालियाए सद्दो माउंति तस्सद्दाणंतरं सिग्घं पकओ तउ नायं तेहिं दुद्धरिसो एसो। तउ सूरिचलणे पणमिय ठिया ते पंडिया, गोट्ठीए इमं च पुट्ठो,

जहा पालित्तय ! कहसु फुडं सयलं महिमंडलं भमंतेण। दिट्ठो सुओव कत्थ य, चंदणरससीयलो अग्गी ? ॥१॥ तव्वयणाणंतरं अग्गिणो सीयलत्तं दिट्ठं सुयं च अणुहवपमाणसिद्धं, भणियं सूरिणा, जहा–अयसाभिओगसंदुमियस्स पुरिसस्स सुद्धहिययस्स। होइ वहंतस्स फुडं चंदणरससीयलो अग्गी ॥१॥ (ग्रं० ३०००)। तउ तेहिं वुत्तं अहो सूरिणो जए निरुवमा कीत्ती निम्मलं च जसो विप्फुरइ। जोग्गं च तेसिं नाऊण सूरिणा संसारा निव्वाइया सद्धम्मदेसणा कया, जहा–दीहरफणिंदनाले महिहरकेसरदिसामुहदलिल्ले। उप्पियइ कालभमरो जणमयरंदं पुहइपउमे ॥१॥ तउ संसाराउ निविन्ना केइ समणा जाया, केई सावयत्ति। एवं सो सूरी सेत्तुंजयउज्जिंताइणि तित्थाणि वंदिऊण कमेण विहरंतो सिरिमन्नयखेडनयरे पत्तो। साइसयमइप्पनरिसवसा तत्थ सो चउसु पाहुडेसु कुसलो संपत्तो ताणीमाणि, जोणीपाहुडं निमित्तपाहुडं विज्जापाहुडं सिद्धपाहुडं। तत्थ पढमे सव्वदव्वसंयोगेण जीवाजीवुपत्ती वन्निज्जइ। बीए पुण सउणजोइस–केवललियामाइयं (?) निमित्तं सुत्तिज्जइ। तइए उ, रायविज्जाउ मंताउ य निरूविज्जंति। चउत्थे सिद्धाइवियारो त्ति। एएसु चउसु वि सुरी कुसलो जाओ, सो तद्दरिसावणं विना णिव्वुइं न लहइ। तत्थ मन्नयखेडपुरराया दुराराहो वि सूरिगुणावज्जियहियओ मंघस्स अवगारं न किंपि करेइ। तउ तयनयरसंघो तेसिं अन्नत्थ विहरिउं न देइ। तउ अत्थि सोरट्ठदेसे धाउव्वायसिद्धो ढंकणगोपरि ढंकनगरनिवासी नागज्जुणो नाम वंदओ। तेन य सोरट्ठदेसवासी रायामच्चाइओ लोगो दाणसंमाणाइणा वसीकओ। सेसदरिसणाइ निप्पभावाइ सो अभिमन्नइ। तम्मिय समए भरुयच्छे महुरापुरीए जिणंदण्हवणपूयाइणं धिज्जाइया विग्घं करेंति। इमं च भरुयच्छाइसंघेण वासारत्तमज्झे गंतूण सव्वं सूरीणं निवेइयं। तउ सूरीहिं आइट्ठं, कायव्वो तुब्भेहिं दीवुस्सवदिणाउ बीए सुद्धकत्तियपडिवयदिणे भरियरियापव्वाभिहाणंमि महामहूसवो चेइयहरेसु। तम्मि दिवसे अम्हे संघं आपुच्छिऊण अमुगाए

याए जंपियं। जहा देव! ताव ससिव्व सव्वे विउसा अहंमाणिणो नियगुणुक्करिसविप्फुरियपयावा रेहंति जाव सूरोव्व पालित्तयसूरी निरुवमगुणकिरणो न अज्जवि विप्फुरइ,पढियं च तीए-तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महो यावन्न तीक्ष्णरुचिर्मण्डलमभ्युदेति। अभ्युद्गते सकलधामनि द्यौ तु तस्मिन्निन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ॥१। ततो सुणिऊणेमं राइणा भणियं भद्दे! को एस सूरोवमो पालित्तयसूरी तए वन्निओ। तउ तीए सवित्थरो सव्वो सूरिवुत्तंतो तस्स कहिओ। तं च सोऊण विम्हिओ राया भणइ कत्थ सो चिट्ठइ। तीए जंपियं सिरिमन्नयखेडे नयरे, तं निसुणिय सूरिसमाणयणत्थं राइणा संकरो नाम संधिविग्गहिओ तत्थ आणत्तो जहा मन्नयखेडे गंतूण कण्हरायं मोक्कल्लावेऊण पालित्ताभिहाणं सूरिं एत्थ सिग्घमाणेसुत्ति। तउ रन्ना पेसिओ तत्थ गंतूण कण्हरायस्स समीवे नियसामिसमाइट्ठं सव्वं निवेएइ। तउ तेणावि राइणा हरिसनिब्भरेण सूरी नियपुरसंघजुओ नियपरिवारसमिओ पट्ठविओ। पत्तो य कमेण बाहिं पइट्ठाणपुरस्स। तउ संकरेण गंतूण राइणो सूरीणमागमणं जाणावियं। तउ राया हरिसियचित्तो हट्टसोहाइयं नयरे महूसवं काराऊण सपरिवारो सूरिसंमुहं जाव किल गमिस्सइ ताव एत्थावसरे राइणो समीवे विहप्फई नाम विउसो आगंतूण मच्छरवसा भणइ। जहा देव! अहं अज्जेवऽस्स सूरिस्स बुद्धिं परिक्खिस्स। तउ रन्ना भणिओ य परिक्खसु,ता तउ भणइ देव! तुम्ह परिवारे अत्थि एत्थ कोवि पुरिसो जो गच्छंतो आगच्छंतो य हत्थट्ठियाउ उदगाइभरियभायणाउ बिंदुमेत्तं पि न छड्डेइ रन्ना भणियं अत्थि हीरओ नाम थिरहत्थो नरो। जइ एवं ता एत्थ तं आकारह। आकारिऊण निवेण पयंसिओ सो विहप्फइस्स। तेणावि सबहुमाणं सो पयत्तेण सम्माणिऊण भणिओ भो भद्द! तुममिणं विलीणघयपूरियं वट्टयं सूरिस्स गंतूण दंससु, इयं च भणेज्जसु जहा तुम्ह मंगलकए इमं विउसेहिं पेसियं। एवं भणिय सो सिग्घं पेसिओ। तेण तहेव कयं ति। तउ वियड्डत्तणउ सूरिस्स तस्स परमत्थो तेण विन्नाओ, जहा मे मइ-

परिक्खणत्थं विउसेहिं एवं कयं ति। तत्थ वट्टयवट्टलागारतुल्लं नयरमेयं। तं च घयतुल्लेण पंडियजणेण परिपुन्नं। तउ जहा एत्थ वट्टए अन्नस्स वत्थुस्स कस्सइ अवगासो नत्थि तहा विउसजणपुन्ने एयंमि नयरे तुज्झवि नो भविस्सइ, तउ दायगपडिदायणत्थं सुमरेवि एयंमि सूरितुल्लो विउसो नियमुहसंवेहगाइगुणत्तणाउ संमाइ त्ति चिंतिऊण सूरिणा साहुसयासाउ सूइं सुहुमतरिमभिगहिय तम्मज्झे धारिणिविज्ञाए तं ठविऊण सो नरो वुत्तो। तेसिं विऊसाणं गंतूण एयं दंससुत्ति तेणावि तहट्ठियं नेऊण निवपुरउ तं मुक्कं, ततो मज्झे तं सूइं दट्ठुं विहप्फई नियमणे विसण्णो अहो! महामइमं एसो त्ति। तउ रन्ना नियनयरे पमुइएण महया वित्थडेण सो सूरी पवेसिओ। सपरिजणेण य रन्ना विसिट्ठपडिवत्ति(उ) संमाणिओ। निसुया य बहुमाणपुव्वं पालित्तयसूरिविरइया वहुकव्वरसा सा संकिन्ना तरंगवइया कहा, विम्हिओ य तीए सवणेण सव्वो विउसयणो राया य। एत्थंतरे मच्छरवसा अवधारणासंपन्नो मइमं पंचालनामा विउसो जंपिउमारद्धो। देव! इयं कहा अणेण सूरिणा अन्नेहि य मम कव्वाउ य चोरिय त्ति। रन्ना भणियं कहमिणं नज्जइ। तउ तेण नियजुत्तीए रायाइलोयाणं पच्चयनिमित्तं अणेगभावेहि तरंगवइया कहा कविया। मणयं च संघो लज्जिओ। तउ छरीहिं संकेयं काऊण सहसा, मयगखेड्डं विहियं। एत्थंतरे मउत्ति काऊण कुक्कुहियाए पविट्ठो जाव बहि निज्जइ ताव सव्वो वि नयरजणो बहुतरा पसंसा करेइ। ततो वणमज्झट्ठिओ पच्छायावविहुरिओ वा विहुदंडं लब्भेऊण महयासद्देणं पंचालो इमं गाहं भणइ। जहा 'सीसं कह व न फुट्टं, जमस्स पालित्तयं हरंतस्स। जस्स मुहनिज्झराउ तरंगवइया नई छूढा' ॥१॥ तउ सूरिगुणकड्ढिए सयलजणे इमं तब्भणियं सोऊण एवं जंपंतो झडित्ति उत्थिओ, भो भो पंचत्तमुवगओ वि अहं अणेण पंचालविउसस्स सच्चवयणेण ओसहतुल्लेण सुइसुवगएण जीविउ त्ति। तउ सो विमणदुम्मणो संघो य अइपहिट्ठमणो जाओ त्ति। इमं च रन्ना सोऊण सो पंचालो नि-

तउ सो संतारियबहुं दहूण नियकम्मविवरदाणाउ तस्सेव समीवे सावगत्विसओ आणत्तो। सूरिणा य रायाणं भणिय उद्धरिओ। तउ सो संतारियबहुं दहूण नियकम्मविवरदाणाउ तस्सेव समीवे सावग-धम्मं पवन्नो। अन्नया य केणइ वियड्ढेण सालिवाहणस्स रण्णो बीयनामेणं मुरुडनामस्स सभाए मयणोदयभावियं सुत्तं समप्पियं तस्स छेओ लहेयव्वो। न य सो केणावि लद्धो तउ रन्ना पालित्तयसूरी आहूओ, तं सुत्तं दरिसियं, तेण य उण्होदगमज्झे तं पक्खित्तं। तउ निम्मयणत्तणउ तस्स सो छेओ लद्धो। तउ समवट्टुलदंडो मूलजाणणत्थं तस्स नरवइणो सम्मप्पिओ। न य मूलं तस्स केणावि णायं सूरिणा पुण सो नीरमज्झे तराविओ। मणयं एगदिसाए सो नमिओ, ततो तेण तस्संतमूलं कहियं। पुणरवि समुग्गओ जउघोलिओ तस्स समप्पिओ जस्स ढक्कणयसंतिया संधी गुव्विलत्तणउ न नज्जइ। सो उण्होदए सूरिणा छूढो। तउ वियलिया जउकणयसंतिया संधी, या तेण नियमइमाहप्पेण पयंसिया। तउ सूरिणा तम्मइपरिक्खणत्थं तुंबयं फाडेऊण मज्झे रयणाइं पक्खिविय मद्धाए सीवणीए तं सीवित्ता रन्नो दंसियं। भणिओ य राया इमस्स संधिं को वि जाणेउ त्ति। रन्नात्ति य तुम्बं सिव्वियं दंसियं न उण संधी तस्स विन्नाय त्ति। अहन्नया तस्स मुरुडरन्नो सिरो वेयणा तिव्वा पाउब्भूया, सा य नो कहवि विज्जामंततंताइएहिं उवसमिया। तउ रन्ना निओ मंती वुत्तो। जहा मज्झेमं सिरोपीडं पालित्तयसूरिसयामाउ गंतुमुवसामेसु। एत्थ व बो(आ)हरसुत्ति। तउ मंतिणा गंतूण सूरी भणिओ जहा तुब्भे रायसमीवे आगच्छह रन्नो महई सिरोवेयणा न केणावि उवसामिउं तीरइ त्ति। तउ सूरिणो मंतिवयणाउ तित्थस्स पभावणा भवउ त्ति मन्नमाणा रायसमीवे गंतूण उवविट्ठा। ते हि य तत्थ जहा लोगा न जाणन्ति तहा पाउरणस्स मज्झे पच्छन्नं मंतं झयंतेहिं नियदाहिणजाणुमत्थयपासेण दाहिणहत्थपएसिणीं अंगुठसमीववत्तिणीं अंगुली भामिऊण भामिऊण रायस्स सिरोवेयणा पणासिया। अण्णे भणंति सट्ठाणठिएहिं चेव जाणुवरि करंगुलिभामणेण तेहिं राया पउणीकउ त्ति। तहा

य तच्चरियसूइया इमा गाहा आगमे पढिज्जइ। 'जह जह पएसिणिं जाणुगमियालित्तउ भमाडेइ। तह तह से सिरवेयणा य, णस्सइ मुरुंडरायस्स' ॥१॥ तउ पणट्ठियसिरोवेयणेण राइणा अहिययरं परितुट्ठेण सूरिणो विउलेणं असणाइणा पडिलाभिया। अणुदियहं च दंसणभत्तीए समुज्जुओ जाओ। एवमणेगसो राया सूरिगुणावज्जियमाणसो संवुत्तो त्ति। एत्थऽन्ने पाडलिपुत्ते नयरे मुरुंडो नाम राया सालिवाहणाउ विभिन्नो होत्थ त्ति भणंति। एवं बहुहा पवयणुन्नइं विहेऊण कुन्देन्दुधवलजसेण तिहुयणं धवलीऊण दीहपज्जायं परिपालिऊण बहुविहे य सिस्से वायणाइणा निप्फाइऊण चूडामणिमाइनिमित्तसत्थाईहिं निययाउयपमाणं जाणिऊण संघसमक्खं आराहणापुव्वयं कालमासे कालं काऊण सूरी देवलोगं गउ त्ति। पसंगेण सव्वमेव भणियं। एत्थ पुणो रन्नो सिरोवेयणोवसमे भत्त-पाणाइणा पडिलाभणमेत्तमरूवेण मंतपिंडेण चेव पगयं।

तथा चूर्णपिण्डेऽन्तर्द्धानं प्रतीत्य चाणिक्यमंत्री निदर्शनं यथा–पाडलिपुत्तं नाम नयरं आसि। तत्थ य चंदगुत्तो नरवई तस्स य चाणक्को नाम महामंती। तत्थ य जंघाबलपरिहीणा संभूइविजयाभिहाणा सूरिणो परिवसंति। अण्णया य दुब्भिक्खं जायं। आयरिएहिं चिंतियं। जहा एयं सूरिपयजोग्गं नियसीसं आयरियसए ठाविउं सयलगच्छसहियं सुभिक्खे देसंतरे पट्ठवेमि। सयमेत्थेव एगागी चिट्ठामि ता ताव एयं जोणिपाहुडं सिक्खवेमि त्ति रहे तं सिक्खविउं पवत्ता। तत्थ य पच्छन्नठिएहिं दोहिं खुड्डएहिं अंजणं कहिज्जंतं सुयं। जेण अंजियाहि अच्छीहिं न केणइ दीसिज्जइ। आयरिएहिं तहेव आयरियत्तणे सो ठाविओ सयलगच्छसहिओ पेसिओ ते खुड्डया आयरियणेहेण पुणो वि वलिया, सेसो गच्छो निद्दिट्ठठाणे संपत्तो। गुरुहिं ते भणिया। दुट्ठु तुब्भेहिं कयं जे समागया संपयं एत्थेव मंतोसनिरया संता विहरह। तउ सयमेव हिंडिऊण समुद्दाणट्ठा आयरिया जंकिंचि भिक्खाए आगच्छइ तं

दोहिवि मंतियं जहा किं आयरियाण ओमोयरियं करिमो। पुव्वसुयं तेहिं समं विरिंचिय भुंजंति त्ति तेसिं ओमोयरिया पवत्ता। चंदगुत्तस्स ओमोयरियाए दुव्वलं जायं, चाणक्केण पुच्छियं, जहा देव! किं दुव्वलो सि। तेण भणियं ओमोरिया हवइ। चाणक्केण चिंतियं जहा नूणं एयमि दुब्भिक्खे अंजणसिद्धो कोइ अणेण सह भुंजइ। अन्नहा एवइएण आहारेण कहं ओमोरिया। तउ तेण अंजणसिद्धगहणत्थं भोयणमंडवे इट्टगचूनो खिवाविओ। दिट्ठाणि तत्थ मणुयपयाणि निच्छइयं जहा अंजणसिद्धा दुवे एत्थागया चिट्ठंति। दुवारं पिहाविया। मज्झे धूमो कारिओ, नीहरिउमसक्कंताणं धूमेण नयणंसुएहिं सह विगयमंजणं। दो वि दिट्ठा। चंदगुत्तेण दुगंछा कया। जहा एएहिं विट्टालिओ अहं। चाणक्केण तस्स समाहाणनिमित्तं उड्डाहरक्खणत्थं च पसंसिओत्ति। जहा धन्नो सि तुमं जो रिसिकुमारेहि पवित्तीकउत्ति। वंदिउं विसज्जिया चाणक्केण आयरियकहणपुव्वयं ते उवालद्धा। जहा किमेवमुड्डाहं कुणह। आयरिएहिं सो चेव उवालद्धो। जहा तुमं चिय दोसवंतो जो दुण्हं पि खुड्डयाणं निव्वाहं न चिंतेसि, तेण तहत्ति पडिवन्नं, निव्वाहो अ कउत्ति। इह च विद्यादयो योगान्ता आहारार्थं न व्यापारणीया इत्युत्तरगाथायां वक्ष्यति। यतो विद्यादिषु व्यापार्यमाणेष्वमी दोषा यथा–यमुद्दिश्य विद्यादि प्रयुक्तं साधुना स भिक्षूपासकादिस्तत्पक्षपात्यन्यो वा भिक्षुकादिः साधुप्रयुक्तविद्याया नृपादिसमक्षं साधोः स्तम्भनमारणादि कुर्यात्। तथैते एवं व्यापारोपजीवनादधर्मिष्ठाः परवञ्चनाकारिणश्चेति प्रवचनोपघातः। तथा रुष्टो राजादिर्विद्यादिप्रयोक्तुः सर्वयतीनां वा वधं कुर्यादिति गाथार्थः ॥७३॥

अथ योगपिंडद्वारं योगलक्षणकथनद्वारेण व्याख्यातुमाह।

सोहग्गदोहग्गकरा, पायपलेवाइणो य इह जोगा। पिंडट्ठमिमे दुट्ठा, जईण सुयवासिणमईण ॥७४॥

व्याख्या—सौभाग्यदौर्भाग्यकरा जनप्रियत्वाप्रियत्वविधायकाश्चन्दनगन्धधूपादयो द्रव्यविशेषा योगाः स्युरिति योगः, तथाहि किञ्चिच्चन्दनादि जलादिना घृष्ट्वाऽभिमन्त्र्य च दुर्भगः पाय्यते, शरीरं वा अभिमन्त्रितधूपेन धूप्यते, गन्धा वा शिरसि निक्षिप्यते ततः सुभगः स्यादिति, एवं दुर्भगत्वेऽपि वाच्यं। तथा पादप्रलेपादयश्चरणखरण्टनप्रभृतय आकाशगमनजलाग्निस्तम्भादिफला द्रव्यसमूहक्षोदरूपा औषधविशेषाः, चः समुच्चये। इह जगति योगा योगशब्दवाच्याः स्युः। ननु चूर्णयोगयोर्द्वयोः क्षोदरूपत्वेऽपि परस्परं को विशेषः? उच्यते, देहस्य बहिरुपयोगी चूर्णो, बहिरन्तश्च योगो, यतोऽसावाहार्यानाहार्यभेदाद् द्विविधः स्यात्तत्र जलपानादिना अभ्यवहार्य आहार्यः, (तदितरोऽनाहार्यः) पादप्रलेपादि। तत्र पादप्रलेपरूपे योगपिण्डे आख्यानकं यथा—

आभीरविसए अयलउरं नाम नयरं आसि। तस्स आसण्णाउ कण्हाविन्नाभिहाणाउ दुवे नईउ। तासिं अंतरे बंभो नाम दीवो। तत्थ य पंचहिं तावससएहिं सहिओ एगो तावसकुलवई परिवसइ। सो य संकंताइपव्वेसु सतित्थुब्भावणाइनिमित्तं सव्वेहिं तावसेहिं सहिओ पायलेवेणं कन्हमुत्तरित्तु अयलउरं आगच्छइ। तत्थ लोगो आउट्टो भोयणाइसक्कारं करेइ। सावयाणं पुण खिंसं करेइ, जहा तुम्ह गुरूणं एरिसी सत्ती नत्थि। सावएहिं वइरसामिणो माउलगाणं अज्जसमियायरियाणं अक्खियं, तेहिं भणियं य, थेवमेयं जं माइट्ठाणेण पायलेवं किच्चा सो नइं उत्तरइ। तउ सावएहिं तस्स माइट्ठाणपयडणत्थं सपरिवारस्स भोयणेण निमन्तणं कयं। गिहे उववेसिय पायधोयणं ढोइयं। तेन भणियं न धोवावेमि सावएहिं अधोविएहिं पाएहिं भुंजावन्ताण लोए अविणओ होइ त्ति भणंतेहिं बलावि धोइया पाया। भुंजाविओ य णियट्ठाण गमणाय चलिओ सावया य सरिसा चलिया। जाव कण्हं उत्तरइ ता सपरिवारो बुडिउं

परं पारं गन्तुमिच्छामि। चप्पुडियं दाउं भणियं कण्हे ! तत्थेवागया समियायरिया। लग्गो। एत्थंतरे बहुलोयसहियस्स पडिवोहणत्थं तत्थ धम्म- सूरिणा पारद्धा तउ नयरजणसहिया तावमासमे गया, कुलवई, विम्हिओ सपरिवारो कुलवई, झडत्ति मिलियाइ दोवि कुलाइ। विम्हिओ सपरिवारो कुलवई वि पव्वज्जं गहिओ। सूरी गओ नयरं ति। जाया य बंभदिवगसाह त्ति। यद्य- कहा, लोगो पडिवोहिओ पंचसयसहिओ कुलवई वि पव्वज्जं गहिओ। सूरी गओ नयरं ति। जाया य बंभदिवगसाह त्ति। यद्य- पीदं लौकिकयोगपिण्डे उदाहरणं, तथापीत्थं कृते यो लोकोत्तरेऽपि लभ्यते स योगपिण्ड इति विवक्षायां दर्शितम्। अथैते विद्या मन्त्रादयः किं सर्वदैव न प्रयोक्तव्या उत कदाचिदेवेत्याह 'पिंडट्ठमिमे दुट्ठत्ति' पिण्डार्थमाहारनिमित्तमुपलक्षणत्वादुपकरणादिग्रहः। इमे एते अनन्तरोक्ता विद्यामन्त्रचूर्णयोगा व्यापार्यमाणा इति शेषः दुष्टा दोषकारिणः स्युः सावद्यत्वेन कर्म्मबन्धहेतुत्वात्। इह पिण्डार्थमित्यनेन महति कुलगणसङ्घचैत्यादिकार्यपुष्टालम्बने व्यापार्यमाणा अपि न दोषाय स्युः प्रवचनोत्सर्प्पणाहेतुत्वेन जिनादि- भिरनुज्ञातत्वादित्याचष्टे कथञ्चिद् दुष्टा (केषां) इत्याह यतीनां साधूनां कीदृशानामित्याह श्रुतवासितमतीनां उत्सर्गापवादबहुलागमप- रिकर्मितबुद्धीनां। अनेन चागीतार्थ एव तुच्छत्वात् स्वल्पेऽपि कार्ये तद्व्यापारणं कुरुते न गीतार्थो गम्भीरत्वादित्यावेदयति। इह च पूर्वसंस्तवपश्चात्संस्तवाभ्यामेक एव संस्तवाख्यो दोष उक्तश्चूर्णयोगौ तु भिन्नौ द्वौ दोषावुक्तौ। क्वापि ग्रन्थे व्यत्ययो दृश्यत इति गाथार्थः ॥७४॥

उक्तं विद्यादिपिण्डद्वारचतुष्टयमथ मूलकर्मपिण्डद्वारमाह।

मंगलमूलीण्हवणाइ गब्भवीवाहकरणघायाइ। भववणमूलकम्मंति मूलकम्मं महापावं ॥७५॥

व्याख्या—मङ्गल्यमूलिका मङ्गलकृद्वनस्पत्यवयवस्वभावौषधयो लोकप्रतीतास्ताभिः स्नपनं, रुग्यादिजनस्य सौभाग्यपत्यादिनिमि-

त्तं मूलिकाकल्कमिश्रजले स्नानविधापनं,तदादिर्यस्य धूपनक(का)ण्डकरणादेस्तन्मङ्गलमूलिस्नपनादि । तथा गर्भविवाहकरणघातादि,तत्र गर्भ उदरान्तवर्त्ती मनुष्यादिसत्त्वः, विवाहः परिणयनं, तयोः प्रत्येकं करणघातौ विधापनविनाशौ, तावादिर्यस्य तत्तथा गर्भकरणं, गर्भघातस्तत्परिशाटनरूपः तथा विवाहकरणं विवाहप्रतिघातश्चेत्यर्थः । आदिशब्दात् स्त्रीणामक्षतयोनिक्षतयोनित्वकरणग्रहः । तत्रौ-पधप्रयोगेण सततमवाच्यदेशरक्तक्षरणं क्षतयोनित्वं तद्विपरीतमितरत्त्व(त्वं रक्त)स्यागम्यमानत्वात् । भक्ताद्यर्थं प्रति(क्रिय)माणं त्रा साधुना मूलकर्म्मोच्यत इति योगः । अस्य शब्दार्थनिरूपणायाह । 'भववणमूलकम्मंति' भवन्ति नारकादितयोत्पद्यन्तेऽस्मिन् जन्तव इति भवः संसारः, स एव वनमतिगहनत्वात्तरुखण्डरूपं काननं तस्य मूलं कारणं प्ररोहहेतुः कर्म्म ज्ञानावरणादिकर्म्मनिचयहेतुकाऽशुभा व्यापा-रक्रिया इति हेतोर्मूलकर्म्मोच्यते । यद्वा सूचनाद्विभक्तिलोपाच्च 'भववन'त्ति भववनस्पत्योः मूलं कारणं कर्म्म क्रिया इति कृत्वा मूलं च तत्कर्म च, मूलं वा प्रतीत्य कर्म्मेति विगृह्य मूलकर्म्मोच्यते । तत्र भवस्य मूलं कर्म्म तत्प्राप्तिनिबन्धना गर्भघातादिक्रिया तथा जातिविवक्षया वनस्पतेर्मूलं तत्प्ररोहकारणीभूतमविष्टोऽवयवस्तस्य औषधाद्यर्थं छेदादिक्रिया मूलकर्म्मेति । इदं च कीदृशमित्याह महापापं चिरकालवेद्यक्लिष्टाशुभकर्मनिबन्धनं शिष्टजननिन्द्यम् पापबहुलजनाचरणीयं चेति । अत एव भववनमूलमित्युक्तं। तत्र गर्भा-धानशाटरूपे मूलकर्म्मणि राजपत्न्यौ दृष्टान्तो यथा—

वसंतपुरे जियसत्तू राया। तस्स दो देवीउ । अण्णया विसयसुहमणुहवंताणं एगाए गब्भो पाउब्भूओ । इयरी इमीए पुत्तो भविस्सइ न मज्झ त्ति ईसानलेन डज्झंती अधिईए चिट्ठइ। एत्थंतरे एगो साहू भिक्खं अडंतो तीए गिहे पविट्ठो। तेण भणिया जहा भद्दे ! किं विच्छायमुही दीससि ? तीए वुत्तं जहा मम सवत्ती आवन्नसत्ता, पुत्तो तीए आइट्ठो नेमित्तिएणेति । तेण भणियं भद्दे ! ओसहप्पया-

जइवि मे सुओ होही तुम्होसहप्पभावाउ तहवि
णेण तुज्झत्ति गब्भाहाणं करिस्सामि मा अधीइं कुणसु। तीए भणियं भट्टारया ! जइवि मे सुओ होही तुम्होसहप्पभावाउ तहवि
सो पच्छासमुब्भूयगब्भजायत्तणेण कणिट्ठो त्ति न जुवराया भविस्सइ। इयरीए पुण पढमसमुब्भूयगब्भजायत्तणेण जेट्ठो त्ति जुवराया
भविस्सइ। तउ साहुणा तीसे एक्कं ओसहं दिन्नं, अन्नं तीसे सयासाउ चेव इयरीए गब्भपाडणं दवावियं, दिन्ने जायं गब्भसाडणं,
इयरीए य सूओ जाओ। जाओ य जुवराय त्ति। विवाहकरणरूपे तस्मिन् दृष्टान्तो यथा—

एगंमि कुले एगा वड्ढकुमारी अत्थि। तउ एगो साहू भिक्खमडंतो तम्मि गिहे पविट्ठो तं दट्ठूण पिंडलोभेण साहुदा-
णसीला तज्जणणी भणिया। जहा भद्दे ! एसा दुहिया जोव्वणं पत्ता अपरिणीया संती केणावि सह अकज्जं समायरिय कुलं मइ-
लिस्सइ। किं च लोए वि सुव्वइ जहा जइ कुमारी उच्छिट्ठा हवइ तो जत्तिया बिंदुणो रुहिरस्स नीहरंति तत्तियाउ वाराउ माया नर-
एसु वच्चइ त्ति। तदुक्तं लौकिकैः 'तावन्तो नरका घोरा, यावन्तो रुधिरबिन्दवः', इति। तउ मा परिणावियत्ति। तहा एगस्स कोडुं-
बियस्स पुत्तो अत्थि। पत्तो य सो जोव्वणं। इउय भिक्खापविट्ठेण एगेण साहुणा तं पुत्तं वयपत्तं पासिय तम्माया दाणप्पिया
असणाइलोभेण भणिया। जहा कुलस्स गोत्तस्स कित्तीए संतईए य सुओ कारणं हवइ। तो एयं जुव्वणत्तपत्तं पि किं न परिणावेसि जेण
कलत्तनेहेण थिरो थिओ चेट्ठइ। अपरिणाविओ पुण काएवि सच्छंदचारिणीए सह उट्ठिउं गच्छिहिइ। किं च पच्छावि परिणावेयव्वो
(तउ संपइवि किह न परिणावेसि ? त्ति)। तउ तव्वयणाउ सो तीए परिणाविओ त्ति। अक्षतयोनित्वादिकरणरूपे तस्मिन्
दृष्टान्तो यथा—

एगंमि नयरे एगस्स सेट्ठिस्स धूया भिन्नयोनिया अत्थि, माया तं च जाणइ न उण पिया, सा य तन्नयरवासिइब्भपुत्तस्स प-

रिणयणत्थं दिन्ना। आसन्नो आगओ वीवाहो। एसा मे दुहिया परिणिया समाणी भत्तुणा भिन्नयोनियत्ति जाणियं उज्झिज्झिहि त्ति
चिंताए तन्माया अधिइमंता चिट्ठइ। एत्थंतरे भिक्खट्ठं भमन्तो एगो साहू भिक्खट्ठं तीसे गिहे पविट्ठो, दिट्ठा य सा, भणिया तेण
जहा भद्दे! क्रिमेरिसी दीससि। तीए दुहियावइयरो कहिओ। साहुणा आयमणोसहं पियणोसहं च दिन्नं अक्खयजोणिया जायत्ति।
तहा एगाए नयरीए एगो सत्थवाहो आसि। तस्स य अन्नया नियभज्जाए समं रइकलहो जाओ। अउ अभिनिवेसवसा सत्थवाहेण
तन्नयरनिवासिणो एगस्स सेट्ठिस्स धूया परिणयणत्थं वरिया। तं वइयरं परिजाणिय भज्जाए सत्थवाहो खमाविओ। वारिओ वि न
चिट्ठइ सवत्तीचिंताए विद्दाणमुही सा चिट्ठइ। महाचिंता एसा इत्थीणं, भणियं जेण वरि दालिद्दिउ, वरि अणाहु, वरि वरुडुन्नालिउ,
वरि रोगाउरु, वरि कुरूवु, वरि निग्गुणहालिउ वरि करचरणविहीणदेहु, वरि भिक्खभमंतउ ण पुणवि सवत्तिजुत्तुथइपति(जुत्तपति)संप-
त्तउ। एत्थंतरे जंघापरिजिओ एगो साहू तीसे गिहे भिक्खट्ठं पविट्ठो पुट्ठा य सा जहा भद्दे! किं अधिइंमता दीससि। तीए वुत्तं–
'जो य न दुक्खं पत्तो, जो य न दुक्खस्स निग्गहसमत्थो। जो य न दुहिए दुहिओ न हु तस्स कहिज्जए दुक्खं' ॥१॥ साहुणा वुत्त
एवमेव नवरं 'अहयं दुक्खं पत्तो, अहयं दुक्खस्स निग्गहसमत्थो। अहयं दुहिए, दुहिओ ता मज्झ कहिज्जउ दुक्खं' ॥२॥ तउ तीए
सवत्तीवइयरो कहिओ। साहुणा ओसहं समप्पियं। भणिया य एयं केणइ पओगेण तीसे भत्तस्स पाणस्स वा मज्झे दायव्वं जेण
सा भिन्नजोणिया हवइ। तउ भिन्नजोणिया सा इइ भत्तुणो कहिज्जसुत्ति सो न परिणेही। तीए तहेव कयं जाव भत्तुणा न
परिणीयत्ति। विवाहघातरूपमप्यत्रैव जातमिति न पृथग् दृश्यते।

एतेषु च मूलकर्मरूपेषु स्नपनगर्भाधानतद्विनाशविवाहकरणतद्विघातादिषु पिण्डार्थं यतिना क्रियमाणेषु कार्यमाणेषु वा षड्जी-

तस्मिन् साधुना प्रवर्त्तकत्वेन पृथिव्यादयः दोषाः सञ्जायन्ते। तथाहि विवाहकरणरूपे तस्मिन् साधुना प्रवर्त्तकत्वेन पृथिव्यादयः
वनिकायवधमैथुनप्रवृत्तिभोगान्तरायप्रद्वेषादयो दोषाः सञ्जायन्ते। तथाहि विवाहकरणरूपे यतोऽक्षतयोनित्वे सति पुरुषस्य
काया विराध्यन्ते। अक्षतयोनित्वे, गर्भकरणरूपे च तस्मिन् यावज्जीवं मैथुनप्रवृत्त्या अधिकरणं यतोऽक्षतयोनित्वे सति पुरुषस्य
सततं काम्या स्यात्तथा पुत्रोत्पत्तौ प्राय इष्टा स्यात्ततः काम्येति। यत उक्तं 'रतिपुत्रफला नारीति'। अक्षतयोनित्वगर्भकरणरूपे वा
भत्रादिना ज्ञाते सति प्रद्वेषात्मविनाशप्रवचनखिंसादिकं स्यात्तथा क्षतयोनित्वे कृते यावज्जीवं परिहार्यत्वेन कामसेवाविघातकरणाद्भो-
गान्तरायोपार्ज्जनमिति गाथार्थः॥७५॥

उक्तं मूलकर्म्मद्वारमधुनोद्गमोत्पादनादोषसङ्ख्याभणनेन समुदितगवेषणासंज्ञितदोषवृन्दस्य निगमनं ग्रहणैषणादोषप्रस्तावनां चाह

इय वुत्ता सुत्ताउ, बत्तीस गवेसणेसणादोसे। गहणेसणदोसे दस, लेसेण भणामि ते य इमे ॥७६॥

व्याख्या—इत्यमुना प्रदर्शितप्रकारेण उक्ता अभिहिता मयेति गम्यते। कुतः स्थानादुद्धृत्येत्याह सूत्रात् पिण्डनिर्युक्त्याद्याग-
मात्। क इत्याह उद्गमोत्पादनादोषषोडशकद्वयेन द्वात्रिंशत्सङ्ख्या, गवेषणैषणा दोषा इति। तत्र गवेषणं गवेषणा, अन्वेषणं एषण-
मेषणा, ततो गवेषणायामशनादेर्मार्गणकाले एषणा उद्गमोत्पादनादिभिः सदोषत्वनिर्दोष(त्व)पर्यालोचनं गवेष(णैष)णा द्वात्रिंशद्दो-
षवृन्दरहिताहारान्वेषणमित्यर्थः। तद्विषया दोषा दूषणानि प्रदर्शितरूपा गवेष(णैष)णा दोषा उक्ता इति पूर्व्वेण योगः। इह किलैषणा
त्रिविधोक्ता सूत्रे। यथा गवेषणा गहणैषणा ग्रासैषणा चेति। तत्रोद्गमोत्पादना(दोष)शुद्धाहारविषयाऽऽद्या,शङ्कितादिदोषशुद्धाहारविषया
द्वितीया, संयोजनादिदोषपञ्चकरहिताहाराभ्यवहरणविषया तृतीयेति। तथा किल क्रमोपि त्रिविधाया अप्येवमेव यतो नाऽगवेषितस्या-
शनादेर्ग्रहणं स्यान्नचागृहीतस्य भोजनकरणं सम्भवतीति तदियथा(ता) ग्रन्थेनाद्याऽभिहिता, सांप्रतं द्वितीयां वक्तुमाह। ग्रहणेत्यादि

ग्रहणैषणादोषानिति। तत्र ग्रहीतिर्ग्रहणं एषणमेषणा। ततो ग्रहणेऽशनादेर्ग्रहणकाले एषणा शङ्कितादिभिः प्रकारैरन्वेषणं ग्रहणैषणा तद्विषया दोषा ग्रहणैषणादोषास्तान्, दशेति दशसङ्ख्यान् लेशेन सङ्क्षेपेण भणामि कथयामि। तत्प्रस्तावनामाह, ते च ते पुनः दोषा इमे एतेऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपा इति गाथार्थः ॥७६॥

तानेव यथानामग्राहमाह।

संकियमक्खियनिक्खित्त–पिहियसाहरियदायगुम्मीसे। अपरिणयलित्तछड्डिय, एसणदोसा दस हवंति॥

व्याख्या—'संकिय'त्ति विभक्तिलोपाच्छङ्कितं सम्भाविताधाकर्म्मादिदोषं भक्तादि। एवमुत्तरत्रापि। मिश्रं मुक्त्वा शेषपदेषु विभक्तिलोपो दृश्यः। तथा दोषवतो निर्देशेपि दोषदोषवतोरभेदाच्छङ्कारूप एषणादोष उक्तोऽवसेयस्तस्यैव विवक्षितत्वादेवं सर्वत्र। म्रक्षितमारुपितं। निक्षिप्तं न्यस्तं। पिहितं स्थगितं, संहृतमन्यत्र क्षिप्तं। 'दायग'त्ति सूचनाद्दायकदुष्टं। 'उम्मीसे' त्ति उन्मिश्रं पुष्पादिमिलितं, अपरिणतमप्रासुकीभूतादि। लिप्तं दुग्धादिखरण्टितं, छर्दितं परिसाटिमत्, समुच्चयार्थश्चकारो लुप्तो दृश्यः। इतेर्लोपादित्येवमेते एषणादोषाः पिण्डग्रहणदूषणानि। दशेतिसङ्ख्या भवन्ति-जायन्ते इति गाथार्थः ॥७७॥

अथ शङ्कितद्वारं व्याख्यातुमाह।

संकियगहणे भोए चउभंगो तत्थ दुचरिमा सुद्धा। जं संकइ तं पावइ दोसं सेसेसु कम्माई ॥७८॥

व्याख्या–शङ्कितस्य (सं)भाविताधाकर्म्मादिदोषस्य भक्तादेर्ग्रहणे आदाने, तथा भोगो भोजनं शङ्कितस्येत्यत्रापि योज्यं। चशब्दः समुच्चयार्थो लुप्तो दृश्योऽत्र पदद्वये 'चउभंगो' त्ति चतूरूपो भङ्गः चतुर्भङ्गो भङ्गचतुष्टयं स्याद्यथा ग्रहणे भोजने च शङ्कितः भक्ता-

शङ्कावानित्यर्थः। तथा ग्रहणे शङ्कितो न भोजने २ भोजने शङ्कितो न
देर्ग्रहणकाले भोजनकाले च यदि पुनरमुकदोषवदिदमिति
ग्रहणे ३ न ग्रहणे न भोजने च शङ्कित ४ इति। एतेषां चैवं सम्भवो यथा-किल क्वापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुः प्रचुरां भिक्षां
भिक्षाचरेभ्यः स्वस्मै वा गृहस्थेन दीयमानां दृष्ट्वा चिन्तयति, यथेयं भिक्षा किं स्वगृहार्थं प्रचुरोपस्करतया गृहिणैतेभ्यो मह्यं वा
प्रचुरा दीयते, उत भिक्षाचरादिनिमित्तराद्धतयेति चेतसि शङ्कितस्ततः केनापि लज्जासंक्षोभादिना कारणेन किं निमित्तमेतत् प्रचुरं
राद्धमिति गृहिणं प्रश्नयितुमशक्नुवन् शङ्कितो गृह्णाति। गृहीत्वा च स्वस्थानमागत्य तथैव शङ्कितस्तद्भुङ्क्ते इति प्रथमः १। तथा भिक्षार्थं
गृहं गतः प्रचुरां भिक्षां लभ्यमानां दृष्ट्वा चेतसि शङ्कितस्ततो लज्जादिना निषेधयितुं तां प्रश्नयितुं वा गृहस्थमशक्नुवन् गृहीत्वा
स्वोपाश्रये समागतस्ततो भोजनसमये तं दोलायमानचेतसं दृष्ट्वाऽपरसाधुस्तद्भिक्षानिःशङ्कीकृतग्राही तदभिप्रायं ज्ञात्वा वदति। यथा
साधो! यत्र बह्वी त्वया भिक्षा लब्धा, तत्र तद्गृहे प्रकरणं प्रवर्त्तते लाहणकं वा समायातमित्येवं तद्वचः श्रुत्वा शुद्धमेतदिति निश्चित्य
विगतशङ्कापरिणामस्तद्भुङ्क्ते इति द्वितीयः २। तथा कश्चित्साधुरीश्वरगृहान्निःशङ्कितः प्रचुरां भिक्षां गृहीत्वा वसतावायातोऽन्यान्
साधून् गुरोः पुरतः स्वभिक्षातुल्यभिक्षामालोचयतः श्रुत्वा सञ्जातशङ्कया चिन्तयति यथा यत्स्वरूपा बह्वी मया भिक्षा लब्धा अमु-
कस्मिन् गृहेऽन्यैरपि साधुभिस्तत्र तत्स्वरूपैव बह्वी च लब्धा ततो मा कदाचिदियमशुद्धा भविष्यतीति, ततस्तथैवासौ शङ्कितचित्तस्तां
भुङ्क्ते इति तृतीयश्चतुर्थभङ्गस्तु सम्भवं प्रतीत्य सुगम एवेति। अत्र चतुर्ष्वपि शुद्ध्यशुद्धिमाह। तत्र तेषु चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये द्वितीय-
श्चरमश्च तीयलोपात् द्विचरमौ द्वितीयचतुर्थौ भङ्गौ वा शुद्धावशुद्धाहारदोषायातकर्म्मबन्धदोषविकलौ। चरमस्तावदुभयथापि शङ्काया
अभावाच्छुद्ध एव। द्वितीयोऽपि भङ्गो ग्रहणापेक्षयैव सदोषः परमार्थतस्तूत्तरशुभपरिणामेन शङ्कितग्रहणदोषस्य निवर्त्तित्वाच्छुद्ध एव।

तृतीयो बहुतरदोषः । आद्यश्च बहुतमदोषः, उभयत्रापि भोजनस्य शङ्कितत्वेनाऽशुद्धत्वात् । अथ तृतीयप्रथमावाश्रित्याशुद्धतामाह । यं कञ्चन दोषं 'कम्माइ' त्ति सूचनादाधाकर्म्मादिकं दूषणं । भक्तादेर्ग्रहणकालेऽभ्यवहारकाले वा शङ्कते अमुकदोषदुष्टमिदमशनादीत्यारेकते सम्भावयतीत्यर्थः । तमेव दोषं, व्याख्यानादाधाकर्म्मादिपञ्चविंशतिदोषमध्यादेकतरं कञ्चन पिण्डग्राही साधुः प्राप्नोति आपद्यते शेषयोरुद्धरितयोराद्यतृतीयभङ्गयोरित्यशुद्धावेताविति । तत्राधाकर्म्मादयः षोडशोद्गमदोषाः शङ्कितस्य साध्यत्वात्तद्वर्ज्जा नवैषणादोषा म्रक्षितादयश्चेति समुचिताः पञ्चविंशतिः । अत्र हि ननु यदि शङ्काऽकल्पनीयताविधायिनी, एवं शुद्धमपि भक्ताद्यशुद्धं स्यात् शङ्काकरणात्, अशुद्धमपि शुद्धमेतदिति निश्चित्य गृहीतं शुद्धं स्यादित्यत्रोच्यते, सत्यमेव तच्छङ्कापरिणाम एव शुद्धेरशुद्धेश्च कारणम् । यदि हि शङ्कायुक्तपरिणामस्तदा शुद्धमप्यशनादिकमशुद्धं करोति । शुद्धमेतदित्येवं निश्चित्य गृह्णन् भुञ्जानो वा विशुद्धपरिणामोऽशुद्धमपि शुद्धं करोति। तदिहाशुद्धमपि छद्मस्थपरीक्षया निःशङ्कीकृतं शुद्धमेव स्यात्तथाहि श्रुतबलेनामायाविना प्रयत्नपरेण छद्मस्थेन संशोध्य यद्गृहीतं तदशुद्धमपि तेनानीतं केवल्यप्युपभुङ्क्ते इतरथा श्रुताप्रामाण्यं कृतं स्यात्तदप्रामाण्ये तद्दर्शितज्ञानादित्रयाभावस्तदभावे ज्ञानादित्रयसाध्यमोक्षाभावस्तदभावे तदर्थं गृह्यमाणाया दीक्षायाश्च नैष्फल्यमिति गाथार्थः ॥७८॥

उक्तं शङ्कितद्वारमथ म्रक्षितद्वारमाह ।

सच्चित्ताचित्तमक्खियं दुहा तत्थ भूदगवणेहिं । तिविहं पढमं बीयं गरहियइयरेहिं दुविहं तु ॥७९॥

व्याख्या—सह चित्तेन चैतन्येन वर्त्तत इति सचित्तः सजीवः पृथिव्यादिः, चकारस्य द्विरुक्तिः सूत्रे प्राकृतलक्षणाद्, यद्वा सद्विद्यमानं चित्तं यस्य स सच्चित्तः । तथा अचित्तो निर्जीवः पृथिव्यादिरेव । इह च पृथिव्यादिः पूर्वं सचित्तः स्यात्ततः स्वकाय-

स जीवाजीवरूपस्ततोऽचित्त इत्ययं क्रमः। परमत्र मिश्रस्य भेदेनाऽविवक्ष-
शस्त्रादिभिः प्रासुकीक्रियमाणः कियन्तमपि कालं मिश्रः, तत्र स्वकायशस्त्रादिनाऽविध्वस्तरूपः पृथिव्यादिः सचित्तः।
णात्र तदुपादानं। अत्र च शिष्यहितार्थं सचित्तादिस्वरूपं किञ्चिदुच्यते। तत्र स्वकायपरकायशस्त्रोपहतोऽचेतन इति। तत्र मधुरपृथ्वीकायस्य
परिणतापरिणतरूपश्च मिश्रः। तथा लवणमृत्तिकादिरूपः पृथ्वीकायः स्वकायपरकायशस्त्रोपहतोऽचेतन इति। तत्र मधुरपृथ्वीकायस्य
मृत्तिकादेः क्षारलवणोषादिः स्वकायशस्त्रं, शीतोष्णाग्निकाञ्जिकसर्जिकातैलादिकं च तस्य परकायशस्त्रं। तथाऽप्काये क्षारादिरप्कायो मधु-
रादेः स्वकायशस्त्रं पृथ्वीकायादिषु तस्य सर्व्वस्यापि परकायशस्त्रं। वनस्पतिस्तु कन्दादिः सचित्तः स्वकायपरकायशस्त्रेण छेदेन पच-
नादिना च विध्वस्तोऽचित्तस्तथावृन्ते शुष्के कोमलाम्रादीनि फलानि व्रीहिकादीनि हरितानि पत्रपुष्पाणि वाऽचित्तानि स्युरिति अलं
प्रसङ्गेन। प्रकृतमुच्यते। तदिह सचित्तपृथिव्यादिम्रक्षितयोगात्करमात्रं देयमपि च सचित्तं अचित्तयोगादचित्तं ततः सचित्तं चाऽचित्तं
च सचित्ताऽचित्तं। सचित्तम्रक्षितमचित्तम्रक्षितं चेत्यर्थः। इतेलोंपादित्येवं सचित्ताचित्तभेदान्म्रक्षितं पृथिव्यादिना खरण्टितं भक्तादि
द्विधा द्विविधं भवति मिश्रस्य भेदेनाविवक्षणात्। तत्र तस्मिन् द्विविधे म्रक्षिते प्रथममाद्यं सचित्तम्रक्षितं त्रिविधं त्रिधा स्यात्। कैरि-
त्याह 'भूदगवणेहिं'ति पृथिव्यब्वनस्पतिभिः प्रस्तावात् सचित्तैः पृथ्वीकायम्रक्षितमित्यादीनि तत्त्वं। 'वीयं'ति, द्वितीयमचित्तम्रक्षितं
पुनर्द्विविधमेव द्विप्रकारमेव भवति। तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्। काभ्यामित्याह गर्हितेतराभ्यामिति तत्र गर्हितं लोकनिन्द्यं वस्तु इतर-
मगर्हितं लोकानिन्द्यं ताभ्यां द्रव्याभ्यामचेतनाभ्यां गर्हितवस्तुम्रक्षितमगर्हितवस्तुम्रक्षितं चेत्यर्थ इति गाथार्थः ॥७९॥

अधुना अचित्तम्रक्षितं चाश्रित्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह।

संसत्तअचित्तेहिं, लोगागमगरिहिएहि य जईण। सुक्कुल्लसचित्ते हि य, करमत्तं मक्खियमकप्पं ॥८०॥

रिद्वारेण यतनया ग्राह्यमपीति भजना। तत्र विनेयानुग्रहाय प्रतिकायमचित्तस्यानन्तरपरम्परतया निक्षेपसंभवा दर्श्यन्ते यथा—सचित्त-मिश्रपृथ्वीकाये यत् पक्वान्नमण्डकादिकं व्यवस्थापितं तदनन्तरनिक्षिप्तं यच्च पक्वान्नादिकमेव प्रावृडक(?)च्छप्पकादावपि तं पिठरादि च सचित्तमिश्रपृथ्वीकाये तत्परम्परनिक्षिप्तं। तथा यन्नवनीतस्त्यानीभूतघृतादिकं सचित्तमिश्रे उदके न्यस्तं तदनन्तरनिक्षिप्तं। यच्च घृतपक्वान्नादिकं तरिकात्रप्यकादौ स्थापितं नावादि च जले तत्परम्परनिक्षिप्तं। तथा विध्याताद्यन्यतरभेदेऽग्नौ मण्डकादिनिहितमनन्तरनिक्षिप्तं। तदेव यदा स्थाल्यादौ स्थाल्यादि चाग्नावुपरि तदा परम्परनिक्षिप्तम्। अत्र च तेजस्काये परम्परनिक्षिप्तस्य ग्रहणमाश्रित्य विशेषोऽभिधीयते। यथेक्षुरसपाकस्थानेऽग्नावुपरि स्थिते पिठरकटाहादौ मृत्तिकया पार्श्वेषु लिप्ते इक्षुरसः स्थितो यदि स्यात्तदपि च यदि विस्तीर्णमुखतयाऽघट्टितकर्णं स्याद्विशालमुखाद्धि तस्माद्वारकादिना कृष्यमाणे दानाय रसादौ तत्कर्णा न घट्टन्ते, तथा बहिरिक्षुरसच्छर्दनाभावाद्यपरिशाटिमांस्ततस्याद्रसोऽपि च तत्क्षण एव क्षिप्तत्वान्नात्युष्ण तदा गृह्यते। एवं यत्र पिठरादौ गुडः पूर्वं क्वथितोऽभूत्तत्र जलं क्वथनाय क्षिप्तमीपत्तप्तमपि गुडरसेन भावितत्वाच्छीघ्रं प्रासुकीस्यात्ततो नात्युष्णमघट्टितकर्णपार्श्वावलिप्तकटाहस्थमपरिशाटिमदुष्णोदकमपि स्यात्तदपि गृह्यते। एवमन्नादिखरण्टितशेषपिठरस्थेपत्तप्तजलादेरपि ग्रहणं ज्ञेयम्। इह चेक्षुरसस्य दीयमानस्य यदि कश्चिद्बिन्दुर्बहिर्लगति स लेप एवावर्त्तते नत्वधश्चुल्लीमध्यस्थिततेजस्काये पततीति पार्श्वावलिप्तमिति कटाहस्य विशेषणं। घट्टितकर्णाच्च तस्माद् गृह्यमाणे इक्षुरसादौ मृल्लेपस्य क्षरणाच्चुल्लीस्थाग्निविराधना स्यादित्यघट्टितकर्णत्वं विशेषणं। अत्युष्णे चेक्षुरसादौ गृह्यमाणे दात्र्या स्थाल्यादेर्भाजनस्य दानायोत्पाटितस्य, साधुना तु वसतावानयनायोत्पाटितस्य पतद्ग्रहस्य दाहकतया डगिति भूमौ क्षेपाद्भङ्गः स्यात्तथा कष्टेन ददती दात्री साधुपतद्ग्रहे देयं प्रक्षिप्तुमशक्नुवती बहिरुज्झेत। एवं च पृथिव्यादिविराधना स्यादिति।

वातेऽनन्तरनिक्षिप्तं वातोत्पाटिताः शुष्कवल्लमुद्गादिकोशरूपा पर्प्पटिकाः स्युः शालिपर्प्पटादि च यद्येनोत्पाद्यते तत्तत्रनिक्षिप्त-मुच्यते इति विवक्षया वाते शुष्कपर्पटिकादीनां निक्षिप्तता। वाते परम्परनिक्षिप्तं वातोद्धूतवातभृतदृत्याद्युपरिस्थितं मण्डकादि वायोरुपरि बस्तिचर्म तदुपरि मण्डकादीतिकृत्वा। वनस्पत्यनन्तरनिक्षिप्तं सचित्तव्रीहिकादिहरितफलादिष्वपूपादि न्यस्तं, पिठरछब्ब-कादौ मण्डकापूपादि न्यस्तं पिठरादि च वनस्पताविति परम्परनिक्षिप्तं। बलीवर्दादिपृष्ठे न्यस्ता अपूपादयस्त्रसानन्तरनिक्षिप्तं। बलीवर्दपृष्ठे वस्त्रादिस्तब(क)रूपो भरकः कुतपादिर्वा न्यस्तस्तत्र च मण्डकादिकं निक्षिप्तमिति परम्परनिक्षिप्तमिति गाथार्थः ॥८१॥

उक्तं निक्षिप्तद्वारमथ पिहितद्वारमाह।

सच्चित्तचित्तपिहीए, चउभंगो तत्थ दुट्ठमाइतिगं। गुरुलहुचउभंगिल्ले, चरिमे वि दुचरिमगा सुद्धा ॥८२॥

व्याख्या—इह पिहितस्य साध्यत्वात् परिहार्यपरिहार्यविभागं विना सामान्येन सचित्तेऽचित्ते वा पिहिते वस्तुनीति गम्यते। कीदृशे इत्याह। सचित्तं सजीवमचित्तं निर्जीवं पृथिव्यादि, ततः सचित्तं चाचित्तं च ताभ्यां पिहितं स्थगितं, कस्मिन् किमित्याह—'चउभंगो' त्ति सचित्ताचित्तपदद्वयेन चतूरूपो भङ्गश्चतुभङ्गो भङ्गचतुष्टयं स्यादित्यर्थः। सचित्तेन सचित्तं पिहितं। तत्र सचित्तमृत्तिकादिना सचित्तं मृत्तिकादिकमवष्टब्धमित्यर्थः। तथा अचित्तेन सचित्तं, सचित्तेनाचित्तं, अचित्तेनाचित्तं पिहितमिति। अत्राप्यनन्तरपरम्परपिहितता अनुक्तापि दृश्या। (ग्रं० ३५००) तेन तृतीयभङ्गं प्रतीत्याचित्तदेयद्रव्यभावात्सचित्तेनाऽनन्तरपरम्परपिहितसम्भवो विभाव्यते। यथा सचित्तमृत्तिकादिनाऽवष्टब्धमण्डकादिकं सचित्तपृथ्वीकायानन्तरं पिहितं, सचित्तमृत्तिकागर्भछज्जिकादिनाऽवष्टब्धं तु सचित्तपृथ्वीकायपरम्परपिहितं। तथा हिमादिनाऽवष्टब्धं तदेव सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं, हिमादिगर्भछज्जिकादिना-

वष्टब्धं तु सचित्ताप्कायपरम्परपिहितं। तथा यद् इङ्गरिकाद्युपरिन्यस्तदह्यमानहिङ्ग्वादिकेनाङ्गारेण वास्यते मण्डकादिकं चोपरिस्थि-
ताङ्गारं तत्तेजस्कायानन्तरपिहितं। यन्मण्डकादि भाजनस्थमुपरिस्थिताग्निकशरावेणान्यद्वोपरिन्यस्ताङ्गारट्ठिकरिकादिना यत्स्थगितं
तत्तेजस्कायपरम्परपिहितं। तथा यदिङ्गरिकाद्युपरिन्यस्ताङ्गारं तद्वायुनाप्यनन्तरपिहितं यत्राग्निस्तत्र वायुरितिवचनादिह स्पर्शमात्रे-
णैव विवक्षया पिहितत्वं ज्ञेयम्। यद्भाजनस्थं मण्डकादि वायुभृतबस्तिना पिहितं तदधो मण्डकादि तदुपरि बस्तिचर्म तदुपरि वात
इतिकृत्वा परम्परवायुपिहितं। तथा मण्डकादि पत्रबीजपूरकादिफलादिना स्थगितं वनस्पत्यनन्तरपिहितं। तथा मण्डकादि मध्य-
स्थितफलादिशरावच्छब्जिकादिना पिहितं परम्परपिहित, तदेव मण्डकाद्युपरि सञ्चरत्कीटिकाकुन्थुयुक्तं त्रसानन्तरपिहितं। तदेवोपरि-
स्थितकीटिकादिकशरावादिना पिहितं परम्परपिहितं। अत्र परिहार्यापरिहार्यविधिमाह। तत्र तेषु चतुर्भङ्गेषु मध्ये दुष्टं दोषवदकल्प्य-
मित्यर्थः। किं तदित्याह आदित्रिकमाद्यं भङ्गत्रयं। (दुष्टम) ग्राह्यमेव सचित्तं स्यादिति दोषात्सचित्तसङ्घट्टादिदोषाच्च। नवरं यद्यपि
सामान्येन दुष्टमादित्रिकमित्युक्तं, तथापि तृतीयभङ्गेऽप्यनन्तरपिहितमेव, परम्परपिहितं तु यतनया ग्राह्यमिति ज्ञेयम्। तथा
सामर्थ्याच्चतुर्थो ग्राह्यस्तत्रापि गुरुलघुपदद्वयेन चतुर्भङ्गः स्याद्यथा गुरुकं गुरुकेण, गुरुकं लघुकेन, लघुकं गुरुकेण, लघुकं लघुकेन
पिहितमिति। तत्र गुरु भारिकं देयं जलार्द्रसक्तुकपिण्डादि महद्देयद्रव्यभाजनं वा गुरुणा भारिकेण प्रहेडकादिना पिहितमित्यर्थः १।
तथा गुरुकमुक्तरूपं लघुकेनाल्पभारेण स्थगनिकादिना २, तथा लघुकं मण्डकादि स्तोकभारं देयद्रव्यभाजनं वा गुरुकेण पूर्वोक्तेन ३
तथा लघुकमुक्तरूपमेव लघुकेन स्थगनिकादिनैव पिहितमित्यर्थः ४। अत्र च ग्रहणं प्रति भजना। अत एवाह–गुरुलघुपदाभ्यां
चतुर्भङ्गो विद्यते यत्र स गुरुलघुचतुर्भङ्गवान् प्राकृते इल्लप्रत्ययस्य मतुबर्थत्वात् तस्मिन्। चरमेऽपि अचित्तेनाचित्तं पिहितमित्ये-

तस्मिंश्चतुर्थेऽपि भङ्गके इत्यर्थः। न केवलं सचित्ताचित्तपदोत्थचतुर्भङ्गे आदित्रिकं दुष्टं चतुर्थश्च शुद्ध इत्यपेरर्थः, यद्वा किल चरमः शुद्धस्ततस्तत्रापीति शुद्ध्यशुद्धिविसयद्योतकोऽपिशब्दः। द्वितीयश्च चरमकश्च तीयलोपात् द्विचरमकौ द्वितीयचतुर्थौ शुद्धौ भक्तादिग्रहणं प्रति निर्दोषौ। लघुपिधानोत्पादनेन दातुरनर्थाऽसम्भवात्। पारिशेष्यात्प्रथमतृतीयभङ्गावशुद्धावेतयोरग्राह्यं भक्तादीत्यर्थः, गुरुद्रव्यस्योत्पाटितस्य पातेन पादादिभङ्गसम्भवादिति गाथार्थः ॥८२॥

उक्तं पिहितद्वारमथ संहृतद्वारं व्याचिख्यासुः पूर्वार्द्धेन संहृतलक्षणमुत्तरार्द्धेन तद्भङ्गादिकं चाह।

खिवियन्नत्थमजोग्गं, मत्ताउ तेण देइ साहरियं। तत्थ सचित्ताचित्ते, चउभंगो कप्पइ उ चरमे ॥८३॥

व्याख्या। येन केनचिन्मात्रकेण दात्री साधवेऽशनादिकं दास्यति, तत्र यदि साधोरयोग्यमकल्पनीयतया सचित्तं पृथिव्यादिकं दानानुचिततया तुषादिकं वा स्यात्तदयोग्यं तस्मान्मात्रात् करोटकादिस्वभाजनादन्यत्र पृथ्वीकायादौ सचितेऽचित्ते वा स्थाल्यादिभाजनादौ वा क्षिप्त्वा मध्ये निधाय यदशनाद्यन्यदवधारणयोजनात्तेनैव मात्रकेण रिक्तीकृतेन ददाति साधवे यच्छति तदशनादि संहृतं स्यात् मात्रकस्थमयोग्यं संहृत्य संहृतं स्यान्मात्रकस्थभक्तादेरन्यत्र संहरणेन, मात्रकस्य संहृतधर्म्मयोगस्तद्योगाद्दीयमानमपि संहृतं स्यात् तेनैव दत्तत्वादितिकृत्वा। तत्र तस्मिन् संहृते येन भाजनेन दास्यति तत्रस्थस्य भक्तादेरन्यत्र क्षेपणे, सचित्ताचित्ते सजीवनिर्जीववस्त्वभिधायके द्वे पदे आश्रित्य सचित्ताचित्तपदाभ्यामित्यर्थः, मिश्रस्य सचित्त एवान्तर्भावाच्चतुर्भङ्गो भङ्गचतुष्टयं स्याद्यथा—सचित्ते सचित्तं १ अचित्ते सचित्तं २ सचित्ते अचित्तं ३ अचित्ते अचित्तं ४ संहृतमिति। तत्र सचित्ते पृथ्वीकायादौ सचित्तं पृथ्वीकायादि संहृतमित्यर्थः, अचित्तं चायोग्यं तुषादि ज्ञेयं। इह चाद्यभङ्गत्रये ग्राह्यवस्तु सचित्तभावात्सचित्तसङ्घट्टादिदोषाच्चाकल्पनीयतैव नवरं

प्रस्तुतसंहृतदोषस्य तृतीयभङ्गेऽवतारो ज्ञेयस्तथाऽनन्तरपरम्परताऽत्र न व्याख्येया, संहरणस्य परम्परतया अघटनात्। तथा कल्पते तु, भक्तादि ग्राह्यम् पुनः स्यात्, 'चरमे' चतुर्थभङ्गे इति गाथार्थः ॥८३॥

नवरं चतुर्भङ्गेऽपि भजनया कल्पनीयतेत्याह ।

तत्थवि य थोवबहुयं, चउभंगो पढमतईयगाइण्णा। जइ तं थोवाहारं, मत्तगमुक्खिवि य वियरेज्जा ॥८४॥

तत्रापि तस्मिन्नपि चरमभङ्गेऽचित्तेऽचित्तं संहृतमित्येवंरूपे, चः पुनरर्थे, न केवलं सामान्यसंहृते, सचित्ताचित्तपदो-व्याख्या । स्थचतुर्भङ्ग इत्यपरर्थः। किमित्याह । स्तोकबहुलक्षणे ये पदे शब्दरूपे ताभ्यां चतुर्भङ्गो विकल्पचतुष्टयं स स्यात्। यथा स्तोके स्तोकं, स्तोके बहुलं, बहुके स्तोकं, बहुके बहुकं संहृतमिति। तत्र स्तोकं स्वल्पं, बहुकं प्रचुरमुच्यते। तथा यत् संह्रियमाणं यन्मध्ये संह्रियते च ते द्वे अपि वस्तुनी शुष्के वा स्यातामार्द्रे वा तत्र शुष्कं पर्युषितं कूरादि, आर्द्रं तीमनादि। तत्रेह स्तोकबहुत्वे शुष्कार्द्रद्रव्यविशे-षणतया दृश्ये। यथा स्तोकं बहुकं वा शुष्कं तथार्द्रमपि। अधुनैतेषु कल्प्याकल्प्यभजनामाह। 'पढमतईयगाइन्न'त्ति स्तोके स्तोकं बहुके स्तोकं संहृतमित्येतौ प्रथमतृतीयौ भङ्गावाचीर्णौ भिक्षाग्रहणे शुद्धतयाऽङ्गीकृतौ। तेन स्तोके बहुके वा शुष्के स्तोकमार्द्रं संहृतं। स्तोके बहुके वार्द्रे स्तोकमार्द्रं संहृतमित्याचीर्णग्रहणं। संह्रियमाणस्यार्द्रत्वेऽपि स्तोकत्वेन दात्र्याः प्रज्ञापनया हस्तधावनादिदोषस्य रक्षयितुं शक्यत्वात्। तथा स्तोके बहुके वा शुष्के शुष्कं स्तोकं संहृतं। तथार्द्रे स्तोके बहुके वा शुष्कं स्तोकं संहृतमित्यपि कल्पते उक्तदोषाभावात्। पारिशेष्यात् स्तोके बहुकं, बहुके बहुकं संहृतमिति द्वितीयचतुर्थावशुद्धाविति दृश्यं। तेन स्तोके बहुके वा शुष्के, स्तोके बहुके वार्द्रे बहुकमार्द्रं संहृतमित्यनाचीर्णग्रहणं। संह्रियमाणस्य बहुत्वेन दात्र्याः प्रज्ञापनया हस्तधावनादिदोषस्य रक्षितुमशक्य-

त्वात्। अनुज्ञातप्रथमतृतीयभङ्गयोरपि विशेषमाह । 'जइ तमि'त्यादि, यदीत्यभ्युपगमे तन्मात्रकमिति योगः। ततस्तद्देयं संहृतसक्तं स्थाल्यादिभाजनमुत्क्षिप्योर्ध्वमुत्पाट्य भूमौ स्थितेन हि भाजनेनावनम्य तन्मध्यस्थिते वस्तुनि दात्र्या दीयमानेऽधोभूमिभाजनयोरन्तरे कीटिकाद्युपमर्दः सम्भवति। कथंभूतं तन्मात्रकमित्याह। स्तोको हस्तग्रहणमात्र आधारः साहाय्यं यस्य, स्तोकं वा वस्त्वासमन्ताद्धारयति यत्तत्स्तोकाधारमभारिकमित्यर्थः। अनेन स्तोकमित्येतल्लब्ध एवार्थो विशेषितः। उत्पाटनानन्तरं पुनः किं कुर्यादित्याह। वितरेद्दात्री दद्यान्मात्रकमध्यस्थं, संहृतं प्रकान्तं वस्तु तदा तत्संहृत कल्प्यमिति शेषः। एतेन स्तोकसंहृतत्वेप्यन्यद्वस्तुदानाय यद्यभारिकं मात्रकमुत्क्षिप्य तद्ददाति तदा कल्पते। यदि च प्रचुरसंह्रियमाणद्रव्ययुक्तं गुरुस्थाल्यादिकं रिक्तीकृत्यान्यद्वस्तुदानाय तदेवोत्पाट्यावनम्य वा तत्स्थमन्यद्द्रव्यं तेनैव ददाति तदा अकल्प्यमिति दोषसम्भवात्तथाहि तस्मिन् महाभाजने उत्क्षिप्यमाणे भूमौ निक्षिप्यमाणे च दातुः पीडा, भाजनभङ्गे च मदीयमनेन साधुना परमार्थतो भग्नमित्यादि। प्रद्वेषात्तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदं कुर्यात्तथा तद्भङ्गे तन्मध्यस्थितभक्तादिविकिरणे भूमिस्थजीववधः। उष्णभक्तादिभृततद्भङ्गे च साधोर्दातुश्च तन्मध्यस्थितभक्तादिना भूमौ विकीर्यमाणेन पादादिदाहः स्यादाहारलम्पटोऽयमिति साधोर्जनापवादश्चेति त्रिविधा विराधनेति गाथार्थः ॥८४॥

उक्तं संहृतद्वारमथ दायकद्वारं वित्तरीषुर्दोषदोषवतोरभेदाद्दायकान् गाथाचतुष्केणाह ।

थेरपहुपंडवेविरजरियंधवत्तमत्तउम्मत्ते। करचरणछिन्नपगलिय—नियलंडु य पाउयारूढो ॥८५॥

व्याख्या—'थेर'त्ति । तत्र स्थविरो वृद्धः स च सप्ततेः षष्टेरित्यन्ये वर्षाणामुपरिवर्ती तस्मिन्, सर्वत्र विभक्तिलोपात् स्थविरे ददति मुनयो भिक्षां न गृह्णन्तीति वक्ष्यमाणचतुर्थगाथाखण्डेनात्रोत्तरत्र च योगः, अनेकदोषभावात्, तथाहि स्थविरो मुखनिर्यन्नि-

ष्ठीवनलालः कम्पमानहस्तश्च स्यात्ततोऽसौ ददत् स्वयं पतेत् देयं मात्रं वा भूमौ पातयेत्, तत्र च कीटिकावधादयो दोषा ज्ञेयाः। तथाऽयमनादेयवाक्यत्वात्, देयस्यास्वामीति विचिन्त्य तस्मिन् ददति तत्पुत्रादयः साधौ वृद्धे वा उभयस्मिन् वाऽप्रीत्यादि कुर्युः। तथेह चतुर्थगाथान्तपादे ओघेन वक्ष्यति। ओघश्चोत्सर्ग उच्यते। तत उत्सर्गेण स्थविरादिदायकेष्वयं दर्श्यमाननिषेधो ज्ञेयोऽपवादेन तु यतनया केषुचिद् ग्रहणमप्यनुज्ञातमतो निषेधानन्तरं स्वे स्वे स्थानेऽपवादोऽपि दर्शयिष्यते। तत्र स्थविरमाश्रित्यायं ग्रहणविधिर्यथा स्थविरोऽपि पुत्रादिमध्ये यद्यादेयवाक्यः स्यात्तत्रापि यद्यसौ कम्पमानदेहस्तदा अन्येन पुत्रादिना हस्ताद् गृहीतोऽन्यथा कम्पमानदेहत्वाद्भूमिपाताद्यनर्थान् लभते अवेपमानदेहश्चान्येनाधृतोऽपि पतनाद्यभावादगलल्लालो यदि ददाति तदा भिक्षा गृह्यतेऽन्यथा निषेधः। १। 'अपहुत्ति'। अप्रभुर्दीयमानभक्तादेरस्वामी भृतकादिस्तस्मिन्। अप्रभुत्वाद्दीयमानं तेन न कल्पत इत्यर्थः। स्वामिना तु तद्धस्तेन दाप्यमानं कल्पते एव।२। 'पंड'त्ति। पण्डो नपुंसकस्तस्मिन् दोषाश्चाभीक्ष्णं तद्धस्ताद्भिक्षाग्रहणेऽन्योन्याभिलाषादयः। स हि अतिपरिचयात् क्षोभणेन कामोत्कटकत्वात्साधोर्लिङ्गधावनादि कुर्यात्ततः कर्मबन्धः, सकृद्ग्रहणे च न तथादोषस्तथाऽहो एते नपुंसकादपि गृह्णन्ति' इत्यादि लोके जुगुप्सा स्यात्। अपवादस्तु वर्द्धितचिप्पितमन्त्रोपहतौषध्युपहतऋषिशप्तदेवशप्तादिषु केषुचिदप्रतिसेविनपुंसकेषु ददत्सु भिक्षा ग्राह्या। ३। 'वेविर'त्ति वेपमानः कम्पमानः कम्पमानकायस्तस्मिन्। स हि देयमानं भूमौ परिशाटयेत् तथा साधुभाजनाद्बहिर्भिक्षां क्षिपेत् देयमात्रकं वा पातनेन स्फोटयेत्तथा यद्यसौ दृढभिक्षाभाजनग्राही स्यात्, इतरथा मात्रादि भूमौ पातयेत्, तदा ग्राह्या।४। 'जरिय'त्ति ज्वरित आगततापस्तस्मिन्, दोषाश्चात्र वेपमानसत्कास्तथा जैना आहारलम्पटा ये ज्वरिणमपि न परित्यजन्तीति जने खिसा स्यात्तथा विस्फोटकाद्यशिवज्वरस्य संक्रमोऽपि साधौ स्यात्। यदि सौचा

विस्फोटकाद्यशिवज्वरेत्वरज्वरान्वितस्तदा यतनया ग्राह्या। 'अंध'त्ति अन्धो विगतदृष्टियुग्मस्तस्मिन्। अन्धो ह्यपश्यन् पादाभ्यां भूस्थकीटिकादिघातं कुर्यात् लेष्ट्वादौ च पादाभ्यां स्खलितो भूमौ पतेत्तथा पततो हस्तगृहीतस्थाल्यादेर्भङ्गः स्यात्। साधुपात्रकाद्बहिः क्षेपणे परिशाटिर्जने उड्डाहश्च। तथा तस्यापि देयं यदाऽन्यः पुत्रादिर्हस्ते समर्प्पयेद्, अन्यथा तत्स कथं गृह्णाति, सोऽपि पुत्रादिना धृतो यदि ददाति, अन्यथा सोऽपश्यन् लेष्ट्वादिस्खलितो भूमौ पतेद्देयं वा साधुभाजनाद्बहिः क्षिपेत्, तदा ग्राह्या। 'अवत्त'त्ति अव्यक्तः स्पष्टज्ञानाभावाज्जन्मतो वर्षाष्टकाभ्यन्तरवर्त्ती बाल उच्यते, तस्मिन् बाले हि देयमानमजानति सति मात्राद्यसमक्षं ददति अहो! लुण्टाका एते इत्युड्डाहो, मात्रादेः प्रद्वेषादिकं च स्यादत्राख्यानकं यथा–

अणेगकोडुंबियसंकिन्ने एगंमि गामे एगा भद्दिया नाम अगारी होत्था। तीए डहरिया, एगा दुहिया अहेसि। अन्नया तत्थ समुद्दघोसो नाम सूरिणो विहरंता आगया। तेसिं च एगो सीसो अईव लोभिल्लो भद्दियाए गिहे निच्चं भिक्खट्ठा एइ, अन्नया च तुमं साहुस्स भिक्खं देज्जसु त्ति नियसुयं पन्नविय भद्दिया खेत्तं गया। आगओ सो साहू जावइओ ओयणो जणणी देंती तावइओ तीए तस्स दिन्नो। तेण लोभवसा भणियं, पुणो वि देहि, तीए मुद्धत्तणेण पुणो वि सो दिन्नो। एवं मुग्गकरंबाइयं दिन्नं जाव सव्वं कंजियं ति। आगया भद्दिया भोयणट्ठमुवविट्ठा य भणिया य तीए सुया। जहा पुत्ते! ओयणं देहि?। तीए भणियं से सव्वो साहुस्स दिन्नो। भद्दियाए भणियं सुट्ठं कयं मुग्गं आणेहि, तीए वुत्तं तेवि सव्वे साहुणो दिन्ना। एवं जाव सव्वं कंजियं दिन्नं। भद्दियाए भणियं कीस सव्वं दिन्नं? तीए दाणवुत्तंतो कहिओ तउ भद्दिया अभद्दिया जाया। साहुस्स उवरि पउट्ठा। आगया आयरियस्स समीवं भणियमणाए जहा एसो तुम्ह सीसो अईवलोहिओ लूहिऊण, अण्णाइयं सव्वं मज्झगेहाओ आगओ। ता किं धाडिदा-

यगो एसो इचाइ, लोगो मिलिओ उड्डाहो जाओ। लुंटागा एए हवंति त्ति लोए वाओ जाओ। तउ आयरिएहिं तीए कोवोवसमण-
त्थं पेच्छंतीए चेव उवगरणं उड्डालिउण सकोवं सो साहू भणिओ, जहा जो तुमं एवंविहाऽनीईकारओ तेण अम्हाणं न किंचि
कज्जं, नीहरह त्ति, तउ तीए उवसंतो कोवो। पच्छत्तावाऊरियहिययाए भणिया सूरिणो भयवं! एयमवराहं मम खमह। ते खमा-
विऊण गया सा सगिहं ति। तथा बालोऽपि यद्यसौ दक्षः स्यात्, मातुः परोक्षं स्तोकं च ददाति, तदा त्वं मात्रेदं दापित इत्यादि
पृच्छां विना तद्धस्ताद् गृह्यते स्तोकदेयतयोक्तदोषासम्भवात्, स्तोकदानेऽपि दोषसम्भवेऽसौ (पृच्छा) कार्या। यदि च मातुः परोक्षं
प्रचुरमसौ ददाति तदाऽवश्यं सा (पृच्छा) कार्या। ततो मातृसत्का प्रचुरमुत्कलना चेत्तदा गृह्यते नान्यथा। पार्श्ववर्त्तिन्या मात्रा पुत्रि!
साधवे देहीत्युक्ते च यद्यसौ तत्समक्षं स्तोकं प्रभूतं वा ददाति (तदा) पृच्छां विनापि गृह्यते।७। तथा मत्तो मदिरापानोत्थमद
विह्वलस्तस्मिन्। अयं हि साधोरालिङ्गनमाहननं पात्रभेदं वा कुर्यात्। तथाऽशुचित्वात्तस्माद्भिक्षाग्रहणे जनखिसा स्यात्। तथा यद्यसौ
मनाग्मत्तोऽन्यथाऽतिविह्वलः सन् दातव्यादातव्यविभागं न जानाति, सोऽपि चेच्छ्राद्धः, इतरो ह्यस्यार्थस्य लोके प्रकाशनात्प्रवचने
खिंसकः स्यात्, सोऽपि चेच्छुचिहस्तोऽसमयज्ञजनरहिते स्थाने च दद्याद्, अन्यथा प्रवचनखिंसा, तदा तद्धस्ताद् गृह्यते नान्यथा।
८। उन्मत्तो महासङ्ग्रामादिजयाद्दर्पाध्मातो ग्रहगृहीतादिश्च तस्मिन्। इहापि आलिङ्गनाहननभाजनभङ्गकरणगालीप्रदानादयो दोषा
ज्ञेयाः। तथा यद्यसौ धर्मप्रियः शुचिश्च स्याद्, अन्यथा प्रवचनखिंसकः स्यात्, तदा ग्राह्या।९। तथा करचरणौ हस्तपादौ छिन्नौ
कर्त्तितौ यस्येति विग्रहे वाऽऽहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्निष्ठान्तस्य पूर्वनिपाताभावे करचरणच्छिन्न इति स्यात्। करछिन्नश्चरणछिन्न-
श्चेति द्वयं तस्मिन्। तत्र छिन्नकराद्भिक्षाग्रहणे मूत्राद्युत्सर्गादौ जलशौचाभावेऽशुचित्वाल्लोकनिन्द्यत्वाच्च जनखिंसा, दानासमर्थत्वाद्दे-

यमात्रकयोः पातं च कुर्यात्। छिन्नपादश्च स्वयं पतेत् जनखिंसा च, तथा छिन्नकरोऽप्यपरिशाटिमदशावदसागारिकस्थाने दद्यात् ।१०। छिन्नपादोऽप्युपविष्टोऽसागारिकस्थान एव वा चेत्तदा गृह्यते ।११। प्रगलितो गलत्कुष्ठस्तस्मिन् अत्यर्थं गलदर्द्धपक्वरुधिरे स्फुटितदेहे च ददति साधोरपि कुष्ठसंक्रमः स्यात्। तदीयोच्छ्वासत्वक्संस्पर्शस्वेदमलमूत्रोच्चाराहारलालादिभिः शरीरान्तरे तत्संक्रमस्य शास्त्रेऽभिहितत्वात्ततो न ग्राह्या। तथाऽत्रापि त्वग्दोषिणि यदि धृत्तदद्रुरूपस्त्वग्दोषः स्यात्, सोऽप्यसागारिकस्थाने, तदा ग्राह्या ।१२। तथा 'नियलंडुय' त्ति सूचनान्निगडहस्तान्दुकबद्ध इति। तत्र निगडैः पादविषयलोहमयबन्धनैर्हस्तान्दुकेन वा करविषयकाष्ठमयबन्धनेन बद्धो नियन्त्रितस्तस्मिन्, पादनियन्त्रितो हीतश्चेतश्च पर्यटन् बाध्यते पतद्वा जनखिंसा च। हस्तबद्धस्तु भिक्षां दातुमपि न शक्नोतीति तत्र प्रतिषेधः सिद्ध एव, केवलं स्वरूपविशेषणतया बद्धप्रसङ्गादेतद्ग्रहः। अत्रापि यदि निगडबद्ध इतश्चेतश्च पर्यटनसमर्थः पर्यटनाशक्तश्चोपविष्ट एव असागारिके चेद्दद्यात्तदा ग्राह्या ।१३। तथा पादुकयोः काष्ठमयोपानहोरारूढश्चटितः पादुकारूढः तस्मिन् ददति न गृह्णन्तीति, अयं हि दुःस्थिततया ददद् भूमौ पतेत् पतंश्च कीटिकादीन् विराधयेत्। तथा यद्यसौ स्थानस्थो ददाति, स हि चलन् कदाचित् पातयेत्, तदा ग्राह्येति गाथार्थः ।१४॥८५॥

खंडइ पीसइ भुंजइ, कत्तइ लोढेइ विक्किणइ। पिंजे दलइ विरोलइ, जेमइ जा गुव्विणि बालवच्छा य ॥८६॥

व्याख्या—अत्र वक्ष्यमाण-'या' शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ततश्च या काचित् स्त्री कंडयति उदुखले करटयादिकं छडयति, तस्यां ददत्यां मुनयो भिक्षां न गृह्णन्तीत्युत्तरेण सर्वत्र योगः। इयं हि उदूखलक्षिप्तशाल्यादिबीजसङ्घट्टनादि करोति भिक्षादानात्पूर्वमुत्तरकालं वा जलेन हस्तधावनात् पुरःपश्चात्कर्म्मदोषं चेति। इह च कण्डनादिव्यापारस्य स्त्रिया उचितत्वाद्दानप्रवृत्तौ प्राय-

स्तासां मुख्यत्वाच्च कण्डतीत्यादिक्रियाः प्रतीत्य यच्छब्दे स्त्रीलिङ्गनिर्देशं कृतवानिति । एवं उत्तरत्रापि दृश्यं । तथाऽत्रापि यदा कण्डनायोत्पाटितं मुशलमत्रान्तरे साधुरायातस्तच्च यदि मुखदत्तलोहमयकुण्डलिकारूपायां कांच्यामलमकरच्यादिबीजं पाताद्यनर्थरहितगृहकोणादौ तु मुक्त्वा ददाति तदा कल्पते ।१५। तथा पिनष्टि शिलायां जलार्द्रसचित्तमुद्गादिसत्कदाल्यादि तिलामलकक्कुस्तुम्बुरुलवणजीरकादि वा मृद्नाति वर्त्तयतीति यावत् । तत्र च काचिन्नखिका मुद्गादिर्वा तिलादिर्वा सचित्तः सम्भवतीति तत्सङ्घट्टो, भिक्षाखरण्टितहस्तयोश्च जलेन प्रक्षालने पुरःकर्म्मादिदोषश्च, तथा पिंषन्त्यामपि जलार्द्रसचित्तमुद्गादिसत्कदाल्यादिपेषणसमाप्तौ यदि ददाति, त्रिश्छटं तंदुलादि वा पिंषन्ती यदि स्यात्तदा ग्राह्या ।१६। तथा 'भुंजइ'त्ति भृज्जति रतितुल्यं(चुल्ल्यां) कडिल्लकादौ चणकगोधूमादीन् स्फोटयति, भर्ज्जमानाया हि भिक्षां ददत्या वेलालग्ना(गनेन) कडिल्लकादिप्रक्षिप्तचणकगोधूमादेर्दाहेऽप्रीत्यादिभावात्, तथैतस्यामपि यत्सचित्तं गोधूमादिकं कडिल्लके क्षिप्तं तद्भृष्ट्वोत्तारितमन्यन्नाऽद्यापि हस्ते गृहीतमेतस्मिन् प्रस्तावे साधुरायातस्ततो यद्युत्तिष्ठति तदा गृह्यते ।१७। 'कर्त्तयति कृणत्ति वा' चक्रेण रूतप्रोणिकां सूत्रतया विदधाति ।१८। 'लोठयति' लोठिन्यां कणकेन(शलाकया) कर्प्पासं रूततया विदधाति ।१९। 'विकृणुते' विकीर्णयति वा रूतं कराभ्यां पौनःपुन्येन श्लक्ष्णयति ।२०। 'पिञ्जयति' पिञ्जनेन रूतं मृदु करोति । इह कर्त्तनादिकर्त्री देयलिप्तहस्ता सती हस्तधावनरूपं पुरःकर्मादि कुर्यात् । तथा लोठयन्त्या हस्ते सचित्तकर्प्पासः स्यात्कार्पासिकांश्च पादादिना सङ्घट्टयति । तथा चतसृष्वपि चायं ग्रहणविधिस्तत्र कर्त्तयन्त्यां यदि श्वेतताऽतिशयोत्पादनाय शङ्खचूर्णेन हस्तौ न लिप्तौ स्यातां, लिप्तौ वा चूर्णेन यदि निःशूकतया शुच्यर्थं जलेन न धावति पुरः पश्चाद्वा, तदा गृह्यते । लोठयन्त्यां च यदि हस्ते धृतः कर्प्पासो न स्यात्कार्पासिकान्वा यद्युत्तिष्ठन्ती न घट्टयति तदा गृह्यते । विकृण्वन्त्यां पिञ्जयन्त्यां च

स्याद्दत्ता गृह्यते ।२१। तथा 'दलयति' घरट्टे सचित्तमुद्गगोधूमादीँश्चूर्णयति पिनष्टीति यावत् ।
यदि हस्तधावनादिना पुरःकर्म्मादि न स्यात्तदा गृह्यते ।२१। तथा दलयन्त्यामपि सचित्तमुद्गादिना दलयमानेन सह
दलयन्त्यां हि घरट्टक्षिप्तबीजसङ्घट्टादि, हस्तधावने जलविराधना चेति। तथा दलयन्त्यामपि सचित्तमुद्गादिना दलयमानेन सह
दलयन्त्यां हि घरट्टक्षिप्तबीजसङ्घट्टादि, हस्तधावने जलविराधना चेति। अचेतनं वा भर्ज्जितमुद्गादिकं दलयन्ती यदि स्यात्, पुरःकर्म्मादि च न
घरट्टो मुक्त एतत्प्रस्तावे साधुरायातस्ततो यद्युत्तिष्ठति, अचेतनं वा भर्ज्जितमुद्गादिकं दलयन्ती यदि स्यात्, पुरःकर्म्मादि च न
कुर्यात्तदा ग्राह्या ।२२। तथा 'विरोलयति' मन्थानकरादिना दध्यादि मथ्नाति। तद्धि कदाचित् संसक्तं स्यात्ततश्च तद्विरोलने उल्लीरूपै-
केन्द्रियादियुक्तलिप्तकरत्वात्तद्विधःस्यात्तथा विरोलयन्त्यामपि यदि दध्याद्येकेन्द्रियाद्यसंसक्तं मथ्नन्ती स्यात्, तद्धि क्वचिद्देशे-
ऽतीव संसज्यते, तदा गृह्यते ।२३। तथा 'जेमति' अभ्यवहरति, जेमन्ती हि यदि भिक्षादानार्थमुत्थाय जलेन शौचं करोति तदाऽप्काय-
विराधना, हस्तोत्सृष्टा ददाति तदा लोकगर्हा उत्सृष्टमप्येते न त्यजन्तीति तत्र च महादोषो, यत उक्तं-'छक्कायदयावंतो वि
संजउ दुल्लहं कुणइ बोहिं। आहारे नीहारे दुगंच्छिए पिंडगहणे य' ॥१॥ तथा अत्रापि यद्यनुत्सृष्टा सती यावन्मुखे कवलं
नाद्यापि क्षिपत्येतत्प्रस्तावे साधुरायातस्तदा गृह्यते ।२४। तथा या काचित्स्त्री गुर्व्विण्यापन्नसत्त्वा स्यात्तस्यां हि भिक्षा-
दानार्थमूर्ध्वीभवत्यां भिक्षां दत्त्वाऽऽसने उपविशत्यां च गर्भस्य बाधा स्यात्। तथा गुर्व्विण्या अपि मासाष्टकवर्त्तिगर्भाया
हस्ताद् गृह्यते नवमवेलामासगर्भायाश्च नेति। स्वभावस्थितया तयाऽपि दीयमानां गृह्णन्ति। स्थविरानाश्रित्येयमनुज्ञा। जिनकल्पि-
कादीनाश्रित्य च निरपवादत्वात् सर्वनिषेधो यतस्ते सूत्रेण ज्ञात्वा गर्भाधानदिनादारभ्य नवापि मासान् परिहरन्ति ।२५। तथा
बालवत्सा स्तनजीविशिशुका तस्या हि भिक्षां ददत्या बालं भूमौ मुक्त्वा शशकादिपिशितपिण्डोऽयमिति तं भूमिस्थं श्वबिरालादि-
र्विनाशयेत्। तथाऽऽहारेण खरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ कर्कशौ स्याताम्, ततश्च भिक्षां दत्त्वा पुनर्दात्र्या गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा

स्यात्तथाऽत्रापि स्थविरकल्पिका बालवत्सायाः स्तन्याशनादिजीविशिशुकाया हस्ताद् गृह्णन्ति यदि बालः स्तनं धयन्नधयन्वा तथा मुक्तो न रोदिति, रुदति च तस्मिन्नेति । केवलस्तन्यजीविशिशुकया च स्तनपानाद्बाले मुक्ते रुदत्यरुदति च तद्धस्तान्नेति । अपिबति च तया निक्षिप्ते ऽरुदति च स्तन्यजीविन्यपि तद्धस्ताद् गृह्णन्ति, रुदति च नेति । जिनकल्पिकादयश्च यावद्बालः केवलस्तन्यपायी तावत्तं मुक्त्वा ददत्या निरपवादात्तद्धस्ताद् भिक्षां न गृह्णन्ति । अयमत्र विभागः । केवलस्तन्यजीविनि पिबत्यपिबति च निक्षिप्ते रुदत्यरुदति च न गृह्णन्ति । स्तन्याशनादिजीविनि च पिबति निक्षिप्ते रुदत्यरुदति च न गृह्णन्ति । अपिबति मुक्तेऽरुदति गृह्णन्ति, रुदति च नेति ।२६। चः समुच्चये इति गाथार्थः ॥८६॥

तह छक्काए गिण्हइ, घट्टइ आरंभइ खिवइ दट्ठु जइं । साहारणचोरियगं देइ, परक्कं परट्ठं वा ॥८७॥

व्याख्या—तथेति वाक्योत्क्षेपे 'या' इति पदं सर्वत्रेहापि सम्बध्यते । ततश्च या काचिन्महिला षट्कायान् लवणोदकाग्निवातपूरितदतिपर्ववीजपूरादिपूतरकमत्स्यादिरूपान् षड्जीवनिकायान् गृह्णाति हस्ते धारयति, तस्यां ददत्यां न गृह्णन्ति, षट्कायस्य पीडादिदोषसद्भावादेवमुत्तरद्वारत्रयेऽप्ययं हेतुर्दृश्यः ।२७। तथा 'घट्टयति' प्रक्रान्तान् षट्कायान् शेषशरीरावयवशिरउरःकर्णादिस्थान् संघट्टयति चालयतीति यावत् । तथा पादाभ्यां या तानेव चालयतीत्यपि दृश्यं । तत्र सिद्धार्थकतत्पुष्पाण्याद्रदूर्व्वाराजिकाशतपत्रिकादिपुष्पाणि वा शिरःस्थानि, अम्लानमालतीमालादीन्युरःस्थानि, बदरकरीरजपाकुसुमादीनि आभरणतया कर्णस्थानि, परिधानाद्यन्तर स्थापितसरसवृन्तताम्बूलपत्रादीनि शरीरस्थानि या धारयति, तस्यां शरीरन्यस्तपुष्पादिकायां ददत्यां दात्र्यां न गृह्णन्ति ।२८। तथा 'आरभते' षट्कायान् विनाशयति । तत्र पृथ्वीकायं कुश्यादिना खनन्त्यारभते । मज्जनवस्त्रादिधावनगवादिसेचनादीनि च कुर्वत्य-

ष्कायं। उल्मुकघट्टनादिना अग्निं ज्वलयन्ती तेजस्कायं, चुल्ल्यां तमेव फुत्कुर्व्वाणा वायुं, चिर्भिटादिच्छेदनेन सूर्प्पादिना मुद्गादि-शोधनेन च वनस्पतिकायं, पीडयोद्वेल्लतो मत्स्यादिमत्कुणादीन् व्यथयन्ती त्रसकायमारभते ।२९। तथा दृष्ट्वा व्यवलोक्य यतिं साधुं, तस्मै भिक्षादि दानाय षट्कायान् शरीरस्थान् या क्षिपति भूम्यादौ मुञ्चति ।३०। तथा 'साधारणं' बहुजनसाहिकं या ददाति। तस्यां दातुर्वा स्वामी निग्रहादिकं कुर्यात् ।३१। तथा 'चोरितकं' चोरिकया गृह्णन्ति। साधोर्ग्रहणाकर्षणधर्माधिकरणनयनादिदोषभावात्। ददत्यां न गृहीतं द्रव्यं लड्डुकादि या ददाति प्रयच्छति, तस्मिन् हि स्वामिवञ्चनेन कर्मकरेण अप्रभुवधूटीभ्रातृजायादिना वा श्वश्रू-ननान्द्रादिवञ्चनेन दीयमाने साधुना च गृह्यमाणे साधोर्दातुर्वा बन्धनादिः स्यात् ॥३२॥ तथा 'पराक्यं' परकीयमिदमिति सत्यमेव जल्पित्वा गोस्वामिकविषयासङ्ककेन (?) ददाति तत्र ग्राह्यमदत्तादानान्तरायादिदोषात् ।३३। तथा परस्येदं परार्थं, तत्र परोऽन्यः साधुः कार्पटिकादिकस्तन्निमित्तं यद्दानाय कल्पितं साधवे ददाति तत्परमार्थतो यदर्थं स्थापितं तत्सत्कत्वान्न गृह्णन्ति ॥३४॥ वा समुच्चये इति गाथार्थः ॥८७॥

तथा—

ठवइ बलिं उव्वत्तइ, पिठराइ तिहा सपच्चवाया जा। देंतेसु एवमाइसु, ओघेण मुणी न गिण्हन्ति ॥ ॥९१॥

व्याख्या—इहापि 'या' इति पदं सम्बन्धनीयं। ततश्च या काचित्स्त्री 'ठवइ बलिं'ति बलिरग्रकूरसंज्ञित उपहारस्तं स्थापयति साधु-दानाय प्रवृत्ता सतीति, मूलस्थाल्या आकृष्य स्थगनिकादौ मुञ्चति, तत्स्थालीभक्तं ददती वर्जनीयेत्यर्थः, तत्र प्रवर्तनादिदोषभावात् ।३५। तथा 'उव्वत्तइ पिठराइ'ति तत्र पिठरादि कांजिकिन्यादिकं(?) भाजनं। तत्तन्मध्यस्थितवस्तुदानायोद्वर्त्तयति भूमौ स्थितं

नमयति। उपलक्षणत्वान्महत्पिठरादिकमुत्क्षिपति चेति दृश्यं। तत्र चोद्वर्त्यमाने कीटिकामत्कोटकादेर्वधः स्यादूर्ध्वोत्पाटनाच्च सत्त्ववधः, दात्र्याः पीडा, भाजनभङ्गादि च स्यात् ॥३६॥ तथा त्रिधा त्रिभिः प्रकारैरूर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणैः सप्रत्यपाया सम्भाव्यमानाभिघाताद्यनर्था या काचिन्नारी स्यादयमर्थः-भिक्षां ददत्या यस्या दात्र्याः क्रमशः उत्तराङ्गकाष्ठादेः कण्टकादेर्गर्त्तादेः सकाशादूर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपाः प्रत्यपायाः सम्भाव्यन्ते, तस्यां ददत्यां न गृह्णन्ति।३७। ननु साधारणस्य निसृष्टदोषत्वात् परार्थे स्थापितस्य च स्थापनादोषवत्वात् पिठराद्युद्वर्त्तनस्य संहृतदोषवत्वादेतदुपादानमयुक्तं, नैवं, पूर्वं दोषप्रस्तावेन, इह दातृप्रस्तावादुक्तमिति, न चैकस्यापि वस्तुनोऽनेकदोषोपनिपातो नोपपद्यते, अस्य न्यायस्य तत्र तत्र प्रवेशत्वात्। एवमन्यत्रापि लक्षणसाङ्कर्ये प्रत्युत्तरं वाच्यमिति। तथा भक्त्या यतिशरीरोपष्टम्भार्थं साधुनामित्थं न कल्पते इत्येतज्जानानः कश्चिदाधाकर्म्मादिमध्याद्यथासम्भवमन्यतमं दोषं कुर्यात्, कश्चित् प्रत्यनीकतया अनेषणीयाऽग्रहणनियमभञ्जनार्थं, यतेश्चेत्थं न कल्पते इत्येतदजानानः ऋजुतयैव कुर्यादित्युपलक्षणत्वाज्ज्ञायकाऽज्ञायकदातृद्वयमपि दृश्य।३८। एवं दायकानभिधाय साध्यार्थकथनायाह। 'देंतेसु एव माइसु' त्ति स्त्रीपुरुषाविवक्षया सामान्येन ददत्सु प्रयच्छत्स्वेवमादिष्वनन्तरोक्तस्थविरादिषु सप्रत्ययान्तेषु दातृषु, विशेषविवक्षायां स्थविरादौ ददति दातरि ददत्यां वा दात्र्यामिति योज्यमोघेन सामान्येनोत्सर्गेणेत्यर्थः, मुनयो यतयो न गृह्णन्ति, नाददनेऽशनादीति शेषः। सामर्थ्यात् स्थविरादिविपरीतेषु ग्राह्यं। तत्र स्थविरस्य विपरीतो युवा। स च षोडशवर्षेभ्य उपरि यावच्चत्वारिंशद्वर्षाणि तावत्स्यादित्यादि भावनीयम्। तथेहोघेनेति वदन्नुत्सर्गेण स्थविरादिषु ददत्सु न गृह्यतेऽपवादेन तु ग्लानादिकार्ये स्थविरादिदातृभ्योऽपि हस्तात् कथञ्चिद् गृह्यते, कथञ्चित्तु नेत्याचष्टे। तच्च यथास्थानं दर्शितमेवेति गाथार्थः॥८८॥

उक्तं दायकद्वारमथोन्मिश्रद्वारं व्याचिख्यासुस्तल्लक्षणं तद्गतं कल्प्याकल्प्यविधिं चाह ।

जोग्गमजोग्गं च दुवे वि मिसिउं देइ जं तमुम्मीसं । इह पुण सचित्तमीसं, न कप्पमियरंमि उ विभासा ॥

व्याख्या—योग्यं साधुदानायोचितं पूरणौदनकरंबकादि, तथा अयोग्यमकल्प्यतया साध्वनुचितं सचित्तं, मिश्रं दाडिमकलिकाम्रादि खण्डलवणादिदानाद्, अचित्तं तुषादि वा, चः समुच्चये । द्वे अपि द्विसङ्ख्ये अपि वस्तुनी नत्वेकं किञ्चिन्मिश्रणस्योभयाश्रितत्वादित्यपेरर्थः । मिश्रयित्वा एकीकृत्य ददाति साधवे प्रयच्छति । यद्यस्मात्तस्मात्तद्भक्तादि, उत्प्रावलेन मिश्रीकृत्य दीयमानत्वादुन्मिश्रमुच्यते । उन्मिश्रणं चेहाचित्तद्रव्ययोरपि मीलनमात्रमेव ज्ञेयं न तु करवीकरणं तस्य कृतौद्देशिकतया प्रागभिधानात् । इह च योग्ये वस्तुनी अनेन निमित्तेन किल केवलं दीयमानं स्तोकं स्यादिति लज्जया, पृथग्दाने वेला लगतीत्यौत्सुक्येन, मीलितं मिष्टं स्यादिति भक्त्या, अनाभोगेन वा, सचित्ताभक्षणनियमभङ्गो भवत्वेतेषामिति प्रत्यनीकतया चोन्मिश्रं ददाति । इहापि च चत्वारो भङ्गा भवन्ति यथा सचितमिश्रे सचित्तमिश्रमुन्मिश्रितं । तत्र सचित्तमिश्रे नारङ्गखण्डादौ सचित्तमिश्रं दाडिमकलिकादि लवणादि वा । पूर्वोक्तकरणेनोन्मिश्रितमित्यर्थः । तथा अचित्तमिश्रे (सचित्तमिश्रं) २ सचित्तमिश्रेऽचित्तं ३ अचित्तेऽचित्तमुन्मिश्रितमिति ४ । अत्र कल्प्याकल्प्यविधिमाह । इह पुनरित्यादि, इहोन्मिश्रिते पुनः शब्दः संहृतोऽन्मिश्रयोर्वैशिष्टयख्यापनार्थः । एतच्चोपरिष्टाद्दर्शयिष्यामः । सचित्तमिश्रं बीजकन्दहरितादि तन्मिश्रं देयद्रव्यं च, किमित्याह । न नैव कल्प्यं ग्रहीतुमुचितं यतीनामेतेनादिभङ्गत्रिके ग्रहणनिषेध उक्तो, ग्राह्यमेव सचित्तं स्यादित्यादिदोषात् । इतरस्मिंस्तु चरमभङ्गकाश्रितेऽचित्तमिश्रिते देये पुनर्विविधा भाषा भाषणं विभाषा । संहृतद्वारोक्तचतुर्थभङ्गविषयस्तोकबहुपदोत्थचतुर्भङ्गकरूपा भजनारूपा च विकल्पना कार्या तेनेहापि शुष्कार्द्रद्र-

न्ययोरुन्मिश्रणं द्रष्टव्यं । ततः स्तोके स्तोकं, बहुके स्तोकमचित्तमुन्मिश्रितमिति प्रथमतृतीयभङ्गयोर्यद्युत्क्षिप्य स्तोकाधारेण भोजनेन ददाति तदा कल्प्यता । स्तोके बहुकं, बहुके बहुकमुन्मिश्रितमित्यनयोरकल्प्यता, दातृपीडादिपूर्वोक्तदोषात् । ननु संहृतोन्मिश्रयोः सचित्तादिवस्तुनि सचित्तादिवस्तुनो निक्षेपादन्योन्यं कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते, संहृते भिक्षादानार्थं [द्रव्यादि] मात्रकस्थितं [च] द्रव्यमयोग्यं दाडिमकलिकादि तुषादि वाऽन्यत्र स्थगनिकादौ सञ्चार्य्य तेनैव रिक्तीकृतभाजनेन कूरादिकं साधवे ददाति, उन्मिश्रिते तु योग्यायोग्ये द्रव्ये यत्र भाजने ते द्वे अपि मिश्रिते तदवनामनेन तेनैवान्येन वा भाजनेन ददातीत्युभयोर्विशेषः पुनःशब्दसूचितो ज्ञेय इति गाथार्थः ॥८९॥

उक्तमुन्मिश्रद्वारमथापरिणतद्वारमाह ।

अपरिणयं दव्वं चिय, भावो वा दोण्ह दाण एगस्स । जइणो वेगस्समणे, सुद्धं नन्नस्स परिणमियं ॥९०॥

व्याख्या—इहापरिणतं साध्यं वस्तु तच्च द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, पुनर्भावापरिणतं दातृग्रहीतृयोगात् द्विधैव । तत्र द्विधाऽपरिणतं तावदाह । 'अपरिणयं दव्वं चिय'त्ति, अपरिणतमनपगतजीवं सचेतनमित्यर्थः । द्रव्यमेव देयस्वरूपं पृथिव्यादिकं यो दाता ददाति । यश्च गृह्णाति तदपरिणतत्वधर्म्मयोगाद् द्रव्यापरिणतमुच्यते । दोषाश्च सचित्तग्रहणाज्ञाभङ्गादयो वाच्याः । दातृविषयं भावापरिणतमाह । भावोऽध्यवसायो दानपरिणाम इत्यर्थः । वा विकल्पे । द्वयोर्द्विसङ्ख्ययोर्दात्रादिस्वामिनोर्मध्यादुपलक्षणत्वाद् बहूनां च साधारण-स्वाशनादेर्दाने वितरणे एकेन क्रियमाणे एकस्य दात्रपेक्षया द्वितीयस्य भ्रात्रादेरित्यर्थः यत्रापरिणतोऽभवनशीलो भवतीति शेषः तद्दातृभावापरिणतं, अयमर्थः—दातुः पितृभ्रातृस्वाम्यादिभिः साधारणेऽशनादौ यद्दाता, यच्छाम्येतत्साधवे इतिदानपरिणामयुक्तो

ददातीतरेषां च तद्दातुर्दानादधिकरणमनुजभ्रात्रादीनां तस्मिन् तेन दीयमानेऽपि चित्तसंक्लेशः स्यात् तद्दातृविषयभावापरिणतं ।
अस्य साधारणानिसृष्टस्य च दायकसमक्षासमक्षत्वकृतो विशेषः, दोषाश्चात्र साधारणानिसृष्टोक्ता ज्ञेयाः । ग्रहीतृविषयं भावापरिणत-
माह । 'जइणो' इत्यादि भिक्षार्थं सङ्घाटकरूपेण गृहे गतयोः साध्वोर्यत्तन्मध्यादेकस्य कस्यचिद्यतेः साधोरेतल्लभ्यमानमशनादि
शुद्धं दोषरहितमिति मनसि चित्ते परिणमितं निर्णीतं, तदेवाशनादि, न नैवान्यस्य कस्यचिद्यतेः साधोः शङ्कायुक्ततया शुद्धत्वेन मनसि
परिणतं तद् गृहीतृभावापरिणतमेतदपि न ग्राह्यमन्योन्यं कलहादिसम्भवादिति गाथार्थः ॥९०॥

उक्तमपरिणतद्वारमथ लिप्तद्वारं विवरीषुस्तत्स्वरूपं तद्गतं विधिविशेषं चाह ।

दहिमाइलेवजुत्तं लित्तं तमगेज्झमोहओ इहयं । संसट्ठमत्तकरसाव-सेसदव्वेहिं अडभंगा ॥९१॥

व्याख्या—इह लिप्तमिति माध्यं । ततो 'दहिमाइ' त्ति मकारस्यालाक्षणिकत्वाद्दध्यादिगोरसदुग्धतीमनप्रभृति तत्खरण्टितं,
कूरादि वा । कीदृशमित्याह लेपयुक्तं लेपवदित्यर्थः । तत्किमित्याह 'लित्तं' ति करमात्रकादिखरण्टनकारित्वाल्लिप्तमुच्यते । तल्लिप्तं
दध्याद्यग्राह्यं साधुना नाऽऽदातव्यं । ओघतः सामान्येनोत्सर्गेनेत्यर्थः । इहास्मिन् प्रवचने, किन्तु सामर्थ्याद् ग्राह्यमलेपकृद्वल्लौदनादिक-
मेव । लेपकृति हि दुग्धादौ गृह्यमाणे दात्र्या तल्लिप्तहस्तादेर्धावने पश्चात्कर्म्मादिर्यते रसगार्द्ध्यं च स्यादलेपकृतोऽग्रहणे तदभावो यते
रसगृद्ध्यभावश्च । तथौघत इति वदता अपवादेन लेपकृदपि ग्राह्यमित्यावेदितं । अत्राह परः—नन्वाहारग्रहणे पश्चात्कर्मपर्यटनाक्लेशादि-
दोषभावाद्यावज्जीवं भोजनं विनैव तपः कुर्वंस्तिष्ठतु किमर्थमाहार एव गृह्यते ? एवं हि मूलदोषोत्थानं निषिद्धं स्यात् । नैवं, निरन्तरं
यावज्जीवमुपवासान् कुर्वतस्तस्य बुभुक्षितत्वेनाशक्ततया वैयावृत्त्यसंयमपालनाऽभावात्, न चैतत्तीर्थे उत्कृष्टतोऽपि षण्मासाभ्यधिकतप इति

क्षीयमाणसामर्थ्यात्। यद्येवं तर्हि निरन्तरं पाण्मासिकं तपो विधाय, तत्परिपूर्णकरणाशक्तौ एकद्व्यादिदिनोनं तदेव कृत्वा, यावच्चतुर्थमपि विधाय सर्वत्र पारणकदिने आचाम्लेन पारयित्वाऽऽचाम्लतपसो हि शुष्कप्रायौदनाद्युष्णोदकाभ्यामुत्कृष्टस्यागमेऽभिधानाद्विपुलनिर्जरासद्भावात्। इत्थमप्यशक्तो प्रतिदिनमाचाम्लमेव करोतु किं लेपकृत्तक्रादिद्रव्यग्रहणेन ? उच्यते। कः किमित्याह। करोत्वित्थं यदि साधोस्तस्मिन्नेव दिने, भविष्यति वा द्वितीयादिदिने प्रत्युपेक्षणादिसंयमयोगहानिर्न भवति। किन्तु सम्प्रति सेवार्त्तसंहननित्वान्न शक्नोत्येवं तपः कर्त्तुमिति। ननु किमुच्यते न शक्नोत्येवं कर्तुं ? किमाचाम्लमपि दुष्करं ? तथाह्यधोऽत्रनिस्थमहाराष्ट्रादिदेशजाः कोशलदेशजाश्च साम्प्रतमपि सेवार्त्तसंहननिनो मनुजा गृहस्था अप्रत्याख्यानिनः सदैव काञ्जिकौदनाभ्यवहारादाचाम्लतपःकारिणस्तिष्ठन्ति। ततश्च यदि तथाभवमेवंविधाहारेणापि निराकुलाः प्राणा(न्) रक्षयन्ति, तर्हि मोक्षार्थित्वेन बहुकष्टसहा यतयस्तुल्याहारि(रे)णाऽऽचाम्लतपसा सदैव किं न धारयन्ति ? तस्माल्लेपकृत्तक्रादेः पश्चात्कर्मादिदोषकारिणो ग्रहणमयुक्तं, नैवं, यतो गृहिणां शीतकालेऽप्याहारोपधिशय्याः, आहारस्य रन्धनानन्तरमेव भोजनकरणादुपधेस्त्वष्टमाष्टमाहप्रक्षालनात् शय्यायास्तु चुल्लीस्थितज्वलनयुक्तत्वाच्च, उष्णाः स्युस्तेनैताभिः शरीरस्यान्तर्बहिश्च तापभावात्तेषां तक्राद्यभावेऽप्याहारपाकभावादजीर्णादिदोषा न स्युर्यतीनां चाहारोपधिशय्याः, उष्णकालेऽप्याहारस्य भिक्षाचर्यायां बहुगृहेषु स्तोकस्तोकलाभेन बृहद्वेलालगनादुपधेस्तु वर्षान्ते एकामेव वेलां प्रक्षालनेन मलिनत्वाच्छय्यायास्त्वग्निरहितत्वेन, शीतलाः स्युस्तेनैतेषां प्रतिदिनमाचाम्लकरणेन तक्राद्यभावाज्जठराग्निनाहारपाकाभावादजीर्णादिदोषाः स्युस्ततश्च न केवलं जठराग्निनाऽऽहारः पच्यते किन्तु लेपकृता तक्रादिनाऽपीत्याहारपरिणत्यबुभुक्षापनोदार्थं यतीनां तीर्थकरादिभिस्तद्ग्रहणमनुज्ञातं। तच्च निरन्तराचाम्लतपःपरिहारेणैव स्यात्तदत्र क्वापि दिने आचाम्लं क्वापि निर्विकृतिकं कार्यमित्यायातम-

त्रापि स्निग्धसरसशालनकानां भोज्यं ग्लानाद्यर्थं गृह्यतेऽन्यथा नेति, प्रायो बहुलेपवत्वाद् गृद्ध्यादिजनकत्वाच्चेति स्थितं। प्रस्तावाद्बहुलेपादिस्वरूपं किञ्चिदुच्यते। इह बहुलेपाल्पलेपालेपभेदात्त्रिधा द्रव्याणि स्युरतस्तत्र दुग्धदधिघृततैलघृताद्युन्मिश्रप्रलेहकक्कबगुडपानखर्जूरक्षीरपेयाजगार्य्यादीनि द्रव्याणि बहुलेपानि स्पर्शे हस्तादीन् प्रचुरं खरण्टयन्तीति कृत्वा, तथा वत्थुलादि(वस्तुलादि)भर्जिकायवागूकोद्रवकूरसूपतक्रतीमनकाञ्जिकादीन्यल्पलेपानि स्पर्शे हस्तादीन् स्तोकं खरण्टयन्तीति कृत्वा, कूरमण्डककुल्माषवल्लचवलकचणकाढकीमसूरमुद्गादीनि द्रव्याण्यलेपानि शुष्कप्रायत्वात् स्पर्शे हस्तादीन् न खरण्टयन्तीति कृत्वा। तदिहालेपमल्पलेपं वा साधुना ग्राह्यं पश्चात्कर्मादिदोषाभावात्। अधुना अलेपादिद्रव्यग्रहणविधिगतं भङ्गाष्टकं निरूपयन्नाह। 'संमट्ठे'त्यादि। तत्र संसृष्टावल्पलेपेन स्वयोगेन खरण्टितौ। मात्रं च करोटिकादिकं भाजनं करश्च दातृहस्तो मात्रकरौ तौ, संसृष्टौ च तौ मात्रकरौ च संसृष्टमात्रकरौ। तथा यस्य साधवे दत्तस्य मध्यात् किञ्चित्स्थाल्यादावुद्धरति तत्सावशेषं द्रव्यं कूरादि। अत्र कर्मधारयस्ततः संसृष्टमात्रकरौ च सावशेषद्रव्यं चेति विग्रहे तानि तथोक्तानि, तैः संसृष्टमात्रं संसृष्टकरः सावशेषद्रव्यं चेति त्रीणि पदानीत्यर्थः। एतैश्च त्रिभिः पदैः स्वप्रतिपक्षयुक्तैरलेपादिद्रव्यग्रहणविधा(त्र)ष्टसङ्ख्या भङ्गा स्युरिह च भङ्गकप्रमाणपरिज्ञानं रचनाक्रमश्च दृश्यते। तत्रेह यावतां पदानां भङ्गाः कार्यास्तावन्तो द्विका अन्योऽन्यं ताडिताः सर्वभङ्गप्रमाणं। रचना तु स्वीयस्वीयसर्वभङ्गानां पर्यन्तवर्त्तिनि पदे ऊर्ध्वाध एकान्तरितौ लघुगुरू स्थाप्यौ। ततो द्विगुणा द्विगुणा लघुगुरवः क्रमशो वामेषु वामेषु पदेषु स्थाप्याः। उक्तं च। "पयसमदुगअब्भासे माणं भंगाण तेसिमिहरयणा। एगंतरियं लहुगुरु दुगुणा दुगुणा य वामेसु"त्ति ॥१॥ तदिह त्रयाणां पदानां सर्वेऽष्टौ भङ्गाः। रचनात्वियं यथा-। । ।, । । ऽ, । ऽ ।, । ऽ ऽ, ऽ । ।, ऽ । ऽ, ऽ ऽ ।, ऽ ऽ ऽ, अत्र ऋजूणामंशानां स्थानीयानि शुद्धानि

वक्राणां त्वशुद्धानि पदानि, तत्राद्ये भङ्गे त्रीण्यपि पदानि शुद्धान्यतः सर्व्वशुद्धोऽसौ अष्टमे त्वशुद्धान्यतः सर्व्वाऽशुद्धोऽसौ, मध्यवर्त्तिनां तु मध्यात्केचिदेकेन केचित्तु द्वाभ्यां पदाभ्यामशुद्धास्ते चाष्टावप्यमी यथा—संसृष्टमात्रं, संसृष्टो हस्तः, सावशेषं द्रव्यं ।१।। संसृष्टमात्रं, संसृष्टो हस्तो, निरवशेषं द्रव्यं ।२।। संसृष्टमात्रमसंसृष्टो हस्तः, सावशेषं द्रव्यं ।३।। संसृष्टमात्रमसंसृष्टो हस्तः, निरवशेषं द्रव्यं ।४। असंसृष्टं मात्रं, संसृष्टो हस्तः, सावशेषं द्रव्यं ।५।। असंसृष्टं मात्रं, संसृष्टो हस्तो, निरवशेषं द्रव्यं ।६।। असंसृष्टं मात्रमसंसृष्टो हस्तः, सावशेषं द्रव्यं ।७।। असंसृष्टं मात्रमसंसृष्टो हस्तो, निरवशेषं द्रव्यं ।८। इति गाथार्थः ।।९१।।

अधुना भङ्गाष्टकविधिं ग्राह्याग्राह्यविधिं छर्द्दितद्वारं (च) विवरीपुस्तल्लक्षणादि चाह।

एत्थ विसमेसु घेप्पइ छड्डियमसणाइ होन्तपरिसाडिं। तत्थ पडंते काया पडिए महुबिंदुदाहरणं ।।९२।।

व्याख्या—अत्रैतेष्वष्टसु भङ्गकेषु मध्ये विषमेष्वसमेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमभङ्गेषु गृह्यते भक्ताद्यादीयते। एतेषु सावशेषद्रव्यत्वेन पश्चात्कर्मादिदोषाभावात्, सामर्थ्यात्समेषु द्वितीयचतुर्थादिषु न गृह्यते। अयमर्थः, इह हस्तो मात्रं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टानि सन्ति, साध्वर्थं वा संसृष्टानि भवन्तु (परं) न तद्वशेन पश्चात्कर्म्म। किं तर्हि ? द्रव्यवशेन। यत्र हि द्रव्यं सावशेषं तत्रैतानि साध्वर्थं खरण्टितान्यपि दात्री न धावति, किं तर्हि ? तत्र द्रव्ये व्यापारयतीति साधवः(ध्वर्थं) पश्चात्कर्म न स्याद्। यत्र तु द्रव्यं निरवशेषं तत्रैतानि तद्द्रव्याधारस्थालीं च साधुदानानन्तरं सा धावतीति साधोस्तत्स्यादेवेति समेष्वकल्पता। गतं लिप्तद्वारं। छर्द्दितद्वारमधुनोच्यते। तत्र छर्द्दितं साध्यं। ततो यदशनादि अशनपानप्रभृति दीयते दात्र्या, कीदृशं सदित्याह 'होंतपरिसाडिं'ति। भवती जायमाना परिशाटिश्छर्द्दनं यस्याशनादेस्तद्भवत्परिशाटि, भिक्षामध्याद् भूम्याद्युपरि तदवयवत्वेन छर्द्दनधर्म्मकं यदित्यर्थः, तच्छ

र्दितं तत्र भिक्षादानाय प्रवृत्तया दात्र्या भिक्षामध्याच्छर्दितं
र्दितमुच्यते। अत्रापि गुरूपदेशाच्चतुर्भङ्गः स्यात्, यथा–सचित्ते सचित्तं छर्दितं, तत्र भिक्षादानाय प्रवृत्तया दात्र्या भिक्षामध्याच्छर्दितं
भूम्यादिस्थसचित्तमृत्तिकादेरुपरि सचित्तलवणादिकं पातितमित्यर्थः। अचित्ते सचित्तं ।२। सचित्ते अचित्तं ।३। अचित्ते अचित्तं ।४।
छर्दितमित्यत्र भङ्गचतुष्टयेऽप्यकल्प्यं, तत्राद्यत्रये(द्वये) ग्राह्यमेव सचित्तं (तृतीये ग्राह्यमचित्तं परं सचित्ते पतितं) स्यादित्यादि-
दोषाश्चतुर्थे चाज्ञाभङ्गाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनादोषादि। अत्र विराधनां विशेषतः सूत्रकारः स्वयमेव दर्शयितुमाह। तत्र तस्मिन्नश-
नादौ साधवे दात्र्या दीयमाने पतति भूमौ छर्द्यमाने सति कायाः पृथ्वीकायादयो विराध्यन्त इति शेषः। एतेन संयमविराधनोक्ता।
अनया च शेषे द्वे अप्युपलक्षिते, तथाहि–तद्भक्ताद्युष्णं शीतलं वा स्यात्तत्र तप्तस्य भूम्यादौ छर्दने दाता ग्राहको वोभयं वा दह्येत।
भूमिस्थसचित्तपृथिव्यादीनामुपरि पातेन तद्दाहः। शीतलभक्तादिपरिशाटौ च तेषामेव विनाशः, इति साधोः स्वदाहेनात्मविराधना,
पृथिव्यादिदाहादिना संयमविराधना, दातृदाहेन प्रवचन(विराधना) भावनीयेति। अथ पतितं द्रव्यमाश्रित्य दोषपरंपरासूचकं ज्ञात-
माह। पतिते छर्दिते मधुबिन्दूदाहरणं। दोषानाश्रित्य माक्षिकलवेनोपलक्षितो दृष्टान्तो वाच्यस्तच्चेदं यथा–

वारत्तपुरं नाम नयरं, तत्थ य अभयसेणो नाम राया। तस्स वारत्तओ नाम अमच्चो सयलरायकज्जचिंतणपरो आसि। अन्नया
य धम्मघोसो नाम साहू भिक्खं अडंतो वारत्तगस्स घरं गओ। तस्स भिक्खादाणट्ठं घयगुलजुयपायसपडिपुन्नं थालं गहाय आगओ
एगो दाणनिउत्तो अमच्चपुरिसो। एत्थंतरे तउ मज्झाउ एगो बिंदू धरणीए पडिओ। छड्डियदोसोत्ति तं मोत्तुं निग्गओ साहू। वार-
त्तगेण मत्तवारणट्ठिएण तं दिट्ठं, किण्णेण एरिसा भिक्खा न गहियत्ति जाव चिंततो चिट्ठइ, ताव बिंदुंमि मच्छियाउ लग्गाउ।
ताणं घरकोइलिया धाविया तीसे सरडो आगओ तस्स य मज्जारो पहुत्तो तस्स य पाहुणगसुणओ पहाविओ। तस्स वत्थव्वगसुणओ

भङ्गाष्टके
कल्प्याक-
ल्प्यं छर्दि-
तद्वारं च

॥९५॥

सम्मुट्ठिओ। दोण्हं पि सुणगाणं भंडणं जायं नियगणियगाणं रक्खणट्ठा दोण्हं पि ताण सामिणो समुट्ठिया। तेसिंपि सपरिवाराणं महाजुज्झं जायं। जाव अणेगाणं सुहडाणं मारामारी जाया। तं सव्वं वारत्तगेण उल्लोयणट्ठिएण दिट्ठं निच्छइयं च जहा नूणमेएण मारामा(रा)दिदोसेण साहुणा भिक्खा ण गहिया इच्चाइ भावंतस्स सुहभावे वट्टमाणस्स जायं जाईसरणं। सयंबुद्धो जाओ। देवयाए उवगरणं सव्वं समप्पियं। जाओ सो समणो अईव महादुक्कराणुट्ठाणकारओ। तउ सम्मं निरइयारं अणुट्ठाणं काऊण काले सिद्धो त्ति गाथार्थः ॥९२॥

उक्ता दशाप्येषणादोषास्तदुक्तौ चाभिहिता द्विचत्वारिंशदपि पिण्डदोषाः, साम्प्रतमेते उद्गमोत्पादनैषणादोषाः क्रमशः स्वस्वसङ्ख्यान्विता यत्समुत्था इत्यावेदयन्नाह।

इय सोलस सोलस दस, उग्गमउप्पायणेसणा दोसा। गिहिसाहूभयपभवा, पंच गासेसणाए इमे ॥९३॥

व्याख्या—इत्येवं प्रदर्शितप्रकारेण षोडश षोडश दश सङ्ख्या यथाक्रमं ये उद्गमोत्पादनैषणाविषया व्यावर्णितस्वरूपा दोषा आहारदूषणानि ते यथासङ्ख्यं गृहिसाधूभयप्रभवा भवन्तीति शेषः। अत्र षोडशाऽप्युद्गमदोषा गृहस्थादुत्पद्यन्ते। गृही प्रायेण तत्कर्तेत्यर्थः। उत्पादनादोषाः षोडशापि यतेरेव सकाशात् प्रादुर्भवन्ति, यतिरेव तान् कुरुते इत्यर्थः। उभयं गृहिसाधुलक्षणं। तस्मात्प्रभवन्ति जायन्ते एषणादोषा गृही साधुश्च तद्विधायीत्यर्थः। तत्र शंकितदोषः साधुभावापरिणतदोषश्चेति द्वौ साधुप्रभवौ शेषा म्रक्षितादयः पुनरष्टाववश्यं गृहस्थादेव स्युरिति। तदेवं विधिना गृहीतस्याप्याहारस्य विधिना ग्रासः कार्य इति ग्रासैषणाया अवसरोऽतस्तद्दोषप्रस्तावनार्थमाह। 'पंच'त्ति, पञ्चसङ्ख्याः पुनर्दोषाः। 'गासेसणाए'त्ति ग्रासो भोजनं तद्विषया एषणा शुद्धाशुद्धपर्यालोचनं ग्रासैषणा

तस्यास्तस्यां वेमेऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणाः संयोजनादयः स्युरिति गाथार्थः ॥९३॥

अधुना तानेव प्रस्तावितान् नामतः, आद्यस्य स्वरूपं चाह।

संजोयणा पमाणे इंगाले धूम कारणे पढमा। वसहि बहिन्तरे वा रसहेउं दव्वसंजोगा ॥९४॥

व्याख्या—संयोजनं संयोजना। गृद्ध्या रसोत्कर्षोत्पादनार्थं द्रव्याणां सुकुमारिकादीनां गुडादिद्रव्यैः सह मीलनमित्यादिरूपा सा क्रियमाणा ग्रासैषणादोषः स्यात्। 'पमाणे' त्ति, प्रमितिः प्रमाणं कवलसङ्ख्यादिना आहारमात्रलक्षणं, एकारः प्रथमैकवचनार्थः। तच्चातिक्रम्यमाणं भोजनदोषो भवेत्। 'इंगाले' त्ति चारित्रेन्धनस्याङ्गाराणामिव करणमिति कारिते अन्त्यस्वरादिलोपे, पुंसि 'संज्ञायां घः' इति घे चाङ्गारश्चारित्रेन्धनदहनसमर्थो रागपरिणामः। एकारः पूर्ववत्। 'धूमे' ति चारित्रेन्धनस्य धूमकरणमिति कारिते, 'मंतुवंतुविना लुक् चे'ति वंतुलोपे अन्त्यस्वरादिलोपे पूर्ववद् घे च धूमश्चारित्रेन्धनस्य धूमायमानताकरणसमर्थो द्वेषपरिणामः। प्रथमैकवचनलोपः छन्दोऽर्थं। 'कारणे'त्ति कार्यते प्राणी कार्यं भोजनाख्यमनेन निमित्तेनेति कारणं निमित्तमेकारः पूर्ववत्। रूपबलाद्यर्थमशनाद्युपभोगः कारणाख्यो दोषः चः समुच्चयार्थो लुप्तो दृश्यते। पञ्च भोजनदोषा भवन्तीति शेषः। तत्रैतेष्वाद्यं व्याख्यातुमाह। 'पढमि'ति, दोषपञ्चकापेक्षया प्रथमाऽऽद्या प्रक्रमात् संयोजना भवति। कथमित्याह वसतेरुपाश्रयाद्बहिर्बहिष्टाद् भिक्षाटनं इत्यर्थो यद्वाऽन्तरे वसतेर्मध्ये, वा विकल्पे। रसहेतो रसोत्कर्षार्थं शोभनास्वादनिमित्तमिति यावत्। द्रव्याणां कूरादीनां लाभे संयोगो रसगृद्ध्या दध्यादीनां संयोजनं मीलनं द्रव्यसंयोगस्तस्मिन् साधुना क्रियमाणे सति प्रथमा भवतीति पूर्व्वेण योगः। अयमत्र भावार्थः—द्विधा संयोजना, भावसंयोजना द्रव्यसंयोजना च। द्रव्यसंयोजना(नया) चेह प्रकृतं। तत्र क्षीरादीनि द्रव्याणि गार्द्ध्यपरिणामेन संयोजयन्ना-

॥९६॥

भावेन द्रव्यगृद्धिरूपाध्यवसायेनात्मना सह कर्म्मणां संयोजना मीलनं त्मनि यया ज्ञानावरणादिकं कर्म्म संयोजयति बध्नाति, सा भावसंयोजनेति। द्रव्यसंयोजना तु द्विधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्र बाह्याभ्यन्तरत्वे भोजनक्रियायाः तेश्च संसारस्य, तेनैव दुःखस्येति भावसंयोजनेति। द्रव्यसंयोजना तु द्विधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्र बाह्याभ्यन्तरत्वे भोजनक्रियायाः क्रमशोऽप्रत्यासन्नताऽऽसन्नते आश्रित्य द्रष्टव्ये। तत्र च रसहेतुकद्रव्यार्थं पर्यटनं १ तेषां पृथक् पात्रे ग्रहण २ मिति द्विधा बाह्या द्रव्यसंयोजना। तां च द्विधामपि वसतेर्बहिर्भिक्षामटन् करोति। यथा कश्चित्साधुर्भिक्षामटन् शाल्यादिकूरं क्षीरं वा प्राप्तवांस्त-त्प्राप्तौ च रसगृद्धिनिमित्तं दधिगुडयोर्गवेषणाय पर्यटति मण्डकमुद्गशाल्यादिप्राप्तौ च सर्प्पिर्दधिस्निग्धपत्रशाकादिशालनकाद्यर्थं पर्यटतीत्येका १, द्वे वा लभ्यमाने भिन्नभिन्नपात्रकेषु स्थापयेत् साधुर्यतोऽधुनैव मीलितानि भोजनवेलायां यावद्भृतानि विरूपरसानि भविष्यन्तीति भोजनं कुर्व्वन् मीलयिष्यामीति विचिन्त्य क्षीरादीनि लभ्यमानानि बहिरेव पृथक् पृथक् भाजनेषु गृह्णातीति द्वितीया २। अभ्यन्तरा पुनर्द्रव्यसंयेजना त्रिधा पात्रकविषया, कवलविषया, मुखविषया चेति त्रिविधामभ्यन्तरां वसतावायातः करोति। तत्र भोजनसमये यत्सुकुमारिकादि येन खण्डादिना सह रोचते तद्रसगृद्ध्या तेनैव सहैकस्मिन्नेव पात्रे संयोज्य स्थापयतीत्याद्या १। यदा तु तत्र तथाभूतं तेनैव सह कवलतया करोति तदा द्वितीया २। यदा तत्तथाभूतमेकं मुखे प्रक्षिप्यान्यत्तथाभूतं तदुपरि प्रक्षिपति तदा तृतीया ३। तदिह वसतेर्बहि द्रव्यसंयोजने बाह्या। वसतावागतेन रसनिमित्तं तस्मिन् क्रियमाणे अभ्यन्तरेति स्थितं। पिण्डप्रस्तावादियं पिण्डविषया दर्शिता। इतरथोपकरणं गवेषयतः साधोश्चोलपट्टकावाप्तौ विभूषाप्रत्ययमन्तरकल्पं याचित्वा परि भुञ्जानस्य बहिरुपकरणसंयोजना। वसतौ चागत्य परिभुञ्जानस्यान्तरुपकरणसंयोजनेत्याद्यपि द्रष्टव्यमिति। इह च रसहेतोरिति विशेषणेन कारणतः संयोजनाऽप्यनुज्ञातेत्यावेदयति, तथाहि-रोगिणः साधोर्यस्य वाऽऽहारेऽरुचिः स्यात्तस्य, तथा प्रधानाहारोचितराज-

पुत्रादेस्तथा साधूचितेन संयोगरहिताहारेण नाद्यापि सम्यग्भावितस्य शैक्षकादेर्वा इयमनुज्ञाता। एतेषां हि शालनकादि विना नैवाहारो रोचत इति गाथार्थः ॥९४॥

उक्ता संयोजना, अथ प्रमाणातिक्रमदोषमभिधित्सुराह।

धिइबलसंजमजोगा, जेण ण हायंति संपइ पए वा। तं आहारपमाणं जइस्स सेसं किलेसफलं ॥९५॥

व्याख्या—धृतिश्च चेतसः स्वास्थ्यमुपलक्षणत्वाज्ज्ञानादिवृद्धिश्च। बलं च वैयावृत्त्यादिकरणक्षमं शरीरसामर्थ्यं। संयमयोगाश्च चारित्रसाधकाः प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादयः साधुव्यापाराः, धृतिबलसंयमयोगास्ते येन यावन्मात्रेणाशनादिना उपभुक्तेन न हीयन्ते न हानिं यान्ति किन्त्वनवरतमुत्सर्प्पन्त एवेति तत्त्वं। कदा न हीयन्ते इत्याह सम्प्रति भोजनादूर्ध्वं तस्मिन्नेव दिने इत्यर्थः। यद्वा प्रगे प्राप्तद्वितीये आगामिदिने इत्यर्थः। वा विकल्पे। कोऽर्थो येनोपभुक्तेन न्यूनतया अधिकतया वा तदैव श्वो वा क्षुधाऽजीर्णादिव्यथाऽसद्भावान्न संयमज्ञानादिहानिर्भवतीति। तत्किमित्याह—तावन्मात्रं संयमधृत्याद्युत्सर्पणकारि आहारे, आहारस्य भक्तपानरूपस्य भोजनस्य, प्रमाणं मानं यतेः साधोरुपलक्षणत्वात्साध्व्याश्च ज्ञेयमिति शेषः। तच्च किल द्वात्रिंशत्कवलरूपमेकत्रिकारकतया एकस्मिन् दिने पुरुषं प्रति द्रष्टव्यं। मध्यमप्रमाणमेतत्। तस्माच्च द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणादेकेन कवलेन द्व्यादिभिर्वा हीयमानं तावत् मध्यमं यावदष्टौ, अष्टौ कवलास्तु जघन्यमिति। उत्कृष्टतस्तु बहवोऽपि कवला भवन्तीति। अष्टाविंशतिः कवला महिलाया आहारमानं। नपुंसकस्य तु ते चतुर्विंशतिः स्युः। परं तस्य प्रायोऽप्रव्राजनीयत्वाद् 'बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ। पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला' ॥१॥ इत्यस्यां गाथायामाहारमानं तं प्रति नोक्तं। अथ कवलानां किं प्रमाणम्? उच्यते

तिपरिहारताख्यापनार्थे.तत्रात्मविराधना मरणादिः, संयमविराधना तु तापनाय तजस्कायादि...

एते इत्यादि जनापवादात् । उपलक्षणत्वादेतदनुसारतः प्रकामादिभोजनत्रयेऽप्येतेऽन्ये च ब्रह्मचर्यविराधनादयो दोषा वाच्याः । तस्मा-द्गुणकारित्वात् प्रमाणोपेतमेव भोक्तव्यं । किं च ये नरा अपथ्यपरिहारिणः, द्वात्रिंशत्कवलभोजिनो वा, द्वात्रिंशतः स्तोकतरभोजिनो वा स्युस्तेऽपरवैद्यचिकित्स्या न स्युः किन्तु ते स्वत एवोक्ताहारनिषेवणादात्मनो वैद्यकल्पा इति प्रमाणयुक्तभोजने विशेषगुणस्ततो ज्ञानादिवृद्धिरिति गाथार्थः ॥९६॥

उक्तः प्रमाणदोषः, साम्प्रतमङ्गारधूमाख्यं दोषद्वयं युगपद्व्याख्यातुमाह ।

अंगारसधूमोवम, चरणिंधणकरण भावओ जमिह । रत्तो दुट्ठो भुंजइ, तं अंगारं च धूमं च ॥९७॥

व्याख्या—इह काष्ठादिकमिन्धनम्, अग्निदग्धं निर्धूमं ज्वलदग्निरूपमङ्गार इत्यभिधीयते । तथा सह धूमेन सधूमं, तदेवेन्धनमङ्गारभावमप्राप्तं दाहक्रियामनुभवद्यावदर्द्धदग्धं तावद्धूमसद्भावात्सधूममुच्यते । ततोऽङ्गारश्च सधूमं च अङ्गारसधूमं द्रव्येन्धनं तेन उपमा औपम्यं सादृश्यं यस्य तच्चरणेन्धनं च । तत्र चरणं चारित्रं तदेवेन्धनं बालनं दाह्यत्वाच्चरणेन्धनं, तस्य करणं विधानं, तस्य भावः सद्भावस्तस्माच्चारित्रेन्धनस्याङ्गारसधूमसदृशकरणतयेत्यर्थः । अयमर्थो यथाहि द्रव्येन्धने, दाह्यं दाहकस्तत्साध्यं कार्यं चेति त्रितयं भवति । तथा भावेन्धनेऽपि दाह्यं दाहकस्तज्जन्यं कार्यं च वाच्यं, तत्र द्रव्येन्धने काष्ठादिबालनं दाह्यं दाहकोऽग्निस्तत्साध्यं च धू(मा)यमानताऽङ्गारतालक्षणं, भावेन्धने चारित्राख्यं दाह्यं, रागद्वेषपरिणामश्च साधोरशनादिगोचरोऽग्निर्दाहकः, तत्साध्यं च कार्यं धूमायमा-

मानं वेति। तत्र त्रयस्त्रिंशदादिभिः कवलैः भोजनमेकस्मिन्नेव दिने कृतं प्रकाममित्युच्यते।तच्च केवलप्रकामत्वेनैतैरगलत्स्नेहबिन्दुभि-
ज्ञेयम्। यदि तु गलत्स्नेहबिन्दुभिः स्यात्तदा प्रकामः प्रणीतश्च दोषौ स्यातामेवं शेषदोष(षेषु)दोषसङ्करत्वमपि भावनीयं १। तथा
प्रकामभोजनमेव द्व्यादिदिनेषु क्रियमाणं निकाममुच्यते २। उत्पाद्यमानकवलेभ्यो गलद्घृतादिकं भोजनं प्रणीतमुच्यते ३। एकस्मिन्
दिने न्यूनोदरतारहितत्वेन परिपूर्णभोजनं बहुकमुच्यते तद्बहुकमतिक्रान्तमतिशयेन स्वप्रमाणाधिकं यदशनादिकं वारद्वयं भुङ्क्ते तद-
तिबहुकमिति ४। तिस्रो वारा यदशनादिकं भुङ्क्ते तदतिबहुश उच्यते ५। तिसृभ्यो वाराभ्यः परतश्चतस्रादिवारा अतिलौल्यात्तृप्तिम-
मन्यमानः साधुर्यदशनादिकं भुङ्क्ते तदतिप्रमाणमतृप्यमानं वोच्यते ६। तदिदं प्रमाणदोषदुष्टं षड्विधमप्याहारं साधुर्न भुञ्जीत। तथा
विरुद्धद्रव्याहारोऽपि देहसंयमक्षतिकारित्वेन क्लेशफल एव ज्ञेयोऽतः सोऽपि न भोक्तव्यो यथा दधितैलयोः क्षीरतैलयोर्वा संयोगः
कुष्ठविकारकारी, समभागयोश्च तैलघृतयोर्मिलितयोः संयोगः कियताऽपि कालेन विषयत्वभाजी भवेच्चेति गाथार्थः॥९५॥

शेषं क्लेशफलमिति प्रागुक्तं ततश्च कुतः पुनः शेषं क्लेशफलमित्याह।

जेणइबहु अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं। हादेज्जव वामेज्जव, मारेज्जव तं अजरिंतं ॥९६॥

व्याख्या—येन कारणेन 'अतिबहु' अतिबहुकाख्यं वारद्वयमित्यर्थस्तथा 'अतिबहुसो' अतिबहुशोऽभिधं वारत्रयमित्यर्थः।
अतिप्रमाणेन वारत्रयोल्लङ्घनेन करणभूतेन अतृप्यमानेन वा तृप्तिममन्यमानेन साधुना कर्त्रा भोजनमशनादिकं भुक्तमभ्यवहृतं। किं
कुर्यात् इत्याह। हदयेद्वा पुरीषाधिक्यं कारयेत्, वमयेद्वा छर्दिं कारयेत्, मारयेद्वा प्राणत्यागं कारयेत्। वाशब्दाः स्वस्थाने विक-
ल्पार्थाः। तदतिबहुकादिभोजनं कीदृशं सदित्याह—अजीर्यदपरिणमत्। इह च सूत्रकृता दोषदर्शनद्वारेणातिबहुकादित्रयस्य दर्शनेन

प्रकामादिदोषत्रयमप्युपलक्षितं द्रष्टव्यं। केवलं प्रकामादित्रयाभणनेन यदतिबहुकादित्रयस्योपादानं तदस्यात्मविराधनादिजनकत्वेना-तिपरिहारताख्यापनार्थं,तत्रात्मविराधना मरणादेः, संयमविराधना तु तापनार्थं तेजस्कायादिविराधनातः, प्रवचनविराधना तु औदरिका एते इत्यादि जनापवादात्। उपलक्षणत्वादेतदनुसारतः प्रकामादिभोजनत्रयेऽप्येतेऽन्ये च ब्रह्मचर्यविराधनादयो दोषा वाच्याः। तस्मा-द्गुणकारित्वात् प्रमाणोपेतमेव भोक्तव्यं। किं च ये नरा अपथ्यपरिहारिणः, द्वात्रिंशत्कवलभोजिनो वा, द्वात्रिंशतः स्तोकतरभोजिनो वा स्युस्तेऽपरवैद्यचिकित्स्या न स्युः किन्तु ते स्वत एवोक्ताहारनिषेवणादात्मनो वैद्यकल्पा इति प्रमाणयुक्तभोजने विशेषगुणस्ततो ज्ञानादिवृद्धिरिति गाथार्थः ॥९६॥

उक्तः प्रमाणदोषः, साम्प्रतमङ्गारधूमाख्यं दोषद्वयं युगपद्व्याख्यातुमाह।

अंगारसधूमोवम, चरणिंधणकरण भावओ जमिह। रत्तो दुट्ठो भुंजइ, तं अंगारं च धूमं च ॥९७॥

व्याख्या—इह काष्ठादिकमिन्धनम्, अग्निदग्धं निर्धूमं ज्वलदग्निरूपमङ्गार इत्यभिधीयते। तथा सह धूमेन सधूमं, तदेवेन्धनमङ्गारभावमप्राप्तं दाहक्रियामनुभवद्यावदर्द्धदग्धं तावद्धूमसद्भावात्सधूममुच्यते। ततोऽङ्गारश्च सधूमं च अङ्गारसधूमं द्रव्येन्धनं तेन उपमा औपम्यं सादृश्यं यस्य तच्चरणेन्धनं च। तत्र चरणं चारित्रं तदेवेन्धनं वालनं दाह्यत्वाच्चरणेन्धनं, तस्य करणं विधानं, तस्य भावः सद्भावस्तस्माच्चारित्रेन्धनस्याङ्गारसधूमसदृशकरणतयेत्यर्थः। अयमर्थो यथाहि द्रव्येन्धने, दाह्यं दाहकस्तत्साध्यं कार्यं चेति त्रितयं भवति। तथा भावेन्धनेऽपि दाह्यं दाहकस्तज्जन्यं कार्यं च वाच्यं, तत्र द्रव्येन्धने काष्ठादिवालनं दाह्यं दाहकोऽग्निस्तत्साध्यं च धू(मा)यमानताऽङ्गारतालक्षणं, भावेन्धने चारित्राख्यं दाह्यं, रागद्वेषपरिणामश्च साधोरशनादिगोचरोऽग्निर्दाहकः, तत्साध्यं च कार्यं धूमायमा-

नतारूपं रूक्षोऽयमाहार इत्यादिवचनोच्चारणेन तस्यैव मलिनत्वकरणं अङ्गारताकरणरूपं च। मिष्टोऽयमाहार इत्यादिवचनोच्चारणेन सर्व्वथा निर्दग्धत्वेन तस्यैवासारताकरणं मोक्षकार्यं प्रति। यथाह्यङ्गारैः काष्ठादिकार्यं न सिध्यति। तथा तेन चारित्रेण कृतदुःखमोक्षो मोक्षो न शीघ्रं लभ्यत इत्येवं च चरणेन्धनस्य द्रव्येन्धनौपम्यम्। ततश्च यत्प्रासुकमेषणीयमप्यशनादि, 'इह' तु स्वाप्यं, रक्तो मिष्टमेतदिति तत्प्रशंसया रागवान् सन्, द्विष्टो रूक्षमेतदित्यादिदोषग्रहणतो द्वेषवान् भुङ्क्ते अभ्यवहरति तदशनादि, यथाक्रमं भवति। 'इह' एषु ग्रासैषणादोषेषु मध्ये, अस्मिन् प्रवचने वा, किमित्याह—'अङ्गारं च धूमं' चेति, तत्राङ्गारः पूर्वोक्तशब्दार्थश्चारित्रेन्धनदहनसमर्थो रागपरिणामो, धूमश्च पूर्वोक्तशब्दार्थश्चारित्रेन्धनस्य धूमायमानताकरणसमर्थो द्वेषपरिणामस्तद्योगादशनाद्यप्यङ्गारदोषवद्धूमदोषवच्च भवति। रागवानेषणीयमपि भुञ्जानोऽङ्गारदोषवत्करोति द्वेषवांश्च तदेव भुञ्जानो धूमितं करोति। चशब्दौ परस्परापेक्षया समुच्चयार्थौ। इह यद्यपि पूर्व्वं काष्ठादिदह्यमानमर्द्धदग्धोल्मुकस्वभावं सधूमं स्यात्ततः सर्वथा ज्वलनरूपामङ्गारतां भजते इति सधूमाङ्गारयोरुत्पत्तिक्रमस्तथाप्यनयोर्भावरूपयोर्गुरुलघुदोषतामाश्रित्येत्थं निर्देशस्तथाहि—रागेण सर्व्वथा दग्धेन्धनसमं चारित्रं करोतीति स गुरुर्दोषो, द्वेषेण त्वर्द्धदग्धेन्धनसममिति स लघुरिति। तथा शेषेषूद्गमादिदोषेषु जगत्रयकदर्थकरागद्वेषस्वरूपत्वाद्गुरुतमाविमाविति ख्यापनाक्रमभणनं त्यक्त्वैतौ दोषौ विसदृशावुक्ताविति गाथार्थः ॥९७॥

उक्तमङ्गारधूमाख्यं दोषद्वयं साम्प्रतं कारणाख्यमभिधित्सुर्यन्निमित्तमाहारयति, यन्निमित्तं च नेत्येतदाह।

छुहवेयणवेयावच्च—संजमसुज्झाणपाणरक्खट्ठा। इरियं च विसोहेउं, भुंजइ न उ रूवरसहेऊ ॥९८॥

व्याख्या—इह क्षुद्वेदनादिपदानां कृतद्वन्द्वानां रक्षार्थमिति पदेन प्रत्येकं सम्बन्धो भवति। ततश्च क्षुद्वेदनारक्षार्थं बुभुक्षा-

लक्षणपीडापगमाय। बुभुक्षासदृशी हि नास्त्यन्या पीडा, अतस्तद्विनाशाय भुञ्जीतेति सर्वत्र योगः साधुराहारमिति शेषः। तथा वैयावृत्त्यमाचार्यादीनां भक्तपानादिना प्रतिचरणरूपं। तद्धि बुभुक्षितेन कर्तुं न पार्यते, अतः तद्रक्षार्थं तस्य हानिनिवारणार्थं। तथा संयमः प्रत्युपेक्षणाप्रमार्ज्जनादिकः साधुव्यापारस्तं बुभुक्षितः कर्त्तुं न शक्नोत्यतस्तत्पालनार्थं। तथा शोभनं ध्यानं सुध्यानं सूत्रा-र्थानुचिन्तनादिलक्षणं धर्मध्यानं, तदपि बुभुक्षितस्य परिक्षीयते। यतो बुभुक्षितः पूर्व्वाधीतश्रुतपरावर्त्तनेऽर्थचिन्तनिकायां चासमर्थः स्यादतस्तद्रक्षार्थं सुध्यानहानिनिवारणार्थमित्यर्थः। तथा प्राणरक्षार्थं, तत्र प्राणा इन्द्रियादयो दश तेषां रक्षार्थं तत्संधारणाय, बुभुक्षि-तस्य ह्यायुर्वलादि हीयते। तथेर्यां च विशोधयितुमीर्यासमितिपालनाय, बुभुक्षितो हीर्यासमितिं ध्यामललोचनानि(नत्वेन) विशो-धयितुं न शक्नोति। चः समुच्चये। एतैः षड्भिः कारणैस्साधुराहारं भुञ्जीताश्नीयात्। न तु न पुनर्भुञ्जीत रूपरसहेतुः। तत्र रूपं शरीरस्य विशिष्टवर्णाद्याकृतिः 'रस शब्दे' इति वचनाद्रसः शब्दस्तयोर्हेतुर्निमित्तं शरीरोपचितत्वकण्ठमाधुर्यापादनायेत्यर्थः। आहा-रविषयो वा रसो मधुरादिकस्तन्निमित्तं स्वादुरसोपेतमिदं वर्त्तते, अतोऽवश्यं भोक्तव्यमिति गार्द्ध्येन न भुञ्जीतेत्यर्थः। अनेन रू-पाद्यर्थमाहारमाहारयन् धर्म्मप्रयोजनाभावात् कारणाख्यदोषदुष्टं तत्स्यादित्यावेदितं। यतः कारणाभावः कारणदोषोऽत्राभिप्रेत इति गाथार्थः ॥९८॥

यैः कारणैराहारयति यतिस्तान्युक्तान्यधुना यैर्नाहारयति तान्याह-

अहव न जिमेज्ज रोगे, मोहुदये सयणमाइउवसग्गे। पाणिदयातवहेउं, अन्ते तणुमोयणत्थं च ॥९९॥

व्याख्या-अथवेति वलवर्णाद्यपेक्षया भोजनाऽकरणे विकल्पान्तरार्थः। 'न' नैव जिमेदद्यात् साधुर्भोजनं कुर्यादित्यर्थः। क्वेत्याह-

'रोगे' आकस्मिकज्वराक्षिरोगादावजीर्णादौ च। उपवासान् कुर्वतो हि प्रायो ज्वरादयस्त्रुटयन्ते। यदुक्तं 'बलाविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितं। ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामक्षतज्वरात् ॥१॥ तथा मोहोदयेऽत्युत्कटकामपीडोद्भवे मैथुनविरतिरक्षणार्थं न जिमेत्। उपवासान् हि कुर्व्वतः कामः काममपक्रामति। यदुक्तं–'विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते' ॥१॥ इति। 'सयणमाइ'त्ति मोऽलाक्षणिकस्ततः स्वजनाद्युपसर्गे। तत्रोपसर्गः स्वलीकरणम्, स चानुकूलप्रतिकूलभेदात् द्विधा। तत्र मातापितृकलत्रादिस्वजनोपसर्गोऽनुकूलः। ते हि प्रव्रज्यामोचनाद्यर्थं कदाचिदुपतिष्ठन्ते। तत उपसर्गोऽयमिति मत्वा तत्र न जिमेत्। ते हि उपवासान् कुर्वन्तमवलोक्य तन्निश्चयावगमान्मरणादिभीतेर्वा प्रायस्तं मुञ्चन्ति। आदिशब्दात् प्रतिकूलोपसर्गे कुपितराजादौ न जिमेदिति। तथा प्राणिदया च तपश्च ते तथा। तद्धेतोस्तन्निमित्तं। तत्र प्राणिदयाहेतोः सत्त्वरक्षणाय जलवृष्टौ, महिकापाते, सचित्तरजःपातादौ, प्रभूतश्लक्ष्णमण्डूकिकामसिकादिसत्त्वसमाकुलायामिलायां न जिमेत् किन्तु मेघवृष्ट्यादावुपवासं करोति येन भिक्षाटनादिजाताप्कायादिविराधना न स्यात् तथा तपोहेतोस्तपोऽर्थमेकद्व्याद्युपवासकरणेन षण्मासान्तं यावत्तपः कुर्वतो न भोजनसम्भवः। इह तीर्थे उत्कृष्टतः षण्मासमेव तपो भवति न परत इति वेदितव्यं। तथा 'अन्ते' पर्यन्तसमये वृद्धभावे इत्यर्थः। अन्यदा हि प्रायो बुभुक्षाधिक्यादाहारत्यागे आर्त्तध्यानापत्तेरिति। तनुः शरीरं तस्या मोचनं मरणार्थं परित्यागस्तदर्थं, चः समुच्चये। संलेखनार्थं निर्भोजनो भूयादित्यर्थः। अयमर्थः। पूर्व्वं हि दीर्घपर्यायपरिपालनं, शिष्येभ्यो वाचनादानं, शिष्यनिष्पादना च श्रेयो, अन्ते च वार्द्धिके सर्वस्याप्यनुष्ठानस्य मरणाराधना सारेति तस्यां महाप्रयत्नो विधेयः। सा च संलेखना क्रमेणोपशमयुक्तेनाऽऽहारत्यागादिरूपा कार्या। अतः शरीरत्यागार्थं तत्करणे भोजनाभावः सम्भवतीति गाथार्थः ॥९९॥

उक्तं कारणाख्यो दोषोऽधुना ग्रन्थोपसंहारं चिकीर्षुरेषणात्रयसङ्गृहीतपूर्वोक्तसमस्तदोषनिगमनमनुक्तस्य परिज्ञानायातिदेशं चाह।

इइ तिविहेसणदोसा, लेसेण जहागमं मएऽभिहिया। एसु गुरुलहुविसेसं, सेसं च मुणेज्ज सुत्ताउ ॥१००॥

व्याख्या-इत्यनेन प्रदर्शितप्रकारेण त्रिविधा त्रिभेदा गवेषणग्रहणग्रासभेदात् या एषणाऽऽहारशुद्ध्यशुद्धिपर्यालोचना। तस्या दोषा उद्गमोत्पादैषणासंयोजनादिरूपाः सप्तचत्वारिंशत् सङ्ख्या अशुद्धयः। अध्यवपूरकस्य किञ्चिन्मिश्रसाम्यान्मिश्रेऽन्तर्भावेन षट्चत्वारिंशत् सङ्ख्या वा त्रिविधैषणादोषास्ते लेशेन सङ्क्षेपेण आगमस्यानतिक्रमेण। यथागमं तत्रागमः श्रुतं स पिण्डप्रस्तावान्नवमपूर्वगतश्रुतादिरूपोऽत्र सामान्येन सर्वोऽप्युपयोगी किन्तु प्रतिनियतो भिक्षादोषशोधकः पिण्डनिर्युक्त्यादिरूप एव प्रायो भिक्षाचर्योपयोगी अतः यथावपिण्डनिर्युक्त्यादिशास्त्रानुसारत इत्यर्थः। अनेन स्वमनीषिकापरिहारेण शास्त्रस्याऽऽदेयतामाह। तथावृत्त्या निजमत्यनुसारेण यथावबोधं चेत्यपि व्याख्येयं। मयेत्यात्मनिर्देशः। अभिहिताः प्रतिपादिताः। 'एसु' त्ति, चकाराध्याहारादेषु च प्रदर्शितोद्गमादिदोषेषु विषये। किमित्याह। अयमेतस्माद्दोषो गुरुश्च महान्, अयमेतस्माल्लघुश्चाल्पः कनीयानित्यर्थो गुरुलघू तद्रूपो विशेषो भेदो गुरुलघुविशेषस्तं, गुरुलघुप्रायश्चित्तापत्तिद्वारेण गुरुदोषाल्पदोषविभागमित्यर्थः। मुणेत् सूत्रादिति योगः। तथा शेषं उक्तादन्यदनुक्तं प्रदर्शितदोषविषयं दृष्टान्तप्रत्यपायादिकमुत्सर्गापवादादिकं च। प्रत्यपायादयो हि श्रुते विनेयानामकार्यपरिहारार्थं स्वे स्वे स्थाने दर्शितास्तदुक्तं 'पायं अवायभीओ, पावाययणाणि परिहरइ लोउं। तेण अवाओ बहु हायए,पए देसिओ सुत्ते' ॥१॥ यद्वा शेषमाहारदोषेभ्योऽन्यच्छय्यातरराजपिण्डोपाश्रयवस्त्रपात्राद्युपधिगोचरं दोषवृन्दमित्यर्थः। चः समुच्चये। 'मुण प्रतिज्ञाने'। मुणेद्विजानीयाच्छिष्यः सूत्रादागमान्निशीथादिरूपादिति। तत्र यदुक्तमेतेषां लघुगुरुविशेषं सूत्राद्विजानीयादिति। तत्र विनेयानुग्रहायासौ किञ्चिदुच्यते। तदिह

सर्वगुरु मूलकर्म्म, तस्माच्चाधाकर्मिकं, कर्म्मौद्देशिकचरमत्रिकं, मिश्रान्त्यद्विकं, बादरप्रभृतिका, सप्रत्यपायपरग्रामाभ्याहृतं, लोभपिण्डो-ऽनन्तकायाव्यवहितनिक्षिप्तपिहितसंहृतोन्मिश्रापरिणतछर्दितानि, संयोजना, सागारं वर्त्तमानभविष्यन्निमित्तं चेति लघवो दोषाः, मूल-प्रायश्चित्ताच्चतुर्थतपोवत् । एतेभ्यः कर्म्मौद्देशिकाद्यभेदो मिश्रप्रथमभेदो धात्रीत्वं दूतीत्वमतीतनिमित्तमाजीवनापिण्डो वनीपकत्वं बाद-रचिकित्साकरणं क्रोधमानपिण्डः सम्बन्धिसंस्तवकरणं विद्यामन्त्रयोगचूर्णपिण्डाः प्रकाशकरणं द्विविधं द्रव्यक्रीतमात्मभावक्रीतं लौकि-कप्रामित्यपरावर्त्तिते निष्प्रत्यपायपरग्रामाभ्याहृतं पिहितोद्भिन्नकपाटोद्भिन्ने उत्कृष्टमालापहृतं सर्व्वमाच्छेद्यं, सर्व्वमनिसृष्टं पुरः-कर्म्म पश्चात्कर्म्म (निर्मिश्रकर्दमेन म्रक्षितं) गर्हितम्रक्षितं संसक्तम्रक्षितं प्रत्येकाव्यवहितसंहृतोन्मिश्रापरिणतछर्दितानि प्रमाणोल्लङ्घनं सधूममकारणभोजनं चेति लघवश्चतुर्थादाचाम्लमिव एतेभ्योऽध्यवपूरकान्त्यभेदद्वयं कृतौद्देशिकभेदचतुष्टयं भक्तपानपूतिका माया-पिण्डोऽनन्तकायव्यवहितनिक्षिप्तपिहितादीनि मिश्रानन्तकायाऽव्यवहितनिक्षिप्तादीनि चेति लघवः, आचाम्लादेकभक्तमिव । एते-भ्योऽप्योघौद्देशिकमुद्दिष्टभेदचतुष्टयमुपकरणपूतिकं चिरस्थापितं प्रकटकरणं लोकोत्तरं परावर्त्तितमपमित्यं च परभावक्रीतं निष्प्रत्य-पायसप्रत्यपायस्वग्रामाभ्याहृतं दर्दरोद्भिन्नं जघन्यमालापहृतं प्रथमाध्यवपूरकः सूक्ष्मचिकित्सा, गुणसंस्तवकरणं मिश्रकर्दमेन लवणसे-टिकादिना च म्रक्षितं पिष्टादिम्रक्षितं किञ्चिद्दायकदुष्टं प्रत्येकपरम्परक्षिप्तादीनि मिश्रानन्तरनिक्षिप्तादीनि चेति लघवः, एकभक्तात् पुरिमार्द्धमिवेत्याद्ययं गुरुलघुविशेषः ।

अथ शय्यातरपिण्डविचारणा । तत्र शय्यया साधुसमर्प्पितगृहलक्षणया भवार्णवं तरतीति शय्यातरः १ कदा च शय्यातरो भवति २ कतिविधस्तत्पिण्डः ३ कदा चाशय्यातरो भवति ४ कस्य च सम्बन्ध्यसौ वर्जनीयः ।५। के चैतत्पिण्डग्रहणदोषाः ६

कदा च तत्पिण्डो गृह्यते ७ क च शय्यातरो भवतीत्यष्टौ द्वाराणि ८। तत्राद्यद्वारे यतिप्रदत्तोपाश्रयप्रभुस्तेन यः कृतप्रमाणतया
निर्दिष्टो वा स्यात्तदा शय्यातरः। द्वितीयद्वारे यदा शय्यातरगृहे रात्रौ सुप्त्वा जागरित्वा वा प्राभातिकप्रतिक्रमणं कुर्वन्ति
तदासौ शय्यातरः १। अथैतच्छय्यायां सकलां रात्रिं जागरित्वा प्राभातिकप्रतिक्रमणमन्यत्र कुर्वन्ति तदा मौलः शय्यातरो न
भवति किन्तु यद्गृहे प्रतिक्रमणं कृतं, स एव। अथ मूलशय्यायां रात्रौ सुप्त्वाऽन्यत्र प्रातः प्रतिक्रामन्ति, तदासौ मौलोऽन्यश्च
द्वावपि शय्यातरौ।यदा तु वसतिसङ्कीर्णतादिकारणादनेकोपाश्रयेषु साधवस्तिष्ठन्ति तदा यत्राचार्यः स्थितः स एव शय्यातरो नान्यः
२। तृतीयद्वारे द्वादशधा तत्पिण्डस्तदुक्तं–असणाईया चउरो पाउंछणवत्थपत्तकंबलयं। 'सूई[११]छुरकण्णसोहण नहरणिया[१२] सागरिय-
पिण्डो' ॥१॥ अयं त्वपिण्डः, 'तणडगलछारमल्लग–सेज्जासंथारपीढलेवाई। सेज्जायरपिंडो सो, न होइ सेहो य सोवहिओ' ॥२॥३।
चतुर्थद्वारेऽहोरात्रात्परतोऽशय्यातरो भवति। यदुक्तं–'वुत्थे वज्जिज्ज होरत्तं'। इदमत्र हृदयं यत्रोपितास्ततः स्थानाद्यस्यां वेलायां
निर्गता द्वितीयदिने तावत्या वेलायाः परतः शय्यातरो न भवति ४। पञ्चमद्वारे साधुगुणविरहितस्य लिङ्गमात्रावशेषस्यापि सम्बन्धी
शय्यातरः वर्जनीयः ५। षष्ठद्वारे "तित्थंकरपडिकुट्ठो आणाण्णाउग्गमो वि य न सुज्झे। अविमुत्ति अलाघवया दुल्लह सेज्जाइ,
वोच्छेओ" ॥३॥ व्याख्या—आद्यन्तवर्ज्जैर्मध्यमैर्महाविदेहजैश्च तीर्थंकरैर्वरमाधाकर्म्म कथञ्चिद्भुक्तं न पुनः शय्यातरपिण्डोऽतस्तत्प्रति-
कृष्टत्वाद्वर्जनीयोऽयं। 'आण'त्ति तं च गृह्णता तीर्थकराज्ञा न कृता स्यात्। 'अण्णाउ'त्ति यत्र स्थितस्तत्रैव भिक्षां गृह्णतामज्ञातोञ्छं
च न कृतं स्यात्। 'उग्गमो वि य न सुज्झे'त्ति आसन्नादिभावतः पुनः पुनस्तत्रैव भैक्षपानकादिनिमित्तं प्रविशत उद्गमदोषाश्च स्युः।
स्वाध्यायश्रवणादिभ्यश्च प्रीतः शय्यातरः क्षीरादिस्निग्धं द्रव्यं ददाति। तच्च गृह्णताऽविमुक्तिगार्द्ध्याभावो न कृतः स्यात्। 'अलाघ-

वय'त्ति, शय्यातरतत्पुत्रभ्रातृव्यादिभ्यो बहूपकरणं स्निग्धाहारं च गृह्णत उपकरणशरीरयोर्लाघवं न स्यात्। तत्रैव चाहारादि गृह्णतः शय्यातरवैमनस्यादिकारणाच्छय्या दुर्लभा स्यादिति सर्वथा तद्व्यवच्छेदः स्यादतस्तत्पिण्डो वर्जनीयः ६॥ सप्तमद्वारे "दुविहे गेलन्नंमी निमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे। ओमोयरिय पओसे, भए अ गहणं अणुन्नायं" ॥४॥ व्याख्या—आगाढानागाढे द्विविधे ग्लानत्वे सूत्रोक्तविधिना शय्यातरपिण्डोऽपि ग्राह्यः। निमन्त्रणे च शय्यातरनिर्बन्धे स कृतं गृहीत्वा पुनः प्रसङ्गो निवारणीयः, दुर्लभे च क्षीरादिद्रव्येऽन्यत्रालभ्यमाने तत्तत्रैव गृह्णन्ति। 'पओसे' त्ति राज्ञा प्रद्विष्टेन सर्वत्र भैक्षे निवारिते प्रच्छन्नं तद्गृहेऽपि गृह्णन्ति, तस्करादिभये चान्यत्र(त्रालभ्यमाने) तत्रापि स्वीकुर्वन्ति ७। अष्टमद्वारे स्वस्थाने वसन् शय्यातरो भवति, देशान्तरे तु गतो न भवत्यपि, केवलं भद्रकप्रान्तदोषात्तत्पिण्डस्तत्रापि वर्जनीयो, भद्रको हि मम तावत् स्वगृहावस्थितस्याऽमी न किञ्चिद् गृह्णन्ति ततोऽत्र यदि गृह्णन्ति तथापि शोभनमिति विचिन्त्यानेषणीयमपि कृत्वा दद्यात्। प्रांतस्तु मम स्वगृहस्थितस्यामी न किञ्चिद् गृह्णन्ति, अत्र तु सर्व्वं गृह्णन्ति, तत्किमिदानीमहमन्यः सञ्जातः? तस्मान्मायाविन एते इति विचिन्त्य वसत्युच्छेदादि कुर्यादेवं शय्यातरसम्बन्धिनां भ्रातृमातुलकादीनामुपाश्रयस्याप्रभूणामपि सम्बन्धी पिण्डो वर्जनीयो भद्रकप्रान्तादिदोषादिति ८।

अथ राजपिण्डविचारः। 'मुइयाइगुणो राया, अट्ठविहो तस्स होइ पिंडो त्ति। पुरिमेयराण एसो, विज्ञायाईहिं पडिकुट्ठो ॥१॥ मुइओ मुद्धभिसित्तो, पंचहिं सहिओ य भुंजए रज्जं। तस्स उ पिंडो वज्जे, तव्विवरीयंमि भयणाउ' ॥२॥ 'पंचहिं' ति अमात्यमंत्रियुवराजपट्टबद्धश्रेष्ठिसेनापतिभिः। राजपिण्डश्चायं।"असणाइया चउरो वत्थं पत्तं च कंबलं चेव। पाउछणगं च तहा, अट्ठविहो रायपिंडो त्ति" ॥१॥ आद्यान्तिमजिनसाधुनामेष प्रतिकुष्टः, दोषाश्चात्राज्ञादयो व्याघातादयश्च, तथाहि राजकुले ईश्वरादिभिः प्रविशद्भि-

निर्गच्छद्भिश्च साधोः प्रवेशाद्यभावाद्भिक्षास्वाध्यायकार्याणामपि स (विघातः)स्यात्, अमङ्गलधिया प्रेरणा हननं वा कुर्याद्। तथा लोभः एषणाव्याघातः चौरादिशङ्का, गर्हा च स्यात्। यतोऽहो! राजप्रतिग्रहमेते गर्हणीयमपि गृह्णन्ति। तथा च स्मृत्यां "राजप्रतिग्रहदग्धानां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर।। स्विन्नानामिव बीजानां पुनर्जन्म न विद्यते" ॥१॥ इति गर्हितोक्ता। मध्यमजिनसाधुभिश्चायं गृह्यतेऽपि उक्तदोषाणामृजुप्राज्ञत्वेनाप्रमादपरतया परिहर्तुं शक्यत्वादितरैस्तु ऋजुजडवक्रजडत्वेन न तथेति।

तथा शय्याऽपि मूलोत्तरगुणाद्यशुद्धा परिहर्त्तव्या। तत्रेयं मूलगुणैरशुद्धा यथा "पिट्ठिवंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीउ। मूलगुणेहुववेया एसा आहागडा वसही" ॥१॥ पृष्ठिवंशो मध्यवलको द्वे धारण्यौ बृहद्वेल्यौ यत्प्रतिष्ठोऽसावेव। चतस्रो मूलवेल्यो याः चतुर्षु गृहपार्श्वेषु क्रियन्ते। एते सप्त मूलगुणाः। एतैः साधुमाधाय कृतैर्युक्ता वसति। 'आहागड'त्ति आधाकर्मिकी स्यात्। साधुमाधाय कृतत्वात्, उत्तरगुणाश्च द्विधा भवन्ति। मूलोत्तरगुणा उत्तरोत्तरगुणाश्च। तत्रैते मूलकल्पा उत्तरगुणाः। यथा "वंसग १ कडणु २ कंबण ३ च्छायण ४ लेवण ५ दुवार ६ भूमीय ७। सपरिकम्मा वसही एसा मूलुत्तरगुणेहिं" ॥२॥ वंशकाः दण्डकाः। 'कडणं' ति कटकादिभिः कुड्यकरणं, 'उक्कंबणं' दंडगोवरि कंबाइयबंधणं। 'छायणं'ति दर्भादिनाऽऽच्छादनं। 'लेवणं' ति, चिक्खल्लेण कुड्डाण लिम्पणं। 'दुवार'त्ति गृहद्वारस्य बृहत्करणं अन्यस्य वा विधानं। 'भूमि' त्ति विसमाए समीकरणरूवं भूमिकम्मं भणइ। एते सप्त मूलभूतोत्तरगुणाः। एते च पृष्ठिवंशादयश्चतुर्दशाप्यविशोधिकोटिसंज्ञाः। उत्तरोत्तरगुणाश्चैते यथा—'दूमिय धूविय वासिय, उज्जोविय बलिकडा अवत्ता य। सित्ता संमट्ठावि य, विसोहिकोडिं गया वसही' ॥३॥ 'दूमिय'त्ति सेटिकादिभिर्धवलिता। 'धूविय' त्ति दुग्गंध त्ति काउं अगरुमाईहिं सुगंधीकया। 'वासिय' त्ति पटवासपुष्पादिभिरपनीतदौर्गन्ध्या। उद्योतिता रत्नप्रदीपादिभिः प्रका-

॥१०३॥

सन्मृष्टा प्रमार्जिता साध्वर्थायेति सर्वत्र दृश्यं। अविशोधिकोटौ एते न भवन्तीत्यर्थः। एवं चतुःशालादिष्वप्येतदनुसारतो मूलो-
त्तरगुणविभागे ज्ञेयः। नवरं—'बहिरंताणं पायं समत्तकज्जाण जेण गामेसु। वासो तेसु ज वसही, पट्ठाइजुया तओ वुत्ता' ॥४॥
तथेयं स्त्रीपशुपण्डकविवर्ज्जिता सेवनीया। इतरथा—'थीपसुपंडगजुत्ताए मोहानलदीविषाण जंतुण। पायमसुहा पवित्ती, पुव्वभ-
वब्भासओ होज्जा' ॥५॥ तथा वस्त्रमपि दोषदुष्टं वर्ज्यं। तत्र तावत् वस्त्रमेकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियावयवनिष्पत्तिभेदात् त्रिधा
स्यात्। तत्राद्यं कार्प्पासिकं, द्वितीयं कौशेयकादि पञ्चेन्द्रियावयवनिष्पन्नमूर्णादिमयं च तृतीयं। नवरं कारणग्राह्यं कौशेयकादि।
तथा जघन्यादिभेदाद्वस्त्रं त्रिविधं ज्ञेयं। तत्र मुखवस्त्रिकादि जघन्यं। चोलपट्टपटलादि मध्यमं। प्रच्छादनपट्याद्युत्कृष्टं। एतत्पुनः
प्रत्येकं यथाकृताल्पबहुपरिकर्म्मभेदात् त्रिधा स्यात्। अत्र च ग्रहणविधिं प्रतीत्य पूर्व्वं यथाकृतं ग्राह्यं, तस्य सर्वोपाधिशुद्धत्वात्।
तदलाभेऽल्पपरिकर्म्म ग्राह्यं। तस्य स्तोकदोषत्वात्। तस्याभावे बहुपरिकर्म्मापि ग्राह्यं। एतच्च सर्व्वमपि वस्त्रं गच्छवासिभिश्चतसृभिरे-
षणादिभिर्गवेषणीयं। यथा—'उद्दिट्ठ १ पेह २ अंतर ३ उज्झितधम्मत्ति' ४ तत्रोद्दिष्टा, यद्गुरुसमक्षं स्वयं प्रतिज्ञातं जघन्यादिभेदमेके-
न्द्रियावयवनिष्पन्नादिकं वा वस्त्रं तदेव गृहिभ्यो याचमानस्य स्यात्। प्रेक्षा नाम वस्त्रमवलोक्य ब्रवीति यतिर्यथा भो श्रावक! यादृशमिदं
दृश्यते तादृशमिदं वा मह्यं वस्त्रं देहि। तृतीया तु परिधानवस्त्रं प्रावरणवस्त्रं वा शय्याया अधस्तनवस्त्रमुपरितनवस्त्रं, अन्यद्वोक्तुकामम-
ग्रेतनं च मोक्तुमनसं दातारमत्रान्तरे याचमानस्येति। चतुर्थी पुनः स्वदेशं बहुवस्त्रदेशं वा गन्तुकामाः कार्प्पटिका यदुज्झन्ति, बहुव-
स्त्रदेशे वा यत्त्यक्तं लभ्यते, तद्याचितमयाचितं वा गृह्णतां स्यादिति। जिनकल्पिकास्तु चतसृषु मध्यादुपरितनद्वयादन्यतरयैवाददते,

नत्वायद्वयेनेति। तत्पुनर्गच्छवासिनः कदोत्पादयन्तीति चेदुच्यते सूत्रार्थपौरुष्यौ विधाय भिक्षार्थमेव पर्यटन्त उत्पादयन्ति। यदि च तदा न लभन्ते, ततो द्वितीयपौरुष्यामपि गवेषयन्ति। तथा(दा)प्यलाभे प्रथमायामपि मृगयन्ति। तदर्थं गच्छन्तश्च दण्डकं भूमौ न लगयन्ति यावत्प्रथमो लाभ इति। इत्थं च गृहप्रविष्टैरभावितश्रावकः प्रथमं न याचनीयो विपरिणामाप्रियतादिदोषसम्भवात्। किञ्च श्राद्धानामाचार एवायं यदेपणीयमुद्धरितं स्वत एव यच्छन्ति, तदिह यान्यन्याभिभावितकुलानि तेषु याच्ञा कार्या। तां च कुर्वद्भिस्तत्प्रभुर्वक्तव्यो यथा–धर्मलाभो भो श्रावक! तव समीपे वयमागता। ईदृशैर्वस्त्रैरद्य प्रयोजनमस्तीति। ततश्चानुग्रहं मन्यमानेन तेन वस्त्रे दर्शिते साधुना प्रष्टव्यं कस्य सम्बन्ध्येतदिति। एवं च पृष्टे प्राञ्जलतया कथयत्यसौ यथा भवदर्थं कृतमिदं क्रीतं धौतं चे-त्यादि। अमुकेन वा भवदर्थमेवेहानीय मुक्तं येन तद्गृहे न गृह्णन्ति भवन्त इत्यादि। ततः साधुना अविशोधिकोटिविशोधिकोटिदोपो विचिन्तनीयः। तत्र यत्यर्थं वस्त्रस्य तणणं विणणं च मूलगुणाः। 'अविसोहिकोडि'त्ति। तथा पूर्वोपभुक्ते वस्त्रे दर्शिते प्रष्टव्यं किमे-तदासीदिति। ततो दाता वक्ति नित्यनिवसनं यद्वा मज्जनवस्त्रं यद्वा राजदौवारिकं यद्वोत्सववस्त्रमिदममुकस्येति। एवं च सति दर्शितवस्त्रसदृशं वहमानमन्यदपि दातुर्यद्यस्ति ततस्तद्गृह्यते, इतरथा गृही अन्यदुत्पादयेत्, क्रीणीयाद्वेति। अपरिभुज्यमानेऽपि च दर्शिते किमत्र भविष्यति, क्व च स्थाने इदमासीदिति प्रष्टव्यं। ततो दाता यत्कथयति तन्निशम्य तत्सदृशाऽपरवस्त्रसद्भावे तस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं, नाऽपरस्याभावे, उत्पादनक्रयणादिदोपाभावात्। एवं च कल्पनीयतया निश्चिते सति तद्द्वयोरप्यन्तयोर्गृहीत्वा सर्वतो दृष्टया निरीक्षणीयं। मणेः सुवर्णस्य रूपकादिद्रव्यस्य वा तत्र निवद्धस्य भावात्। गृहस्थोऽपि च वक्तव्यो निरीक्षस्वैतत्सर्वतः। एवं च यदि तेन तन्मण्यादि दृष्टं तदा भव्यं। अथ न दृष्टं ततो यतिरेव दर्शयत्येनमपनयेति। न चेत्थमधिकरणं यतेरिति वाच्यं यथा-

न्यो हि स्तोक एव दोषः (किंतु)अकथिते उड्डाहादितो महानिति। तत ऊर्ध्वं नवभागकल्पनया अञ्जनखञ्जनमूषकादिभक्षितदोषाणामे- कतरभागस्थस्य शुभाशुभफलं निभाल्य तद्वस्त्रं गृह्णन्ति वर्जयन्ति वा। ते चामी नव भागाः यथा 'चत्तारि देवयाभागा दोभागा य माणुसा। आसुरा य दुवे भागा मज्झे वत्थस्स रक्खसो ॥१॥ तत्र च अंजणखंजणकद्दमलित्ते मूसगभक्खियअग्गिविदड्ढे। तुन्नियकुट्टियमज्झव- लिट्ठे। होइ विवागो सुहोऽसुहो वा ॥२॥ देवेसुत्तमो लाभो माणुसेसु य मज्झिमो। आसुरेसु य गेलन्नं मरणं पुण रक्खसे जाण ॥३॥ अ- नेन विधिना वस्त्रे लब्धे तद्वसतावागतैर्गुरोः समर्प्पणीयं। ततोऽसौ यस्य तन्नास्ति तस्मै प्रयच्छति। तथा परिभो- गकालेऽतिप्रमाणं वस्त्रं छिन्दानैर्मूलभागान्न छेत्तव्यममङ्गलत्वादिति याचनावस्त्रविधिः। निमन्त्रणावस्त्रविधिश्चायं- यथा भिक्षार्थं साधुसङ्घाटकः कश्चिद्गृहे प्रविष्टः सन् न केनचित्प्रमादादिना, (किंतु)दातृविशेषेण महाभक्त्या भक्तादिना प्रतिलभ्य, वस्त्रे निमन्त्रितः ततस्तेन प्रष्टव्यं कस्येदं, किं चाऽऽसीत्, किमत्र वा भविष्यति, कुत्र वाऽऽसीत्, केन वा कारणेन मह्यं दीयत इति। यद्येवं न पृच्छति तदा प्रागुक्ता दोषा आज्ञादयश्च स्युरिति। एवं सति यदि कोऽपि मम पिताऽयं मम पितृसदृशो वाऽयमित्यादिपूर्वसम्बन्धेन, मम भ्राता भर्त्ता भर्तृसदृशो वायमित्यादिपश्चात्सम्बन्धेन वा ददाति तदाऽग्राह्यं। यदा तु भवन्तः सद्धर्म्मनिरता वयं चारम्भप्रवृत्ता इत्यतो निस्तारार्थं दीयतेऽस्माभिरिति बुद्ध्या ददाति तदा ग्राह्यमेवेति वस्त्रविधिः। तथा पात्रकमप्येकेन्द्रियदेहनिष्पन्नतुंबकदारुमृन्मयभेदात् त्रिधा स्यात्। पुनर्जघन्यादिभेदात् त्रिधा। तत्रोल्लङ्कादि जघन्यं, मात्रकं मध्यमं, उत्कृष्टं पतद्गृहः, पुनरेकैकं त्रिधा यथाकृतमल्पकर्म्मबहुकर्म्म चेति पूर्वपूर्वाभावे चेहोत्तरोत्तरं ग्राह्यं। एतदपि चतसृभिरेषणाभिर्गवे- षणीयं। यथा—'उद्दिट्ठा ।१। पेह ।२। संगया ।३। उज्झियधम्मत्ति ।४। अत्र त्रितयं प्राग्वन्नवरं पात्राभिलापो वक्तव्यः। तृतीया पुनरेवं

दे	आ	दे
मा	रा	मा
दे	आ	दे

वस्त्रपात्रैषणायां दोषादिविचारणा

'संगइयं वा वेजइयं वा'। कस्यापि गृहिणः पात्रद्वयं भवति। स च तयोर्मध्यादेकैकस्मिन् दिने एकैकं वारकेण वाहयति तत्र यद्वा-हयति तत्सङ्गतिकं। यत्तिष्ठति तद्वेजयिकं। ईदृशं च कोऽपि साधुरभिग्रहविशेषाद्याचते शेषं चात्रापि वस्त्रवद्द्रष्टव्यं। नवरं "तसबीया इव दट्ठुं, न गिण्हइ गिण्हइ य अदिट्ठे। गहणंमि अ परिसुद्धे कप्पइ दिट्ठेहिं वि बहूहिं"॥१॥ उत्तरार्द्धभावार्थोऽयं–ग्रहणे परिशुद्धे पश्चाद्यदि बीजादीनि बहून्यपि पश्यति, तथापि गृह्णात्येव। न पुनः परिष्ठापयति, प्रत्यर्प्पयति वा पात्रं किन्तु यतनया तानि यत्र न विराध्यन्ते तत्र क्षिपतीति। मूलोत्तरगुणविभागश्चायमत्र–'मुहकरणं मूलगुणा, पाए निकोरणं च इयरे उ'त्ति इत्यलं प्रसङ्गेनेति सप्रसङ्गेनेति प्रसङ्गगाथार्थः ॥१००॥

अत्र च द्रव्याद्यपेक्षोत्सर्गापवादाश्रयिणा साधुना भाव्यमतः कदाचित्सर्वथा शुद्धाहाराऽप्राप्तौ समयोक्तविधिनाऽशुद्धग्रहणमप्यनुज्ञातमितरथा पिण्डाऽभावाद्देहानवस्थितेश्चरणादिगुणहानिरतोऽधुनाऽपवादेनाऽशुद्धग्रहणविधिं दर्शयन्नाह।

सोहंतो य इमे तह, जइज्ज सव्वत्थ पणगहाणीए। उस्सग्गववायविऊ, जह चरणगुणा न हायन्ति ॥१०१॥

व्याख्या—विधेयश्च (शोधयंश्च) विशुद्धपिण्ड (मन्वेषयन्) पुनः कानित्याह। इमाननन्तरोक्तानाहारदोषान्, तथा तेन केनचिदवस्थोचितप्रकारेण यतेत यत्नं कुर्यात्साधुरिति शेषः। कथम्भूतः सन्नित्याह उत्सर्गापवादविद्वान् सन्। तत्रोत्सर्गो निर्विशेषेणाऽनुष्ठानप्रवृत्तिरपवादो द्रव्यादिविशेषेण तत्प्रवृत्तिर्वेत्त्यवगच्छति यः स तथा, सम्यगधीतज्ञातच्छेदादिश्रुतश्चानेनाऽगीतार्थव्यवच्छेदेन गीतार्थ उक्तस्तथा चेदमुभयोरप्यागमे लक्षणमुक्तं यथा "जेण आवस्सयाईयाणं अत्थो न सुओ सोऽगीयत्थो। जेण पिंडेसणावत्थपाएसणासेज्जाछेयसुयाईणि अहीयाणि सो गीयत्थो भन्नइ"। तेन गीतार्थस्य यतनया प्रवर्त्तमानस्य विराधनापि न दोषवती भवतीति वक्ष्य-

ति। यतनालक्षणं चेदमुक्तं निशीथे, यथा–"रागदोसविउत्तो जोगो असढस्स होइ जयणा उ। रागदोसाणुगओ जो जोगो स अजयणा उ"। क्व यतेतेत्याह। सर्वत्र सर्वस्मिन् ग्लानादिप्रयोजने, कयेत्याह पंचकहान्या, इहाकृतवीप्सोऽपि पञ्चकशब्दस्तदर्थसम्भवाद्वीप्सां गमयति। ततश्च पञ्चकेन पञ्चकेनागमप्रसिद्धप्रायश्चित्तलक्षणेन कृत्वा यका हानिरशुभादेः परिहारः पञ्चकहानिरयमर्थः–पञ्चकदशकादिप्रायश्चित्ताऽऽरोपणाक्रमेण उत्तरोत्तरगुरुप्रायश्चित्तापत्त्यपेक्षया तत्परिहारेण पाश्चात्यपञ्चकपरिहाणितया यल्लघुप्रायश्चित्तपदं तत्प्राप्तियोग्योपसेवनं पञ्चकहानिरिहोच्यते। तया यतेत इदमुक्तं भवति, पूर्वं ग्लानादिप्रयोजनेषु शुद्धं गवेषयेत्, तदभावे लघुगुरुपञ्चकप्रायश्चित्तापत्तियोग्यं, तदभावे लघुगुरुदशकपञ्चदशकादियोग्यं, न तु निद्धंधसतया कारणेऽप्युत्पन्ने [लघुगुरुप्रायश्चित्तापत्ति.. ...दस वाहिं तु सो हितु ?] लघुगुरुप्रायश्चित्तयोर्योग्ये द्विरूपे प्राप्यमाणे प्रथमत एव गुरुप्रायश्चित्तयोग्यं गृह्णीयादिति(अशठः)सन् ग्लानादिप्रयोजने आधाकर्म्मादिदोषदुष्टमप्यासेवमानः अदोषवानित्यावेदितं। किञ्च बहुनैदंपर्यमाह, यथा–केनचिद्यथौचित्यमाधाकर्म्माद्यासेवारूपेणापि प्रकारेण चरणगुणा न हीयन्ते न हानिं यान्ति। तत्र चरणं चारित्रं व्रतादिपालनरूपं, तस्य गुणास्तत्साधकाः प्रतिदिनमवश्यं कर्त्तव्यरूपा आवश्यकादयः साधुव्यापाराश्चरणगुणाश्चरणकरणे यथोत्सर्प्पत इत्यर्थः। यद्वा चरणं चोक्तरूपं गुणाश्च ज्ञानादय इति व्याख्येयं ततो यथा न हीयन्ते तथा यतेतेति पूर्व्वेण योगः। अनया गाथयेदं प्रवचनसर्वस्वमभिहितं यथेह न सर्वथा किञ्चिद् निषिद्धं, नापि सर्वथाऽनुज्ञातं, यतो द्रव्यक्षेत्रकालभाववैचित्र्येण क्वचिद्विधेयस्यापि निषेधः स्यात्, निषिद्धस्यापि क्वचिद्विधिरिति। तदुक्तं 'उत्पद्येत हि साऽवस्था देशकालामयान् प्रति। यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्कर्मकार्यं च वर्जयेद्' ॥१॥ इति। अतो ज्ञानादीनां लाभं हानिं चाकलय्य बहुलाभे प्रवर्तते। तदुक्तमागमे। 'नवि किंचि अणुन्नायं, पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं। एसा जिणाण

ताउक्कोसं बहुविहमववायतो वियाणेत्ता। लंघेऊणुत्तविहिं बहुगुणजुत्तं करेआसु'
आणा, कज्जे सज्जेण होयव्वं' ॥१॥ तथा 'का(रणजाय)पसङ्गं बहुविहमववायतो वियाणेत्ता। अववाए पुण पत्ते उस्सग्ग
॥२॥ तथा 'उसग्गेण निसिद्धाइ ज..............जवि उस्सग्गे अववायं आयरमाणे विराहओ होइ।
निसेवओ भइओ' ॥४॥ इति योगेनेति गाथार्थः ॥१०१॥

किञ्चेत्थमशठस्यापवादमासेवमानस्य साधोः पृथिव्यादिविराधनापि निर्ज्जराफलैव स्यादित्यावेदयन्नाह।

जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स॥

व्याख्या—या काचिद्यतमानस्य विराधना रक्षणतत्परस्य ग्लानाद्यवस्थायां गुरुदोषपरिहारेण लघुदोषासेवां कुर्व्वतः साधोरि-
त्यर्थः। भवेत्स्याद्विराधना पथ्यादौ क्रियमाणे पृथिव्यादिसङ्घट्टोपमर्द्दादिका स्वानुष्ठानखण्डना पुनः कीदृक्षस्य साधोरित्याह। सूत्रं
चाचारादिकं विधिश्च प्रस्तावात्तस्यैवार्थावबोधस्ताभ्यां समग्रो युक्तस्तस्य गीतार्थस्येत्यर्थः। सा विराधना भवति जायते निर्जराफला
कर्म्मविशोधिका। नत्वशुभकर्म्मबन्धफलेति। यदपि यथोक्तविराधना प्रत्ययं कर्म्म प्रथमसमये बध्यते, द्वितीये च जीर्यते, तृतीये-
त्वकर्मतामनुभवतीति सिद्धान्तरहस्यं। कथम्भूतस्य सत इत्याह अध्यात्म चित्तं तस्य विशोधिर्यथौचित्येन प्रवर्त्तनाद्रागद्वेषाभावरूपा
निर्मलता तया युक्तः समन्वितोऽध्यात्मविशोधियुक्तस्तस्य अशठतया विशुद्धतया भव्यस्येत्यर्थ इति गाथार्थः ॥१०२॥

अथ शास्त्रसमाप्तौ शास्त्रकृत् स्वनाम्नः शास्त्रप्रयोजनस्य च प्रकटनाय स्वमनीषिकारचितत्वपरिहारार्थं गीतार्थमुनीन्द्रप्रार्थनाकरणाय
च शार्दूलवृत्तमाह।

इच्चेयं जिणवल्लहेण गणिणा, जं पिंडनिज्जुत्तिओ, किंची पिंडविहाणजाणणकए, भव्वाण सव्वाण वि।

वुत्तं सुत्तनिउत्तसुद्धमइणा, भत्तीइ सत्तीइ तं, सव्वं भव्वममच्छरा सुयहरा, बोहिंतु सोहिंतु य ॥१०३॥

व्याख्या–कर्तृपक्षे(ग्रन्थकार)स्योक्तमित्युत्तरेण योगाद्यदुक्तं यद्दब्धं प्रस्तुतग्रंथतया किञ्चित् स्तोकमात्रं, केनोक्तमित्याह जिन-
वल्लभसाधुना कीदृशेनेत्याह । गणिना भगवतीयोगोद्वहनादवाप्तगणिशब्देन । यद्वा उण(पुनः)गणयोगा(त्साधु)गणयोगाद्वा गणिना
सूरिणा । तत्कुत इत्याह पिण्डनिर्युक्तितः पिण्डनिर्युक्तिशास्त्रादुद्धृत्येत्यर्थः । अनेन ग्रन्थस्यादेयतोक्तेति । किंनिमित्तमित्याह पिण्डवि-
धानज्ञानकृते शुद्धाशुद्धतया आहारग्रहणविधिपरिज्ञाननिमित्तं । केषां परिज्ञानकृते इत्याह । भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यानां, जन्तूनां
सर्वेषामपि साधुश्रावकव्यक्त्या समस्तानामपि नत्वेकेषां केषाञ्चिदेवेत्यपेरर्थः । अनेनाभव्यजन्तूपकाराभावं दर्शयति । तथा भव्यानप्या-
श्रित्य रिक्तपूर्णाऽविभागाऽऽभाव्यं कथनं प्रति सर्वेषामपीत्यनेनाचष्टे इति । तथाऽनेन श्रावकाणामपि पिण्डैषणाध्ययनार्थे अधिकारि-
त्वमाह । यदुक्तमावश्यकचूर्ण्यां–'सावउ जहन्नेण सुत्तअत्थउ अडपवयणमायाउ सिक्खइ, उक्कोसेणं सुत्तत्थेहिं जा छज्जीवणियं, अत्थउ
पिंडेसणज्झयणं, न उण सुत्तउ वि', त्ति । कथम्भूतेन जिनवल्लभेनेत्याह । सूत्रे आगमे नियुक्ता नियोजिता न्यस्तेत्यर्थः 'सुद्धा' प-
टुत्वेन निपुणा मतिः प्रज्ञा येन स तथा तेन सूत्रन्यस्तदक्षधियेत्यर्थः । सूत्रं च पिण्डनिर्युक्त्याख्यं प्रागेवादर्शि । अत एव भक्तिर्बहु-
मानः सा च सूत्रविषया ज्ञेया तथा भक्त्या सूत्रबहुमानतयेत्युक्तं भवति । तथा शक्त्या स्वमतिसामर्थ्यादुक्तस्वरूपत इत्यर्थः । अनेनौ-
द्धत्यपरिहारमाह तज्जिनवल्लभोक्तं सर्वं समस्तं बोधयन्तु(भव्यमिति)भव्यजनानिति गम्यते । भव्यानां तत्कथयन्त्वित्यर्थः । के इत्याह
श्रुतधराः आगमवेदिनः । कीदृशाः सन्त इत्याह अमत्सराः परगुणमत्ययेऽद्वेषिणः सन्तः सञ्ज्वलनकषायोदये विशिष्टज्ञानिनामपि
मत्सरसम्भवादिदमुक्तं । इत्थम्भूता एव सन्तो भव्यं यथा भवन्त्येवं शोधयन्तु । उत्सूत्रार्थदोषमलापनयनेन निर्म्मलीकुर्वन्तु । चः

सम्मुचये। तदा सूत्रभक्त्या निजशक्त्या यदुक्तं किञ्चित् पिण्डनिर्युक्तितो भव्यानां पिण्डदोषज्ञानकृते सूत्रन्यस्तबुद्धिना जिनवल्लभसूरिणा तत्सर्वं बहुश्रुतमत्सरं परित्यज्य तानेव भव्यान् बोधयन्तु उत्सूत्रार्थमपनयन्तु चेति वृत्त्यर्थः ॥१०३॥

समाप्तेयं श्रीचन्द्रसूरिविरचिता सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिष्कषणपट्टकसन्निभप्रतिभजिनवल्लभाभिधानाचार्यदृब्धपिण्डविशुद्धिशास्त्रस्य वृत्तिः।

दोषानुपङ्गरहितं संवृत्तं जाड्यवर्जितं सकलं। समभूदिह चान्द्रकूलं स्थिरं सदाऽऽपूर्वचन्द्रसमं ॥१॥

तस्मिन् गुणमणिरोहणगिरिकल्पाः शीलभद्रसूर्याख्याः।
प्रभवन्ति हि तु मुनीन्द्रा विशालमतयः सदाकृतयः ॥२॥

औदार्यस्थैर्यगाम्भीर्य-धैर्यरूपादिसंयुताः। समभवन् सुशिष्यास्ते श्रीधनेश्वरसूरयः ॥३॥

सरससहकारतरुमञ्जरीव मधुरा सदैव यद्वाणी। सत्कविकृतिरिव येषां सलक्षणा ॥४॥

........................निर्जितकोविदानां। श्रीमद्धनेश्वरमुनी.....................॥५॥

....गुरुभक्तः। तत्रादेशात्तेषां सम्प्राप्तोऽसौ सुराष्ट्रायां ॥६॥

ततश्च, जक्कीजि...........................१

.......मानवोपकृतये प्राज्यार्थमल्पाक्षरं।
शास्त्रं पिण्डविशुद्धिसंज्ञितमिदं श्री चन्द्रसूरिः स्फुटं,
तद्वृत्तिं सुगमां चकार तनुधीः श्री देवताऽनुग्रहात् ॥७॥

पिण्डनिर्युक्तिसच्छास्त्र-वृद्धव्याख्यानुसारतः। नालिकेर्यादिसद्वृक्षे, श्रीदेवकुलपाटके ॥८॥
वसुमुनिरुद्रैर्जाते विक्रमवर्षे रवौ समाप्येषा। कृष्णैकादश्यां कार्त्तिकस्य योगे प्रशस्ते च ॥९॥
यदिहोत्सूत्रं किञ्चिल्लिखितं छद्मस्थबुद्धिना मयका। तन्मयि कृपानुकलितैः शोध्यं गीतार्थविद्वद्भिः ॥१०॥
श्रुताभ्या(सेनाक्षि)प्र(प्रं) क्लिष्टकर्म्मप्रणाशिनः। परोपकृतये चायं विहितोऽस्माभिरुद्यमः ॥११॥
पिण्डविशोधेर्वृत्तिं, कृत्वा यदवाप्तं मया पुण्यं। तेन सूत्रपठनरतो, भूयात्सर्वोऽपि भव्यजनः ॥१२॥
तावन्नन्दत्वियं वृत्तिर्वाच्यमाना मनीषिभिः। नभःस्थौ यावदिन्द्वर्कौ मेरुर्वा भूवि राजते ॥१३॥
अस्यां चतुःसहस्राणि शतानां च चतुष्टयं। प्रत्यक्षरप्रमाणेन श्लोकमानं विनिश्चितं॥ अङ्कतः श्लोकाः ४४००

समाप्तेयं श्रीपिण्डविशुद्धेश्चन्द्रसूरीया वृत्तिः।

पिण्डविशुद्धिप्रकरणमूलम्

देविन्दविन्दवन्दिय-पयारविन्देऽभिवन्दियजिणिन्दे । वोच्छामि सुविहियहियं, पिण्डविसोहिं समासेण ॥

जीवा सुहेसिणो, तं सिवम्मि तं संजमेण सो देहे । सो पिण्डेण सदोसो, सो पडिकुट्ठो इमे ते य ॥२॥

आहाकम्मुद्देसिय, पूईकम्मे य मीसजाए य । ठवणा पाहुडियाए, पाउयरकीयपामिच्चे ॥३॥

परिअट्टिए अभिहड-ब्भिन्ने मालोहडे अ अच्छिज्जे । अणिसिट्ठज्झोयरए, सोलस पिण्डुग्गमे दोसा ॥४॥

आहाए वियप्पेणं, जईण कम्ममसणाइकरणं जं । छक्कायारम्भेणं, तं आहाकम्ममाहंसु ॥५॥

अहवा जं तग्गाहिं, कुणइ अहे संजमाउ नरए वा । हणइ व चरणायं, से अहकम्म तमायहम्मं वा ॥६॥

अट्ठवि कम्माइं अहे, बंधइ पकरेइ चिणइ उवचिणइ । कम्मियभोई अ साहू, जं भणियं भगवईए फुडं ॥७॥

तं पुण जं जस्स जहा, जारिसमसणे य तस्स जे दोसा । दाणे य जहापुच्छा, छलणा सुद्धी य तह वोच्छं ॥८॥

असणाइ चउब्भेयं, आहाकम्ममिह बिन्ति आहारं । पढमं चिय जइजोग्गं, कीरंतं निट्ठियं च तहिं ॥९॥

तस्स कड तस्स निट्ठिय, चउभङ्गो तत्थ दुचरिमा कप्पा । फासुकडं रद्धं वा, निट्ठियमियरं कडं सव्वं ॥१०॥

साहुनिमित्तं ववियाइ, ता कडा जाव तंदुला दुछडा । तिछडा उ निट्ठिया, पाणगाइ जहसम्भवं नेज्जा ॥११॥

साहम्मियस्स पवयण-लिङ्गेहि कए कयं हवइ कम्मं । पत्तेयबुद्धनिण्हय-तित्थयरट्ठाए पुण कप्पे ॥१२॥

पडिसेवणपडिसुणणा संवासणुमोयणेहिं तं होइ । इह तेणरायसुय-पल्लिरायदुट्ठेहिं दिट्ठंता ॥१३॥
सयमन्नेण व दिन्नं, कम्मियमसणाइ खाइ पडिसेवा । दक्खिन्नादुवओगे, भणिओ लाभोत्ति पडिसुणणा ॥
संवासो सहवासो, कम्मियभोईहिं तप्पसंसाउ । अणुमोयणत्ति तो ते, तं च चए तिविहतिविहेण ॥१५॥
वंतुच्चारसुरागो-मंससममिमंति तेण तज्जुत्तं । पत्तं पि कयतिकप्पं, कप्पइ पुव्वं करिसघट्ठं ॥१६॥
कम्मगहणे अइकम्म-वइकम्मा तहइयारणायारा । आणाभङ्गणवत्था-मिच्छत्तविराहणा य भवे ॥१७॥
आहाकम्मामंतण-पडिसुणमाणे अइकम्मो होइ । पयभेयाइ वइक्कम-गहिए तइएयरो गिलिए ॥१८॥
भुंजइ आहाकम्मं-सम्मं जो न य पडिक्कमति लुद्धो । सव्वजिणाणाविमुहस्स-तस्स आराहणा नत्थि ॥१९॥
जइणो चरणविघाइत्ति-दाणमेयस्स नत्थि ओहेण । बीयपए जइ कत्थवि-पत्तविसेसे व होज्ज जओ ॥२०॥
संथरणंमि असुद्धं-दोण्हवि गेण्हत्तदेंतयाणऽहियं । आउरदिट्ठंतेणं-तं चेव हियं असंथरणे ॥२१॥
भणियं च पश्चमङ्गे-सुपत्तसुद्धन्नदाणचउभङ्गे । पढमो सुद्धो बीए-भयणा सेसा अणिट्ठफला ॥२२॥
देसाणुचियं बहुदव्व-मप्पकुलमायरो य तो पुच्छे । कस्स कए केण कयं, लक्खिज्जइ बज्झलिङ्गेहिं ॥२३॥
थोवंति न पुट्ठं, न कहियं व गूढेहिं नायरो व कओ । इय छलिओ न लग्गइ, सुउवउत्तो असढभावो ॥२४॥
आहाकम्मपरिणओ, बज्झइ लिङ्गिव्व सुद्धभोई वि । सुद्धं गवेसमाणो, सुज्झइ खवगव्व कम्मे वि ॥२५॥
नणु मुणिणा जं न कयं, न कारियं नाणुमोइयं तं से । गिहिणा कडमाययओ, तिगरणसुद्धस्स को दोसो ॥२६॥

सच्चं तहवि मुणंतो, गिण्हंतो वड्ढए पसंगं से। निद्धंधसो य गिद्धो, न मुयइ सजियं पि सो पच्छा ॥२७॥
उद्देसियमोहविभागओ य, ओहे सए जमारंभे। भिक्खाउ कइवि कप्पइ, जो एही तस्स दाणट्ठा ॥२८॥
बारसविहं विभागे चउहुद्दिट्ठं कडं च कम्मं च। उद्देससमुद्देसा-देससमाएसभेएण ॥२९॥
जावंतियसमुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं। समणाणं आएसं, निग्गंथाणं समाएसं ॥३०॥
संखडि भुत्तुव्वरियं, चउण्हमुद्दिसइ जं तमुद्दिट्ठं। वंजणमीसाइ कडं, तमग्गितवियाइ पुण कम्मं ॥३१॥
उग्गमकोडिकणेण वि, असुइलवेणं व जुत्तमसणाई। सुद्धं पि होइ पूई, तं सुहुमं बायरं ति दुहा ॥३२॥
सुहुमं कम्मियगंधग्गि-धूमवप्फेहिं तं पुण न दुट्ठं। दुविहं बायरमुवगरण-भत्तपाणे तहिं पढमं ॥३३॥
कम्मियचुल्लियभायण-डोवठियं पूइ कप्पइ पुढो तं। बीयं कम्मियवग्घार-हिंगुलोणाइ जत्थ छुहे ॥३४॥
कम्मियवेसणधूमिय-महवकयं कम्मखरडिए भाणे। आहारपूइय तं, कम्मलित्तहत्थाइछिक्कं च ॥३५॥
पढमे दिणम्मि कम्मं, तिन्नि उ पूइ कयकम्मपायघरं। पूइ तिलेवं पिढरं, कप्पइ पायं कयतिकप्पं ॥३६॥
जं पढमं जावंतिय, पासंडजईण अप्पणो य कए। आरभइ तं तिमीसं ति, मीसजायं भवे तिविहं ॥३७॥
सट्ठाणपरट्ठाणे, परंपराणंतरं चिरित्तरियं। दुविहतिविहा वि ठवणा-ऽसणाइ जं ठवइ साहुकए ॥३८॥
चुल्लुक्खाइ सट्ठाणं, खीराइ परंपरं घयाइयरं। दव्वट्ठिइं जाव चिरं, अचिरं तिघरंतरं कप्पं ॥३९॥
बायरसुहुमुस्सक्कण-मोसक्कणमिइ दुहेह पाहुडिया। परओकरणुस्सक्कण-मोसक्कणमारओ करणं ॥४०॥

पाउयरणं दुविहं, पायडकरणं पयासकरणं च। ससितिमिरघरे पयडणं, समणट्ठा जमसणाईणं ॥४१॥
पायडकरणं बहिया-करणं देयस्स अहव चुल्लीए। बीयं मणिदीवगवक्ख-कुड्डुच्छिड्डाइकरणेण ॥४२॥
किणणं कीयं मुल्लेणं, चउह तं सपरदव्वभावेहिं। चुन्नाइकहाइधणाइ-भत्तमङ्खाइरूवेहि ॥४३॥
समणट्ठा उच्छिन्दिय, जं देयं देइ तमिह पामिच्चं। तं दुट्ठं जइभइणी, उद्धारियतेल्लनाएण ॥४४॥
पल्लटियं जं दव्वं, तदन्नदव्वेहिं देइ साहूणं। तं परियट्टियमेत्थं, वणिदुगभइणीहि दिट्ठंतो ॥४५॥
गिहिणा सपरग्गामाइ-आणियं अभिहडं जईणट्ठा। तं बहुदोसं नेयं, पायडछन्नाइबहुभेयं ॥४६॥
आइन्नं तुक्कोसं, हत्थसयंतो घरेउ तिन्नि तहिं। एगत्थ भिक्खगाही, बीओ दुसु कुणइ उवओगं ॥४७॥
जउछगणाइविलित्तं, उब्भिन्दिय देइ जं तमुब्भिन्नं। समणट्ठमपरिभोगं, कवाडमुग्घाडियं वा वि ॥४८॥
उड्ढमहोभयतिरिएसु, मालभूमिहरकुम्भीधरणिठियं। करदुग्गेज्झं दलयइ, जं तं मालोहडं चउहा ॥४९॥
अच्छिन्दिअ अन्नेसिं, बलावि जं देंति सामिपहुतेणा। तं अच्छिज्जं तिविहं, न कप्पए नणुमयं तेहिं ॥५०॥
अणिसिट्ठमदिन्न-मणणुमयं च बहुतुल्लमेगु जं दिज्जा। तं च तिहा साहारण-चोल्लगजड्डानिसट्ठंति ॥५१॥
जावन्तियजइपासं-डियत्थमोयरइ तन्दुले पच्छा। सद्धा[ट्ठा] मूलारंभे, जमेस अज्झोयरो तिविहो ॥५२॥
इय कम्मं उद्देसिय-तियमीसज्झोयरंतिमदुगं च। आहारपूइबायर-पाहुडि अविसोहिकोडित्ति ॥५३॥
तीए जुयं पत्तं पि हु, करीसनिच्छोडियं कयतिकप्पं। कप्पइ जं तदवयवो, सहस्सघाई विसलवोव्व ॥५४॥

सेसा विसोहिकोडी, तदवयवं जं जहिं जया पडियं। असढो पासइ तं चिय, तओ तया उद्धरे सम्मं ॥५५॥
तं चेव असंथरणे, संथरणे सव्वमवि विगिंचंति। दुल्लहदव्वे असढा, तत्तियमेत्तं चिय चयंति ॥५६॥
भणिया उग्गमदोसा, सम्पइ उप्पायणाए ते वोच्छं। जे णज्जकज्जसज्जो, करेज्ज पिण्डट्ठमवि ते य ॥५७॥
धाइ दूइनिमित्ते, आजीववणीमगे तिगिच्छा य। कोहे माणे माया, लोभे अ हवंति दस एए ॥५८॥
पुव्विं पच्छा संथव, विज्जामते य चुन्नजोगे य। उप्पायणाए दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य ॥५९॥
बालस्स खीरमज्जण-मंडणकीलावणंकधाइत्तं। करिय कराविय वा जं, लहइ जइ धाइपिण्डो सो ॥६०॥
कहियमिहो संदेसं, पयडं छन्नं च सपरगामेसु। जं लहइ लिङ्गजीवी, स दूइपिण्डो अणहा(ट्ठ)फलो ॥६१॥
जो पिण्डाइनिमित्तं, कहइ निमित्तं तिकालविसयं पि। लाभालाभसुहासुह-जीविअमरणाइ सो पावो ॥६२॥
जचाइधणाण पुरो, तग्गुणमप्पं पि कहिय जं लहइ। सो जाईकुलगणकम्म-सिप्पआजीवणापिण्डो ॥६३॥
माइभवा विप्पाइ व, जाइ उग्गाइ पिउभवं च कुलं। मल्लाइ गणो किसिमाइ, कम्म चित्ताइ सिप्पं तु ॥६४॥
पिण्डट्ठा समणातिहि-माहणकिविणसुणगाइभत्ताणं। अप्पाणं तब्भत्तं, दंसइ जो सो वणिमोत्ति ॥६५॥
भेसज्जवेज्जसूयण-मुवसामणवमणमाइकिरियं वा। आहारकारणेण वि, दुविह तिगिच्छं कुणइ मूढो ॥६६॥
विज्जातवप्पभावं, निवाइपूयं बलं व से नाउं। दट्ठूण व कोहफलं, दिंति भया कोहपिण्डो सो ॥६७॥
लद्धिपसंस(सउ)त्तिइउ, परेण उच्छाहिओ अवमओ वा। गिहिणोभिमाणकारी, जं मग्गइ माणपिण्डो सो ॥६८॥

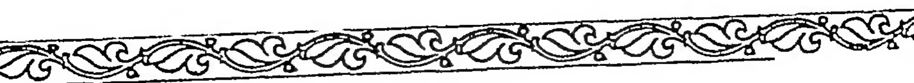
॥गिण्हिस्समिमं निद्धाइ, तो बहु अडइ लोभेण ॥६९॥
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ । गिण्हिस्समिमं निद्धाइ, तो बहु अडइ लोभेण ॥६९॥
कोहे घेवरखवओ, माणे सेवइयखुड्डओ नायं । मायाएऽऽसाढभूई, लोभे केसरयसाहु त्ति ॥७०॥
थुणणे संबंधि संथवो, दुहा सो य पुव्व पच्छा वा । दायारं दाणाउ, पुव्वं पच्छा व जं थुणइ ॥७१॥
जणणिजणगाइ पुव्वं, पच्छा सासुससुरयाइ जं च जई । आयपरवयं नाउं, सम्बन्धं कुणइ तदणुगुणं ॥७२॥
साहणजुत्ता थीदेवया व, विज्जा विवज्जए मंतो । अन्तद्धाणाइफला, चुन्ना नयणञ्जणाइया ॥७३॥
सोहग्गदोहग्गकरा, पायपलेवाइणो य इह जोगा । पिण्डट्ठमिमे दुट्ठा, जईण सुयवासिणमईण ॥७४॥
मङ्गलमूलीण्हवणाइ गब्भवीवाहकरणघायाइ । भववणमूलकम्मंति, मूलकम्मं महापावं ॥७५॥
इय वुत्ता सुत्ताउ, बत्तीस गवेसणेसणादोसा । गहणेसणदोसे दस, लेसेण भणामि ते य इमे ॥७६॥
सङ्कियमक्खियनिक्खित्त–पिहियसाहरियदायगुम्मीसे । अपरिणयलित्तछड्डिय, एसणदोसा दस हवन्ति॥
सङ्कियगहणे भोए, चउभङ्गो तत्थ दुचरिमा सुद्धा । जं सङ्कइ तं पावइ, दोसं सेसेसु कम्माई ॥७८॥
सच्चित्ताचित्तमक्खियं, दुहा तत्थ भूदगवणेहिं । तिविहं पढमं बीयं, गरहियइयरेहिं दुविहं तु ॥७९॥
संसत्तअचित्तेहिं, लोगागमगरहिएहि य जईण । सुक्कुल्लसचित्ते हि य, करमत्तं मक्खियमकप्पं ॥८०॥
पुढविदगअगणिपवणे, परित्तणंते वणे तसेसुं च । निक्खित्तमचित्तं पिहु, अणन्तरपरम्परमगेज्झं ॥८१॥
सच्चित्तचित्तपिहीए, चउभङ्गो तत्थ दुक्कुमाइतिगं । गुरुलहुचउभङ्गिल्ले, चरिमे वि दुचरिमगा सुद्धा ॥८२॥

खिवियन्नत्थमजोग्गं, मत्ताउ तेण देइ साहरियं। तत्थ सचित्ताचित्ते, चउभङ्गो कप्पइ उ चरमे ॥८३॥
तत्थवि य थोवबहुयं, चउभङ्गो पढमतईयगाहणणा। जइ तं थोवाहारं, मत्तगमुक्खिविय वियरेज्जा ॥८४॥
थेरपहुपण्डवेविर–जरियन्धवत्तमत्तउम्मत्ते। करचरणछिन्नपगलिय–नियलण्डु य पाउयारूढो ॥८५॥
खण्डइ पीसइ भुञ्जइ, कत्तइ लोढेइ विक्किणइ। पिञ्जे दलइ विरोलइ, जेमइ जा गुव्विणि बालवच्छा य ॥८६॥
तह छक्काए गिण्हइ, घट्टइ आरम्भइ खिवइ दट्ठु जइं। साहारणचोरियगं, देइ परक्कं परट्ठं वा ॥८७॥
ठवइ बलिं उव्वत्तइ, पिठराइ तिहा सपच्चवाया जा। देन्तेसु एवमाइसु, ओघेण मुणी न गिण्हन्ति ॥८८॥
जोग्गमजोग्गं च दुवे, वि मिसिउं देइ जं तमुम्मीसं। इह पुण सचित्तमीसं, न कप्पमियरम्मि उ विभासा ॥
अपरिणयं दव्वं चिय, भावो वा दोण्ह दाण एगस्स। जइणो वेगस्समणे, सुद्धं नन्नस्स परिणमियं ॥९०॥
दहिमाइलेवजुत्तं, लित्तं तमगेज्झमोहओ इहयं। संसट्ठमत्तकरसाव–सेसदव्वेहिं अडभङ्गा ॥९१॥
एत्थ विसमेसु घेप्पइ, छड्डियमसणाइ होन्तपरिसाडिं। तत्थ पडन्ते काया, पडिए महुबिन्दुदाहरणं ॥९२॥
इय सोलस सोलस दस, उग्गमउप्पायणेसणा दोसा। गिहिसाहूभयपभवा, पञ्च गासेसणाए इमे ॥९३॥
सञ्जोयणा पमाणे, इङ्गाले धूम कारणे पढमा। वसहि बहिरन्तरे वा, रसहेउं दव्वसञ्जोगा ॥९४॥
धिइबलसञ्जमजोगा, जेण ण हायन्ति सम्पइ पए वा। तं आहारपमाणं, जइस्स सेसं किलेसफलं ॥९५॥
जेणइबहु अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं। हादेज्जव वामेज्जव, मारेज्जव तं अजीरन्तं ॥९६॥

जमिह। रत्तो दुट्ठो भुञ्जइ, तं अङ्गारं च धूमं च ॥९७॥
अङ्गारसधूमोवम, चरणिन्धणकरण भावओ जमिह। रत्तो दुट्ठो भुञ्जइ, तं अङ्गारं च धूमं च ॥९७॥
छुहवेयणवेयावच्च–सञ्जमसुज्झाणपाणरक्खट्ठा। इरियं च विसोहेउं, भुञ्जइ न उ रूवरसहेऊ ॥९८॥
अहव न जिमेज्ज रोगे, मोहुदये सयणमाइउवसग्गे। पाणिदयातवहेउं, अन्ते तणुमोयणत्थं च ॥९९॥
इह तिविहेसणदोसा, लेसेण जहागमं मएऽभिहिया। एसु गुरुलहुविसेसं, सेसं च मुणेज्ज सुत्ताउ ॥१००॥
सोहन्तो य इमे तह, जइज्ज सव्वत्थ पणगहाणीए। उस्सग्गववायविऊ, जह चरणगुणा न हायन्ति ॥१०१॥
जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥
इच्चेयं जिणवल्लहेण गणिणा, जं पिण्डनिज्जुत्तिओ, किञ्ची पिण्डविहाणजाणणकए, भव्वाण सव्वाण वि।
वुत्तं सुत्तनिउत्तसुद्धमइणा, भत्तीइ सत्तीइ तं, सव्वं भव्वममच्छरा सुयहरा, बोहिन्तु सोहिन्तु य ॥१०३॥

॥ इति पिण्डविशुद्धिप्रकरणं समाप्तम् ॥





श्रीपिण्डविशुद्धेश्चन्द्रसूरीया वृत्तिः समाप्ता ॥

* शेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड. *

